ॐ

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

(द्वितीयः—तृतीयः—चतुर्थः च परिच्छेदः)

पञ्चमो भागः

सत्यानन्दप्रबोधिकाव्याख्यया समलङ्कृता

— स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

ॐ श्रीदक्षिणामूर्तिमहादेवो विजयतेतराम्

समर्पणम्.........

श्रीविश्वनाथधाम्नः परमाधिष्ठातृदेवस्य

भगवतः श्रीदक्षिणामूर्तिमहादेवस्य

करसरोजयोः

सादरं

समर्पयति

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

श्रीविश्वनाथधाम, सुन्दरनगरम्

मण्डीं – हिमाचलप्रदेशः

ॐ श्री दक्षिणामूर्तिमहादेवो विजयतेतराम्



स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमालाममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रैः।
दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिविश्वेश्वरसरस्वतीशिष्यश्रीमत्परमहंस—
परिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीविरचिता

अद्वैतसिद्धिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णु—
देवानन्दगिरिशिष्यस्वामिविशुद्धानन्दगिरिविरचितया
सत्यानन्दप्रबोधिकाव्याख्यया समलङ्कृता

पञ्चमो भागः

सम्पादकः
स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

ॐ श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—९६

—ः प्रकाशक ः—

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन
डी ४९/९ मिश्रपोखरा
वाराणसी— २२१०१०
उत्तरप्रदेश

प्रथम संस्करण — १०००
विक्रमी संवत् — २०७७ (वसन्त पञ्चमी)
शाङ्कराब्द — १२३३
दिनाङ्क — १६—०२—२०२१
मूल्य — रु. १२५.००

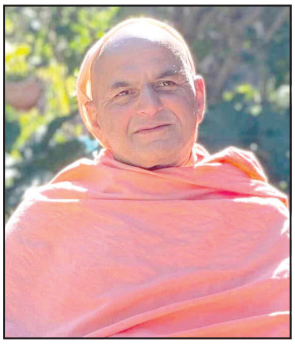
पुस्तकप्राप्तिस्थान

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ
डी ४९/९ मिश्रपोखरा
वाराणसी— २२१०१०
उत्तरप्रदेश

(चित्रांशिका कम्प्यूटर्स, 'जय जानकी भवन', राजागार्डन—कनखल (हरिद्वार), **मोबाइल- 9410131523**

ॐ श्रीदक्षिणामूर्तिमहादेवो विजयतेतराम्

प्रासङ्गिकम्



विद्वद् वरिष्ठ त्यागमूर्तिपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रिय— ब्रह्मनिष्ठश्रीमत्स्वामिस्वयम्प्रकाशगिरि जी महाराज

आत्मनिष्ठा के लिए अनिवार्य मनन में अतीव उपयोगी दिशानिर्देश देने वाले सर्वोत्तम प्रबन्धों में आचार्य मधुसूदन सरस्वतीकृत अद्वैतसिद्धि सुप्रसिद्ध है। वादविशेषों द्वारा उत्थापित प्रश्नों का उत्तर देने के बहाने इस सद्ग्रन्थ में वेदान्त सिद्धान्त के सभी आयामों का परिष्कृत रूप प्रकट किया गया है। कालक्रम में तत्त्वजिज्ञासु संस्कृत भाषा और दार्शनिक शब्दावली से अनभिज्ञ होने लगे अत: व्यवहार—प्रचलित भाषाओं में शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुवाद की रीति स्थापित हुई। बाँग्ला, मराठी, तमिल, कन्नड़, गुजराती जैसी प्रान्तीय—भाषाओं में इस दिशा में प्रभूत प्रयास हुए। अंग्रेजी में भी काफी कार्य हुआ है, कुछ अन्य अभारतीय भाषाओं में भी अनुवाद किये गये हैं। राष्ट्रभाषा एवं अनेक प्रान्तों की भाषा हिन्दी में अध्यात्म एवं दार्शनिक साहित्य की पर्याप्त उपलब्धि है। संस्कृत से निकटता के चलते हिन्दी में प्राय: वे ही पद प्रयोग कर लिये जाने से बहुधा हिन्दीवेत्ता के लिये भी अनुवाद दुर्बोध रह जाता है। दार्शनिक शिक्षा के अभाव में पारिभाषिक शब्दावली से पठित वर्ग अनभिज्ञ रहता है अत: अनुवाद से कुछ सार्थक समझ नहीं प्राप्त कर पाता। पुराण आदि के प्रसंग सुनने से अध्यात्म प्रेरणा मिलती है पर दार्शनिक विचार में योग्यता पाने के लिए शास्त्रीय ग्रन्थों का क्रमश: अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति के महत्त्व की आधारशिला यहाँ के दर्शन हैं। छह आस्तिक दर्शनों में एक उत्तर मीमांसा ही है जो अद्यावधि पारम्परिक क्रम से साधनामार्ग का स्पष्टीकरण करते हुए जनमानस में प्रतिष्ठित है। विभिन्न मतों की उपस्थिति के बावजूद आचार्य श्रीभगवत्पाद द्वारा अवलम्बित अद्वैत सिद्धान्त ही उत्तर मीमांसा का प्रधान प्रतिनिधि सर्वसम्मत है। इस दर्शन में श्रुति—स्मृति—युक्ति का समन्वित विचार अनिवार्य होने से तीनों पद्धतियों की शब्दावली और चिन्तन—सरणी अपनायी जाती है। क्योंकि तीनों तरीको में विभिन्नता है इसलिये उपस्थापन में जटिलता स्वाभाविक है। कहीं आर्ष प्रातिभ कविसुलभ दृष्टिकोण से तत्त्व का उल्लेख होगा तो कहीं अतिसूक्ष्म परिष्कृत तार्किक रीति से और कहीं गहन भावपूर्ण प्रेम के स्तर पर। ज्ञान—भक्ति—तर्क के इस सामंजस्य का निर्वाह शांकर दर्शन का वैशिष्ट्य है। परन्तु यह एक कठिनाई भी है। ब्रह्म को निराकार सिद्ध करते ही ठीक अगले प्रसंग का प्रारम्भ 'वंशीविभूषितकराद्' आदि से देखकर सभी अचम्भित रह जाते हैं। इसी तरह कर्मोपयोग ही नहीं उसकी अनिवार्यता सिद्ध करने वाले आचार्यों का संन्यास—पक्षपात किसको चकित नहीं करता! जब तक सम्प्रदाय के विलक्षण संस्कार हृदयंगत न हों तब तक ऐसे सन्दर्भ न खुद को समझ आते हैं न किसी को समझाये जा सकते हैं। अत: जिस भाषा में ये अध्यात्म रहस्य व्यक्त किये जायें वह सर्वथा लौकिक चर्चा के स्तर की हो पाना सम्भव नहीं लेकिन उससे बिल्कुल अलग भी हो तो अध्येता के लिये निरुपयोगी होगी। अनुवादकों ने दीर्घकाल के प्रयासों से विभिन्न प्रयोगों द्वारा आवश्यक शैलियाँ विकसित की हैं तथा कर रहे हैं।

वैचारिक गाम्भीर्य 'अद्वैतसिद्धि' में अथाह है। न केवल अपने से पूर्वाचार्यों के चिन्तन का मन्थन कर यह ग्रन्थ रचा गया है वरन् भविष्य के आलोचकों की सम्भावित मनीषा का पूर्वाभास पाकर उसमें त्रुटिदर्शन

के सूत्रों का भी समावेश करते हुए रचा है। ब्रह्मानन्द सरस्वती सरीखों ने इसलिये इस ग्रन्थरत्न के विस्तार का उपयोग किया विचार के उन स्तरों तक पहुँचने के लिये जहाँ तत्त्वनिष्ठ समाहित रहता है। अद्वैतसिद्धि का अध्ययन वेदान्त–विचार आत्मसात् करने का अत्युत्तम उपाय विगत चार सौ वर्षों से रहा है। भाषा के प्रतिबन्धक को दूर करने के लिये एकाधिक अनुवाद पूर्वकाल में प्रकाशित हुए और अत्यन्त आदरणीय हैं। तथापि व्याख्यात्मक अनुवाद की अपेक्षा बहुत समय से छात्रों को रही है जिसे पूरा करने का बीड़ा श्री स्वामी विशुद्धानन्द गिरि जी महाराज ने उठाकर समग्र विद्वत्समाज को उपकृत किया। ब्रह्मलीन श्री स्वामी सत्यानन्द गिरि जी महाराज के दीर्घ अध्यापनानुभव का प्रौढ प्रकाश इस अनुवाद में शोभा पा रहा है। क्रमशः प्रारम्भ से ग्रन्थव्याख्या उपलब्ध होती रही है, अब समापन भाग प्रकाश में आया यह अत्यन्त आनन्द का हेतु है। धैर्यपूर्ण सश्रद्ध तत्परता और छात्रों पर अनुग्रह के बिना ऐसा गुरुतर महनीय कार्य सम्पादित नहीं होता।

जीवभेद के विचार से यह खण्ड प्रवृत्त है। सामान्य जन स्वीकार कर ही चलते हैं कि प्रतिदेह जीव तो भिन्न हैं ही! अनेक वेदान्त–सत्संगी भी जीव–ब्रह्म के अभेद पर ध्यान देते हैं पर जीवों के अभेद के बारे में अनजान से रह जाते हैं। सांख्य, तार्किक, कर्मी आदि वादी जीवभेद समर्थक हैं ही। अतः वेदान्त सिद्धान्त का यह विशिष्ट बिंदु है। अध्येता की सुविधा के लिये मूलस्थ पद का जहाँ उपयोग विशेष अर्थ में है वहाँ अनुवाद में सूचित है जैसे ''अनुसन्धान = अनुभव''। हिन्दी भाषी इस संकेत के बिना अनुसन्धान से खोजपूर्ण अध्ययन आदि ही सोचता रहता, आगे बढ़ न पाता। ऐसे ही कहीं–कहीं अन्वय सूचित है। गद्यवाक्य में प्रायः जरूरत न पड़ने पर भी कई जगह वाक्य की दीर्घता या जटिलता के चलते हर कोई अन्वय समझ नहीं पाता। कहीं समस्त पद भी परस्पर विलग लिखे हैं, जैसे 'प्रकृति लय' (पृ.४) ताकि बड़ा शब्द देखकर पाठक भय न खाये। {संगणक की दुर्बलता के चलते पंक्तिसमाप्ति में स्वर–व्यंजनों का विच्छेद मुद्रित हो गया है जो प्रवाहभंजक–सा है।} आवश्यक होने पर कोष्ठकों में स्पष्टीकरण अत्युपयोगी है जैसे पृ.८ पर अर्थापत्ति प्रदर्शन। खण्ड संख्या के उल्लेख से पूर्व–पर सम्बन्ध समझना सरल बनाया है, साथ ही पृष्ठ संख्या व पंक्तिसंख्या भी लिखी जाये तो और अच्छा हो। पाठभेद का उल्लेख किया है यद्यपि इस सन्दर्भ में और हस्तलेखों से मिलान की आवश्यकता अनेक विद्वान् अनुभव करने लगे हैं। पिछले कुछ वर्षों से यों मिलानकर पाठ निर्धारित करने के बजाय कल्पना से उपपादन का रिवाज पण्डितों में देखा जा रहा है जो योग्य नहीं।

भेद प्रसंग में अगला विषय पंचविध भेदों की अतात्त्विकता बताता है। भेदवादी भेद सत्यत्वपर वृथा आग्रह रखते हैं। अद्वैत–साधक उनके व्यावहारिकत्व को समझकर सत्यत्व के भ्रम में न पड़े इसके लिये यह प्रसंग पठनीय है। अनुवादक ने स्पष्टीकरण का प्रभूत प्रयत्न किया जैसे पृ.१७ पर तृतीय अनुच्छेद के अनुवाद में। ऐसे ही पृ.२०–२१ में पूर्वपक्ष का अभिप्राय समझाया है। कहीं–कहीं जैसे पृ.२१ में ही, अनुमानादि दिखाते हुए हिंदी को त्यागकर संस्कृत ही लिखी है; ऐसे स्थलों पर हिन्दीवेत्ता खीज जाते हैं। तथापि पृ.२४ पर किये स्पष्टीकरण से संस्कृतज्ञ भी प्रसन्न हो जाते हैं!

तीसरा विषय भेदश्रुति का विचार है। यह प्रायः सभी विचारकों और श्रद्धालु साधकों के लिये एक चुनौती है। वेदादि सच्छास्त्र भेद मानकर ही प्रवृत्त हुए हैं फिर भी उसकी वास्तविकता के पक्षधर नहीं। द्वैतवादी न्याय मीमांसा से अनभिज्ञ बनकर शास्त्रों की उक्तिमात्र उद्धृत कर भेद–स्थापन का निष्प्रयोजन प्रयासकर स्वयं समेत सबका समय खराब करते रहते हैं। श्रुतिके अभिप्राय का यहाँ किया स्पष्टीकरण सब वेदान्त श्रोताओं को अवश्य समझना चाहिये। 'अनुवादकता' मीमांसा का खास विचार है। अन्यथा मालूम चलने वाले का शास्त्र में उल्लेख तो होता है पर उस बारे में शास्त्र प्रमाण नहीं बनता। अतः शास्त्रलिखिततामात्र से शास्त्रीयता स्थापित करना उचित नहीं। अद्वैतसिद्धि में व्याख्यात या विचारित श्रुतियों की और ब्रह्मसूत्रों की एक सूची पृष्ठवार जोड़ी जाये तो श्रवणार्थियों का बहुत उपकार होगा। छठे प्रसंग

में (पृ.४६) श्रुतितात्पर्य पर चिन्तन है। यद्यपि हिन्दी में स्थल बताये हैं तथापि मन्त्रों का अनुवाद चाहिये था क्योंकि हिन्दीवेत्ता उसके बिना ग्रन्थस्वारस्य नहीं समझ सकता। एवमपि यह अवश्य पठनीय ग्रंथभाग है क्योंकि उपनिषत् पढ़ते समय इस विचार का बहुत लाभ मिलता है। ऐक्य पर चिन्तन उपयोगी है भले ही सामान्य साधक के लिये ज्यादा ही सूक्ष्म है। आठवाँ विषय अभेद की प्रामाणिकता का है। क्योंकि शास्त्र पर श्रद्धालु ही अधिकारी है इसलिए इस विषय पर विशेष विस्तार नहीं किया गया, शास्त्रवाक्य का अर्थ समझने का तरीका ही समझाया गया है। उपजीव्य–विरोध की बात प्रायः सभी के मन में उठती है अतः इस पर उपलब्ध विस्तृत स्पष्टीकरण जरूर समझना चाहिये। अवास्तविक के सहारे वास्तविक तक पहुँचने पर अवास्तविक का विरोध बिना किये ही होता है। किंतु वास्तविक तक पहुँचें ही नहीं तो अवास्तविक का उचित उपयोग ही नहीं होता! वस्तुतः यही उसका विरोध है।

अद्वैत का एकमात्र आधार महावाक्य है। भले ही तर्क से आत्माभेद संगत बनाया जाये पर वास्तविकता है कि वेद ने क्योंकि महावाक्योपदेश दिया है इसलिये सनातनी दृढ़ता से इस पर चिन्तन करता है। इसमें सन्देह नहीं कि पृथ्वीभर में अध्यात्मपरायण समाज के अनेक अनुभवी अद्वैत के पक्षधर बिना वेद के सहारे भी हुए हैं लेकिन इतने मात्र से वैदिक उस मत को स्वीकार नहीं सकता क्योंकि स्वानुभव में इतना विरोधपूर्ण वैविध्य है कि निर्विवाद निर्णायक आधार के बिना निश्चय पर पहुँचना सम्भव नहीं। सदा से जीव–ईश्वर का सम्बन्ध ऐसा विषय है जिसके बारे में मतभेद रहा ही है। स्वयं भाष्यकार ने, जैसे बृहदारण्यक १.४.१० में, आत्यन्तिक अभेद न मानने वालों का उल्लेख किया है। वाक्यान्वयाधिकरण (१.४.६.१९–२२) भी यह दर्शाता है। अद्यावधि वेदान्त के व्याख्याता इस बिन्दु पर ऐकमत्य नहीं रख पाते। अतः अद्वैतसिद्धि में (पृ.६७ से) महावाक्यार्थ का अभिप्राय विचारित है। विषयानुरूप किंचित् विस्तार अनुवाद में यहाँ उपलब्ध है, जिससे मूल ग्रंथ सुबोध होता है। इस सन्दर्भ को जीव–ईश्वर–सम्बन्ध के स्पष्टीकरण के रूप में समझते हैं, तो प्रस्थानत्रयी के अनेक प्रसंग हृदयंगम करना सरल हो जाता है। पृ.७२ आदि में पूर्वमीमांसा अधिकरणों का स्पष्टीकरण सर्वोपयोगी है क्योंकि प्रायः वेदान्त विद्यार्थी विशेषतः उत्तर भारत में, मीमांसा अधिकरणों से अपरिचित ही होते हैं।

तात्पर्यानुसार शास्त्र का अभिप्राय स्वीकारना योग्य है। यह पद्धति यहाँ स्पष्ट की गयी है। वैयक्तिक विचारचातुर्य पर निर्भरता के बिना, सबको समान रूप से उपलब्ध तथ्यों के अनुसार निर्धारित क्रम से तात्पर्य का निर्णय सम्भव बताकर मीमांसाचार्यों ने अपनी वैज्ञानिक सोच प्रकट की है। यही व्याकरणाचार्यों की भी विशेषता है अतः विभक्त्यर्थ, प्रत्ययार्थ आदि के विचार से शास्त्रप्रयुक्त पदों का उपयुक्त अर्थ निर्धारित होता है जैसे पृ.७४ आदि में देखा जा सकता है। केवल व्याकरण से वाक्यार्थ का निश्चय नहीं कर सकते, उसके लिये मीमांसा आवश्यक है एवं दोनों इस पर भी निर्भर हैं कि शब्द का प्रचलित अर्थ क्या है अर्थात् कोष, साहित्य एवं प्रयोग किस शब्द को किस अर्थ में स्वीकारता है। शब्द की वृत्तियों की प्राथमिकता का क्रम इसलिये सर्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार है अन्यथा मनमानी व्युत्पत्तियाँ अपनाकर शास्त्रकथनों का उच्छृंखल अभिप्राय बताया जा सकेगा। कुछ विचारक, जैसे माध्व और आर्यसमाजी, इन मर्यादाओं का खुलकर उल्लंघन करने के कारण ही विद्वत् चर्चाओं से बहिष्कृत रहते हैं। आधुनिक स्वच्छन्द वातावरण में भले ही ऐसे भी मत यत्किंचित् सन्मान पा लें लेकिन मनोमुखी प्रवृत्ति आत्मघाती ही होती है। छान्दोग्य षष्ठ अध्याय के प्रधान विषय इस ग्रंथभाग में सुविचारित हैं। उपनिषत् के श्रवणार्थी को यह भाग अवश्य समझे रखना चाहिये। पृ.८९ पर विद्वान् की मृत्यु का विचार भी अवश्य बोध्य है। लोग प्रायः 'मुक्त मरे मत' यह आशा रखते हैं अतः यथाशास्त्र सोपपत्ति वस्तुस्थिति जानना योग्य है। पृ.९२–९३ की 'कुसमय–सुसमय' चर्चा स्पष्ट करती है कि 'कु' 'सु' आदि प्रशंसा–निन्दासूचक शब्दप्रयोग विचार में कितने निरुपयोग हैं। प्रचार के लिये ऐसी शब्दावली भले ही कारगर रहे, तत्त्वचिन्तन में इसका महत्त्व ही नहीं।

छान्दोग्य के बाद बृहदारण्यक का 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य विचारित हैं। इस महावाक्य के अन्त में 'इति' शब्द का उपयोग सिद्धिकार ने ही स्पष्ट किया है। प्राय: इस पर व्याख्याताओं की दृष्टि नहीं गयी। तैत्तिरीय, मुण्डक, श्वेताश्वतर आदि के वचनों का भी विश्लेषण उपस्थित कर आचार्य ने समन्वय की दृष्टि व्यक्त की है। श्रवणार्थी भले ही एक उपनिषत् का प्रधानत: अवलम्ब ले पर उसे सारे वेदान्तों का विचार और उनका परस्पर सामंजस्य अवश्य समझना चाहिये। शास्त्रप्रसंग अभिप्रायत: आपस में ऐसे जुड़े हैं कि इन्हें समग्रता से बिना देखे इनमें से एक का भी स्वारस्य स्पष्ट नहीं हो सकता।

वेद के अलावा अनुमान जीव ब्रह्म के अभेद में प्रमाण है— यह अगला (पृ.११४ आदि) विचारणीय बिन्दु है। क्रम से सूचित है कि शास्त्र से समझने के बाद ये अनुमान उपयोगी होंगे। श्रवण के अनन्तर मनन का विधान इसी लिये है। यहाँ भी अनुवाद में हेतुसमन्वय आदि स्पष्टत: व्यक्त किये गये हैं ताकि मूल पंक्ति का अर्थ सही समझा जा सके। आभाससाम्य (पृ.११५) के परिहार के प्रसंग में शास्त्र की महत्ता का खुलासा हो जाता है। तर्क स्तर पर शंकावादी का कथन उचित लगने पर भी शास्त्र समर्थन के बिना असहाय, दुर्बल हो जाता है। पृ.११७ पर 'तदभ्युपगमाच्च' के अनुवाद में पूर्वपक्ष–प्रयोग को सदनुमान दिखाकर आभाससाम्य नहीं यह जरूरी स्पष्टीकरण है, अन्यथा मूल से इतना भाव पता नहीं लगता। भेद के प्रति सर्वसाधारण को अन्धश्रद्धा है अत: आवश्यक है कि उसके सत्य होने की पूर्ण परीक्षा हो ताकि भेदाग्रह शिथिल होकर अभेद हृदय से अंगीकार हो सके। अभी वेदान्त श्रवण से शास्त्रोक्त के रूप में जानकर भी मनोभाव अभेद का नहीं बन पाता अर्थात् बौद्धिक स्वीकृति होने पर भी मानस स्वीकृति नहीं होती। विवेचन से भेद–मिथ्यात्व पता लगने पर मन धीरे–धीरे ढल पाता है।

परमात्मा का अंशरूप जीव है— इस तरह के कथन से केवलाद्वैत का विरोध जनमानस में प्रतिष्ठित है। पृ.१२४ आदि की चर्चा से इस बारे में भ्रम टूटते हैं। गौण–अंशता की सूक्ष्मेक्षिका का हिंदी–विस्तार रुचिकर है। ये बातें सामान्य सत्संगप्रेमियों के मन में उठती हैं, अपने ढंग से उपदेशक समझाते भी हैं पर इतना परिष्कृत परीक्षण सरल नहीं है। जरूरत है इस सद्ग्रन्थ के ऐसे चुनींदा सन्दर्भ और सरलकर समझाते हुए अलग से संगृहीत हों। अनुवादक से यह भी अनुरोध है कि सिद्धि में जो परिभाषाएँ, लक्षण, नियम निर्धारित किये हैं उन्हें एक कोष के रूप में (या पारिभाषिक शब्दावली के रूप में) एकत्रकर परिशिष्ट में उपलब्ध करावें। आधुनिक पाठक पर उपकार करते हुए ग्रंथ के अंदर कथित विषयों की वर्णक्रमसूची भी परिशिष्ट में चाहिये। अंश की तरह जीव की छायारूपता का वर्णन भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भाष्यादि में तथा प्रकरण ग्रन्थों में यह रूपक अत्यन्त प्रचलित है। बिम्ब प्रतिबिम्ब में भेद लोकसंमत होने पर भी विचार से अभेद ही स्थापित होता है। वर्तमान भौतिकी प्रतिबिम्ब को वस्त्वन्तर मानती भी नहीं अत: भेद बताने के लिए यह योग्य ही रूपक प्राचीनों द्वारा अपनाया गया। दर्पण के स्वच्छ या अस्वच्छ होने से इस वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता फिर भी तुष्यतु–न्याय से आचार्य ने विचार किया है। पृ.१२९ आदि से जो दृष्टान्तविषयक प्रश्नोत्तर आये हैं वे भी यह भूलकर कि दार्ष्टान्त क्या विवक्षित है; उपाधिप्रयुक्त मिथ्याप्रतीति समझाने के लिये दृष्टान्त है, दृष्टान्त के प्रत्येक घटक को दार्ष्टान्त से मिलाया जाये यह तात्पर्य ही नहीं है। फिर भी प्रष्टा के प्रत्युत्तरार्थ आचार्य ने विस्तार किया है। प्रतिबिम्ब, आभास अवच्छेद, ये सभी समझाने के ढंगमात्र हैं, इन्हें विभिन्न 'वादों' के रूप में समझना निर्हेतु है। पृ.१३२ पर जीवन्मुक्ति के उपपादन का हिंदी में संक्षिप्त स्पष्टीकरण रमणीय है। पृ.१३४ पर छाया, प्रतिध्वनि आदि की चर्चा रुचिकर तो है पर मूल स्थिति के बारे में कोई नवीनता उद्भावित नहीं। किसी वादविशेष पर आग्रह होने पर यों शंकाएँ मानो हठात् उठाई जाती प्रतीत होती हैं, जिज्ञासु साधक के मन के प्रश्नों के रूप में नहीं। पृ.१४४ पर प्रतिबिम्ब–अवच्छेदवादों का विचार गंभीर है। ऐसे स्थल पर विवरणादि के स्थलनिर्देश सहित किंचित् विस्तार हिंदी में होता तो श्रेष्ठ था।

जीव–परिमाण सभी को रुचिकर प्रसंग है। सामान्य लोग भी यह विवेचन करते पाये जाते हैं कि मृत्यु

के बाद जाने वाला जीव है किस माप का! उत्पन्न होने वाले के बारे में प्राय: प्रश्न नहीं उठता, यह भी आश्चर्य है! आस्तिक दार्शनिक जीव को विभु मानते हैं तथापि वेदभिन्न आगमों के अनुयायी वैष्णवादि उसे अणु मानते हैं। अत: अस्तिक षड् दर्शनों में अद्वैतेतर वेदान्तों का संग्रह नहीं हो पाता। उपाधि–परिच्छिन्नता से परिच्छिन्नता–व्यवहार संगत रहते जीव भी परिच्छिन्न मानना अप्रामाणिक गौरवग्रस्त है यह ग्रंथकार ने स्पष्ट कर दिया है। गन्तव्य की सीमा जब औपाधिक ही माननी आवश्यक है क्योंकि ईश्वर व्यापक है, तब गन्ता की क्यों न मानें– यह पृ.१५० का विचार सर्वोपयोगी है। उत्क्रमणचर्चा उपनिषद्–गीता–ब्रह्मसूत्रों की तरह अद्वैतसिद्धि में भी उपस्थित है क्योंकि सभी स्वयं को मरणशील मानने से इस बारे में हमेशा उत्सुक रहते हैं। जीवाणुत्व के अनुमान हिंदी में विस्तार से समझाकर अनुवादक ने अध्येताओं का बहुत उपकार किया है। जीवविभुत्व शास्त्रसम्मत होने से स्वीकार है, तर्क अप्रतिष्ठ है, यह इस सन्दर्भ में समझ आता है।

शारीरक–क्रमानुरूप सिद्धिग्रंथ के तीसरे परिच्छेद (पृ.१६२ आदि) में तत्त्वज्ञान के साधनों पर संक्षिप्त सारगर्भित विचार है। श्रवणादि में अंगांगिभाव के विषय से प्रसंग प्रारंभ किया गया है। यद्यपि यह शास्त्रीय सूक्ष्मता प्रतीत होती है क्योंकि कर्त्तव्य तीनों हैं तो कोई अंग हो या अंगी इससे अन्तर क्या आयेगा तथापि साधना–पद्धति में अन्तर आ जाता है। निदिध्यासनप्रधानता स्वीकारने वाला निवृत्तिप्रधान, व्यवहार से दूर रहकर आत्मानुशीलन में तत्पर रहता है। श्रवणप्राधान्य समझने वाला शास्त्र–विचार पर केन्द्रित रहता है। यद्यपि यह भी अन्य प्रवृत्ति या व्यवहार में नहीं पड़ता तथापि शास्त्राध्ययनादि, ग्रन्थकरण, व्याख्यान आदि प्रवृत्तितुल्य व्यवहार इसे उद्वेजक नहीं प्रतीत होते। किंच, साक्षात्कार या प्रत्यक्षता के लिये यह मनोनिर्भर न होकर शास्त्रनिर्भर होने से अधिक आश्वस्त होता है क्योंकि शास्त्र प्रबल प्रमाण स्वीकार है। यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रसंग के विकल्प मूलसिद्धान्त के अनुकूल होंगे अर्थात् श्रवण या निदिध्यासन को अंगी मानने वाले दोनों अद्वैती हैं। सिद्धिकार ने प्रारंभ में विचार की परिभाषा दी है। प्राय: विचारशब्द मननार्थ मानते हैं लेकिन यहाँ उसका जो स्वरूप बताया वह श्रवण है। संक्षेपशारीरक (३.३४४) का यहाँ संवाद द्रष्टव्य है। उस ग्रंथ के प्रारंभ में (१.१८) विचारोपयोग पर चर्चा है। वहाँ रामतीर्थ स्वामी ने 'विचारो युक्तत्वायुक्तत्वव्यवस्थापनलक्षण:' व्याख्या की है। आगे उसे तर्क भी कहा है। अत: प्रसंगानुसार इसके दोनों स्वरूप मान्य हैं। मीमांसा विचाररूप ही है। उससे शास्त्र का अर्थ समझने के यौक्तिक ढंग ही स्थापित किये जाते हैं। इस तरह दोनों भाव समेकित हो जाते हैं। आपात एवं पर्यवसित वाक्यार्थ का प्रसंग हिंदी में अच्छा समझाया है (पृ.१६४)। मननादि की सहायकता पृ.१६७ हिंदी में सरल शब्दों में व्यक्त है। यद्यपि निदिध्यासन अंगी मानना भी मूल सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं (सिद्धान्तलेशसंग्रह में मन्दाधिकारी के लिये यह विकल्प ध्वनित किया प्रतीत होता है) तथापि भगवान् भाष्यकार एवं विवरणकारादि प्राय: आचार्य श्रवण की प्रधानता के पक्षधर हैं।

पृ.१७३ से श्रवणादिविषयक विधिविचार भी आवश्यक संन्दर्भ है भले ही अद्यतन साधक भी यों विधि के प्रति आदरपूर्ण नहीं है कि विधि है तो अवश्य सम्पन्न करे इत्यादि। तथापि शास्त्रश्रद्धालु इसकी वैधता को महत्त्व अवश्य देवे। लोक में जप–पूजा–पाठ में बैठा व्यक्ति क्योंकि स्वयं को नियम–प्रवृत्त मानता है इसलिये अनावश्यक व्यवधान नहीं करता एवं प्रतिदिन यथासमय इनका अनुष्ठान करता है जबकि विचार में संलग्न यों नियमबद्ध हो विचार का अनुष्ठान करे यह कम देखा गया है। पठन–पाठनरूप श्रवण में प्रवृत्त भी प्रसंगान्तर में भटकते मिलते हैं क्योंकि इससे कोई नियम टूटता नहीं लगता। अत: श्रवणादि की विधि है– इस तथ्य को निर्धारित कर लेना चाहिये ताकि नियमित रूप से बिना व्यवधान यथाकाल श्रवणादि सम्पन्न किये जायें। रोज जीवनभर एक ही मंत्र जपने से मन नहीं भरता वैसे शास्त्र पढ़ चुकने पर पुन: इन्हीं के गम्भीरतर अध्ययन में संलग्न रहना चाहिये, 'पढ़ लिया' मानकर छोड़ नहीं देना चाहिये। जब शास्त्र में 'जामिता' नहीं तब उसके पुन: पुन: आवर्तन में जामिता क्यों हो? विधि अंगीकार करने पर

श्रवणादि में स्थिरता रहे यही स्वाभाविक है। विधि कौन सी मानें— यह अलग बात है लेकिन सिद्धिकारादि ने इस पर भी बहुत चिंतन किया है।

श्रुतिविचार ही प्रधान है (प्र.१७९), अन्य ग्रंथों पर निर्भर रह जाना श्रेष्ठ नहीं। पाण्डित्येच्छुक बहुधा वादग्रन्थों के ही दायरे में सीमित रहते देखे जा रहे हैं जबकि वादग्रन्थों से नि:संशय हो उपनिषद्—विचार में ही तत्परता का महत्त्व है। एक तरफ आज 'सभी को वेदाधिकार होना चाहिये' का हठ है दूसरी तरफ मुमुक्षु भी पुराणादि वेदभिन्न—ग्रंथों का आश्रयण कर रहे हैं यह विचित्र विडम्बना है। ग्रंथकार एवं अनुवादक ने श्रवणादि का अभिप्राय सुव्यक्त किया है। शारीरक मीमांसा में विधि— अनुसार प्रवृत्त होना श्रेयस्कर है, औत्सुक्यमात्र से नहीं। पृ.१८७ पर मनन और उसका उपयोग क्या इसे समझाया है। श्रवणादि विधेय हैं, दर्शन नहीं इसे पृ.१९० पर स्पष्ट ही कहा है। पृ.१९५ पर भामती प्रस्थान की इस विषय पर आलोचना है। हिन्दी व्याख्याता भामती के सम्बद्ध स्थल उपस्थित कर देते तो उत्तम होता।

ज्ञान में विधि नहीं यह आगे समझाया है। माध्वमत—निरास के बहाने सिद्धिकार ने ज्ञानविधि की असंभवता स्पष्ट कर दी है। भाष्यकार और वार्तिककार के इस विषय पर मत स्पष्ट हैं एवं स्थल—स्थल पर उन्होंने समझाया है। मीमांसानुसारी चिंतन वाले को यह बात महत्त्वपूर्ण लगती भी है भले ही आज की शैली वालों के लिये निरर्थक शंका—समाधान हों! ध्यान व ज्ञान के अन्तर की भी बारीकी स्थूल स्तर के श्रद्धालु को दुर्बोध रह जाती है। प्रतीयमान जीव को ब्रह्म बताया गया है, इसे समझ रहे हैं या ऐसा ध्यान कर रहे हैं— इनमें क्या फर्क है यह सूक्ष्म ही विषय है। फिर भी आचार्यों ने अन्तर बताया और तदनुसार वाद—विवाद होते हैं। इसी तरह ज्ञानरूप और विचाररूप श्रवण का अन्तर (पृ.२०९) यत्नपूर्वक ही बुद्धिगत होगा। 'मैंने सुना या सुनकर जाना' तथा 'कही बात को समझा' में थोड़ा ही भेद है पर उतना भी महत्त्वपूर्ण है।

अद्वैतियों के लिये, विशेषत: विवरणानुयायियों के लिये शब्द से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है यह महत्त्व की बात है जिस पर पृ.२१० आदि में चर्चा है। विवरण (पृ.२८५—२८६ द.म.प्रकाशन) में बताया है कि प्रामाणिक ब्रह्मज्ञान होने के साथ ही ब्रह्म अपरोक्ष रूप से अवभासित होता है लेकिन चित्तदोष से प्रतिबद्ध हुआ भ्रमवश परोक्ष जैसा प्रतीत होता है। अद्वैतरत्नरक्षण (पृ.४४ निर्णयसा.) में तीन 'श्रवण' मानकर यह समझाया है। इस विषय को 'दशमस्त्वम्' के सहारे पञ्चदशीमें अत्यन्त स्पष्ट किया गया है। सिद्धि में शास्त्रोक्ति और उपपत्ति के अनुसार समझाया है। पृ.२१२ में प्रदर्शित अनुकूल तर्क का हिन्दी में खुलासा चाहिये था। 'दशम मैं हूँ' यह सभी दसों लोगों को अपरोक्षानुभव होता है— यह उदाहरण का वैशिष्ट्य दिखाकर आचार्य ने प्रसंग स्पष्टतर किया है। पृ.२१४—२१६ का सन्दर्भ गंभीर है। इस पर अनेक स्थलों पर विचार है। परिमल (पृ.५५ निर्णयसा) में भी उपलब्ध चिन्तन अनुसन्धेय है। यद्यपि साधनाभ्यास में इससे विशेष अन्तर नहीं आता कि शब्द करण है या मन या दोनों (पृ.२१७) तथापि श्रवणोत्पन्न अनुभूति की प्रामाणिकता के प्रति निष्ठा शब्दकरणता स्वीकारने पर दृढ़ होती है, मन:करणता मानने पर संस्कारदार्ढ्य पर निर्भरता अधिक होती है आदि यत्किंचित् अन्तर व्यवहार में मिलता है

पृ.२१९ से अन्तिम परिच्छेद प्रवृत्त है। अविद्या बन्धन अत: उसकी निवृत्ति मोक्ष और उस निवृत्ति में निमित्त तत्त्वज्ञान ये वेदान्त दर्शन की मूलभूत स्वीकृतियाँ हैं। इन पर आचार्य शंकर से लेकर आज तक विद्वानों ने चर्चा की है। सदा से एक पक्ष जीवन रहते कैवल्य नहीं मान पाया जब कि बहुतेरे विचारक उसे सहज में स्वीकारते है। क्योंकि बन्ध की तरह मोक्ष स्वानुभवैकगम्य है इसलिये अनुभवलाभ के पहले उस पर मतभेद स्वाभाविक है। भाष्यकार इस तथ्य को व्यक्त कर ही चुके हैं कि 'कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत!' (ब्र.सू.भा.४.१.१५) प्रामाणिक साक्षात्कार से अविद्या मिटना अनुभूयमान रहते 'नहीं मिटी' ऐसा उपपादित करने से वह पुन: अनुभव हो यह संभव नहीं। फिर भी साधक मोक्षपर्यन्त प्रयासशील रहेगा ही अत: 'मैं मुक्त नहीं' समझने तक साधनतत्पर होगा। केवल मृत्यु को ऐसी

महिमा वाला नहीं मान सकते कि तत्त्वनिष्ठा तो जीवित को हो, फिर मृत्यु आकर उसे कैवल्य प्रदान करे! अद्वैती आचार्य प्राय: जीवन्मुक्ति–समर्थक रहे हैं, भले ही उसे न मानने वाले भी आदरणीय ही हैं।

अविद्यानिवृत्ति के स्वरूप की चर्चा कैवल्य को अद्वैतरूप समझने में उपयोगी है। किं च, नैष्कर्म्य या प्रयासहीनता में स्थिति के लिये भी यह प्रसंग समझा रहना चाहिये। इसी तरह मोक्ष नित्य और प्राप्य दोनों कैसे— यह भी प्रचलित शंका है जो पृ.२२० पर समाहित है। वहीं, विरोधी वृत्ति को अविद्यानिवृत्ति मान सकते हैं यह विकल्प भी सुझाया है। आचार्य को निवृत्ति किंरूप मानी जाये इसमें आग्रह नहीं, मोक्ष अद्वैतरूप है इसमें तात्पर्य है अत: इसके अनुकूल सब विकल्प स्वीकार हैं। वृत्तिध्वंस और अविद्याध्वंस के बारे में उठाये सवाल भी अभाव को वस्तु मानने वाले तार्किकों को ही शोभा देते हैं! फिर भी कृपाकर आचार्य ने उनके जवाब दिये ही हैं। मुमुक्षु अनुकम्पनीय ही है भले ही संस्कारवश विचार से ऋजु मार्ग पर न चल सके। 'नेति'–श्रुति आत्मभिन्न सब की अर्थात् भाव–अभाव दोनों की निवृत्ति बताती है यह पृ. २२२ पर बताकर आचार्य ने निवृत्तिरूप से उसके अस्तित्व का आग्रह श्रुतिविरुद्ध घोषित कर दिया है। बृहदारण्यक भाष्य १.४.१० में अन्त्य साक्षात्कार ही अविद्यानिवर्त्तक हो–इस मत का निरास किया है 'योऽन्त्य: सन्ततोऽसन्ततश्चेत्यचोद्यमेतत्'। फिर भी सिद्धिग्रन्थ में (पृ.२२२) प्रारब्ध से उपलब्ध विक्षेप और प्रारब्ध न रहने से विक्षेपाभाव–इन दो दशाओं में आनंद की अभिव्यक्ति में विशेषता मानकर मुक्तिमात्र और परममोक्ष यों जीवन् और विदेह का अन्तर व्यक्त किया है। जीवन्मुक्तिविवेक में 'जीवत: पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदु:खादिलक्षण: चित्तधर्म: क्लेशरूपत्वाद् बन्धो भवति, तस्य निवारणं जीवन्मुक्ति:' यह समझाया है। जीवन्मुक्ति को वहीं 'सुखातिशयरूप' बताया है। देह छूटने पर भविष्य के बन्ध से भी छुटकारा मिलता है 'जीवन्नेव दृढबन्धनात् कामादेर्विशेषेण मुक्त: सन् देहपाते भाविबन्धाद् विशेषेण मुच्यते' (पृ.१६२ अच्युतरायटीकायुक्त आ.आ.सं.)। विशेषता यही बतायी कि भाविबन्ध से आत्यन्तिक छुटकारा होता है, प्रलय की तरह कुछ समय मात्र के लिये नहीं। वहीं पृ.२२१ में विदेहमुक्ति ज्ञानसमकाल समझायी है। 'विदेह' के देह–शब्द से भाविदेह ही विवक्षित मानकर ऐसा बताया। वर्तमान देह तो सभी का निवृत्त होगा, इसमें तत्त्वज्ञान का क्या योगदान! ऐसी विदेहमुक्ति यदि मरणोत्तर ही हो तो ज्योतिष्टोम के फल की तरह पुण्यसाध्य हो जायेगी! इस विदेहता का प्रारब्ध से विरोध ही नहीं कि जीवन रहते विदेहभाव मत हो सके। 'चरमसाक्षात्कार' के लिये तो कोई साधन ही नहीं बताया गया— यह पृ.२२८ पर विद्यारण्य ने कहा है। 'वर्त्तमानदेहराहित्य' – रूप विदेहमुक्ति भले ही देहान्त पर हो लेकिन भाविदेहराहित्यरूप तो ज्ञान से हो ही जाती है। मधुसूदन स्वामी क्योंकि पूर्वपक्षी के प्रश्नों व आक्षेपों के निरास में प्रवृत्त हैं। इसलिये किसी भी वेदान्ताचार्य द्वारा स्थापित प्रक्रिया पर यदि वादी ने कुछ कहा तो उसका परीक्षण कर स्वपक्षस्थापन आवश्यक है अत: दोनों मोक्षों में विशेषता मानकर संगति बनायी है। फिर भी, अविद्यानिवृत्ति को पंचमप्रकार का मानने वाली प्रक्रिया का तो तिरस्कार ही किया!

अज्ञाननिवर्त्तक को पृ.२२६ में हिन्दी में 'उपाधि' का अभिप्राय दिखाकर स्पष्ट कर दिया है। उपहित विषय है फिर भी ज्ञान भ्रम नहीं— इसका भी खुलासा हिंदी में होता तो अच्छा था।

मोक्ष आनन्दरूप है यह अन्य मोक्षवादियों से वेदान्त में विशेषता है। इस पर पृ.२२९ से पर्याप्त विचार सुलभ है। मोक्ष किसका— यह प्राय: मुमुक्षु की समस्या रहती है। अहंकार से विवेक के प्रयास में जब उससे भेद भासता है तब भले ही वह अनात्मा मान्य हो लेकिन व्यवहार में साधना का प्रभाव अहंकार में ही दीखे यह आशा बनी रहती है। पृ.२३२ पर हिंदी में समाधान अच्छी तरह, भले ही संक्षेप में, बता दिया है। शमादि, मनोनाशादि से अहंकार भी अज्ञान दशा में जैसा है, वैसा तो नहीं रहता अत: उसमें मोक्ष की छाया मिल जाती है। मुक्त भले ही चेतन होगा पर विद्वान् का अहंकार भी असाधारण ही होगा। पृ.२३५ पर क्षणगणना–प्रसंग हिंदी में भलीभाँति व्यक्त है, मूलमात्र से समझना कठिन ही है। तत्त्व साक्षात्कार से शरीर–निवृत्ति क्यों नहीं? इसके उत्तर का भी वहाँ स्पष्टीकरण उचित है। लेश मायने 'आकार'— यह प्रसंग

भी द्रष्टव्य है।

मोक्षतारताम्य में भक्ति के उपयोग की चर्चा मधुसूदन स्वामी की अद्वैतनिष्ठा उजागर करती है। साधनरूप भक्ति तत्त्वज्ञानोपयोगी है, मोक्ष में उसका कोई असर नहीं। अन्यत्र वे भक्ति को स्वतन्त्र पुरुषार्थ भले ही मान लें पर मोक्ष की समरसता को वह भंग करे यह सहन नहीं। मोक्ष में कैसा भी भेद नहीं इस पर ब्रह्मसूत्र का प्रसंग हिंदी में व्यक्त कर दिया यह अच्छा है। तारतम्य गुणगत जाति है का प्रसंग (पृ.२४४) भी हिंदी के सहारे सुबोध हुआ है। पृ.२४६ पर श्रीमद्भागवत का हिंदी में उद्धरण देकर वादी के पक्ष की दुर्बलता प्रकट की गयी है। आनंदमीमांसाप्रकरण भी रुचिपूर्वक समझाया गया है। मुक्तसुख में तारतम्य का पूर्ववादी द्वारा उपपादन पृ.२४८ हिंदी व्याख्या से ही समझ आता है, मूलमात्र से नहीं। अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ सानुसन्धान स्पष्टीकरण से अनुवादक ने अध्येतृवर्ग का अतिशय उपकार किया है। पृ.२५१ पर वादी को अभिप्रेत गीतोक्त अपि शब्द का अन्वय हिंदी में न दिखाया हो तो पाठक को पता चले यह कठिन है।

श्रीस्वामी विशुद्धानन्द गिरि जी को दीर्घकालिक सम्बन्ध श्री स्वामी सत्यानन्द गिरि जी का उपलब्ध हुआ जिसका पूर्ण लाभ स्वयं लेकर भावी छात्रों को भी प्रसादवितरण के रूप में वही लाभ देने के लिये उन्होंने अद्वैतसिद्धि की व्याख्या रची। प्रारंभ में संभवत: यथावश्यक भाग के विवरण का कार्यक्रम था किंतु महापुरुषों के निर्देश शिरोधार्यकर अत्यन्त मनोयोग से उन्होंने यह स्पष्ट रुचिकर हिंदी व्याख्या उपस्थित की है। शायद किसी दशनामी संन्यासी द्वारा अद्वैतसिद्धि पर कोई अन्य हिंदी व्याख्या या अनुवाद प्रकाश में नहीं आया। इस दृष्टि से यह प्रथम है। पंक्ति–अर्थ समझ में आये इस ढंग से प्रश्न उत्तर विभक्त किये हैं और तात्पर्य प्रकट किये हैं अत: भले ही ग्रंथ गुरुमुख से सुनना अनिवार्य हो, पढ़ने के बाद ग्रंथ लगाने में यह अनुवाद अत्युपयोगी है। इतना कठिन कार्य एकाकी करना आपके अध्यवसायी होने में प्रमाण है। संस्कृत–हिन्दी में मुद्रणाशुद्धि का निवारण अतिकठिन है अत: अध्येता सावधानी से सुधारे यही उपाय है। यथाशक्ति स्वामी जी ने योग्य विन्यास प्रस्तुत किया है। ग्रंथ पूर्णत: स्वयं तैयारकर श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन को सौंपना स्वामी जी की निस्वार्थता एवं वैराग्य को अभिव्यक्त करता है। भगवान् श्रीविश्वनाथ से स्वामी श्रीविशुद्धानन्द गिरि जी के स्वस्थ दीर्घ उज्ज्वल जीवन की तथा उनके हाथों अन्य वादग्रंथ भी इसी तरह छात्रोपयोगी व्याख्यायुक्त कराने की प्रार्थना करता हूँ।

ॐ नमो नारायणाय

स्वयम्प्रकाश गिरि

श्रीशङ्कर मठ
आबू

पौष कृष्णा ७–२०७७

ॐ श्रीदक्षिणामूर्तिमहादेवो विजयतेतराम्



निवेदन

ॐ नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र पराशरं च।
व्यासं शुकं गौड़पदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।।
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्त्तिभेदविभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्त्तये नमः।।

भारतीय संस्कृत वाङ्मय अनन्त वेदादि शास्त्र समुद्र का मन्थन कर के उसमें से ''अद्वैतसिद्धि'' रूप ज्ञानामृत प्रकट हुआ है। जिसका पानकर के अमृत प्राप्त करना सहज और सरल है। अतः प्रत्येक तत्त्वजिज्ञासु को श्रद्धा और विश्वास पूर्वक इसका श्रवण—मननादि करना चाहिए। अद्वैतसिद्धि के इस भाग में जो पदार्थ आये हैं। उनका चिन्तन किये विना श्रीमद्भगवद् गीता उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर भाष्य का गम्भीर विचार करना अत्यन्त कठिन है। अतः तत्त्वजिज्ञासुओं को इस भाग का विचार अवश्य करना चाहिए। सामान्य तत्त्वजिज्ञासुओं को सुगमता पूर्वक इस ग्रन्थ में प्रवेश हो— इसको ध्यान में रख कर यह ''सत्यानन्दप्रबोधिका'' नामक टीका लिखी गयी है। इस भाग पर प्रासङ्गिकम् लिखने के लिए विद्वद् वरिष्ठ त्यागमूर्तिपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ— श्रीमत्स्वामिस्वयम्प्रकाशगिरि जी महाराज के प्रति हृदय से आभार प्रगट करते हैं। इस भाग के प्रकाशन में जिन—जिन महानुभावों का सहयोग रहा है और इस भाग के प्रूफ संशोधन में श्रीमत् परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द तीर्थ जी महाराज (श्रीविश्वनाथ धाम सुन्दर नगर मण्डी हि. प्र.) और बहन लीलासेन एम०ए०(पुत्री श्री पृथी सेन—पनारसा मण्डी हिमाचल प्रदेश) का सहयोग रहा है। आप सभी को ब्रह्मविद्या प्राप्त हो— इसके लिए भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति महादेव के श्रीचरणकमलों में प्रार्थना करते हैं। इस टीका में यदि कुछ विशेषता है तो वह गुरुजनों और सर्वनियन्ता परमात्मा की है। यदि कोई दोष है तो वह अपने कारण है। महापुरुषों के द्वारा निर्देश करने पर अग्रिम संस्करण में सुधार कर दिया जायेगा। सद्गुरु कैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर श्रीमत्परमंहसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिजी महाराज एवं दीक्षागुरु आचार्यमहामण्डलेश्वरयतीन्द्रकुलतिलक अनन्तश्रीविभूषितस्वामिविद्यानन्दगिरिजी महाराज और विद्यागुरु पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीमत्परमंहसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठस्वामिसत्यानन्दगिरिजी महाराज के श्रीचरणकमलों में भूयशः वन्दन करता हूँ। पुनःभूयशः वन्दनः—

तस्यै दिशे सततमञ्जलिरेष पुष्पैः प्रक्षिप्यते रसभरैर्मधुरद्विरेफैः।
जागर्ति यत्र भगवान् गुरुचक्रवर्ती विश्वोदयप्रलयनाटकसूत्रधारः।

वसन्त पञ्चमी	भगवत्पादीय
विक्रमी संवत्—२०७७	स्वामी विशुद्धानन्द गिरि
शाङ्कराब्द—१२३३	श्री विश्वनाथ धाम
दिनाङ्क— १६—२—२०२१	भौण कलाहोड़ सुन्दर नगर
	मण्डी हिमाचल प्रदेश—१७५००२

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

चतुर्थपरिच्छेदे —

सङ्केतानां विवरणम्

अ०सू०	अष्टाध्यायी सूत्र
ईशा०उ०	ईशावास्योपनिषत्
उप०सा०	उपदेशसाहस्री
ऐ०उ०	ऐतरेयोपनिषत्
क०उ०	कठोपनिषत्
के०उ०	केनोपनिषत्
खं०ख०	खण्डनखण्डखाद्य
गी०	भगवद्गीता
चि०	चित्सुखी
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषत्
जै०न्या०मा०	जैमिनीय न्यायमाला
जै०सू०	जैमिनिय सूत्र
तं०वा०	तन्त्र वार्तिक
तै०उ०	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०	तैत्तिरीय संहिता
नृसिहो०	नृसिंहतापिनी उपनिषत्
न्या०कु०	न्याय कुसुमाञ्जली
न्या०सू०	न्याय सूत्र
पं०द०	पञ्चदशी
पा०सू०	पाणिनी सूत्र
प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषत्
बृ०उ०	बृहदारण्यकोपनिषत्
ब्र०सि०	ब्रह्मसिद्धि
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
मां०का०	माण्डूक्य कारिका
मां०उ०	माण्डूक्योपनिषत्
मनु०	मनुस्मृति
महा० भा०	महाभारत
मु०उ०	मुण्डकोपनिषत्
यो०वा०	योगवासिष्ठ
ल०च०	(अद्वैतसिद्धिव्याख्या) लघुचन्द्रिका
विष्णु पु०	विष्णुपुराण
श्वेता०उ०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
सं०शा०	संक्षेपशारीरक

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

(द्वितीयः परिच्छेदः)

१—आत्मभेदेऽनुकूलतर्कविचारः

ननु— यद्यात्मैक्यं स्यात्, चैत्रेण सर्वदुःखाद्यनुसन्धानं स्यात् इति—चेन्न; औपाधिकभेदेनाननुसन्धानोपपत्तेः। ननु—हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽप्यनुसन्धानदर्शनाद् उपाधिभेदोऽप्रयोजकः, न च विश्लिष्टोपाधिभेदस्तत्र तन्त्रम्;

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृता

सत्यानन्दप्रबोधिका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

स्कटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमालाममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रैः।
दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे।।
अरुणकिरणजालैरञ्जिता सावकाशा विधृतजपवटीका पुस्तिकाभितिहस्ता।
इतरकरवराढ्या फुल्लकल्हारसंस्था निवसतु हृदि बाला नित्यकल्याणशीला।।
वपुष्प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा, पुरारे न क्वापि क्षणमपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिमान् इतीश क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि।।
नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगिन्द्रमथास्य शिष्यम्।
श्री शङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि।।
ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो
वंशर्षिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः।
सर्वोपप्लवरहितः प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थो
ब्रह्मैवाहमस्मि ब्रह्मैवाहमस्मि।।

ब्रह्मात्मैक्य के विरुद्ध आत्मभेद में पूर्वपक्षी के द्वारा जो तर्क दिये जाते हैं, वे सभी तर्क तर्काभास हैं— इसको स्पष्ट करने के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती यदि आत्मा का ऐक्य मानेंगे तब दूसरों को होने वाले सर्व दुःख का ''मुझे सर्व दुःख हो रहा है'' इस प्रकार से अनुसन्धान = अनुभव की आपत्ति होगी।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त प्रकार की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि आत्मा के एक होने पर भी स्वरूपतः आत्मा सुख दुःखादि का अनुसन्धाता नहीं है अपितु अन्तःकरणादि उपाधि से विशिष्ट होकर सुखादि का अनुभव करने वाला होता है। अन्तःकरणादि उपाधियाँ भिन्न भिन्न होने के कारण आत्मा भी औपाधिक भेद वाला हो जाता है। ऐसा होने से दूसरों के दुःख के अनुसन्धान की आपत्ति नहीं होगी।

मातृसुखादेर्गर्भस्थेनानुसन्धानापातात्। भारते—

''उद्यतायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोक्षिभिः। पश्यन्तः पातयन्ति स्म कबन्धा अप्यरीन्युधि।।'

इत्यादिना विश्लेषेऽप्यनुसन्धानोक्तेश्चेति—चेन्न; नहि वयं यत्किञ्चिदुपाधिभेदमात्रमननुसन्धानप्रयोजकं ब्रूमः, किन्त्वन्तःकरणरुपोपाधिभेदमविद्याभेदं वा। स च भेदः कबन्धे योगिनि च नास्त्येव तेन तत्रानुसन्धानं, चैत्रमैत्रयोश्चास्तीति अननुसन्धानम्।।१।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि ''जहाँ जहाँ उपाधि में भेद होता है वहाँ वहाँ अननुसन्धातृत्व होता है।'' किन्तु ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि हस्त पादादि उपाधियों में भेद होने से हस्त उपाधि वाला आत्मा पाद उपाधि वाले आत्मा से भिन्न होगा। ऐसा होने पर जब पाद उपाधि वाले आत्मा में दु:ख हो रहा है तब हस्त उपाधि वाले आत्मा को दु:ख का अनुसन्धान नहीं होना चााहिए अपितु पाद उपाधि वाले आत्मा को ही दु:ख का अनुसन्धान होना चाहिए, परन्तु पाद में काँटा चुभने पर उसे निकालने के लिए हस्त उपाधि वाला आत्मा को उसका अनुसन्धान होता है और उसे निकालने के लिए प्रवृत्त होता है। अतः उपाधि भेद अननुसन्धातृत्व का हेतु नहीं हो सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जो उपाधियाँ परस्पर श्लिष्ट (सम्बद्ध) है। उनका भेद अननुसन्धातृत्व का हेतु नहीं होता है अपितु जो उपाधियाँ परस्पर सम्बद्ध नहीं है उनका भेद अननुसन्धातृत्व का हेतु बनता हैं। प्रकृत में हस्त पादादि उपाधियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। अतः इनका भेद अननुसन्धातृत्व का हेतु नहीं होगा और अन्तःकरणादि उपाधियाँ परस्पर असम्बद्ध हैं। अतः इनका भेद अननुसन्धातृत्व का प्रयोजक बन जायेगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सम्बद्ध उपाधियाँ जहाँ होती है वहाँ अनुसन्धातृत्व होता है— ऐसा मानने पर माता के गर्भ में स्थित शिशु को माता के सुखदु:खादि के अनुसन्धान की आपत्ति आयेगी, क्योंकि शिशु का शरीर रूप उपाधि और माता का शरीर रूप उपाधि परपस्पर सम्बद्ध है। दूसरी बात यह है कि उपाधियों के असम्बद्ध होने पर भी अनुसन्धान होता है— यह महाभारत में कहा गया है— उठाए है आयुध सुदृढ़ भुज दण्डों से जिन्होंने ऐसे जो कबन्ध (धड़) वे भी युद्धभूमि में गिरे हुए अपने शिर में स्थित नेत्रों से देख—देख कर शत्रुओं का संहार कर रहे थे। फलतः सिद्धान्ती के द्वारा जो नियम अनुसन्धानतृत्व और अननुसन्धातृत्व के लिए बनाए गये थे— उनका खण्डन हो गया।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्त मतानुसार जिस किसी उपाधि के भेद मात्र को अननुसन्धातृत्व का हेतु नहीं माना जाता है अपितु अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद को अथवा अविद्या रूप जो उपाधि उसके भेद को अर्थात् मूला अज्ञान के भेद (एक जीव के मूलाज्ञान का नाश होने पर भी दूसरे जीव का मूलाज्ञान बना रहता है। अतः जीव भेद से मूलाज्ञान नाना हैं। ऐसे मूलाज्ञान रूप जो उपाधि उसके भेद) को ही अननुसन्धातृत्व का हेतु माना जाता है। ऐसा भेद महाभारत में कथित कबन्ध (धड़) में और योगी में नहीं हैं, क्योंकि उक्त स्थलों पर एक ही अन्तः करण रूप उपाधि हैं। अतः अनुसन्धातृत्व की उपपत्ति हो जायेगी। चैत्र और मैत्र में अन्तः करणादि रूप उपाधि का भेद होने से चैत्र को मैत्र के सुखादि का अनुसन्धान नहीं होगा। अर्थात् चैत्र में मैत्र के सुखादि के अननुसन्धातृत्व की भी उपपत्ति हो जायेगी।।१।।

शङ्का— शरीर रूप उपाधि भेद को अननुसन्धातृत्व का हेतु मानने पर बाल्य शरीर में अनुभूत पदार्थों

एतेन—शरीररूपोपाधिभेदस्याननुसन्धानप्रयोजकत्वे बाल्यानुभूतस्य यौवने जातिस्मरेण पूर्वजन्मानुभूतस्य योगिना नानाशरीरानुभूतस्य च स्मरणं न स्यादिति—निरस्तम्; शरीरभेदस्य तत्रातन्त्रत्वाद् योगिजातिस्मर्तृणामन्तःकरणैक्यात्। न च चैतन्यैक्ये अन्तःकरणभेदस्य नाननुसन्धानप्रयोजकत्वम्, चक्षुरादिकरणभेदेऽप्यनुसन्धानदर्शनादिति—वाच्यम्; अन्यकरणभेदेन तथा दर्शनेऽप्यन्तःकरणभेदस्य तदैक्याध्यासापन्ने अननुसन्धानप्रयोजकत्वं कल्प्यते, अन्यथा ब्रह्मैक्यस्य जीवे श्रुतिसिद्धतया सर्वानुसन्धानापत्तेः॥२॥

न च—अन्तःकरणस्य प्रत्यहं सुषुप्तौ विलयेन पूर्वदिनानुभूतस्याननुसन्धानापत्तिरिति—वाच्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

का युवावस्था में और पूर्वजन्म की घटनाओं को स्मरण करने वाला जो विशिष्ट पुरुष उसके द्वारा पूर्व जन्म अनुभूत पदार्थों का और योगी से नाना शरीरों में अनुभूत पदार्थों का स्मरण नहीं हो पायेगा, क्योंकि जैसे जाति स्मर पुरुष और योगी पुरुष के शरीर में भेद है वैसे ही बाल्यावस्था के शरीर और युवावस्था के शरीरों में भी भेद है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन = अन्तःकरणोपाधिभेदस्य अज्ञानभेदस्य वा अननुसन्धानप्रयोजकत्वस्वीकारेण। कहने का भाव यह है कि सिद्धान्तमतानुसार शरीर के भेद को अननुसन्धातृत्व का हेतु नहीं माना जाता है। अतः पूर्वपक्षी का उक्त कथन अकाण्ड ताण्डव मात्र है। जिसको हेतु माना गया है। वह उक्त स्थलों पर नहीं है। फलतः जातिस्मर योगी—युवावस्था प्राप्त चैत्रादि को पूर्वानुभूत पदार्थों का अनुसन्धान होगा, क्योंकि अन्तःकरण एक ही है। अर्थात् अन्तःकरण रूप उपाधि में भेद नहीं है।

शङ्का— यदि सभी शरीरों में एक ही चैतन्य स्वरूप आत्मा है तब अन्तःकरण रूप उपाधियों के भेद को अननुसन्धातृत्व का हेतु नहीं माना जा सकता है, जैसे एक चैत्र में एक ही आत्मा है किन्तु नेत्रादि उपाधियों में भेद है किन्तु पादावच्छेदेन कंटक आदि के द्वारा दुःख होने पर हस्तावच्छेदेन भी उस दुःख का अनुभव होता है तभी तो पाद में लगे कंटक के निकालने के लिए हस्त की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार जब बाह्य करणों के भेद को अननुसन्धातृत्व का हेतु नहीं माना जा रहा है तब अन्तःकरणों के भेद को भी अननुसन्धातृत्व का हेतु नहीं माना जा सकता है— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि नेत्रादि बाह्य करणों में भेद होने पर भी सुखादि का अनुसन्धान देखा जाता है उसी के आधार पर ही यह कल्पना की गयी कि बाह्य करण रूप उपाधियों का भेद अननुसन्धातृत्व का हेतु नहीं बन सकता है अपितु अन्तःकरण के ऐक्य अध्यास से युक्त पुरुष में अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद में अननुसन्धातृत्व का हेतुत्व सूपपन्न है। अन्यथा = अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद को और अन्तःकरण के साथ ऐक्याध्यास को अननुसन्धातृत्व का प्रयोजक न मानने पर श्रुति सिद्ध जो जीवब्रह्मैक्य है। उसके रहने पर सर्व के सुखादि के अनुसन्धान की आपत्ति होगी।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे घट का लय जब मृतिका में हो जाता है और उस मृत्तिका से पुनः जब दूसरा घट बनता है तब यह माना जाता है कि प्रथम घट से दूसरा घट पृथक् है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक दिन सुषुप्ति में अन्तः करण अपने कारणीभूत अज्ञान में लय हो जाता है और पुनः उसी कारणीभूत अज्ञान से नवीन अन्तःकरण उत्पन्न होता है। यहाँ अन्तःकरण रूप उपाधि का भेद होने से पूर्व दिन अनुभूत पदार्थों का दूसरे दिन अनुसन्धान नहीं होना चाहिए, क्योंकि सिद्धान्ती के अनुसार जहाँ अन्तःकरण रूप उपाधि में भेद होता है वहाँ एक अन्तःकरण के द्वारा अनुभूत पदार्थों का दूसरे अन्तःकरण के द्वारा अनुसन्धान नहीं होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में अन्तःकरण का अज्ञान में स्वरूपेण लय नहीं

संस्कारात्मनावस्थितस्यैव पुनरुद्बोधेन तत्रान्तःकरणभेदाभावात्। न च—एवं सुषुप्तप्रलीनमुक्तानामननुसन्धान—प्रयोजकान्तःकरणभेदाभावात् संसारिदुःखानुसन्धानापत्तिरिति—वाच्यम्; तेषामनुसन्धान—प्रयोजकान्तःकरणैक्याध्यासरूपसामग्रीविरहात्, नहि प्रतिबन्धकमात्रेण कार्यविरहः किन्तु सामग्रीविरहेणापि।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है क्योंकि विदेह कैवल्य में ही अन्तःकरणादि का स्वरूपेण लय होता है। इसलिए अज्ञान में अन्तःकरण संस्कारात्मना अवस्थित रहता है और उसी अन्तःकरण का जाग्रत काल में पुनः उद्बोध होता है। फलतः सुषुप्ति कालीन चैत्रीय अन्तःकरण से जाग्रत कालीन चैत्रीय अन्तःकरण में भेद न होने से पूर्व दिवस अनुभूत पदार्थ का सुषुप्ति कालान्तर दूसरे दिवस में चैत्र को अनुसन्धान होगा।

शङ्का— एवम्= अन्तःकरण का भेद होने पर अननुसन्धान और अन्तःकरण का भेद न होने पर अनुसन्धान होता है— ऐसा नियम मानने पर जब सभी जीव सोते हैं तब उनका अन्तःकरण अपने कारण अज्ञान में लय हो गया। उस समय अन्तःकरणों में भेद नहीं होता है, क्योंकि सभी एक अज्ञान में लय हुए हैं। तब चैत्र को मैत्र के दुःखादि का अनुसन्धान होना चाहिए। इसी प्रकार प्रलय अवस्था में जब सभी जीव प्रकृति में लय हो गये तब अन्तःकरणों में भेद न होने पर चैत्र को मैत्र के सुखादि का अनुसन्धान होना चाहिए और जितने मुक्त जीव हैं, उन सबका अन्तःकरण अपने कारण प्रकृति में लय हो जाता है तब प्रकृति में सुषुप्त जीव का अन्तःकरण लय है और प्रकृति लय जीव का अन्तःकरण लय हैं इस प्रकार सुषुप्त जीव और प्रकृति लय जीव तथा मुक्त जीव के अन्तःकरणों में भेद नहीं रहता है तब एक मुक्त जीव को दूसरे बद्ध जीवों के संसारिदुःखों के अनुसन्धान की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि सुषुप्ति काल में और प्रकृति लय काल में अन्तःकरण संस्कारात्मना रहता है और वही अन्तःकरण पुनः प्रगट होता है। अतः चैत्र के सुखादि का मैत्र को अनुसन्धान नहीं होगा। मुक्त जीवों को बद्ध जीवों के संसारिदुःखों का अनुसन्धान इसलिए नहीं होता है क्योंकि अनुसन्धान का हेतु जो अन्तःकरण रूप उपाधि में भेद उस का न होना और आत्मा के साथ अन्तःकरण का तादात्म्याध्यास। ''तुष्यतु दुर्जनः'' इस न्याय से अन्तःकरण रूप उपाधि में भेद न मानने पर भी मुक्त जीवों का अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास नहीं हैं। अतः मुक्त जीवों को बद्ध जीवों के दुःखादि का अनुसन्धान नहीं होगा। अर्थात् दुःखादि के अनुसन्धान का निमित्त = अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद का अभाव होने पर भी दुःखादि के अनुसन्धान का साधन (आत्मा के साथ अन्तःकरण रूप उपाधि का ऐक्याध्यास) नहीं है। अतः बद्ध जीवों के दुःख का अनुसन्धान मुक्त जीव को नहीं होगा। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि प्रतिबन्धक से ही कार्य का अभाव नहीं होता है अपितु सामग्री के अभाव से भी कार्य का अभाव होता है। (कहने का भाव यह है कि प्रतिबन्धक के रहने से कहीं कहीं कार्य का विरह होता है परन्तु एतावता ''यत्र यत्र प्रतिबन्धकः तत्र तत्र कार्यविरहः'' ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर जहाँ प्रतिबन्धक भी नहीं और सामग्री भी नहीं। वहाँ व्यभिचार हो जायेगा। अतः यह मानना पड़ेगा कि कहीं पर तो प्रतिबन्धक के रहने से कार्य विरह होता है और कहीं कहीं पर सामग्री विरह से भी कार्य विरह होता है। प्रकृत में अनुसन्धान रूप कार्य के प्रति प्रतिबन्धक = अन्तःकरण भेद और अनुसन्धान की सामग्री = अन्तःकरणैक्याध्यास। मुक्तावस्था में जो अनुसन्धानरूप कार्य का विरह है। वह अन्तःकरण भेद रूप प्रतिबन्धक के कारण है— ऐसी बात नहीं, क्योंकि वहाँ अन्तःकरण भेद नहीं है किन्तु सामग्री विरह के कारण वहाँ अनुसन्धान रूप कार्य का विरह है। जैसे जहाँ प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्तमणि)

न च—एवं मुक्तस्य स्वरूपसुखानुभवोऽपि न स्यादिति—वाच्यम्; तस्याजन्यत्वेनान्तःकरणानपेक्षत्वात्, जीवविभाजकोपाध्यज्ञानभेदाभेदाभ्यामनुसन्धानाननुसन्धानोपपत्तेश्च ।।३।।

न च—ज्ञानप्रागभाववदज्ञानस्यापि भेदाभेदयोस्तत्राप्रयोजकत्वम्, यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मते एकस्मिन्नपि जीवे ब्रह्मविषयकाज्ञानानां भिन्नत्वेनानुसन्धानविरहप्रसङ्ग इति—वाच्यम्; ज्ञानप्रागभावानां

सत्यानन्दप्रबोधिका

और सामग्री (अग्नि) दोनों नहीं है वहाँ कार्य विरह (दाहाभाव) प्रतिबन्धक के कारण होता है— ऐसी बात नहीं अपितु सामग्री विरह (अग्नि के अभाव) के रहने से होता है।)

शङ्का— एवम् = ऐक्याध्यास को अनुसन्धान का प्रयोजक (सामग्री) मानने पर, मुक्त में ऐक्याध्यास न रहने से मुक्त को स्वरूपसुखानुभव भी नहीं होगा। अर्थात जब मुक्त को ऐक्याध्यास न रहने पर स्वरूपसुखानुभव होता है वैसे ही ऐक्याध्यास न रहने पर और अन्तःकरण रूप उपाधि में भेद न रहने पर मुक्त जीव को बद्ध जीवों के दुःखादि का अनुसन्धान होना चाहिए— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जन्य सुखादि के अनुसन्धान के लिए उक्त नियम (अन्तःकरण में भेद न हो और ऐक्याध्यास हो —ऐसा नियम) माना गया है। मुक्त को जो स्वरूप सुख का अनुसन्धान होता है। वह जन्य न होने से उक्त नियम की अपेक्षा नहीं करता है। जैसे अन्तःकरण को जीव विभाजक उपाधि माना जाता है और अन्तःकरण के भेद को अननुसन्धान का हेतु और अन्तःकरण के भेद विरह को अनुसन्धान का हेतु माना जाता है ठीक इसी प्रकार कुछ आचार्यों के मत में अज्ञान को जीव विभाजक उपाधि माना जाता है और इनके मतानुसार अज्ञान रूप उपाधि के भेद को अननुसन्धान का हेतु और अज्ञान रूप उपाधि के भेद विरह (अभेद) को अनुसन्धान का हेतु मानकर सभी शङ्काओं का निवारण किया जाता है। (यहाँ अज्ञान से मूलाज्ञान लेना है न कि तूलाज्ञान। मूलाज्ञान प्रत्येक जीव में एक—एक होता है और तूलाज्ञान = घट का अज्ञान—पट का अज्ञान आदि तो एक जीव के लिए भी अनेक होते हैं।)।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन हैं कि सिद्धान्ती ने जो यह कहा कि जहाँ अज्ञानों में भेद होता है, वहाँ अनुसन्धान नहीं होता है किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि एक ही पुरुष में अनेक ज्ञानों के प्रागभाव हैं। उनमें परस्पर भेद है किन्तु वहाँ अनुसन्धान होता है। अर्थात् पूर्वपक्षी अज्ञान शब्द से ज्ञान का अभाव अर्थ लिया। अभाव तो प्रागभाव — अत्यन्ताभावादि अनेक हैं। उनमें से प्रागभाव को लेकर अज्ञान शब्द से ज्ञान का प्रागभाव लिया। वह ज्ञान का प्रागभाव एक पुरुष में अनेक हैं और उनमें परस्पर भेद हैं। अतः अननुसन्धान होना चाहिए किन्तु अनुसन्धान ही होता है। फलतः सिद्धान्ती का यह नियम कि अज्ञान के भेद से अननुसन्धान और अज्ञान के अभेद से अनुसन्धान होता है— यह नियम भङ्ग हो गया। (यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि अज्ञान शब्द का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं होता है अपितु सिद्धान्त मतानुसार अज्ञान एक भाव पदार्थ हैं। अतः अज्ञान = ज्ञान का प्रागभाव लेकर उक्त प्रकार से दोष नहीं होगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि अज्ञान को भाव पदार्थ मानें तब भी) जितने ज्ञान है उतने अज्ञान है— इस मतानुसार एक पुरुष में ब्रह्म विषयक आदि अनेक अज्ञान होते हैं और उनमें परस्पर भेद होता है। अतः अननुसन्धान होना चाहिए किन्तु अनुसन्धान ही होता है। इसलिए सिद्धान्ती के उक्त नियम को नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान के प्रागभावों को और ज्ञान सम संख्याक अज्ञानों (तूलाज्ञानों) को जीव विभाजक उपाधि नहीं माना जाता है। अपितु चरम वृत्ति के द्वारा जो अज्ञान (मूलाज्ञान) नष्ट होता है उसी को ही जीव विभाजक उपाधि माना जाता है। (इस पर विशेष विचार लघुचन्द्रिका में देखें।)

ज्ञानसमसङ्ख्याज्ञानानां च जीवविभाजकत्वाभावेनानुसन्धानादावप्रयोजकत्वात्। यत्तु—मुक्तस्यैवं संसारदुःखानुसन्धानापत्तिः, अविद्यारूपोपाधिभेदादननुसन्धाने स्वरूपसुखस्याप्यननुभवापातः—इति, तन्न; वैषयिकसुखाद्यनुसन्धाने तस्य तन्त्रत्वेन स्वप्रकाशस्वरूपस्फुरणे तदनपेक्षत्वात्। ननु—एवमनेकाविद्यासम्बन्धस्य दुःखानुसन्धानस्वरूपस्यानर्थस्य च विशिष्टगतत्वे बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापातेन शुद्धगतत्वे वाच्ये यच्छुद्धं चैत्रीयदुःखानुसन्धातृ तदेव मैत्रीयदुःखानुसन्धात्रिति कथमनुसन्धानाननुसन्धानव्यवस्थेति—चेत्।।४।।

न; अविद्यात्मकबन्धनिवृत्त्यात्मकमोक्षस्य शुद्धगतत्वेऽपि दुःखाद्यनुसन्धातृत्वस्य उपहितवृत्तितया

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः ज्ञान के प्रागभावादि के अभेदादि को अनुसन्धानादि का हेतु ही नहीं माना जाता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित दोष होगें ही नहीं।

शङ्का— अविद्या भेद को अननुसन्धान का प्रयोजक मानने पर मुक्त पुरुष में अविद्या ही नहीं रहती हैं। अतः अविद्या भेद भी नहीं रहेगा। इसलिए संसारावस्था के दुःखों के अनुसन्धान की आपत्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि मुक्त पुरुष की अविद्या रूप उपाधि का नाश हो जाने से संसार दुःखों का अनुसन्धान नहीं होगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि अविद्या उपाधि के नाश से संसार दुःखों का अननुसन्धान होता है तब तो अविद्या रूप उपाधि का नाश हो जाने से स्वरूप सुख का भी मुक्त स्वरूप को अननुसन्धान होना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या रूप उपाधि का भेद और अभेद जो अननुसन्धान और अनुसन्धान के हेतु कहे गये हैं। वह वैषयिक जन्य सुखादि के विषय में कहे गये हैं, स्वरूप भूत नित्य सुखादि के विषय में नहीं। वस्तुतः सामग्री के अभाव के कारण मुक्त को संसार दुःख के अनुसन्धान की आपत्ति नहीं होगी। स्वरूपभूत सुख स्वयंप्रकाश है। उसके अनुसन्धान के लिए किसी सामग्री की अपेक्षा ही नहीं होती है। अतः स्वरूपभूतसुख का अनुसन्धान होगा।

शङ्का— एवम् = अविद्या रूप उपाधि के भेद और अभेद को अननुसन्धान और अनुसन्धान का प्रयोजक मानने पर, अनेक जो अविद्याओं का सम्बन्ध और उन अविद्याओं के सम्बन्ध से प्रयुक्त दुःखानुसन्धान स्वरूप जो बन्धन स्वरूप अनर्थ है। वह बन्धन क्या विशिष्ट चैतन्य में रहता है? अथवा शुद्ध चैतन्य में? प्रथमपक्ष मानने पर बन्धन विशिष्ट चैतन्य में और मोक्ष शुद्ध चैतन्य में रहने पर बन्ध और मोक्ष में वैयधिकरण्य की आपत्ति होगी। द्वितीय पक्ष मानने पर अर्थात् अनेक जो अविद्याओं का सम्बन्ध और तत्प्रयुक्त दुःखानुसन्धान स्वरूप जो बन्धन स्वरूप अनर्थ है। उसको शुद्ध चैतन्य में मानने पर चैत्र मैत्रादि में शुद्ध चैतन्य एक ही है। अतः जो शुद्ध चैतन्य मैत्रीय दुःख का अनुसन्धाता है वही शुद्ध चैतन्य चैत्रीय दुःख का अनुसन्धाता है। ऐसा होने पर शुद्ध चैतन्य सभी के दुःखों का अनुसन्धाता ही सिद्ध होगा न कि अननुसन्धाता। अतः किसी दुःख का अनुसन्धान और किसी दुःख का अननुसन्धान की व्यवस्था नहीं बन पायेगी। इसलिए उक्त व्यवस्था बनाने के लिए सिद्धान्ती को शुद्ध चैतन्य में भेद मानना पड़ेगा।।४।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्यात्मक जो बन्ध तादृश बन्धनिवृत्तिस्वरूप मोक्ष शुद्ध गत होने पर भी दुःखादि का अनुसन्धातृत्व उपहित चैतन्य में रहता हैं। अतः उपहित चैतन्य के भेद से अननुसन्धातृत्व की उपपत्ति हो जायेगी। इसलिए शुद्ध चैतन्य में भेद मानने की आवश्यकता नहीं हैं।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि बन्ध मोक्ष के वैयधिकरण्य की आपत्ति से बचने के लिए सिद्धान्ती को ब्रह्मगत ही संसार मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर ब्रह्म में जीव के जैसे संसारित्व की आपत्ति होगी।

शुद्धभेदापादनायोगात्। न च संसारस्य शुद्धगतत्वे ब्रह्मणोऽपि संसारित्वापत्तिः; बिम्बप्रतिबिम्बयोर—वदातत्वश्यामत्ववद् घटाकाशमहाकाशयोः परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्ववद् एकस्यैव नभसस्तत्तत्कर्णपुटावच्छेदेन तत्र तत्र श्रोत्रतावच्च औपाधिकभेदेन संसारित्वासंसारित्वव्यवस्थोपपत्तेः। अतएव—दुःखानुसन्धानरूपस्यानर्थस्य उपहितनिष्ठत्वेन तस्य कल्पितत्वेन बद्धस्य निवृत्तिरेव, न तु मोक्ष इत्यापात इति—निरस्तम्; उपाधेः कल्पितत्वेन निवृत्तावप्युपधेयस्याकल्पिततया तन्निवृत्त्ययोगान्मोक्षान्वयोपपत्तेः। न च—प्रतिबिम्बस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त दोष नहीं होगा। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे दर्पण रूप उपाधि में मलिनता (श्यामता) के रहने से प्रतिबिम्ब में मलिनता आती है बिम्ब में मलिनता नहीं आती है अपितु अवदातत्व = निर्मलता ही रहती है। अर्थात् बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद माना जाता है किन्तु एक ही शुद्ध मुख में मलिन उपाधि के कारण प्रतिबिम्ब रूप से श्यामता और बिम्ब रूप से निर्मलता रहती है ठीक इसी प्रकार प्रकृत में असंसारी और संसारी इन दोनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। बिम्ब प्रतिबिम्ब अभिन्न होने पर भी मलिन अविद्या रूप उपाधि के कारण प्रतिबिम्ब भूत उपहित में ही मलिनता = संसारित्व आयेगा और बिम्बभूत शुद्ध ब्रह्म में संसारित्व नहीं आयेगा। इसी प्रकार घट रूप उपाधि के परिच्छिन्नता के कारण घटाकाश में परिच्छिन्नता और महाकाश में अपरिच्छिन्नता रहती है जबकि घटाकाश और महाकाश एक ही होता है। ऐसे ही एक ही गगन में तत्तत् कर्णपुटावच्छेदेन श्रोत्रता और तत्तत्कर्णपुटानवच्छेदेन अश्रोत्रता रहती है। ठीक इसी प्रकार से प्रकृत में भी औपाधिक भेद से एक ही आत्मा में संसारित्व और असंसारित्व की उपपत्ति हो जायेगी।

शङ्का— दुःख अनुसन्धान रूप अनर्थ को उपहित चेतन में मानने पर जब उपाधि का नाश होगा तब उपहित चेतन जो कल्पित है उसका नाश हो जायेगा न कि मोक्ष, ऐसा होने पर जो बद्ध (उपहित चेतन) था वह मुक्त होगा— ऐसा नहीं हो पायेगा।

समाधान— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। अत एव = औपाधिकभेदेन एकस्मिन्नेवात्मनि संसारित्वासंसारित्वव्यवस्थोपपत्तेरेव = औपाधिक भेद से एक ही ब्रह्म में संसारित्व असंसारित्व (मोक्ष) की व्यवस्था की उपपत्ति हो जाने से पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त हो गया। दूसरी बात यह है कि उपाधि के कल्पित होने से उपाधि की निवृत्ति होने पर भी उपधेय (चैतन्य) की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि उपधेय कल्पित नहीं होता है। फलतः उपधेय मुक्ति अवस्था में रहेगा। अर्थात् अविद्या उपाधि से उपहित चैतन्य जो बद्ध था वही चैतन्य अविद्या रूप उपाधि के नाश हो जाने पर मोक्षावस्था में रहता है। अतः जो बद्ध था उसका ही मोक्ष हुआ।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती उपहित और शुद्ध में अभेद मानते हैं। इसके समर्थन में बिम्ब प्रतिबिम्ब के अभेद का जो दृष्टान्त दिया वह ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु से वस्तु की छाया जैसे भिन्न होती है वैसे ही बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न होता है अभिन्न नहीं। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। अर्थात् उक्त दृष्टान्त के बल पर दार्ष्टान्त में अभेद की सिद्धि और बिम्ब से पृथक् भूत प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से औपाधिक भेद की सिद्धि नहीं की जा सकती हैं। इसी प्रकार सिद्धान्त मतानुसार आकाश कार्य द्रव्य होने से सावयव है। जबकि दार्ष्टान्त में शुद्ध ब्रह्म निरवयव है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है अर्थात् सावयव आकाश के दृष्टान्त के माध्यम से निरवयव शुद्ध ब्रह्म में औपाधिक भेद तथा उपहित और शुद्ध में अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अथवा जैसे मृत्तिका का कार्य घट होने से पट की अपेक्षा से

छायावद्वस्त्वन्तरत्वेनाकाशस्यापि त्वन्मतेऽपि कार्यद्रव्यतया सावयवत्वेन तैजसाहङ्कारकार्याणां श्रोत्राणां स्वत एव भिन्नत्वेन दृष्टान्तासंमतिरिति—वाच्यम्।।५।।

प्रतिबिम्बे वस्त्वन्तरत्वस्य निरसिष्यमाणत्वात्, आकाशश्रोत्रभावस्य पररीत्या दृष्टान्तत्वात्, 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः, इति श्रुतेर्विशिष्टस्यैव भोक्तृत्वात्तस्य भिन्नत्वाद् व्यवस्थेति कौमुद्युक्तप्रकारेणापि अनुसन्धानाननुसन्धानोपपत्तेश्च। अतएव—शुद्धचिन्मात्रगतत्वे तत्र भेदाप्रतीत्या भेदस्य कल्पितस्याप्यभावः, भावे वा भेदस्यैव व्यवस्थारूपस्वकार्यकारिणो वह्नावुष्णत्ववद्धर्मिज्ञानाबाध्यत्वम्, अभेदस्य त्वव्यवस्थारूपस्वकार्याकारिणोऽनुष्णत्ववन्मिथ्यात्वमित्यात्वमित्यापातः, आविद्यकभेदहीनस्य मुक्तस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

घट स्वतः ही भिन्न सिद्ध हो जाता है न कि उपाधि से, ठीक इसी प्रकार तैजस अहंकार का कार्य श्रोत्र होने से आकाश की अपेक्षा से श्रोत्र स्वतः ही भिन्न सिद्ध हो जायेगा न कि उपाधि से। जबकि दार्ष्टान्त में शुद्ध ब्रह्म में औपाधिक भेद है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है।।५।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न वस्तु है— इस का निराकरण ''बिम्बप्रतिबिम्बविचारः'' में किया जायेगा। नैयायिकादि मत के अनुसार आकाश में श्रोत्ररूपता का दृष्टान्त दिया गया है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टन्त में वैषम्य नहीं होगा। ''आत्मा (शरीर) इन्द्रिय मन ये तीनों मिलित होकर आत्मा भोक्ता होता है।'' — ऐसा मनीषि जन कहते हैं। (कठ.उ. १—४) इस श्रुति से विशिष्ट (शरीर इन्द्रिय मनो युक्त आत्मा) को ही भोक्ता कहा गया है। वह प्रत्येक शरीर में भिन्न—भिन्न होने से अनुसन्धान और अननुसन्धान की व्यवस्था हो जायेगी। इस प्रकार से कौमुदीकार का जो सिद्धान्त है— वह भी युक्ति युक्त ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि भोक्तृत्वादि अनर्थ को शुद्ध चैतन्य मात्र में मानने पर शुद्ध चैतन्य में भेद के प्रतीति न होने से कल्पित भेद का भी अभाव हो जायेगा। (फलतः औपाधिक भेद को लेकर अननुसन्धान— अनुसन्धान की व्यवस्था नहीं बन पायेगी।) यदि शुद्ध चैतन्य में भेद की प्रतीति मानते हैं तब अनुसन्धान और अननुसन्धान रूप व्यवस्था रूप कार्य का हेतु जो भेद है उस भेद में तात्त्विकत्व मानना पड़ेगा। अर्थात् अनुसन्धान अननुसन्धान रूप कार्य को करने में समर्थ होने से भेद को धर्मिज्ञान से अबाध्य अर्थात् सत्य मानना पड़ेगा। (यहाँ पर यह अर्थापत्ति है— भेदस्य सत्यत्वं विना व्यवस्थारूपस्वकार्यकारित्वमनुपपन्नम्।) जैसे वह्निगत उष्णत्व स्वकार्य= दाह को सम्पादन करने में समर्थ होने के कारण वह्निगत उष्णत्व को तात्त्विक माना जाता है। अभेद अपना कार्य = अव्यवस्था को करने में समर्थ न होने के कारण अभेद को मिथ्या मानना पड़ेगा। (यहाँ पर यह अर्थापत्ति है— अभेदस्य मिथ्यात्वं विना अव्यवस्थारूपस्वकार्यजनकत्वमनुपपन्नम्।) जैसे वह्नि में अनुष्णत्व का कार्य = अदाह को करने में समर्थ न होने के कारण वह्निगत अनुष्णत्व को मिथ्या माना जाता है। आविद्यक (कल्पित) भेद को अननुसन्धान का व्यवस्थापक मानने पर मुक्त पुरुष में अविद्यक भेद न होने से उसको संसारादि दुःखों का अनुसन्धान होना चाहिए— ऐसी आपत्ति आयेगी।

समाधान— अत एव निरस्तम्। अत एव शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि व्यवस्था जो भेद का कार्य है वह व्यवस्था समान सत्ताक भेद का कार्य है। अतः उक्त अर्थापत्ति (भेदस्य सत्यत्वं विना व्यवस्थारूपस्वकार्यकारित्वमनुपपन्नम्) के द्वारा व्यवस्था की सत्ता = व्यावहारिक सत्ता के समान सत्ता वाला = व्यावहारिक सत्ता वाला ही भेद सिद्ध होगा न कि व्यवस्था की सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) से अधिक सत्ता

संसारिदुःखानुभवापातश्च इति–निरस्तम्; व्यवस्थायाः स्वसमानसत्ताकभेदकार्यत्वेन स्वाधिसत्ताकभेदेऽनाक्षेपकत्वात्, अव्यवस्थायाः शुद्धचैतन्याभेदाकार्यत्वेन तदकारित्वप्रयुक्तमिथ्यात्वस्यापादयितुमशक्यत्वात्, उपाध्यभेदस्यैव तत्र तन्त्रत्वात्।।६।।

किञ्चोपाधिकल्पितांशजीवानां वानुसन्धानमापद्यते, अंशिनो ब्रह्मणो वा। नाद्यः, हस्तावच्छिन्नेन पादावच्छिन्नदुःखाद्यननुसन्धानात्। न च–न वयं भोगायतनानां साङ्कर्यमापादयामः, येन पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमिति न स्यात्, किन्त्वनुसन्धानमात्रम्, तच्चांशानामस्त्येव; अन्यथा चैत्रदेहलग्नकण्टकोद्धरणाय मैत्रस्येव पादलग्नकण्टकोद्धरणाय हस्तस्य व्यापारो न स्यादिति–वाच्यम्; पादावच्छिन्नदुःखस्य हस्तावच्छिन्ने

सत्यानन्दप्रबोधिका

(पारमार्थिक सत्ता) वाला भेद सिद्ध होगा। पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि अभेद का कार्य = अव्यवस्था है। उसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि शुद्ध चैतन्य रूप अभेद किसी का कारण न होने से अव्यवस्था का भी कारण नहीं है। अतः तद् = अव्यवस्था के अजनकत्व से प्रयुक्त मिथ्यात्व का आपादन नहीं किया जा सकता है। अर्थात् अभेदस्य मिथ्यात्वं विना अव्यवस्थारूपस्वकार्यजनकत्वमनुपपन्नम्– इस अर्थापत्ति का खण्डन हो गया। दूसरी बात यह है कि अव्यवस्था का जनक शुद्ध चैतन्य रूप अभेद को नहीं माना जाता है। अपितु उपाधियों के अभेद को माना जाता है। अर्थात् जहाँ उपाधियों में अभेद होता है वहाँ अननुसन्धान रूप व्यवस्था नहीं बन पाती है।।६।।

किञ्च पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या १ में कहा था कि ''यद्यात्मैक्यं स्यात्, चैत्रेण सर्वदुःखाद्यनुसन्धानं स्यात्'' अर्थात् यदि आत्मा में भेद नहीं मानते हैं तो चैत्र को सभी दुःखों के अनुसन्धान की आपत्ति आयेगी। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त अर्थापत्ति के द्वारा चैत्र जो कि उपाधि के द्वारा कल्पित ब्रह्म का अंश भूत जीव है उसमें सर्वदुःखानुसन्धान का आपादन कर रहे हो? अथवा अंशी जो ब्रह्म उसमें सर्वदुःखानुसन्धान का आपादन कर रहे हो? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि पादावच्छिन्न आत्मनिष्ठ दुःख का हस्तावच्छिन्न आत्मा के द्वारा हस्त में दुःख हो रहा है– इस प्रकार से अनुसन्धान नहीं होता है अपितु पैर में वेदना है और हाथ में सुख है– ऐसा अनुसन्धान होता है। फलतः हस्तावच्छिन्न आत्मा और पादावच्छिन्न आत्मा के एक होने पर भी हस्तावच्छिन्न आत्मा में पादावच्छिन्न आत्मा के दुःख का अनुसन्धान नहीं हो रहा है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि भोग के आयतनों (शरीरों) में सांकर्य का आपादन नहीं करते हैं। जिससे कि ''मेरे पाद में वेदना है और शिर में सुख है'' यह अनुभव न हो। (अर्थात् शरीरों में सांकर्य का आपादन न करने से पैर को दुःख होने पर हाथ को ''मुझे दुःख हो रहा है'' ऐसा अनुसन्धान का आपादन नहीं होगा। अतः ''मेरे पैर में वेदना है और शिर में सुख है'' यह अनुभव होगा।) अब पूर्वपक्षी अपने आपादन को कह रहा है कि हम अनुसन्धान मात्र का आपादन करते हैं वह तो अंशों में होता ही है। अर्थात् पादावच्छिन्न आत्मा में दुःख होने पर हस्तावच्छिन्न आत्मा को यह अनुभव होता ही है कि पैर में दुःख हो रहा है। अन्यथा चैत्र शरीर में लगे हुए काँटे को निकालने के लिए जैसे मैत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है वैसे ही पैर में लगे हुए काँटे को निकालने के लिए हाथ की प्रवृत्ति नहीं होगी किन्तु यहाँ पर हमारा कथन है कि मैत्र को दुःख होने पर चैत्र को यह अनुसन्धान होना चाहिए कि ''मैत्र को दुःख हो रहा है।'' इस प्रकार के आपादन के द्वारा आत्मैक्य मानने पर दोष होगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे पादावच्छिन्न आत्मा में दुःख उत्पन्न होने पर भी वह

अनुत्पादनवत् चैत्रीयदुःखाद्यनुसन्धानस्य मैत्रे अनुत्पादः। हस्ते दुःखप्रयोजकसामग्रीविरहवत् मैत्रे अनुसन्धानप्रयोजकोपाध्यैक्याभावात्। तथा च हस्तावच्छेदेनानुसन्धानमस्त्येवेति न तत्र व्यापाराभावापत्तिः। नान्यः—तस्याभोक्तृत्वेन भोगाप्रसङ्गात्, दुःखादिज्ञानमात्रस्य च सर्वज्ञे तस्मिन्निष्ठत्वात्।।७।।

न च भोक्तृजीवाभिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽपि भोक्तृत्वापत्तिः; बिम्बप्रतिबिम्बवद्व्यस्थोपपत्तेः, अनुसन्धानस्यावच्छिन्नगततया शुद्धब्रह्मण्यापादनायोगाच्च। न चैतावता बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

दुःख हस्तावच्छिन्न आत्मा में उत्पन्न नहीं होता है, वैसे ही चैत्रगत स्वगत दुःख का अनुसन्धान होने पर भी मैत्र को उस दुःख का अनुसन्धान नहीं होता है। पैर में दुःख के अनुसन्धान का प्रयोजक सामग्री काँटा चुभनादि। वह सामग्री हस्त में नहीं है। अतः हस्त में दुःख का अनुसन्धान नहीं होता है ठीक इसी प्रकार चैत्रीय दुःख के अनुसन्धान का प्रयोजक = चैत्रीय उपाधि। उस उपाधि के साथ ऐक्य मैत्रीय उपाधि का नहीं है। अतः मैत्र को चैत्रीय दुःख का अनुसन्धान न होना उचित ही है। तथा च=अन्तःकरण उपाधि के ऐक्य को अनुसन्धान का प्रयोजक मानने पर पैर में काँटा लगने पर हाथ में अनुसन्धान होने से हाथ में काँटा निकालने के लिए व्यापार होगा, क्योंकि हस्तावच्छिन्न आत्मा और पादावच्छिन्न आत्मा दोनों का अन्तःकरण रूप उपाधि एक ही है। द्वितीय विकल्प (ब्रह्म रूप अंशी में अनुसन्धान का आपादन) भी उचित नहीं है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म भोक्ता ही नहीं हैं। अतः शुद्ध ब्रह्म में अनुसन्धान रूप भोग (भोग = जीव को दुःख होने पर शुद्ध ब्रह्म को ''मुझे दुःख हो रहा है'' ऐसा ज्ञान रूप भोग) का आपादन सम्भव नहीं होगा। जीव को दुःख होने पर ब्रह्म को यह अनुसन्धान होना चाहिए कि जीव को दुःख हो रहा है—ऐसा आपादन यदि पूर्वपक्षी करता है तब सिद्धान्ती इष्टापति दे रहे हैं कि सर्वज्ञ ब्रह्म में दुःखादि का ज्ञान मात्र तो हमें भी अभीष्ट है।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्त मतानुसार जीव भोक्ता है और जीव से ब्रह्म अभिन्न है। अतः जीव से अभिन्न ब्रह्म में भी भोक्तृत्व मानने की आपत्ति आयेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि बिम्ब प्रतिबिम्ब के जैसे व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी। इसका प्रतिपादन खण्ड संख्या ५ में ''बिम्बप्रतिबिम्बयोरवदातत्वश्यामत्वद्....'' से किया जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि अनुसन्धान (भोक्तृत्वादि) शुद्ध चैतन्य का धर्म नहीं है अपितु उपहित चैतन्य का धर्म है। अतः शुद्ध ब्रह्म में भोक्तृत्वादि का आपादन नहीं किया जा सकता है।

शङ्का— एतावता=अनुसंधान (भोक्तृवादि) उपहित चैतन्य में मानने पर बन्ध उपहित चैतन्य में और मोक्ष शुद्ध चैतन्य में रहने से बन्ध और मोक्ष में वैयधिकरण्य की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अनुसन्धान रूप बन्ध उपहितगत होने पर भी अविद्या रूप जो बन्ध है वह शुद्ध चैतन्यगत है और मोक्ष भी शुद्ध गत है। अतः बन्ध और मोक्ष में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी। दूसरी बात यह है कि जाग्रतादि अवस्था त्रय में अनुगत जो अविद्या उस अविद्या से अवछिन्न (उपहित) के साथ शुद्ध का तादात्म्य रहने के कारण परम्परया अवच्छिन्नगत अनुसंधातृत्व शुद्ध गत इष्ट ही है। उपहित के साथ शुद्ध का तादात्म्य है— इस में श्रुति प्रमाण दे रहे हैं— ''अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य'' (छा०उ० ६—३—२) = आत्मना स्वरूपेण अभिन्नो योऽयं जीवः तेन अनुप्रविश्य व्याकरवाणीति ब्रह्मण आलोचनम्। किञ्च जैसे चैत्रीय कर्णपुट से परिछिन्न नाद का अनुसन्धान चैत्र को होता है किन्तु स्वकर्ण पुट से भिन्न मैत्रीय कर्णपुट से परिच्छिन्न नाद का अनुसन्धान चैत्र को नहीं होता है वैसे ही चैत्रीय अन्तः करण के द्वारा परिछिन्न आत्मा में उत्पन्न सुखदुःखादि का अनुसन्धान चैत्रीय अन्तःकरणावच्छिन्न

अविद्यात्मकबन्धस्य शुद्धगतत्वेन सामानाधिकरण्योपपत्तेः, अवच्छिन्नस्यानुसन्धातृत्वेऽप्यवस्थात्रया–नुस्यूताविद्यावच्छिन्नद्वारा शुद्धे अनुसन्धातृत्वस्येष्टत्वात्, 'अनेन जीवेन'इत्यादिश्रुतेः। किञ्च यथा स्वकर्णपुटपरिच्छिन्ननादोपलम्भे भागान्तरवर्त्तिनादानुपलम्भः, तथा सुखदुःखाद्युपलम्भानुपलम्भौ। न च–आत्मभेदे कर्णपुटानां तत्तदीयत्वनियामकवदेकात्मवादे सर्वदेहानां स्वीयत्वेन तत्तदीयत्वनियमाभावेन व्यवस्थानुपपत्तिरिति–वाच्यम्; तवात्मभेदेनेवावच्छेदकाज्ञानादिभेदेन मम व्यवस्थोपपत्तेः।।।८।।

किञ्च व्यवस्थाया भेदं वदन् प्रष्टव्यः केयं व्यवस्था? न तावद्धर्मभेदः; एकस्मिन्नेव सुखदुःखदर्शनेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

चैतन्य को होगा किन्तु उस चैत्रीय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य से भिन्न मैत्रीय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के सुख दुःखादि का अनुसन्धान चैत्र को नहीं होगा। इस प्रकार से अनुसन्धान और अननुसन्धान की व्यवस्था बन जायेगी।

शङ्का– चैत्र आत्मा को मैत्र आत्मा से भिन्न मानने पर यह कर्ण पुट चैत्र का है और यह कर्ण पुट मैत्र का है तथा यह अन्तःकरण चैत्र का है और यह अन्तःकरण मैत्र का है– ऐसी व्यवस्था जैसे बन जाती है वैसी व्यवस्था चैत्र आत्मा और मैत्र आत्मा को अभिन्न मानने पर सभी शरीर उस अभिन्न आत्मा का ही होने के कारण यह कर्ण पुट चैत्र का है और यह कर्ण पुट मैत्र का है तथा यह अन्तः करण चैत्र का है और यह अन्तःकरण मैत्र का है– ऐसी व्यवस्था एकात्मवाद में नहीं बन पायेगी। फलतः स्वकर्णपुट को दृष्टान्त बनाकर सुखादि के अनुसन्धान और अननुसन्धान की व्यवस्था सिद्धान्ती नहीं बना सकते हैं।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे पूर्वपक्षी के मत में सुखादि के अनुसन्धान और अननुसन्धान की व्यवस्था आत्मभेद से होती है वैसे ही सिद्धान्त मत में नाना अज्ञानादि जो आत्मा के अवच्छेदक (भेदक) है। उन अज्ञानादियों के भेद के बल पर सुखादि के अनुसन्धान और अननुसन्धान की व्यवस्था हो जाती है। (यहाँ अज्ञान को नाना मानकर समाधान कहा गया है। अज्ञानादि में आदि पद से अन्तः करण को ले लेना चाहिए।)।।८।।

किञ्च सुख दुःखादि के अनुसन्धान और अननुसन्धान रूप व्यवस्था जो है उसको हेतु बनाकर पूर्वपक्षी जो आत्मभेद रूप साध्य को सिद्ध करना चाह रहा है– ऐसे पूर्वपक्षी से पूछना चाहिए कि यह व्यवस्था क्या है? धर्मभेद रूप व्यवस्था तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि एक ही में सुख और दुःख के रहने से व्यभिचार होगा। अर्थात् चैत्र में सुख रूप धर्म है और मैत्र में जो दुःख रूप धर्म है– ऐसी व्यवस्था आत्मा में भेद मानने पर ही सिद्ध हो पायेगी– ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहता है तब तो एक ही चैत्र में "पादे में वेदना शिरसि मे सुखम्" ऐसे स्थल पर धर्मों में भेद है किन्तु धर्मी में भेद नहीं है। अतः व्यभिचार दोष होगा। यदि कहा जाय कि सुख मैत्र में और दुःख चैत्र में– ऐसे भिन्न आश्रयगत सुख दुःख धर्मों का भेद को ही व्यवस्था शब्द से लेगें तब एक ही धर्मी के सुख दुःख को लेकर पूर्वोक्त प्रकार व्यभिचार दोष नहीं होगा किन्तु ऐसा कहने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे सुख दुःखादि धर्म भिन्न भिन्न आश्रय (आत्मा) में है। यह व्यवस्था सिद्ध होने पर तब आत्मभेद सिद्ध होगा और आत्मभेद जब तक सिद्ध नहीं होगा तब तक सुख दुःखादि धर्म भिन्न भिन्न आश्रय में रहते हैं– ऐसी व्यवस्था नहीं सिद्ध हो पायेगी। अतः अन्योन्याश्रयदोष होगा। यदि व्यवस्था का अर्थ विरुद्धत्व (विरोध) करते हैं तब प्रश्न होगा कि कैसा विरोध लेंगे? सहानवस्थान रूप विरोध? या बाध्यबाधकभावरूप विरोध? प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि सहानवस्थान रूप विरोध लेने पर सुख दुःखादि में विरुद्धत्व की असिद्धि हो जायेगी, क्योंकि "पादे मे वेदना शिरसि मे

व्यभिचारात्, भिन्नाश्रयधर्मोक्तौ अन्योन्याश्रयात्, विरुद्धधर्मोक्तौ तु विरुद्धत्वस्य सहानवस्थानरूपत्वे असिद्धेः, बाध्यबाधकभावरूपत्वे तस्यैकाश्रयत्वेनोपपत्त्या भेदासाधकत्वात्। नाप्यनुसन्धानाननुसन्धाने, तयोरुक्तेन प्रकारेण उपाधिभेदेनोपपत्तेरात्म– भेदासाधकत्वस्योक्तत्वात्। अतएव बन्धमुक्तादिव्यवस्थापि न स्वाभाविकभेदसाधनाय; तत्तदुपाध्युपगमाप– गमाभ्यामेव व्यवस्थोपपत्तेः।।९।।

न चोपाधेरप्युपहितनिष्ठत्वेनात्माश्रयादिर्दोषः; उपाधेरविशेषणत्वेन व्यक्त्यन्तरानपेक्षत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

सुखम्'' इस अनुभव के बल पर एक ही आत्मा में एक ही काल में पूर्वपक्षी सुख दुःख का सहावस्थान मानता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। अर्थात् विरोध = बाध्यबाधकभाव अर्थात् सुख जो है वह दुःख का बाधक है और दुःख जो है वह सुख का बाधक है। अर्थात् जिस काल में जिस देश में जो एक (सुख या दुःख) रहेगा, उसी काल में उसी देश में दूसरा नहीं रहेगा– ऐसी व्यवस्था की सिद्धि के लिए आत्मा में भेद मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एक ही आश्रय में भी अवच्छेदक के भेद से ही उक्त व्यवस्था उपपन्न हो जायेगी। जैसे एक ही चैत्र में पाद रूप अवच्छेदेन जिस समय दुःख रहता है उसी समय उसी चैत्र में शिर रूप अवच्छेदेन सुख रहता है। अनुसन्धान और अननुसन्धान ये दोनों भी आत्म भेद के साधक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि खण्ड संख्या १ में '' किन्त्वन्तःकरणरूपोपाधिभेदमविद्याभेदं वा '' से स्पष्ट किया जा चुका है कि अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद और अभेद द्वारा अनुसन्धान और अननुसन्धान की उपपत्ति हो जाती है। इसके लिए आत्मा में भेद मानने की आवश्यकता नहीं है। अत एव = उपाधि भेद से (अवच्छेदक भेद से) विरुद्ध दो धर्मों का एक ही आश्रय में व्यवस्था की उपपत्ति जैसे हो जाती है वैसे ही व्यवस्था पद से बद्ध मुक्त की व्यवस्था लेने पर भी बद्ध मुक्त की व्यवस्था भी अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद से हो जायेगी। जैसे चैत्रीय उपाधि के उपगम से चैत्र बद्ध और मैत्रीय उपाधि के अपगम से मैत्र मुक्त अतः बद्ध मुक्त की व्यवस्था के आधार पर भी तात्त्विक आत्मभेद की सिद्धि नहीं की जा सकती है। ''बन्धमुक्तादिव्यवस्थापि'' के स्थान पर ''बन्धमुक्त्यादिव्यवस्थापि'' ऐसा पाठान्तर है।।९।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि अन्तःकरणादि उपाधि अनुपहित ब्रह्म= शुद्ध ब्रह्म की उपाधि है? अथवा उपहित ब्रह्म की? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि व्याघात दोष होगा। द्वितीय पक्ष मानने पर आत्माश्रय–अन्योन्याश्रय–चक्रक तथा अनवस्था दोष होगा। जैसे उपाधि को उपाध्युपहित में मानने पर आत्माश्रयदोष होगा। आत्माश्रयदोष के वारण के लिए प्रथम उपाधि को द्वितीय उपाध्युपहित में मानने पर और द्वितीय उपाधि को प्रथम उपाध्युपहित में मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। अन्योन्याश्रय दोष के वारण के लिए यदि कहा जाए कि प्रथम उपाधि द्वितीय उपाध्युपहित में रहेगी और द्वितीय उपाधि तृतीय उपाध्युपहित में रहेगी तथा तृतीय उपाधि के प्रथम उपाध्युपहित में रहेगी। ऐसा होने पर चक्रक दोष होगा। इस चक्रक दोष के वारण के लिए यदि तृतीय उपाधि को चतुर्थ उपाध्युपहित में मानेंगे। इस प्रकार आगे–आगे मानते रहने पर अनवस्था दोष होगा।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी को विशेषण और उपाधि के लक्षण का ज्ञान न होने से पूर्वपक्षी उक्त प्रकार का दोष दे रहा है। विशेषण का लक्षण है– कार्यान्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति इतरव्यावर्तकत्वम्। उपाधि का लक्षण है– कार्यानन्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति इतरव्यावर्तकत्वम्। जब अन्तः करण को विशेषण माना जाता है तब उक्त प्रकार से आत्माश्रयादि दोष होगा। इन दोषों के कारण अन्तः करण विशिष्ट चैतन्य मिथ्या सिद्ध होगा जो कि सिद्धान्ती को अभीष्ट है।

चात्माश्रयादिचतुर्णामनवकाशात्। एतेन—शुद्धनिष्ठत्वे किमेकैकोपाध्यपगमो मुक्तिः? उत सर्वोपाध्यपगमः?, नाद्यः; सदा मुक्तिरेव नतु बन्ध इत्यापातात्, नान्त्यः; अधुना बन्ध एव न, कस्यापि मुक्तिरित्यापातादिति—निरस्तम्; येनोपाधिना यस्य चैतन्यस्य परिच्छिन्नत्वं तस्मिन् चैतन्ये तदुपाध्यपगमस्यैव मुक्तित्वे नानाजीववादे पूर्वोक्तदोषानवकाशात्, एकजीववादे सर्वोपाध्यपगमस्यैव मुक्तितया इदानीं मुक्त्यभावस्येष्टत्वात्।१०॥

ननु—उपाधेः कथं भेदकत्वम्, तथाहि—उपाधिः किमेकदेशेन सम्बध्यते, कृत्स्नेन वा, आद्ये त्वन्मते स्वाभाविकांशाभावेनौपाधिकत्वं वाच्यम्, तथा चानवस्था, अन्त्ये न भेदकता; कृत्स्नस्यैकोपाधिग्रस्तत्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अन्तःकरण को जब उपाधि माना जाता है तब उक्त दोष नहीं होगा, क्योंकि उपाधि कार्यानन्वयी होने से स्वाश्रय कोटि में प्रविष्ट नहीं होती है। अर्थात् अन्तःकरण रूप उपाधि चैतन्य में प्रविष्ट न होकर के ही (चैतन्य से अन्वित न होकर के ही) चैतन्य को उपहित बना देती है। अतः आत्माश्रयादि दोष नहीं होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शुद्ध ब्रह्म एक ही है। उसी शुद्ध ब्रह्म में अनेक उपाधियाँ रहती हैं। इस पर प्रश्न होता है कि क्या एक—एक उपाधि का नाश ही मुक्ति है? अथवा सभी उपाधियों के नाश को मुक्ति माना जाता है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि पहले जो एक मुक्त पुरुष हुए तब एक उपाधि का नाश हो गया। अतः शुद्ध चैतन्य के एक उपाधि का नाश हो जाने के अनन्तर काल में कोई बद्ध पुरुष रहेगा ही नहीं सभी मुक्त ही होंगे। द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता हैं, क्योंकि अनेक पामर बद्ध पुरुष विद्यमान हैं। इससे सिद्ध होता है कि सभी उपाधियों का नाश हुआ नहीं हैं। फलतः किसी की भी मुक्ति सिद्ध नहीं हो पायेगी।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय हैं। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जिस उपाधि के द्वारा जो चैतन्य परिच्छिन्न है, उस उपाधि का नाश होने पर वही चैतन्य मुक्त होता है— ऐसा मानने से नाना जीव वाद में पूर्वोक्त दोष नहीं होगा। एक जीव वाद में सर्व उपाधियों के अभाव को ही मुक्ति माना जाता है। सभी उपाधियों के नाश न होने से आज तक किसी को मुक्ति न मिलना अभीष्ट ही है।१०॥

शङ्का— अन्तःकरण उपाधि में उपधेय (शुद्ध ब्रह्म) की भेदकता (अवच्छेदकता) कैसे आती है? क्या उपाधि अपने उपधेय के एकदेश से सम्बन्धित होने से उपाधि में उपधेय की भेदकता मानी जाती है? अथवा उपाधि अपने उपधेय के सम्पूर्ण भाग से सम्बन्धित होने के कारण उपाधि में उपधेय की भेदकता मानी जाती है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में स्वाभाविक अंश न होने से अंश को औपाधिक मानना पड़ेगा। अर्थात् उपहित रूप अंश में उपाधि रहती हैं। फलतः अंश के होने पर उसके साथ उपाधि का सम्बन्ध होगा और उपाधि का सम्बन्ध होने पर अंश की सिद्धि होगी। यहाँ पर सम्बद्ध होने वाली उपाधि और अंशत्व प्रयोजक उपाधि एक ही होने पर आत्माश्रयदोष होगा। दोनों को अलग अलग मानने पर अन्योन्याश्रयदोष और तीन मानने पर चक्रक दोष तथा आगे—आगे मानते रहने पर अनवस्था दोष होगा। जिसे खण्ड संख्या १० के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका हैं। द्वितीय पक्ष मानने पर अर्थात् सम्पूर्ण शुद्ध ब्रह्म के साथ उपाधि का सम्बन्ध होता है— ऐसा मानने पर शुद्ध ब्रह्म में कल्पित भेद ही सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि सम्पूर्ण शुद्ध ब्रह्म एक ही उपाधि से सम्बद्ध हैं। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि निरंश गगन के साथ जैसे घट—मठ आदि अनेक उपाधियों का सम्बन्ध होता है वैसे ही निरंश शुद्ध ब्रह्म के साथ अन्तःकरणादि उपाधियों का सम्बन्ध हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि आकाशादि में भी स्वाभाविक अंश न होने से घटादि के साथ गगनादि का सम्बद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि घट का सम्पूर्ण

गगनादावपि स्वाभाविकांशाभावे घटाद्युपाधिसंबन्धो न स्यादेव। तदुक्तं 'न चेदुपाधिसम्बन्ध एकदेशेऽथ सर्वगः। एकदेशेऽनवस्था स्यात् सर्वगश्चेन्न भेदकः।।' इति–चेन्न; सर्व विकल्पासहत्वेन मिथ्याभूतस्यैवो–पाधेर्मिथ्याभेदप्रयोजकत्वस्य प्रागेवोपपादनात्। यथा चात्मनां सर्वगतानां भेदे व्यवस्थानुपपत्तिः, तथा प्रपञ्चितं भाष्यकृद्भिः।।११।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ जीवभेदानुकूलतर्कभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

आकाश के साथ सम्बन्ध माना नहीं जा सकता है। घटादि उपहित गगन के साथ घट उपाधि का सम्बन्ध मानने पर आत्माश्रयादि दोष होगा। जैसा कि कहा गया है–

न चेदुपाधिसम्बन्ध एकदेशेऽथ सर्वगः।
एकदेशेऽनवस्था स्यात् सर्वगश्चेन्न भेदकः।।

(न चेत् = अंश को स्वाभाविक न मानने पर, उपाधि का सम्बन्ध एक देश में है या सर्वदेश में। यदि एक देश में मानते हैं तब अनवस्थादि दोष होगा और सर्वदेश में मानने पर उपाधि भेदक नहीं होगी। अर्थात् उपाधि के भेद से ब्रह्म में कल्पित भेद सिद्ध नहीं हो पायेगा।)

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वपक्षी ने जो दो विकल्प उठाए, उनमें से किसी को भी हम नहीं मानते हैं, क्योंकि जहाँ उपाधि सत्य होती है वहाँ पर ही उक्त प्रकार से विकल्प उठाए जा सकते है। हम उपाधि को मिथ्या मानते हैं, ऐसी मिथ्याभूत उपाधि से मिथ्या भेद सिद्ध हो जायेगा– इसको खण्ड संख्या १ में कहा जा चुका है। सर्वगत आत्माओं में सत्य भेद मानने पर जैसे व्यवस्था की अनुपपत्ति होती है। इसे भगवान् भाष्यकार ने भाष्य में तत्तत् स्थलों पर सविस्तार से निरूपण किया है। अर्थात् सर्वगत आत्माओं में सत्यभेद मानने पर अनेक विभु आत्माओं का एक ही शरीर में प्रवेश मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर किस आत्मा का यह शरीर है? यह निर्धारण नहीं हो पायेगा और उस शरीर से कृत कर्म किस आत्मा को मिला– यह भी नहीं बन पायेगा। श्रुति सम्मत जो एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा है– वह भी आत्माओं में सत्यभेद मानने पर उपपन्न नहीं हो पायेगी। इस प्रकार से सर्वगत आत्माओं में सत्यभेद मानने पर जो दोष आते है। वे सभी भाष्य में विस्तार से स्पष्ट किये गये हैं।।११।।

–: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां जीवभेदानुकूलतर्कभङ्गः–

२—भेदपञ्चकेऽनुमानविचारः

एवं जडेशभेदे जडजीवभेदे च तात्त्विके प्रमाणं नास्ति। (१) ब्रह्म, जीवो वा, अनात्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञाना—बाध्यभेदवान्, पदार्थत्वात्, घटवत्, (२) ब्रह्म जीवो वा, घटप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, घटासम्बन्धिकालसम्बन्धित्वात्, तदसम्बन्धिदेशसम्बन्धित्वात्, तज्जनकाजन्यत्वाद्वा पटवत्, (३) ब्रह्म जीवो

सत्यानन्दप्रबोधिका

(पूर्वपक्षी के मतानुसार जितनी वस्तु है उसको तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है— जड़—जीव — ईश्वर। उनमें ईश्वर एक है। अत: ईश्वर में पारस्परिक भेद हो नहीं सकता है। जीव और जड़ दोनों ही अनेक हैं। अत: (१) जड़ में पारस्परिक भेद (२) जीव में पारस्परिक भेद (३) जड़ से जीव का भेद (४) जड़ से ईश्वर का भेद (५) ईश्वर से जीव का भेद। इस प्रकार पाँच भेद होते हैं। उनमें से जड़ में पारस्परिक तात्त्विक भेद का खण्डन पूर्वप्रकरण में सामान्य और विशेष रूप से भेद का खण्डन करने से हो गया। जीव में पारस्परिक तात्त्विक भेद का खण्डन आत्मा के भेद का खण्डन करने से हो गया। जीव और ईश्वर में तात्त्विक भेद का खण्डन पीछे भी किया गया है और आगे भी तत्त्वमसिवाक्यार्थ आदि विचार के माध्यम से किया जायेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा मान्य जो पाँच भेद हैं। उसका निराकरण सिद्धान्ती के द्वारा किया जा रहा है। इस प्रकरण में जड़ और ईश्वर में तात्त्विक भेद है और जड़ और जीव में तात्त्विक भेद है— इसका खण्डन किया जा रहा।) एवम् = जैसे जड़ के पारस्परिक तात्त्विक भेद में और जीवों के पारस्परिक तात्त्विक भेद में और जीव ईश्वर के पारस्परिक तात्त्विक भेद में प्रमाण नहीं है ठीक उसी प्रकार जड़ और ईश्वर के पारस्परिक तात्त्विक भेद में और जड़ और जीव के पारस्परिक तात्त्विक भेद में भी प्रमाण नहीं हैं।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा जड़ और ईश्वर के तात्त्विक भेद में तथा जड़ और जीव के तात्त्विक भेद में अनुमान प्रमाण दिया जा रहा है। पक्ष में ईश्वर को न रखकर ब्रह्म को रखा जा रहा है, क्योंकि ईश्वर में जड़ का व्यावहारिक भेद मानकर सिद्धसाधन दोष होगा। (१) ब्रह्म अथवा जीव अनात्म (जड़) प्रतियोगिक जो धर्मिज्ञानाबाध्य भेद तादृश भेद वाला है पदार्थत्व होने से, जैसे घट। दृष्टान्त घट में पदार्थत्व है और पटादि रूप अनात्मप्रतियोगिक घट रूप धर्मिज्ञानाबाध्य भेद भी है। पक्ष में पदार्थत्व है। अत: परामर्श के मिल जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी— यह पूर्वपक्षी का भाव है। (२) ब्रह्म अथवा जीव घट प्रतियोगिक जो धर्मिज्ञानाबाध्य भेद तादृश भेद वाला है, घट का असम्बन्धी जो काल तादृश काल का सम्बन्धित्व होने से (जिस काल में घट नहीं रहा और नहीं रहेगा, उस काल से भी सम्बन्धी जीव और ब्रह्म रहता है और रहेगा— इस प्रकार से पक्ष में हेतु का समन्वय हो जायेगा और दृष्टान्त में भी इसी प्रकार से हेतु का समन्वय हो जायेगा। जिस काल में घट नहीं रहा और नहीं रहेगा, उस काल से भी सम्बन्धी पट रहा और रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय— घट के स्थान पर पट को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से होगा।) अथवा घट का असम्बन्धी जो देश तादृश देश का असम्बन्धित्व होने से (जिस देश में घट नहीं रहा और नहीं रहेगा उस देश में भी जीव और ब्रह्म रहता है। इस प्रकार से हेतु का समन्वय पक्ष में होगा। जिस देश में घट नहीं रहा और नहीं रहेगा उस देश से भी सम्बन्धी पट है। अत: दृष्टान्त में हेतु चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय प्रथम अनुमान के जैसे होगा, केवल घट के स्थान पर पट लिया जायेगा।) अथवा घट का जनक जो सामग्री है। उससे अजन्यत्व होने से (जिस सामग्री से घट पैदा होता है उस सामग्री से ब्रह्म या जीव पैदा नहीं होते हैं। अत: पक्ष में हेतु गया। इसी प्रकार जिस सामग्री से घट पैदा होता है उसी सामग्री

वा, जडप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, जडानात्मकत्वाद् यदेवं तदेवम्, यथा दूरस्थवनस्पत्योरेकः।।१।।

इत्यादिषु पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः परिच्छिन्नत्वस्य जडत्वस्य जन्यत्वस्य चोपाधित्वात्, अप्रयोजकत्वाच्च, जीवो ब्रह्म वा, आत्मप्रतियोगिकतादृग्भेदाधिकरणम्, पदार्थत्वादित्याद्याभाससाम्याच्च। न च घटाभेदे घटसिद्ध्यैव तत्सिद्ध्या वेदान्तवैयर्थ्यम्, ब्रह्मणो जडत्वानित्यत्वाद्यापत्तिः, मुक्तिसमानाधिकरणबन्धाधारस्य जीवस्य जडवन्निवृत्त्यापत्तिः, गौरोऽहमित्यादिप्रतीतिश्च प्रमा स्यादित्यादिविपक्षबाधकान्नाभाससाम्यादिकमिति—वाच्यम्।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

से पट पैदा नहीं होता है। अतः दृष्टान्त में हेतु चला जायेगा।) (३) ब्रह्म अथवा जीव जड़प्रतियोगिक धर्मिज्ञानाबाध्य भेद वाला है, जड़ानात्मकत्वात् = जड़तादात्म्याभाववत्वात् = जड़ भेद वाला होने से। यहाँ व्याप्ति का आकार = यद्—यदनात्मकं तत्तत्प्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवत्। यथा दूरस्थवनस्पत्योरेकः। दृष्टान्त में व्याप्ति का समन्वय—यत् = दृष्टान्तीभूत दो वनस्पति में से एक = प्रथम वनस्पति, यत् = दूसरी वनस्पति। इस दूसरी वनस्पति से भेद वाला है प्रथम वनस्पति। तत् = प्रथम वनस्पति, तत् = दूसरी वनस्पति। इस दूसरी वनस्पति के तात्त्विक भेद वाला = प्रथम वनस्पति। इस प्रकार व्याप्ति के रहने से तथा पक्ष में हेतु के रहने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाने से जड़ का जीव और ब्रह्म में तात्त्विक भेद सिद्ध हो जायेगा— यह पूर्वपक्षी का भाव है।।१।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त तीनों अनुमानों के साध्य में धर्मी पद का प्रवेश है। अतः धर्मी पद को लेकर के ''जीवब्रह्मभेदेऽनुमानविचारः'' में कथित दोष आयेगा—''धर्मिपदेन ब्रह्मण उक्तावप्रसिद्धविशेषणतादवस्थ्यात्, यत्किञ्चिद् धर्म्युक्तौ घटादिधर्मिसमानसत्त्वेन सिद्धसाधनात्।'' उक्त तीनों अनुमानों में परिच्छिन्नत्व— जड़त्व और जन्यत्व उपाधि है, क्योंकि उक्त तीनों अनुमानों के दृष्टान्त में उक्त उपाधियों के होने से साध्य व्यापकत्व उपाधि में चला जायेगा और पक्ष में हेतुओं के रहने पर भी उक्त उपाधियाँ नहीं है। अतः उक्त उपाधियों में साधनाव्यापकत्व भी चला जायेगा। अतः उक्त तीनों अनुमान सोपाधिक होने से दुष्ट हो जायेंगे। इसी प्रकार अनुकूल तर्कों से रहित होने के कारण उक्त अनुमानों में व्यभिचार वारक तर्क शून्यत्व भी है। ऐसे ही जीव या ब्रह्म आत्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्य भेद वाला है, पदार्थत्व होने से, जैसे घट—इत्यादि अनुमानाभासों का साम्य भी उक्त अनुमानों में है। फलतः उक्त अनुमानों के द्वारा स्वसाध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

शङ्का— उक्त प्रकार से ब्रह्म या जीव में जड़ भेद के साधक पूर्वोक्त सभी अनुमानों के दुष्ट हो जाने पर घटादि रूप जड़ पदार्थों के साथ ब्रह्म का अभेद सिद्ध हो जायेगा। ऐसा होने पर घटादि रूप जड़ पदार्थों के ज्ञान से ही ब्रह्म का ज्ञान हो जायेगा। अतः ब्रह्म ज्ञान के लिए वेदान्त श्रवणादि की आवश्यकता ही नहीं होगी। दूसरा दोष यह होगा कि जैसे घट में जड़त्व तथा अनित्यत्वादि रहता है वैसे ही ब्रह्म में भी जड़त्व—अनित्यत्वादि के मानने की आपत्ति होगी। तृतीय दोष यह होगा कि जीव को घट से अभिन्न मानने पर जैसे घट की निवृत्ति होती है। उसी प्रकार मुक्ति समानाधिकरण जो बन्ध तादृश बन्ध का आधार जो जीव उस जीव की भी निवृत्ति होने की आपत्ति आयेगी। चतुर्थ दोष यह होगा कि जीव यदि जड़ शरीर से अभिन्न है तब तो ''मैं गौर हूँ'' इत्यादि प्रतीति को भी प्रमा मानने की आपत्ति होगी। इस प्रकार के विपक्ष बाधक तर्कों के विद्यमान रहने पर उक्त अनुमानों में अप्रयोजकत्व आभास साम्यादि का उद्भावन नहीं किया जा सकता है।।२।।

स्वप्रकाशत्वेन सर्वप्रत्ययवेद्यत्वेन च ब्रह्मसिद्धावपि सविलासाज्ञाननिवर्तकज्ञानाय वेदान्तसाफल्यस्य बहुधाभिधानात्, घटादौ कल्पितव्यक्त्यन्तरेणकल्पितभेदस्याभावेऽपि न यथा कल्पितव्यक्त्यात्मकत्वं तद्वत् प्रातिभासिकत्वं तद्वद्विशेषदर्शनेन निवृत्तिर्वा कल्पितव्यक्त्यन्तरेणैक्यज्ञानप्रमात्वं वा, तथा प्रकृतेऽपि कल्पितजडेन तदभावेऽपि न तदात्मकत्वादीति न विपक्षबाधकस्य कस्याप्यत्रप्रसरः।।३।।

एवं जडानामन्योन्यभेदेऽपि नानुमानम्। घटः, तत्त्वतः शुक्त्यभिन्नो न शुक्तिसम्बद्धकालासम्बन्धित्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वप्रकाश है और घट पटादि सभी ज्ञानों से ब्रह्म का सामान्यतः बोध होता है। इसको ''दृश्यत्वहेतुविचारः'' के खण्ड संख्या १३ में कहा जा चुका है। इस प्रकार ब्रह्म की सामान्यतः सिद्धि होने पर भी इसके द्वारा (ब्रह्म के सामान्यतः ज्ञान के द्वारा) कार्य के सहित अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है अपितु सकार्य अज्ञान की निवृत्ति के लिए ब्रह्माकार वृत्ति की आवश्यकता होती है। उस ब्रह्माकार वृत्ति की उत्पत्ति वेदान्त वाक्यों से होती है। इसलिए वेदान्त वाक्यों में साफल्य माना जाता है। इसको पीछे अनेक प्रकार से स्पष्ट किया जा चुका है। अधिष्ठान से अध्यस्त पृथक् नहीं होता है। इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि अधिष्ठान भी अध्यस्त के जैसे कल्पित है। इस आशय से कह रहे हैं कि एक ही घट में कल्पना के बल पर दूसरे घट की कल्पना करने पर भी उस वास्तविक घट में उस कल्पित घट का भेद न मानने पर भी वह वास्तविक घट कल्पित घट से अभिन्न नहीं हो जाता है। तद्वत् प्रातिभासिकत्वम् = न तथा तद्वत् प्रातिभासिकत्वम्– ऐसा पीछे से अन्वय किया जायेगा। तद्वत् = कल्पित– घटवत्। अर्थात् वास्तविक घट में कल्पित घट का भेद न रहने पर भी कल्पित घट के जैसे प्रातिभासिकत्व भी वास्तविक घट से अभिन्न नहीं हो जाता है। अर्थात् प्रातिभासिकत्व भी वास्तविक घट में नहीं रहता है इसी प्रकार वास्तविक घट में कल्पित घट का भेद न रहने पर भी कल्पित घट के जैसे विशेष दर्शन से निवृत्ति वास्तविक घट की नहीं होती है। वास्तविक घट में कल्पित घट का भेद न रहने पर भी कल्पित घट के साथ वास्तविक घट के अभेद ज्ञान में प्रमात्व नहीं आता है। इसी प्रकार प्रकृत में ब्रह्म में कल्पित जड़ की कल्पना करने पर ब्रह्म में तदभावेऽपि = कल्पित जड़ का भेद न रहने पर भी ब्रह्म कल्पित जड़ स्वरूप नहीं हो जाता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित तर्कों की गति प्रकृत में नहीं हो सकती है। अर्थात् उनका खण्डन हो गया। ''कल्पितव्यक्त्यन्तरेण कल्पित– भेदस्याभावेऽपि'' के स्थान पर ''कल्पितव्यक्त्यन्तरेणाकल्पितभेदस्याभावेऽपि'' ऐसा पाठान्तर है।।३।।

एवम् = ब्रह्म या जीव में जड़ के भेद का साधक उक्त तीनों अनुमानों के दुष्ट सिद्ध हो जाने से उक्त अनुमानों को ब्रह्म या जीव में जड़ के भेद में प्रमाण नहीं माना जाता है। अर्थात् ब्रह्म या जीव में जड़ के भेद का साधक अनुमान प्रमाण नहीं है। ठीक उसी प्रकार जड़ों के परस्पर भेद का भी साधक अनुमान प्रमाण नहीं हैं।

शङ्का– पूर्वपक्षी के द्वारा जड़ों के परस्पर भेद का साधक प्रथम अनुमान दिया जा रहा है– घट तत्त्वतः शुक्ति से अभिन्न नहीं होता है, शुक्ति से सम्बद्ध जो काल तादृश काल से सम्बन्धित न होने से, अथवा शुक्ति की जनक जो सामग्री तादृश सामग्री से जनित न होने से, जैसे शुक्ति में आरोपित रजत। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि तत्त्वतः अभेदवादी के अनुसार सर्वत्र तत्त्वतः अभेद होने से पक्ष और दृष्टान्त में साध्य की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त स्थलों पर व्यावहारिक भेद सिद्धान्ती भी मानते हैं। अतः व्यावहारिक भेद को लेकर पक्ष और दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो

तज्जनकाजन्यत्वात्तत्रारोपितरूप्यवत्, व्यावहारिकभेदस्य त्वयाप्यङ्गीकारेण न पक्षदृष्टान्ताद्यनुपपत्तिः, अन्यथा भेदसिद्ध्यसिद्ध्योर्दोषतदभावयोश्चाभेदेन स्वक्रियाविरोधः स्यादिति। अत्र तात्त्विकशुक्त्यभिन्नत्वरूप– प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धेः, तत्त्वत इत्यस्य नेत्यत्र विशेषणत्वे सुतरामप्रसिद्धेः, घटादिसमसत्ताकभेदमात्रेण हेतोरुपपत्त्या अप्रयोजकत्वाच्च, भेदस्य तात्त्विकत्वे बाधस्योक्तत्वेन बाधाच्च।।४।।

अनात्मा, स्ववृत्तिधर्मानाधारज्ञानाबाध्यान्तर्गणिकभेदवान्, पदार्थत्वादात्मवत्, विपक्षे च दूरस्थवनस्पत्योः शुक्तिरूप्ययोश्चाभेदग्राहिप्रत्यक्षं तत्त्वावेदकं स्यात् मुक्तिसंसारादिसांकर्यं च स्यादित्यादिबाधकमिति यत्, तत्र;

सत्यानन्दप्रबोधिका

जायेगा। अन्यथा = जड़ों में परस्पर व्यावहारिक भेद न मानने पर भेद की सिद्धि और भेद की असिद्धि इन दोनों में भेद न होकर अभेद सिद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार दोष और दोषाभाव में भी भेद न रहकर अभेद ही रहेगा। ऐसा होने पर स्व क्रिया के साथ विरोध होगा। अर्थात् जब भेद की सिद्धि और भेद की असिद्धि एक ही है तब द्वैती के द्वारा जब भेद की सिद्धि की जाती है तब सिद्धान्ती के द्वारा उसका खण्डन क्यों किया जाता है, क्योंकि अभेद होने से भेद की सिद्धि ही भेद की असिद्धि है। अतः भेद की असिद्धि जो कि सिद्धान्ती को इष्ट है उसका खण्डन करना स्वक्रिया व्याघात है। इसी प्रकार दूषण और दूषणाभाव में अभेद होने से दूषण से ही दूषणाभाव की सिद्धि होगी किन्तु दूषण का खण्डन करने से दूषणाभाव का खण्डन हो जायेगा, जबकि दूषणाभाव आपको अभीष्ट है। अतः स्वक्रिया व्याघात होगा। इस अनुमान का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस अनुमान में साध्य = तात्त्विक शुक्ति के अभेद का अभाव। इस अभाव का प्रतियोगी = तात्त्विक शुक्ति अभेद। यह सिद्धान्त मत में प्रसिद्ध न होने से साध्याप्रसिद्धि दोष होगा। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि प्रतियोग = तात्त्विक शुक्ति अभेद की प्रसिद्धि ब्रह्म में है, क्योंकि ब्रह्म में रहने वाला शुक्ति का अभेद ब्रह्म रूप होने के कारण तात्त्विक है। इसका समाधान यह है कि पूर्वपक्षी को शुक्तित्वेन शुक्ति का अभेद (जोकि शुक्ति स्वरूप है) को ही प्रतियोगी के रूप से साध्य में निवेश करना होगा। सद्रूपेण ब्रह्म स्वरूप शुक्ति का अभेद लेने पर पक्ष (घट) में साध्य के न होने से बाध दोष होगा।) यदि कहा जाय कि ''तत्त्वतः शुक्त्यभिन्नो न'' यहाँ पर तत्त्वत का अन्वय अभिन्न के साथ न कर के न के साथ करेंगे। ऐसा करने पर साध्याप्रसिद्धि दोष होगा, क्योंकि तत्त्वतः को अभेद के साथ अन्वय करने पर ब्रह्म में उसकी प्रसिद्धि हो जायेगी किन्तु अभाव के साथ तत्त्वतः का अन्वय करने पर तात्त्विक अभाव की प्रसिद्धि ही नहीं हैं। यदि अभाव को अधिकरण स्वरूप = ब्रह्म स्वरूप मानकर तात्त्विकत्व की प्रसिद्धि करने पर सिद्धसाधन दोष होगा। पक्ष = घट के समान सत्ताक (व्यावहारिक) भेद को स्वीकार कर के भी हेतु की उपपत्ति हो जाती हैं। अतः स्वसाध्य की सिद्धि के प्रति उक्त हेतु में अप्रयोजकत्व भी हैं। भेदगत तात्त्विकत्व मानने पर ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा बाध जो कहा गया है। उसके द्वारा यह अनुमान बाधित होने से दुष्ट है।।४।।

शङ्का— जड़ों के परस्पर भेद का साधक द्वितीय अनुमान — अनात्मा स्ववृत्ति धर्म (स्व = अनात्मा, उसमें रहने वाला धर्म = अनात्मत्व) का आधार = अनात्मा, अनाधार = आत्मा ऐसे आत्मा के ज्ञान से अबाध्य जो आन्तर्गणिक (पारस्परिक) भेद वाला है, पदार्थत्व होने से, जैसे आत्मा। इस अनुमान के द्वारा घट पटादि जड़ों में परस्पर भेद सिद्ध होता है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय स्व = आत्मा, उसमें रहने वाला धर्म = आत्मत्व, उसका अनाधार = अनात्मा, उस अनात्मा के ज्ञान से अबाध्य जो आत्माओं का पारस्परिक भेद, तादृश भेद वाला आत्मा। (आत्माओं के पारस्परिक भेद को सिद्धान्ती आत्मज्ञान से भले ही बाध्य मानते

एकत्र घटे कल्पिता ये अनेके घटाः, तेषु स्ववृत्तिधर्मानधिकरणघटज्ञानबाध्यभेदवत्सु व्यभिचारात्। यत्किञ्चित्स्ववृत्तिधर्मानाधारोक्तौ घटत्वानधिकरणपटज्ञानाबाध्यभेदेनात्मज्ञानबाध्येनार्थान्तरम्। स्ववृत्त्यशेषधर्मानाधारोक्तौ तव मते ब्रह्मणोऽपि वाच्यत्वादिकेवलान्वयिधर्माधारत्वेन साध्याप्रसिद्धेः, कल्पितेन सह तात्त्विकभेदाभाववत् तात्विकाभेदस्याप्यभावेन उदाहृतस्थले तत्त्वावेदकत्वसाङ्कर्यादीनामप्रसङ्गात्।।५।।

यत्तु आत्मनामात्मानात्मनोश्च परस्परं तात्त्विकभेदे अनात्मा, स्वावृत्तिधर्माधिकरणप्रतियोगिक–प्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणं, यत्स्वावृत्तिधर्माधिकरणं तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणम्

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो किन्तु अनात्मा के ज्ञान से अबाध्य ही मानते हैं। अतः दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा।) अनात्माओं में परस्पर भेद न मानने पर दूरस्थ दो वनस्पतियों के अभेद ग्राहिप्रत्यक्ष तथा शुक्ति रजत के अभेद ग्राहि प्रत्यक्ष को तत्त्वावेदक मानने की आपत्ति होगी। उक्त अभेद प्रत्यक्ष तत्त्वावेदक होने पर संसारिक ज्ञान भी तत्त्वावेदक होगा और मुक्ति का भी ज्ञान तत्त्वावेदक होता है अतः दोनों के एक जैसे होने से सांकर्य हो जायेगा। यह बाधक तर्क है— यदि जड़ानां परस्परं भेद न स्यात् तर्हि दूरस्थवृक्षयोः शुक्तिरूप्ययोश्च अभेदावग्राहिप्रत्यक्षं तत्त्वावेदकं स्यात् तदा मुक्तिसंसारादिसाङ्कर्यं स्यात्।

समाधान— उक्त अनुमान के द्वारा जड़ों में परस्पर भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि एक व्यावहारिक घट में कल्पित जो अनेक प्रातिभासिक घट, ऐसे घटों में व्यभिचार दोष होगा। जैसे स्व पद से लिया प्रातिभासिक घट, तद्वृत्ति धर्म प्रातिभासिकत्व, उसका अनधिकरण = व्यावहारिक घट। उस व्यावहारिक घट ज्ञान के द्वारा बाध्य जो प्रातिभासिक घटों का पारस्परिक भेद, तद् वाला = प्रातिभासिक जो अनेक घट। उसमें पदार्थत्व रूप हेतु है किन्तु उक्त अबाध्य भेदवत्त्व रूप साध्य न होने से व्यभिचार दोष है। स्ववृत्ति अनेक धर्मों में से किसी भी एक धर्म का अनाधार कहने पर यत् किञ्चित् धर्म से घटत्व लेंगे। उसका अनधिकरण जो पट, तादृश पट ज्ञान से अबाध्य घटों के भेद (जो कि आत्मज्ञान से बाधित है) को लेकर अर्थान्तरता होगी। स्ववृत्ति जो अशेष धर्म तादृश धर्म के अनाधार को कहने पर पूर्वपक्षी के मत में अनात्मवृत्ति वाच्यत्व— प्रमेयत्वादि केवलान्वयी धर्मों का आधार ब्रह्म भी माना जाता है। अतः उक्त अशेष धर्मों का अनाधार न मिलने से साध्याप्रसिद्धि होगी। जैसे कल्पित रजत का शुक्ति के साथ तात्त्विक भेद नहीं होता है वैसे ही तात्त्विक अभेद भी शुक्ति के साथ कल्पित रजत का नहीं होता है। अतः उस अभेद के ग्राहिप्रत्यक्ष को तत्त्वावेदक प्रमाण भी नहीं माना जा सकता है। फलतः दूरस्थ वनस्पत्यादि विषयक प्रत्यक्षादि स्थल में तत्त्वावेदकत्व का और मुक्ति संसारादि के साङ्कर्य का प्रसङ्ग नहीं होगा।।५।।

शङ्का— आत्मनां परस्परं तात्त्विकभेदः, आत्मानात्मनोः परस्परं तात्त्विकभेदे—ऐसा अन्वय है। अर्थात् आत्माओं के परस्पर तात्त्विक भेद को और आत्मा तथा अनात्मा के परस्पर तात्त्विक भेद को सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी के द्वारा यह अनुमान किया जाता है कि— अनात्मा, स्वावृत्तिधर्माधिकरणप्रतियोगिक प्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेद का जो स्वावृत्ति धर्म का अधिकरण है, तत् प्रतियोगिक प्रतियोगिज्ञानाबाध्य भेद का अधिकरण होता है, पदार्थत्व होने से, जैसे आत्मा। पक्ष में साध्य का समन्वय— स्व = घटादि अनात्मा, उसमें न रहने वाला धर्म = आत्मत्व, उसका अधिकरण = चैत्रात्मा, उस चैत्रात्मक प्रतियोगिक भेद जो कि प्रतियोगी (चैत्रात्मा) के ज्ञान से अबाध्य है। ऐसे चैत्रात्मा भेद का अधिकरण जो मैत्रात्मा है वह स्व = पक्षीभूत अनात्मा में न रहने वाले धर्म आत्मत्व का अधिकरण भी हैं। (यहाँ तक आत्माओं का परस्पर भेद दिखलाया गया) तत् प्रतियोगिक = मैत्रात्मा प्रतियोगिक और प्रतियोगी (मैत्रात्मा) के ज्ञान से अबाध्य जो मैत्रात्मा भेद, तादृश

पदार्थत्वादात्मवत्, पक्षे स्वावृत्तिधर्माधिकरणमात्मा, ततो भिन्नादात्मान्तराद्भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः दृष्टान्ते च स्वावृत्तिधर्माधिकरणं जडं, ततो भिन्नत्वाद् जडान्तराद् भिन्नत्वेन साध्यसत्त्वमिति, तन्न; पक्षदृष्टान्तयोः स्वपदार्थप्रतियोगिपदार्थयोरननुगमेन व्याप्यत्वासिद्धेः, अजडत्वस्योपाधित्वाच्च, जडत्वेन व्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षाच्च।।६।।

यदपि जीवस्य ब्रह्मतो जीवाच्च जडस्य सत्यभेदे पृथिवी ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणं यदप्त्वाद्यनधिकरणं, तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवती, वस्तुत्वात्तोयवत्, अप्त्वादीत्यादिशब्देन तत्तद्वादिनः

सत्यानन्दप्रबोधिका

भेद का अधिकरण = घटादि अनात्मा (इस के द्वारा आत्मा और अनात्मा में भेद दिखलाया गया हैं।) इसको मूल में संक्षेप से कहा गया कि पक्ष में स्व अवृत्ति धर्म का अधिकरण होता हुआ उससे भिन्न जो आत्मान्तर, उससे भिन्नत्वेन साध्य का समन्वय पक्ष में हो जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—स्व = आत्मा, उसमें न रहने वाला धर्म = अनात्मत्व, उसका अधिकरण = घटादि अनात्मा, तादृश घट प्रतियोगिक और प्रतियोगीभूत घट ज्ञान से अबाध्य जो भेद = घटभेद तादृश भेद का अधिकरण जो आत्मरूप स्व पदार्थ तदवृत्ति धर्माधिकरण हुआ पट तादृश पट प्रतियोगिक और पट प्रतियोगिभूत पटज्ञानाबाध्य जो भेद = पटभेद तादृश भेद का अधिकरणत्व आत्मा में है। इसको मूल में संक्षेप से कहा कि स्वावृत्तिधर्माधिकरण हुआ घटादि जड़ पदार्थ। उससे भिन्न हुआ जड़ान्तर। उससे भिन्नत्व आत्मा में रहने से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। दृष्टान्त और पक्ष में हेतु का समन्वय सुगम हैं। फलतः इस अनुमान के द्वारा आत्माओं में परस्पर भेद सिद्ध होता है और आत्मा तथा अनात्मा में परस्पर भेद सिद्ध होता है— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— पूर्वपक्षी द्वारा कृत उक्त अनुमान अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है, क्योंकि जब साध्य का समन्वय पक्ष में किया जायेगा तब स्व पद से घटादि लिया जायेगा और जब साध्य का समन्वय दृष्टान्त में किया जायेगा तब स्व पद से आत्मा लिया जायेगा। इसी प्रकार प्रतियोगी पद से भी पक्ष और दृष्टान्त में साध्य का समन्वय करते समय भिन्न भिन्न पदार्थ लिये जायेंगे। फलतः स्व पद और प्रतियोगी पद के अर्थ का अननुगम होने से व्याप्ति की सिद्धि नहीं होगी। उक्त अनुमान का हेतु सोपाधिक दोष से भी ग्रस्त है, क्योंकि अजड़त्व उपाधि है। अर्थात् दृष्टान्त में साध्य और उपाधि के रहने से अजड़त्व में साध्य व्यापकत्व है और पक्ष में हेतु के रहने पर भी अजड़त्व के न होने से अजड़त्व में साधनाव्यापकत्व भी है। अतः उक्त हेतु सोपाधिक होने से स्व साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। एवं जड़त्व रूप केवल व्यतिरेकी हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्ष भी दिया जा सकता है। जैसे—अनात्मा उक्त साध्याभाववान्, जड़त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा आत्मा। इस प्रकार इस व्यतिरेक व्याप्ति वाले जड़त्व हेतु से उक्त हेतु सत्प्रतिपक्षित हो जाने पर स्व साध्य की सिद्धि नहीं कर पायेगा।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा ब्रह्म से जीव के सत्यभेद को और जीव से जड़ के सत्यभेद को सिद्ध करने के लिए अनुमान किया जाता है कि— पृथिवी, ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्य जो भेद तादृश भेद का अधिकरण जो जलत्वादि का अनधिकरण तत्प्रतियोगिक जो प्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेद तादृश भेद वाली है, वस्तुत्व होने से, जैसे जल। अप्त्वादि— के घटक आदि शब्द से तत्तद्वादि के प्रति तत्तद् वादि सिद्ध पृथिवीत्व से भिन्न जड़ निष्ठ धर्म (जड़त्व) विवक्षित है। पृथिवी रूप पक्ष में ब्रह्म से भिन्न जो जीव तादृश जीव से भिन्नत्व होने से साध्य की सिद्धि हो जायेगी और दृष्टान्त में ब्रह्म से भिन्न जो पृथिवी तादृश पृथिवी से भिन्नत्व होने से साध्य का समन्वय दृष्टान्त में हो जायेगा। (कहने का भाव यह है कि ब्रह्मप्रतियोगिक

प्रति तत्तद्वादिसिद्धाः पृथिवीत्वभिन्नाः जडनिष्ठधर्मा विवक्षिताः। पक्षे ब्रह्मभिन्नाज्जीवात् भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः, दृष्टान्ते तु ब्रह्मभिन्नपार्थिवभिन्नत्वेनेति, तन्न; अप्त्वाद्यनधिकरणत्ववज्जीवत्वानधिकरणेत्यपि विशेषणं दत्वा जीवब्रह्मभिन्नात्मनोऽपि साधनप्रसङ्गात्, गन्धाधारत्वादिव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षसम्भवाच्च, धर्मिपदविकल्पनिबन्धनदोषतादवस्थ्याच्च।।७।।

एतेन–जीवस्य ब्रह्मजीवान्तराभ्यां जीवाच्च जडस्य भेदे पूर्वप्रयोग एव जीवस्य जीवान्तराद्भेदसिध्यर्थ–मन्तर्गणिकभेदवदित्यप्त्वानधिकरणेत्यत्र विशेषणं दत्वानुमानम्। अत्र च पक्षे ब्रह्मणः परस्परं च भिन्नाज्जीवाद् भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः, दृष्टान्ते तु ब्रह्मणः परस्परञ्च भिन्नात् पार्थिवाद् भिन्नत्वेनेति–निरस्तम्।।८।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

भेद का अधिकरण = जीव और जड़। अधिकरण को ही धर्मी पद से लिया जाता है। जीव और जड़ में रहने वाला जो ब्रह्म का भेद वह जीव और जड़ रूप धर्मी के ज्ञान से अबाध्य है– यह सिद्धान्ती को भी मान्य है। तादृश ब्रह्म भेद का अधिकरण जो जीव और जड़ समूह है। उसमें से जीव और पृथिवी को बचाना है अन्य जलादि को हटाना है। इसके लिए उक्त भेदाधिकरण का एक विशेषण अप्त्वादि अनधिकरण जोड़ा गया। जलादि को हटाना इसलिए था कि जलादि का भेद जलादि में नहीं रहता है किन्तु जलादि में हेतु रहता है। अतः व्यभिचारदोष हो जाता। इस प्रकार उक्त भेदाधिकरण शब्द से जीव और पृथिवी लिया गया। उनमें से जीव का भेद पृथिवी में हैं। अतः साध्य का समन्वय पक्ष में हो जायेगा और पृथिवी का भेद जलादि में हैं। अतः साध्य का समन्वय दृष्टान्त में हो जायेगा– यह पूर्वपक्षी का भाव है।)

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त अनुमान के साध्य में जैसे अप्त्वाद्यनधिकरणत्व विशेषण दिया गया है वैसे ही जीवत्वानधिकरणत्व विशेषण दे देने से जीव और ब्रह्म से भिन्न आत्मा के सिद्धि का प्रसङ्ग होगा। अर्थात् उक्त साध्य में अप्त्वाद्यनधिकरण कहने पर जीव और पृथिवी दो शेष बचे थे। जब जीवत्वानधिकरणत्व विशेषण दे देंगे तब केवल पृथिवी बचेगा। पृथिवी का भेद पृथिवी में रहेगा नहीं। अतः पक्ष में साध्य का समन्वय नहीं होगा। अतः साध्य समन्वय के लिए जीव और ब्रह्म से भिन्न आत्मा की सिद्धि माननी होगी तब जाकर उसका भेद पक्ष में रहेगा। गन्धाधारत्वादि व्यतिरेकी हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्ष का भी प्रदर्शन किया जा सकता है। जैसे पृथिवी उक्तसाध्याभाववती, गन्धाधारत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जलम्। ''जीवब्रह्मभेदेऽनुमानविचारः'' के खण्ड संख्या ५ में धर्मी पद को लेकर जो कहा गया दोष है वह भी लगेगा और खण्ड संख्या १२ में धर्मी पद को लेकर जो अननुगमदोष कहा गया है। वह भी दोष होगा।।७।।

शङ्का– खण्ड संख्या ६ के अनुमान के द्वारा पूर्वपक्षी जीव का ब्रह्म से और जीव से जड़ का भेद सिद्ध कर रहा था। अब उसी अनुमान में अप्त्वाद्यनधिकरण का विशेषण आन्तर्गणिक भेदवत् देकर जीव से जीवान्तर का भेद सिद्ध कर रहा है। अर्थात् पूर्वपक्षी पूर्व के अनुमान से दो भेद (जीव का ब्रह्म से भेद और जीव का जड़ से भेद) सिद्ध कर रहा था। अब तीसरा भेद = जीवों का परस्पर भेद सिद्ध कर रहा है पूर्वोक्त अनुमान में आन्तर्गणिक भेदवत् विशेषण देकर। जैसे पृथिवी ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणं यदप्त्वाद्यनधिकरणमान्तर्गणिकभेदवच्च तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवती, वस्तुत्वाद्, जलवत्। ब्रह्म से भिन्न जो जीव और एक दूसरे से भिन्न जो जीव, उस जीव से भिन्न पृथिवी (पक्ष)। इस प्रकार पक्ष में साध्य का समन्वय होगा और दृष्टान्त में ब्रह्म से भिन्न जो पार्थिव पदार्थ और एक दूसरे से भिन्न जो पार्थिव पदार्थ। उस पार्थिव पदार्थ से भिन्न जल (दृष्टान्त) है। इस प्रकार दृष्टान्त में साध्य का समन्वय होगा।

समाधान– एतेन निरस्तम्– से अन्वय है। एतेन = ब्रह्म से जीव का भेद और जीव से जड़ के भेद साधक अनुमान के दोषों से ग्रस्त होने के कारण तीन भेदों को सिद्ध करने वाला यह अनुमान भी, निरस्त हो गया।।८।।

जीवस्य ब्रह्मजीवान्तराभ्यां जड़स्य च जीवात् ब्रह्मणो जडाच्च भेदे पृथिवी ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञाना–बाध्यभेदाधिकरणं अप्त्वाद्यनधिकरणमान्तर्गणिकभेदवच्च यत्तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवत्त्वे सति अप्त्वाद्यनधिकरणासंसारिधर्मिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगिनी, वस्तुत्वादम्बुवदित्यत्र ब्रह्मणो जडादपि भेदार्थं पूर्वस्मादधिकमत्वाद्यनधिकरणासंसारीत्यादिविशेषणम्। अत्र पक्षे अप्त्वाद्यनधिकरणमसंसारि ब्रह्म, तद्धर्मिकभेदप्रतियोगित्वेन साध्यसिद्धिः, दृष्टान्ते त्वप्त्वाद्यनधिकरणासंसारि पार्थिवम्, तद्धर्मिकभेदप्रतियोगित्वेन ज्ञेयम्। अत्र जीवत्वानधिकरणत्वस्य अप्त्वाद्यनधिकरणेत्यत्र विशेषणत्वेन पूर्ववदाभाससाम्यात्, पाकजरूपाधिकरणत्वादिना सत्प्रतिपक्षाच्च, धर्मादिपदविकल्पग्रासाच्च।।९।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– पूर्वपक्षी के द्वारा एक साथ चार भेद सिद्ध करने के लिए अनुमान किया जा रहा है। अर्थात् ब्रह्म में जीव का भेद, जीवान्तर में जीव का भेद, जीव में जड़ का भेद और जड़ में जड़ का भेद सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी अनुमान कर रहा है–पृथिवी ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्य जो भेद तादृश भेदाधिकरण जो जलत्वाद्यनधिकरण आन्र्तगणिक भेदवत्, तत्प्रतियोगिक प्रतियोगिज्ञानाबाध्य जो भेद तादृश भेद विशिष्ट होता हुआ जलत्वाद्यनधिकरण जो असंसारि तादृश असंसारि धर्मिक धर्मिज्ञानाबाध्य जो भेद तादृश भेद की प्रतियोगिनी है, वस्तुत्व होने से, जैसे जल। इस अनुमान में जड़ से भी ब्रह्म भेद को सिद्ध करने के लिए पूर्व अनुमान (तीन भेद को सिद्ध करने वाले अनुमान) से अधिक अप्त्वाद्यनधिकरणासंसारि– इत्यादि विशेषण दिया गया है। इस अनुमान में अप्त्वाद्यनधिकरण असंसारि जो ब्रह्म तद् धर्मिक भेदप्रतियोगित्वेन पक्ष में साध्य का समन्वय होगा और दृष्टान्त में अप्त्वाद्यनधिकरण असंसारि पार्थिव है, तद् धर्मिक प्रतियोगित्वेन साध्य का समन्वय होगा। (कहने का भाव यह है कि पक्ष में साध्य का समन्वय = ब्रह्मप्रतियोगिक भेद का अधिकरण = सभी अनात्मा और सभी जीव। ऐसा भेद सभी अनात्मा और सभी जीव के ज्ञान से अबाध्य है– ऐसा सिद्धान्ती भी मानते हैं। ऐसे भेद के अधिकरण को अप्त्वादि का अनधिकरण होना चाहिए और पारस्परिक भेद वाला भी होना चाहिए। ऐसा कहने से जीव और पृथिवी ही उक्त भेद के अधिकरण होंगे। (शेष अनात्मा उक्त भेदाधिकरण नहीं बनेंगे।) ऐसा जो उक्त भेदाधिकरण (जीव और पृथिवी। इनमें से पक्ष में साध्य ले जाते समय जीव लेना है और दृष्टान्त में साध्य ले जाते समय पृथिवी लेना है) = जीव। जीव प्रतियोगिक भेद जो कि जीव ज्ञान से अबाध्य है, तादृश भेद वाला ब्रह्म और सभी अनात्मा तथा जीवान्तर। इनमें से जलादि अनात्माओं और जीवान्तर को हटाने के लिए आगे का विशेषण दिया गया– अप्त्वाद्यनधिकरण तथा असंसारि। ऐसा विशेषण देने पर शेष बचा– पृथिवी और ब्रह्म। पृथिवी को लेकर साध्य पक्ष में जायेगा नहीं। अतः बाध्य होकर ब्रह्म को लेकर पक्ष में साध्य का समन्वय होगा और पृथिवी को लेकर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय होगा।)

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस अनुमान में भी अप्त्वाद्यनधिकरण के पूर्व में जीवत्वानधिकरण को विशेषण के रूप से दे देंने पर पूर्ववत् ब्रह्म और जीव से भिन्न आत्मा के साधक अनुमानाभास का साम्य इस अनुमान में भी होगा। पृथिवी उक्त साध्याभाववती, पाकजरूपाधिकरणत्वात्, यन्नैवं तन्नैनं यथा जलम्। इस प्रकार पाकजरूपाधिकरण रूप व्यतिरेकी हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्षता का भी प्रदर्शन किया जा सकता है। धम्यादि पद को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से अननुगमादि दोषों का भी उद्भावन होने से पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अनुमान का खण्डन हो गया।।९।।

एवं भेदमात्रेऽपि नानुमानम्। ब्रह्म, भेदहीनं नावतिष्ठते स्वज्ञानाबाध्यभेदवद्वा, पदार्थत्वाद्, घटवद् इति; तन्न मुक्त्यसहवृत्तित्वस्य जडत्वस्य चोपाधित्वात्, स्वपदविकल्पग्रासाच्च। एतेन—अनात्मा, स्वान्यज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणम्, पदार्थत्वात्, आत्मवदिति—निरस्तम्। ब्रह्मभेदो न सर्वनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, ब्रह्मनिरूप्यत्वात्, ब्रह्माभेदवदित्यत्र ब्रह्मभिन्नावृत्तित्वमुपाधिः, ब्रह्माभेदस्याब्रह्मनिरूप्यत्वेन तदनिरूप्यतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

एवम् = विशेष रूप से भेद को सिद्ध करने वाले अनुमानों में आये हुए दोषों के कारण, सामान्य रूप से भेद को सिद्ध करने वाले अनुमान भी दूषित हो जाने से भेद मात्र में भी अनुमान प्रमाण नहीं दिया जा सकता है। पूर्वपक्षी के द्वारा कृत भेद मात्र साधक प्रथम अनुमान—ब्रह्म भेद से रहित होकर नहीं रहता है अर्थात् ब्रह्म भेद वाला है अथवा ब्रह्म स्व ज्ञान से अबाध्य जो भेद तादृश भेद वाला है, पदार्थत्व होने से, जैसे घट। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस अनुमान में मुक्त्यसहवृत्तित्व और जड़त्व उपाधि है क्योंकि दृष्टान्त में साध्य है और घट मुक्ति में नहीं रहता है अतः घट में मुक्ति असहवृत्तित्व है। इसी प्रकार जड़त्व भी है अतः साध्य व्यापकत्व उपाधि में गया किन्तु पक्ष में हेतु के रहने पर भी उपाधि नहीं है क्योंकि मुक्ति में ब्रह्म रहता है अतः मुक्त्यसहवृत्तित्व पक्ष में नहीं है जड़त्व भी नहीं है। अतः दोनों उपाधियों में साधनाव्यापकत्व भी है। सोपाधिक हेतु होने से उक्त हेतु स्व साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। इस अनुमान में दूसरा दोष यह है कि उक्त अनुमान का साध्य स्व पद घटित होने से अननुगम दोष युक्त होने से व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो पायेगी। एतेन निरस्तम्—ऐसा अन्वय करना चाहिए। एतेन = प्रथम अनुमान में जैसे उपाधि और अननुगम दोष है ठीक इसी प्रकार इस द्वितीय अनुमान में भी उपाधि और अननुगम दोष होने के कारण, यह द्वितीय अनुमान भी निरस्त हो गया। द्वितीय अनुमान—अनात्मा स्व से अन्य तादृश अन्य का जो ज्ञान तादृश ज्ञान से अबाध्य जो भेद तादृश भेद का अधिकरण है, पदार्थत्व होने से जैसे आत्मा। इस अनुमान में अजड़त्व तथा मुक्ति सहवृत्तित्व उपाधि है। तृतीय अनुमान— ब्रह्म भेद, सर्वनिष्ठ जो अत्यन्ताभाव तादृश अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं है, ब्रह्म निरूप्यत्व होने से, जैसे ब्रह्माभेद। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस अनुमान में ब्रह्मभिन्न अवृत्तित्व उपाधि है। (दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी हैं, क्योंकि ब्रह्म का कल्पित भेद सिद्धान्त मतानुसार अथवा पूर्वपक्षी के अनुसार ब्रह्म का वास्तविक भेद घटादि में है किन्तु सिद्धान्त मतानुसार ब्रह्म के कल्पित भेद वाले कल्पित घटादि में सत्य ब्रह्म का अभेद नहीं रहता है। अतः ब्रह्मभिन्न अवृत्तित्व दृष्टान्त में चले जाने से साध्यव्यापकत्व उपाधि में सिद्धान्त मतानुसार सिद्ध हो जायेगा और पूर्वपक्षी के मतानुसार ब्रह्म के सत्य भेद वाले घटादि में ब्रह्म का अभेद पूर्वपक्षी नहीं मानता है। अतः ब्रह्म भिन्न अवृत्तित्व दृष्टान्त में चले जाने से पूर्वपक्षी के मतानुसार भी साध्य व्यापकत्व उपाधि में चला जायेगा। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार ब्रह्म के कल्पित भेद वाले कल्पित घटादि में ब्रह्म का कल्पित भेद रहता ही है। अतः उक्त अवृत्तित्व पक्ष में न जाने से साधनाव्यापकत्व उपाधि में चला जायेगा। पूर्वपक्षी के मत से ब्रह्म के सत्यभेद वाले सत्य घटादि में ब्रह्म का सत्य भेद रहता ही है। अतः पूर्वपक्षी के मतानुसार भी उक्त अवृत्तित्व पक्ष में न जाने से साधनाव्यापकत्व उपधि में चला जायेगा। फलतः सोपाधिक हेतु होने से उक्त हेतु के द्वारा स्व साध्य की सिद्धि नहीं हो पायेगी।) दूसरा दोष यह भी है कि ब्रह्म अभेद= ब्रह्म भेदाभाव = ब्रह्मभेद से निरूपित है, ब्रह्म से निरूपित नहीं है इसलिए दृष्टान्त में हेतु नहीं जायेगा। चतुर्थ अनुमान ब्रह्म ज्ञान स्व से अबाध्य जो भेद तादृश भेदवद् विषयक है, ज्ञानत्व होने से, जैसे शुक्तिज्ञान। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु

साधनवैकल्यं च। ब्रह्मज्ञानं स्वाबाध्यभेदवद्विषयकम्, ज्ञानत्वाच्छुक्तिज्ञानवदित्यत्रानात्मविषयत्वमुपाधिः। स्वपदेन ब्रह्मज्ञानोक्तौ तदबाध्यभेदाप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिः, शुक्तिज्ञानोक्तौ सिद्धसाधनम्।।१०।।

घटो घटसंसर्गानवच्छिन्नप्रतियोगिताकपटादिधर्मिकत्रैकालिकाभावप्रतियोगी, द्रव्यत्वात्, पटवदित्यत्र काल्पनिकाभावस्यापि कालत्रयवृत्तित्वसम्भवेन सिद्धसाधनम्, घटसंसर्गानवच्छिन्नेतिवत्तादात्म्यानवच्छिन्नेत्यपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

का समन्वय सुगम है। पक्ष में साध्य का समन्वय—स्व = ब्रह्मज्ञान, उससे अबाध्य भेद=ब्रह्म में रहने वाला ब्रह्मेतर घटादि का भेद। उक्त भेद वाला=ब्रह्म। ऐसे ब्रह्म विषयक ज्ञान को ब्रह्मज्ञान कहा ही जाता है। अत: पक्ष में साध्य का समन्वय हो जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—स्व = शुक्ति ज्ञान, उससे अबाध्य भेद=शुक्ति में रहने वाला घटादि का भेद, तादृश भेद वाला शुक्ति। ऐसे शुक्ति विषयक ज्ञान को शुक्ति ज्ञान कहा ही जा सकता है। अत: पक्ष पर साध्य की सिद्धि माननी चाहिए— यह पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस अनुमान में अनात्मविषयत्व उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य है और शुक्तिज्ञान का विषय शुक्ति अनात्मा है। अत: अनात्मविषयत्व शुक्ति ज्ञान में चले जाने से साध्यव्यापकत्व उपाधि में चला जायेगा। पक्ष में ब्रह्म ज्ञान का विषय ब्रह्म अनात्मा नहीं हैं। अत: अनात्म विषयत्व ब्रह्म ज्ञान में न होने से पक्ष में उपाधि नहीं है किन्तु हेतु हैं। अत: साधनाव्यापकत्व उपाधि में मिल जायेगा। सोपाधिक हेतु होने से दुष्ट हेतु हो गया। दूसरा दोष यह है कि स्व पद से ब्रह्म ज्ञान लेने पर तदबाध्य भेद की प्रसिद्धि सिद्धान्त मतानुसार न होने से साध्याप्रसिद्धि दोष होगा। यदि स्व पद से शुक्ति ज्ञान लेते हैं तब शुक्तिज्ञान से अबाध्य व्यावहारिक भेद सिद्धान्ती भी मानते हैं। अत: सिद्धसाधनदोष होगा।।१०।।

पञ्चम अनुमान— घट घटसंसर्गानवच्छिन्न प्रतियोगिताक जो पटादि धर्मिक त्रैकालिक अभाव तादृश अभाव का प्रतियोगी है, द्रव्यत्व होने से, जैसे पट। यद्यपि त्रैकालिक अभाव = पट अनुयोगिक त्रैकालिक अभाव पद से पक्ष में ले जाते समय पूर्वपक्षी को भेद लेना अभीष्ट है तथापि भेद न कहकर जो अभाव कहा गया, वह दृष्टान्त में साध्य ले जाने के लिए कहा गया है। इस प्रकार पट में रहने वाला घट भेद लिया। उस भेद का प्रतियोगी घट है। (अभाव का विशेषण त्रैकालिक) (नित्य) देने से प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव हट गये। अत: प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को लेकर बाध दोष नहीं दिया जा सकता है। शेष रह गया अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। उनमें से अत्यन्ताभाव को हटाने के लिए विशेषण जोड़ा गया— घट संसर्गानवच्छिन्नप्रतियोगिताक, क्योंकि घट का अत्यन्ताभाव घटसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव होता है। अत: अत्यन्ताभाव हट गया। अत: अत्यन्ताभाव को लेकर सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। अब रहा घट भेद। उस भेद का प्रतियोगी = घट। अत: उक्त प्रतियोगित्व पक्ष (घट) में चले जाने से साध्य का समन्वय पक्ष में हो जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय— पटे पटो नास्ति— इस प्रकार की प्रतीति के बल पर पट में पट प्रतियोगिक अत्यन्ताभाव रहता है। वह अत्यन्ताभाव त्रैकालिक अभाव है। ऐसा अत्यन्ताभाव पट संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताक होने से घट संसर्गानवच्छिन्न प्रतियोगिताक हो गया। अत: तादृश पटात्यन्ताभाव का प्रतियोगी पट। अत: उक्त प्रतियोगित्व रूप साध्य पट रूप दृष्टान्त में चला जायेगा। हेतु पक्ष और दृष्टान्त में है। अत: पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाने से भेद की सिद्धि हो जायेगी— ऐसा पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस अनुमान में काल्पनिक अभाव भी काल त्रय वृत्ति हो सकता है। अत: काल्पनिक अभाव को लेकर सिद्धसाधन दोष होगा। जैसे इस अनुमान के साध्य में घट संसर्गानवच्छिन्न विशेषण दिया गया है ठीक उक्त विशेषण के साथ तादात्म्यानवच्छिन्न विशेषण

विशेषणं दत्वा पञ्चमाभावसाधनस्यापि प्रसङ्गश्च, विपक्षबाधकाभावस्य उभयत्र सत्त्वात्। समानाधिकरण–कर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानबाधायोग्यो भेदः, परमार्थसन्, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

देकर अनुमान करने पर पञ्चम अभाव की सिद्धि की आपत्ति होगी। फलतः पञ्चम अभाव को सिद्ध करने वाला अनुमान जैसे अनुमानाभास है ठीक उसी प्रकार से पूर्वपक्षी द्वारा किया गया अनुमान भी अनुमानाभास है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे पञ्चम अभाव को सिद्ध करने वाले अनुमान में विपक्ष बाधक तर्क नहीं है वैसे ही पूर्वपक्षी के अनुमान में भी विपक्ष बाधक तर्क नहीं हैं।।

षष्ठ अनुमान– इस अनुमान का पक्ष है– समानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानबाधायोग्यो भेदः। समानाधिकरण = स्व समानाधिकरण। स्व = ज्ञान (पक्ष घटक बाध्य शब्द से पहले जो ज्ञान शब्द है। उसी ज्ञान को स्व पद से लेना है) ऐसे ज्ञान के साथ एक ही अधिकरण में रहने वाला अर्थात् ज्ञान जिस अधिकरण (चैत्रात्मा) में रहता है, उसी अधिकरण में रहने वाला जो कर्म का प्रागभाव। वह प्रागभाव जिस काल में रहता है उसी काल में रहने वाले ज्ञान (यहाँ ज्ञान से पूर्वपक्षी घट ज्ञान लेगा) के द्वारा बाध होने के योग्य नहीं है ऐसा जो भेद। पदकृत्य–केवल भेद को पक्ष बनाने पर सिद्धान्ती काल्पनिक भेद को लेकर बाध दोष देंगे, क्योंकि काल्पनिक भेद में परमार्थसत्त्व रूप साध्य नहीं रहता है इसके वारण के लिए बाधायोग्य कहा। बाधायोग्य भेद को पक्ष बनाने पर सिद्धान्ती आश्रयासिद्धि दोष देंगे, क्योंकि सिद्धान्ती ज्ञान शब्द से ब्रह्म ज्ञान ले लेंगे और ब्रह्म ज्ञान से बाध के अयोग्य भेद आदि माना नहीं जाता है। अतः ज्ञान शब्द से ब्रह्म ज्ञान न लिया जा सके, इसके लिए विशेषण दिया गया– कर्म प्रागभाव कालीन। अर्थात् ज्ञान सामानाधिकरण जो कर्म प्रागभाव तादृश कर्म प्रागभाव समान कालीन ज्ञान। ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् कर्म के न रहने से ब्रह्म ज्ञान काल में कर्म का प्रागभाव भी नहीं रहेगा। अतः ब्रह्म ज्ञान = कर्म प्रागभाव समान कालीन नहीं है। अतः ज्ञान पद से घटादि ज्ञान ही लेना पड़ेगा। घटादि ज्ञान से बाध के अयोग्य भेद के होने से आश्रयासिद्धि दोष नहीं होगा। इसी प्रकार कर्म प्रागभाव में ज्ञान समानाधिकरण विशेषण न देने पर आश्रयासिद्धि दोष होगा, क्योंकि चैत्र को जिस समय ब्रह्म ज्ञान होता है, उस समय चैत्र में यद्यपि कर्म का प्रागभाव नहीं रहेगा किन्तु मैत्र (जिसको ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ है उस) में तो चैत्र के ब्रह्म ज्ञान के समय में भी कर्म का प्रागभाव रहेगा। अतः चैत्र निष्ठ ब्रह्म ज्ञान = मैत्र निष्ठ कर्म प्रागभाव समान कालीन हो जाने से चैत्र का ब्रह्म ज्ञान ले सकते हैं। ब्रह्म ज्ञान लेने पर ब्रह्म ज्ञान से बाध के अयोग्य भेदादि सिद्धान्त मतानुसार माना नहीं जाता है। फलतः आश्रयासिद्धि दोष होगा। समानाधिकरण कहने पर चैत्र और मैत्र भिन्न–भिन्न नहीं ले सकते हैं। ब्रह्म ज्ञान वाले चैत्र को अधिकरण बनाने पर कर्मप्रागभावसमानकालीनत्व नहीं मिलेगा और ब्रह्म ज्ञान से रहित मैत्र को अधिकरण बनाने पर घट ज्ञान लेंगे उसके समान कालीन कर्म प्रागभाव मिलेगा। ऐसे घटादि ज्ञान से भेदादि का बाध नहीं होता हैं अतः आश्रयासिद्धि दोष नहीं होगा। इस अनुमान का साध्य है– परमार्थसत्त्व। इसमें पाँच हेतु दिये गये हैं। प्रथम हेतु – प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वविशिष्टासत्त्वानधिकरणत्व। (यदि असत्त्वानधिकरणत्व को हेतु बनाते तब प्रातिभासिक पदार्थो में हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष हो जाता। अतः प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व कहा गया। केवल प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व कहते तब असत् में हेतु के रहने और साध्य के न होने से व्यभिचारदोष हो जाता है। अतः असत्त्वानधिकरणत्व कहा गया।) द्वितीय हेतु = स्वासत्त्वागोचर प्रमा के प्रति साक्षाद् विषयत्व होने से (इस हेतु में साक्षात् पद न देने पर ''इदं रजतम्'' इस प्रकार भ्रम ज्ञान के पश्चात् ''इदं रजतमहं जानामि'' ऐसी

स्वासत्त्वागोचरप्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वाद्, आरोपितमिथ्यात्वकत्वात्, कल्पकरहितत्वात्, स्वविषयकसाक्षात्कारात् पूर्वभावित्वात्, आत्मवत्।।११।।

ब्रह्मजीवप्रतियोगिको भेदः, परमार्थसन्, अनादित्वादात्मवत्, साक्षिवेद्यसुखदुःखादिभेदः, परमार्थसन्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद्विषयत्वात्। धर्माधर्मयागदानादिभेदः परमार्थसन्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनुव्यवसायात्मक प्रमा होती है। इस प्रमा ज्ञान का विषय = इदं रजतम्— यह व्यवसाय ज्ञान और इस व्यवसाय ज्ञान का विषय = प्रातिभासिक रजत। इस प्रकार प्रातिभासिक रजत में हेतु चला जायेगा किन्तु साध्य नहीं रहेगा। अतः व्यभिचारदोष होगा। साक्षात् पद देने पर प्रातिभासिक रजत में हेतु नहीं जायेगा। अतः व्यभिचारदोष नहीं होगा। स्वासत्त्वागोचर न कहने पर ''शशशृङ्गमसत्'' इस प्रमा ज्ञान को लेंगे। इस का साक्षात् विषय शशशृङ्ग है। उसमें हेतु गया किन्तु साध्य नहीं होने से व्यभिचारदोष होगा। स्वासत्त्वागोचर विशेषण देने पर असत्त्व ('शशशृङ्ग) विषयक प्रमा को नहीं लिया जा सकता है।) तृतीय हेतु = आरोपित मिथ्याकत्व होने से। (सिद्धान्ती के द्वारा भेद में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। अतः आरोपित मिथ्यात्व वाला भेद हो जायेगा— इस प्रकार पक्ष में हेतु का समन्वय होगा) चतुर्थ हेतु = कल्पक रहितत्व होने से। (भेद के न होने पर भी नैयायिक आदि भेद की कल्पना करते हैं— ऐसा सिद्धान्ती का कहना हैं। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद की कल्पना के प्रति कोई हेतु ही नहीं है। अतः भेद को काल्पनिक न मानकर के परमार्थ सत् मानना चाहिए। पञ्चम हेतु = स्व विषयक साक्षात्कार के पूर्व में भावित्व होने से। (ज्ञातैकसत्त्व वाला प्रातिभासिक पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान से पहले प्रातिभासिक पदार्थ नहीं रहता है किन्तु भेद प्रत्यक्ष से पहले भेद रहता है। इसलिए भेद को प्रातिभासिक न मानकर पारमार्थिक मानना चाहिए।) दृष्टान्त— आत्मा। दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय सुगम है। पक्ष में हेतु है। अतः पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए— यह पूर्वपक्षी का भाव हैं।।११।।

सप्तम अनुमान— ब्रह्म अनुयोगिक जीव प्रतियोगिक भेद परमार्थ सत् है, अनादित्व होने से, जैसे आत्मा। षड् अनादि पदार्थों में जीवेश भेद माना जाता है। अतः पक्ष में हेतु चला जायेगा। दृष्टान्त में हेतु और साध्य है ही। अतः पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। अष्टम अनुमान— साक्षिवेद्यसुखानुयोगिक दुःखप्रतियोगिक भेद परमार्थ सत् है, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञान के प्रति साक्षात् विषयत्व होने से (नेदं रजतम्— इस दोषाजन्य ज्ञान का निषेध्यत्वेन साक्षात् विषय = प्रातिभासिक रजत है। इसलिए अनिषेध्यत्वेन पद नहीं देने पर प्रातिभासिक रजत में व्यभिचारदोष हो जाता। इसके वारण के लिए अनिषेध्यत्वेन पद दिया गया हैं। इसी प्रकार दोषाजन्य — इसको ज्ञान का विशेषण इसलिए दिया गया है कि ''इदं रजतम्'' इस दोष जन्य ज्ञान के प्रति अनिषेध्यत्वेन साक्षात् विषय— प्रातिभासिक रजत है। अतः प्रातिभासिक रजत में व्यभिचार दोष हो जाता। इसके वारण के लिए दोषाजन्य को ज्ञान का विशेषण दिया गया।) इस अनुमान का दृष्टान्त = आत्मा है। दृष्टान्त में हेतु ले जाते समय ज्ञान शब्द से अखण्डाकार चित्तवृत्ति लेना है और पक्ष में हेतु ले जाते समय ज्ञान शब्द से साक्षिवेद्य सुख दुःखादि के भेद विषयक ज्ञान लेना है। इस प्रकार पक्ष में हेतु और दृष्टान्त में हेतु और साध्य के होने से पक्ष (भेद) में पारमार्थिक सत्त्व की सिद्धि हो जायेगी। नवम अनुमान—धर्म अधर्म याग दानादि का भेद परमार्थ सत् है, श्रुतितात्पर्यविषयत्व होने से, जैसे आत्मा। इन ६—७—८—९ अनुमानों का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वोक्त अनुमानों के हेतुओं में आत्मा के असाधारण धर्म चेतनत्व, परमार्थ सत्त्व आनन्दत्वादि उपाधि है, क्योंकि ये धर्म दृष्टान्त में हैं। अतः

श्रुतितात्पर्यविषयत्वादित्यादिष्वात्मासाधारणधर्माणां चेतनत्वादीनामुपाधित्वं जडत्वादिना सत्प्रतिपक्षश्च मिथ्यात्वसाधकानां प्राबल्यस्योक्तत्वेन तैर्बाधश्च।१२।।

आद्ये च प्रातिभासिकत्वस्य दोषप्रयुक्तभानत्वात्मकत्वे असिद्धिः, ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वोक्तौ चरमवृत्त्यव्यवहितप्रातिभासिके व्यभिचारश्च। द्वितीयहेतौ तादृक्प्रमाविषयत्वस्य भेदपारमार्थिकत्वसिद्ध्यधीनत्वेन साध्याविशेषपर्यवसानम्। तृतीये चरमवृत्त्यन्यबाध्यमिथ्यात्वकत्वस्योपाधित्वम्। चतुर्थे अविद्यारूपकल्प–

सत्यानन्दप्रबोधिका

साध्यव्यापकत्व चेतनत्वादि में मिल जायेगा और पक्ष में हेतु है किन्तु चेतनत्वादि धर्म नहीं है अतः साधनाव्यापकत्व भी मिल जायेगा। इस प्रकार उक्त हेतु सोपाधिक हो जाने से अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर पायेंगे। दूसरा दोष यह है कि जड़त्वादि हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्षता भी है। जैसे उक्त भेदः न परमार्थ सन्, जड़त्वात्–शुक्ति रजतवत् (व्यतिरेकी दृष्टान्त आत्मा होगा) प्रथम परिच्छेद के ''मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानबाधविचारः'' में मिथ्यात्व साधक हेतुओं में प्राबल्य स्पष्ट किया जा चुका है। अतः मिथ्यात्व साधक प्रबल अनुमानों के द्वारा इस अनुमानों का बाध हो जाने से इन अनुमानों के हेतु बाध दोष से ग्रस्त हैं। अतः स्व साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते हैं।१२।।

षष्ठ अनुमान के प्रथम हेतु में आया हुआ प्रातिभासिकत्व का अर्थ यदि दोष प्रयुक्त भानत्व करते हैं तो भेद रूप पक्ष में प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व नहीं जायेगा, क्योंकि भेद का भान अविद्या रूप दोष प्रयुक्त हैं। अतः स्वरूपासिद्धि दोष होगा। यदि प्रातिभासिकत्व का अर्थ ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व करते हैं तब हेतु के प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व का अर्थ होगा– ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वानधिकरणत्व। किन्तु किसी व्यक्ति को भ्रम ज्ञान के अव्यवहित उत्तर क्षण में अर्थात् भ्रम ज्ञान के तुरन्त बाद में ब्रह्मज्ञान हो गया। ऐसे स्थल पर भ्रम का विषय प्रातिभासिक पदार्थ केवल ब्रह्म ज्ञान से ही बाध्य हैं। अतः उक्त प्रातिभासिक पदार्थ में हेतु चला जायेगा किन्तु साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। षष्ठ अनुमान का द्वितीय हेतु = स्वासत्त्वागोचर प्रमा के प्रति साक्षात् विषयत्व। यह हेतु पक्ष में तभी समन्वय हो पायेगा जब इस अनुमान से पहले से ही भेद में पारमार्थिकत्व की सिद्धि हो गयी हो। अर्थात् जिसमें पारमार्थिकत्व रहेगा उसमें हेतु रहेगा– ऐसा होने पर साध्य और हेतु एक ही हो जाने से साध्य विशिष्टता रूप दोष हेतु में आ जायेगा। षष्ठ अनुमान के तृतीय हेतु (आरोपित मिथ्यात्वकत्व) में चरमवृत्त्यन्यबाध्यमिथ्यात्वकत्व उपाधि है। दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है क्योंकि अखण्डाकार अपरोक्षात्मक वृत्ति से भिन्न ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस श्रुति से होने वाली परोक्ष प्रमात्मिका वृत्ति उससे ही आत्मा में मिथ्यात्व का बाध हो जाता है। इस प्रकार से साध्यव्यापकत्व उपाधि में चला गया। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि पक्ष = व्यावहारिक भेद। उसके मिथ्यात्व का चरमवृत्ति के द्वारा ही बाध होता है न कि चरम वृत्ति से अन्य के द्वारा, क्योंकि अपरोक्ष भ्रम का अपरोक्ष ज्ञान ही निवर्तक होता है। षष्ठ अनुमान के चतुर्थ हेतु (कल्पक रहितत्व) में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि पक्ष = भेद का कल्पक अविद्या विद्यमान है। षष्ठ अनुमान के पञ्चम हेतु (स्वविषयकसाक्षात्कार से पूर्वभावित्व) में स्वरूपासिद्धि दोष होगा, क्योंकि दृष्टि सृष्टि पक्ष में सभी अनात्म पदार्थ ज्ञान काल में ही रहते हैं। अर्थात् सभी अनात्म पदार्थ प्रातिभासिक ही माने जाते हैं। इसलिए न ज्ञान से पहले और न ज्ञान के बाद में रहते हैं। अतः पूर्व भावित्व के न जाने से हेतु पक्ष में नहीं जायेगा। इतरत्र = सृष्टि दृष्टि पक्ष में भेदादि अनात्म पदार्थों को व्यावहारिक माना जाता है। अतः इस पक्ष में स्वरूपासिद्धि दोष के न होने पर भी अनुकूल तर्क के न रहने से हेतु को साध्य का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है। सप्तम अनुमान

सत्त्वेनासिद्धिः। पञ्चमे दृष्टिसृष्टिपक्षे असिद्धिः, इतरत्राप्रयोजकता। अनादित्वं च अज्ञानादौ व्यभिचारि। दोषाजन्यज्ञानं प्रतीत्यत्र श्रुतितात्पर्यविषयत्वादित्यत्र चासिद्धिः, साक्ष्यवच्छेदकवृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, मुख्यतस्तात्पर्यस्य तत्राभावात्, तस्मात् भेदपञ्चकं नानुमानविषयः।।१३।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ भेदपञ्चके अनुमानभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

का अनादित्व हेतु अज्ञान में है किन्तु पारमार्थिकत्व रूप साध्य के न रहने से व्यभिचार दोष से ग्रस्त हैं। अष्टम अनुमान के हेतु में भी स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि साक्षी वेद्य जो सुख दुःखादि के भेद को जो पक्ष बनाया गया है। यहां जो साक्षी पदार्थ है उस का विचार ''प्रत्यक्षस्य भाविबाधविचारः'' के खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है कि ''चैतन्यस्य स्वरूपतो दोषाजन्यत्वेऽपि तदवच्छेदिकाया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, तत्फलितचैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वात्।'' फलतः साक्षी की अवच्छेदकीभूतवृत्ति अविद्यादोष से जनित होती है। अतः हेतु का घटक दोषाजन्यज्ञान पक्ष में नहीं जायेगा। इसी प्रकार नवम अनुमान का हेतु भी स्वरूपासिद्धि दोष से ग्रस्त है, क्योंकि श्रुति का मुख्य तात्पर्य अद्वैततत्त्व को बतलाने में है न कि व्यावहारिक भेद को। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित पाँचों भेदों की सिद्धि अनुमान के द्वारा नहीं हो सकती है— यह सिद्ध हो गया।।१३।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां भेदपञ्चके अनुमानभङ्गः—

३—भेदश्रुतेरनुवादकत्वविचारः

ननु—भेदतात्त्विकत्वे 'द्वासुपर्णा' 'य आत्मनि तिष्ठन्' 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य' इति श्रुतयो मानमिति—चेन्न; द्वासुपर्णेत्यत्र पूर्वार्धे न भेदः प्रमेयः; अपदार्थत्वादवाक्यार्थत्वाच्च। द्वित्वस्य स्वाश्रयप्रतियोगिकभेदसमानाधिकरणत्वनियमात्। श्रुतद्वित्वार्थापत्तिसमधिगम्यस्यापि भेदस्य श्रौतत्वमिति चेत्, न; द्वौ चन्द्रमसावित्यत्रेव कल्पितभेदेनाप्युपपत्तेः तात्त्विकभेदानाक्षेपकत्वात्। अतएव नोत्तरार्धस्यापि तात्त्विकभेदपरत्वम्; वस्तुतस्त्वस्याः श्रुतेः पैङ्गिरहस्यब्राह्मणे बुद्धिजीवपरतया व्याकृतत्वेन जीवेशभेदपरत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्।।९।।

'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादावाधाराधेयभावस्य 'चेतनश्चेतनानाम्'इति निर्धारणस्य 'अजोऽन्य' इत्यत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वोक्त पाँच प्रकार के भेद गत तात्त्विकत्व में ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।'' (श्वे०उ०४—६ और मु०उ०३—१—१)''य आत्मनि तिष्ठन्'' (शतपथ ब्राह्मण १४—५—५—३०) (यहाँ यः = अन्तर्यामी, आत्मनि = जीव में) ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'' (कठ०—उ०२—२—१३) ''अजो ह्येको जुषमाणो अनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः'' (श्वे०उ०४—५) इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''द्वा सुपर्णा'' इत्यादि जो मन्त्र है। उस मन्त्र के पूर्वार्ध में आये हुए किसी पद का अर्थ भेद नहीं है और समग्र पूर्वार्ध वाक्य का भी अर्थ भेद नहीं है। मन्त्र के पूर्वार्ध में आये हुए द्वित्व शब्द से भी तात्त्विक भेद को नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''द्वौ घटपटौ'' इस स्थल पर स्व = द्वित्व, उसका आश्रय पट और घट, घट प्रतियोगिक भेद का अधिकरण पट और उसी पट अधिकरण में द्वित्व भी रहता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जहां द्वित्व रहता है वहां भेद भी रहता है। अर्थात् द्वित्व में स्वाश्रयप्रतियोगिक भेद का सामानाधिकरण्य सिद्ध हुआ किन्तु द्वित्व जहाँ रहता है वहां तात्त्विक भेद रहता है— यह सिद्ध नहीं होता है अतः उक्त श्रुति के पूर्वार्ध के द्वारा सामान्य रूपेण भेद सिद्ध होने पर भी जीव और ब्रह्म में तात्त्विक भेद सिद्ध नहीं हो सकता है, कल्पित भेद मानना सिद्धान्ती को अभीष्ट ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''भेदस्य श्रौतत्वं तात्त्विकत्वं विना श्रुतं द्वित्वमनुपपन्नम्।'' इस श्रुतार्थापत्ति के समधिगम्य भेद को तात्त्विक मानने पर ही श्रौत कहना उचित होगा। फलतः तात्त्विक भेद में श्रुति प्रमाणकत्व की उपपत्ति हो जायेगी— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ''द्वौ चन्द्रमसौ'' इस स्थल पर जैसे कल्पित भेद को लेकर द्वित्व की उपपत्ति हो जाती है ठीक उसी प्रकार ''द्वा सुपर्णा'' इत्यादि स्थल पर भी कल्पित भेद को लेकर द्वित्व की उपपत्ति हो जायेगी। अतः श्रुत द्वित्व को तात्त्विक भेद का आक्षेपक नहीं माना जा सकता है। अत एव = कल्पित भेद से ही द्वित्व की उपपत्ति हो जाने से ही ''द्वा सुपर्णा'' इस मन्त्र के उत्तरार्थ को भी तात्त्विक भेद परक नहीं माना जा सकता है। अब तक इस मन्त्र को जीव और ईश परक मान कर समाधान दिया गया। अब कह रहे हैं कि यह मन्त्र जीव और ईश का बोधक नहीं है अपितु पैङ्गि रहस्य ब्राह्मण में इस श्रुति के घटक द्वा शब्द से बुद्धि और जीव लिए गये हैं। अतः इस श्रुति के द्वारा जीव और ब्रह्म में तात्त्विक भेद नहीं सिद्ध किया जा सकता है।।९।।

''य आत्मनि तिष्ठन्'' इस श्रुति में कहा गया आधार— आधेयभाव और ''चेतनश्चेतनानाम्'' इस श्रुति के द्वारा कथित निर्धारण तथा ''अजोऽन्य'' इस श्रुति से कथित भेदव्यवहार काल्पनिक भेद मानने पर भी

भेदव्यपदेशस्य काल्पनिकभेदमादायाप्युपपत्तेः भेदतात्त्विकत्वापर्यवसायित्वात्, श्रुत्यन्तरविरोधाच्च। न चैतच्छ्रुतिविरोधात् सैव श्रुतिरन्यपरा; भेदश्रुतेः प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादत्वेन हीनबलत्वतात्। न च जीवत्वावच्छिन्नजीवभेदस्याप्राप्त्या 'न हिंस्या' दित्यादिवदननुवादत्वम्; जीवे ईश्वरभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धतया तदन्यथानुपपत्तिसिद्धेशधर्मिकजीवत्वावच्छिन्नभेदस्यापि प्रत्यक्षसिद्धतुल्यकक्ष्यतया तद्बोधकश्रुतेरनुवादत्वोपपत्तेः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपपन्न हो जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि उक्त स्थलों पर तात्त्विक भेद मानने में क्या आपत्ति है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि तात्त्विक भेद मानने पर एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा से विरोध होगा और ''नेह नानास्ति किञ्चन''इत्यादि अभेद बोधक श्रुतियों से विरोध होगा। यदि कहा जाय कि भेद बोधक उक्त श्रुतियों से विरोध होने के कारण अभेद बोधक श्रुतियों को अन्यार्थक क्यों न मान लिया जाय? अर्थात् ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि अभेद बोधक श्रुतियाँ काल्पनिक भेद का निषेध करती हैं तात्त्विक भेद का नहीं, क्योंकि भेद बोधक श्रुतियाँ तात्त्विक भेद को बतला रही हैं। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रबल वाक्यों से विरोध होने पर दुर्बल वाक्यों के अर्थ को बदल दिया जाता है किन्तु प्रकृत में भेद प्रतिपादक वाक्य दुर्बल हैं क्योंकि भेद बोधक वाक्य प्रत्यक्ष सिद्ध भेद के अनुवादक हैं जबकि अभेद बोधक वाक्य प्रबल हैं क्योंकि अपूर्व अर्थ के बोधक हैं। फलत: अभेद बोधक प्रबल वाक्यों को स्वार्थ परक और भेद बोधक वाक्यों को अन्यार्थ परक मानना ही उचित है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''मैं (चैत्र) ईश्वर नहीं हूँ।'' इस प्रत्यक्ष के द्वारा चैत्र निष्ठ ईश्वर भेद प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु इस प्रत्यक्ष के द्वारा सकल जीवों में ईश्वर के भेद का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अत: भेद बोधक वाक्यों को अनुवादक नहीं माना जा सकता है। जैसे घट में इतर भेद प्रत्यक्ष से प्राप्त होने पर भी सकल पृथ्वी में इतर भेद प्रत्यक्ष से प्राप्त नहीं है। अत: पृथ्वी में इतर भेद को सिद्ध करने के लिए अनुमान (पृथिवी इतरभिन्ना पृथिवीत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जलम्) किया जाता है और इस अनुमान को प्रत्यक्ष का अनुवादक नहीं माना जाता है। इसी प्रकार ''ब्राह्मणो न हन्तव्य:'' इस वाक्य से ब्राह्मणत्वावच्छेदेन हिंसा निषेध प्राप्त होने पर भी सर्वभूतत्वावच्छेदेन हिंसा निषेध प्राप्त नहीं है। अत: सर्वभूतत्वावच्छेदेन हिंसा निषेध का विधायक ''न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'' इस वाक्य को माना जाता है न कि अनुवादक। इसी प्रकार प्रकृत में भी ईश्वर चैत्र का भेद प्रत्यक्ष से सिद्ध होने पर भी जीवत्वावच्छिन्न जीव का भेद ईश्वर में प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने के कारण तत्प्रापक भेद बोधक श्रुतियों को अनुवादक नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी जब यह मान रहे हैं कि जीव (चैत्र) में ईश्वर का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है, क्योंकि भेद प्रत्यक्ष में अनुयोगी की योग्यता कारण मानी जाती है। ईश्वर प्रतियोगिक भेद के अनुयोगी चैत्र का प्रत्यक्ष है। अत: ईश्वर प्रतियोगिक जीवानुयोगिक भेद को प्रत्यक्ष माना जाता है। तब ईश्वर प्रतियोगिक चैत्रानुयोगिक जो भेद तादृश भेद की अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण (ईशधर्मिकजीवत्वावच्छिन्नजीवभेदं विना चैत्रधर्मिकेशभेदप्रत्यक्षमनुपपन्नम्।) से ईश्वर अनुयोगिक जीवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिक भेद की उपपत्ति हो जायेगी। {अर्थात् पूर्वपक्षी जो जीव (चैत्र) में ईश्वर का भेद मान रहे हैं वह तब तक उपपन्न नहीं हो पायेगा जब तक सकल जीवों का भेद ईश्वर में न मान लिया। कहने का भाव यह है कि जब सकल जीवों का भेद ईश्वर में नहीं रहेगा तब एक जीव का भेद भी ईश्वर में नहीं रह पायेगा। जैसे सकल तिलों में तेल नहीं है तब एक तिल में भी तेल नहीं रहेगा} इस अर्थापत्ति की उपपत्ति

न हिंस्यादित्यत्र नानुवादत्वशङ्कापि, ब्रह्मणो न हन्तव्य इत्यादेः पुरोवादकत्वनिर्णायकाभावात्।।२।।

न च—पुंविशेषं प्रत्यस्यार्थवत्त्वं शाखान्तरस्थविधिवाक्यवदिति—वाच्यम्: एकस्यानेकशाखाध्ययनासम्भवात्, प्रत्यक्षस्य सर्वपुरुषसाधारण्येन प्राथमिकप्रसरत्वेन च पुरुषविशेषं प्रत्यपि सार्थकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वाम्। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्यक्ष के सहारे हुयी हैं। अत: उक्त अर्थापत्ति से सिद्ध भेद प्रत्यक्ष से सिद्ध भेद के तुल्य ही है। फलत: ईश धर्मिक जीवत्वावच्छिन्न जीव भेद बोधक ''य आत्मनि तिष्ठन्'' ''चेतनश्चेतनानाम्'' अजोऽन्य: ''इत्यादि श्रुतियाँ प्रत्यक्षसिद्ध भेद की अनुवादिका ही सिद्ध होती हैं। अत: प्रत्यक्ष सिद्ध भेद अनुवादक श्रुति वाक्यों के बल पर अभेदार्थ बोधक श्रुति वाक्यों को अन्यार्थ परक मानना सम्भव नहीं है। ''न हिंस्यात्'' इस पर अनुवादक की आशङ्का भी नहीं की जा सकती है क्योंकि ''ब्राह्मणो न हन्तव्य:'' इत्यादि में पूरोवादत्व के निर्णय का अभाव है। इसको ''मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधविचार:'' के खण्ड संख्या ७ में स्पष्ट किया जा चुका है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस पुरुष विशेष को प्रत्यक्ष के बल पर उक्त भेद निश्चित नहीं हुआ है उस पुरुष के प्रति भेद बोधक श्रुति वाक्य अज्ञात ज्ञापक हो जायेंगे। अत: उक्त वाक्यों में अनुवादकत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। जैसे किसी एक शाखा में कहा गया जो विधि वाक्य है। उसी विधि वाक्य को दूसरी शाखा में कहे जाने पर भी उक्त विधि वाक्य को अनुवादक न मानकर अज्ञात ज्ञापक ही माना जाता हैं। अर्थात् जहाँ दो शाखा में एक ही वाक्य का पाठ है वहां जिसने प्रथम शाखा को पढ़ा नहीं। उसके प्रति दूसरी शाखा में स्थित वह वाक्य सार्थक या अज्ञात ज्ञापक माना जाता है। इसको ''मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधविचार:'' के खण्ड संख्या ७ के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि ''स्वाध्यायोऽध्येतव्य:'' इस विधि वाक्य के द्वारा अपने गोत्र और प्रवर के अनुसार स्व शाखा के अध्ययन का विधान किया गया हैं। अत: एक पुरुष को अनन्त शाखाओं के पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए शाखान्तरीय वाक्यों का शाखान्तरीय पुरुष के प्रति अज्ञात ज्ञापकत्व सम्भव है। प्रकृत में प्रत्यक्ष प्रमाण सर्व पुरुष साधारण है। अर्थात् सभी प्रमाणों की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण की पहले प्रवृत्ति होती है। ऐसा कोई पुरुष सम्भव नहीं है जिसे प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मभेद का ज्ञान न हुआ हो। अत: यह मानना ही पड़ेगा कि प्रत्यक्ष के द्वारा प्रकाशित भेद का ही श्रुति प्रकाश करती है। इसलिए भेद बोधक श्रुतियों में अनुवादकता सूपपन्न है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस भेद को हम मान रहे हैं। वह भेद कालत्रयाबाध्य रूप सत्य है। अर्थात् तीनों कालों में वह भेद रहता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बोधित भेद वर्तमान काल में ही रहता है, अर्थात् प्रत्यक्ष से प्राप्त भेद से भिन्न कालत्रयाबाध्य भेद है, उसको भेद बोधक श्रुति कह रही है। अत: श्रुति में अनुवादकता की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। (कहने का भाव यह है कि यदि प्रत्यक्ष से बोधित भेद को श्रुति कहती तब श्रुति में अनुवादकता की आपत्ति होती किन्तु प्रत्यक्ष से बोधित भेद से भिन्न कालत्रयाबाध्य भेद जो प्रत्यक्ष से बोधित नहीं हो सकता है उसको श्रुति कह रही है। अत: श्रुति में प्रत्यक्ष भेद की अनुवादकता की आपत्ति नहीं होगी— यह पूर्वपक्षी का भाव है।) जैसे ''द्वयो: प्रणयन्ति'' इत्यादि वाक्य स्थल है। इस दृष्टान्त की व्याख्या ''मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधविचार:'' के खण्ड संख्या ९ के प्रारम्भ कर दी गयी है। यहाँ पर इस दृष्टान्त से यह दिखाया गया है कि दर्शपूर्णमास याग के विकृति याग =

च ''द्वयोः प्रणयन्ति''इत्यादिवत् वर्तमानमात्रग्राहिप्रत्यक्षाप्राप्तकालत्रयाबाध्यभेदप्रापकत्वमिति—वाच्यम्; अजो ह्यन्य इत्यादौ त्रिकालाबाध्यत्वबोधकपदाभावात्।।३।।

न च—अभेदे षड्विधतात्पर्यलिङ्गवद्दार्ढ्यार्थत्वं भेदश्रुतेरिति—वाच्यम्; तत्र प्रयोजनवत्त्वेऽप्यनुवादत्वापरिहाराद् अग्निर्हिमस्य भेषजमितिवत्। न च 'षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादि'तिवत् प्रतिप्रसवार्थत्वम्; तदपेक्षया हीनबलत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

चातुर्मास्य याग में ''प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्याः'' इससे चारों पर्वों में अग्निप्रणयन प्राप्त है तब पुनः ''द्वयो प्रणयन्ति'' इस वाक्य के द्वारा मध्य के दो पर्वों में अग्नि प्रणयन का विधान व्यर्थ है। इस पर सिद्धान्ती के द्वारा व्यवस्था दी गयी कि ''द्वयो प्रणयन्ति'' यह वाक्य व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि चातुर्मास्य के दो पर्वों (द्वितीय और तृतीय पर्व) में ''द्वयोः प्रणयन्ति'' से विधान होगा और शेष दो पर्वों प्रथम और चतुर्थ) में अतिदेश वाक्य से विधान होगा। इसी प्रकार प्रकृत में भेद बोधक श्रुति व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करती है कि कालत्रयाबाध्य भेद का बोधन भेद बोधक श्रुति से होगा और वर्तमान कालीन भेद का बोधन प्रत्यक्ष प्रमाण से होगा। फलतः भेद बोधक श्रुति में वर्तमान कालीन भेद की अनुवादकता नहीं मानी जा सकती है— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भेद को बलताने वाले ''अजोऽन्यः'' इत्यादि श्रुति वाक्यों में कालत्रयाबाध्यत्व रूप अर्थ का बोधक पद ही नहीं है। अतः भेद बोधक श्रुतियों के द्वारा कालत्रयाबाध्यभेद की बोधकता मानी ही नहीं जा सकती है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उपक्रम उपसंहार की एक रूपता रूप तात्पर्य लिंग के द्वारा अद्वैत में श्रुति के तात्पर्य का निश्चय हो जाने के पश्चात् उसी अद्वैत के बोधक अभ्यास अपूर्वता फलादि के बोधक श्रुति वाक्यों को अनुवादक नहीं माना जाता है अपितु अद्वैत की दृढ़ता के लिए माना जाता है ठीक इसी प्रकार प्रत्यक्ष से ज्ञात भेद का भेद बोधक श्रुति के द्वारा पुनः प्रतिपादन भेद की दृढ़ता के लिए किया गया है। अतः भेद बोधक श्रुति वाक्यों को अनुवादक नहीं माना जा सकता हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भेद श्रुति में उक्त प्रकार से भेद में दृढ़ता रूप प्रयोजन मानने पर भी अनुवादकत्व का परिहार नहीं हो पायेगा। अर्थात् अनुवाद का विशेष सार्थक्य (प्रयोजन) कह देने मात्र से अनुवादक वाक्यों की अनुवादकता समाप्त नहीं हो जाती है। जैसे ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्'' यह वाक्य प्रत्यक्ष का अनुवादक है— यह सर्वमान्य है किन्तु पूर्वपक्षी के उक्त कथनानुसार इस वाक्य के द्वारा दृढ़ता (अग्नि शीत की दवा है— यह दृढ़ है—ऐसा) मान लेने पर भी इस वाक्य की अनुवादकता समाप्त नहीं हो जाती है, क्योंकि वादी—प्रतिवादी इस वाक्य को अनुवादक मानते ही हैं।

शङ्का— अग्निषोमीय पशुयाग प्रकृति याग है। इसमें ''षड्विंशतिरस्य वंक्रयः'' यह वाक्य पठित है। अग्निषोमीय पशुयाग की विकृति है अश्वमेघ याग। इस याग में अतिदेश वाक्य से ''षड्विंशति वंक्रयः'' प्राप्त है। इसका बाध ''चतुस्त्रिशत् वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य'' से हो जाता है। पुनः ''न चतुस्तिंशदिति ब्रूयात् षड्.विशतिरित्येव ब्रूयात्'' इस वाक्य से ''षड्विंशतिरस्य वंक्रयः'' की पुनः प्राप्ति होती है। (इस पर विशेष विचार ''मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधविचारः के खण्ड संख्या ११ के प्रारम्भ में किया जा चुका है।) ठीक इसी प्रकार प्रकृत में प्रत्यक्ष से प्राप्त भेद का अभेद श्रुति से निषेध किया गया। इसके पश्चात् भेद श्रुति से पुनः भेद की प्राप्ति कही गयी। अतः भेद श्रुति को प्रतिप्रसवार्थक माना जायेगा न कि अनुवादक। प्रतिप्रसवार्थक वाक्य गत साफल्य होता ही है।

प्रतिप्रसवायोगात्, भेदनिषेधकश्रुतेः भेदतात्त्विकत्वनिषेधपरत्वेन भेदस्वरूपप्रतिपादकवाक्यस्य तत्प्रतिप्रसवायोगात्। न च प्रत्यक्षस्याप्रामाण्ये श्रुतेस्तत्सिद्धानुवादकत्वायोगः; तस्या ज्ञातज्ञापकत्वमात्रेणानुवादकत्वोपपत्तेः। न च–एवमपि निरपेक्षानुवादत्वेन धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानवत् प्रमात्वोपपत्तिरिति–वाच्यम्; निरपेक्षसापेक्षसाधारणानुवादत्व–मात्रस्याप्रामाण्यप्रयोजकत्वात्, दृष्टान्तस्यातिरिक्तकालकलाविषयत्वेन(प्रतिज्ञानम्)अनधिगतार्थविषयतया विषमत्वात्।।४।।

न च विद्वद्वाक्यवत् सप्रयोजनानुवादत्वेन स्वार्थपरता; तस्य स्वार्थबोधकत्वेऽपि द्वित्वसम्पादकतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भेद निषेधक अद्वैत श्रुति की अपेक्षा से भेद बोधक श्रुति दुर्बल होने के कारण प्रतिप्रसवार्थक नहीं मानी जा सकती है। (कहने का भाव यह है कि भेद का बाध करने वाली अभेद श्रुति से भेद श्रुति बलवान होती तब अभेद श्रुति का बाधकर के भेद को प्राप्त करा देती किन्तु भेद श्रुति अनुवादक होने से दुर्बल होने के कारण अभेद श्रुति का बाध नहीं कर पाती है। फलतः पुनः भेद की प्राप्ति नहीं हो पायेगी– यह सिद्धान्ती का भाव है।) दूसरी बात यह भी है कि भेदनिषेधक अद्वैत श्रुति भेद गत तात्त्विकत्व की निषेधक होती है और तात्त्विकत्व के निषेध हो जाने पर तात्त्विकत्व से रहित कल्पित भेद के स्वरूप मात्र का बोधक दुर्बल भेद श्रुति तात्त्विक भेद को पुनः कैसे प्राप्त करा सकती है?

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ''इदं रजतम्'' इत्यादि प्रत्यक्ष को ध्यान में रखकर यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष में प्रामाण्य नहीं होता है। ऐसा होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण किसी भी विषय का प्रमापक (अबाधितार्थ प्रकाशक) ही नहीं होगा, तब भेद श्रुति को प्रत्यक्ष से ज्ञात भेद का अनुवादक नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी का भाव यह है कि पहले किसी प्रमाण से अबाधित वस्तु का ज्ञान हो तब उस वस्तु का अनुवाद हो सकता है।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि भेद श्रुति प्रत्यक्ष के द्वारा प्रमित का ज्ञापक भले ही न हो किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात का ज्ञापक होने मात्र से ही श्रुति में अनुवादकत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अतः पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का निरस्त हो गयी। सिद्धान्ती के कथन का तात्पर्य यह है कि असत्य वस्तु का ज्ञान होने पर भी उसका अनुवाद तो हो ही सकता है।

शङ्का– एवमपि = उक्त प्रकार से भेद श्रुति में अनुवादकत्व के होने पर भी भेद श्रुति में निरपेक्षानुवादकत्व रहने से धारावाहिक द्वितीय तृतीय आदि के ज्ञान में जैसे प्रामाण्य माना जाता है ठीक वैसे ही भेदश्रुति में भी प्रमात्व की उपपत्ति हो जायेगी। (मिथ्यात्वानुमानस्यागम– बाधविचारः के खण्ड संख्या १५ में इस पर विस्तार से विचार किया जा चुका है।)

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिसमें सापेक्षानुवादकत्वेन अथवा निरपेक्षानुवादकत्वेन अधिगतार्थ बोधकत्व है। उसमें अप्रामाण्य रहेगा। धारावाहिक स्थल वाले दृष्टान्त में प्रथम क्षण में जो ज्ञान है उस ज्ञान का विषय = प्रथम क्षण विशिष्ट घट, उससे अतिरिक्त ही काल कला = क्षण = द्वितीयादि क्षण अर्थात् द्वितीय क्षण से विशिष्ट जो घट वह द्वितीय ज्ञान का विषय है। अतः द्वितीय ज्ञान में अनधिगत विषयक ज्ञानत्व रूप प्रमा का लक्षण चले जाने से उसमें अनुवादकत्व न आकर प्रमात्व ही आयेगा। जब कि प्रकृत में भेद श्रुति का जो विषय है प्रत्यक्ष का भी वही विषय होने से श्रुति में अनुवादकत्व आना निश्चित है।।४।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि विद्वद् वाक्य स्थल पर द्वित्व का अनुवाद रूप प्रयोजन होने से अर्थात् तीन याग अमावस्या का और तीन याग पौर्णमासी के इन दो समुदाय का अनुवाद रूप प्रयोजन होने से

स्वार्थपरत्वाभावात्। न च यत्तन्नेत्यादिनिषेधार्थानुवादलिङ्गाभावेन विधेयान्तरश्रवणेन च निषेधार्थानुवादत्वायोगः; यत्तदित्यादेरनुवादलिङ्गत्वेऽपि अनुवादव्यापकत्वाभावाद् अन्येनापि ह्युन्नयनसम्भवात्, 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादौ यत्तत्पदाभावेऽपि निषेधायानुवाददर्शनात् विधेयान्तरसत्त्वे तु निषेधार्थानुवादकत्वाभावेऽपि तदर्थानुवादत्वापरिहारात्। नचैवं विधानार्थनुवादे तात्त्विकत्वनियमः, यद्रजतं तदानयेत्यादौ अन्यविधानार्थं

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनुवादक होने पर भी विद्वद् वाक्य को स्वार्थ परक माना जाता है। (इस पर विशेष विचार ''मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधविचारः'' के खण्ड संख्या १७ में किया जा चुका है।) ठीक इसी प्रकार प्रकृत में श्रुति के द्वारा जो प्रत्यक्ष सिद्ध भेद का अनुवाद किया गया है, उस अनुवाद का प्रयोजन = वादी विप्रतिपत्ति निराश रूप प्रयोजन रहने के कारण भेद बोधक श्रुति वाक्य को स्वार्थ परक अर्थात् तात्त्विक भेद का बोधक मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि समुदाय गत द्वित्व के सम्पादन में ही विद्वद् वाक्य का तात्पर्य है न कि अनुवाद रूप विद्वद् वाक्य के स्वार्थ की बोधकता में। ऐसे ही भेद बोधक श्रुति स्वार्थपरक नहीं मानी जाती है। किन्तु अद्वैत श्रुति के द्वारा निषेध्य जो भेद हैं उसके समर्पण में ही भेद श्रुति का तात्पर्य माना जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''यत्—तत्— न'' इत्याकारक जो निषेध प्रतीत होता है उस निषध के लिए किया गया अनुवाद उसको निषेधानुवाद कहते हैं। ऐसा भेद बोधक श्रुति वाक्यों में कोई पद नहीं है। अतः इसको निषेधानुवादक नहीं कहा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि उपासनादि रूप विधेयान्तर के श्रवण से अर्थात् भेद होने पर ही उपासनादि की उपपत्ति हो पायेगी— इसलिए भी भेद श्रुति को निषेधानुवाद नहीं माना जा सकता है। {मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधविचारः के खण्ड संख्या २१ में देंखे}

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''यत्—तत्'' इत्यादि पद अनुवाद के लिङ्ग होने पर भी ''यत्र यत्र अनुवादत्वं तत्र तत्र यत्तद्— इत्यादिपदघटितत्वम्'' ऐसी व्याप्ति नहीं है क्योंकि अन्येनापि = सिद्धत्वमात्रेणापि, उन्नयन = अनुमान = श्रुतिसिद्धभेदः अनुवादः, सिद्धत्वात्, विद्वद्वाक्यसिद्धयागसमुदायवत्। (पक्ष में हेतु ले जाते समय प्रत्यक्ष सिद्धत्व लेना है और दृष्टान्त में हेतु ले जाते समय ''दर्शपूर्णमासाभ्याम्'' इस वाक्यसिद्धत्व को लेना है।) इस प्रकार से भी अनुवादत्व की उपपत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' इत्यादि स्थल पर यत्तदादि पदों के न होने पर भी हनन के निषेध के लिए रागतः प्राप्त हनन का अनुवाद किया जाता है। इसी प्रकार उपासनादि विधेयान्तर का सत्त्व होने पर यद्यपि निषेध के लिए अनुवादकत्व का अभाव होने पर भी उपासनादि विधेयान्तर के लिए भेद का अनुवाद मानना ही पड़ेगा। विधान के लिए जिस वस्तु का अनुवाद किया जाता है उस अनुवाद के विषय में तात्त्विकत्व मानना चाहिए— ऐसा नियम भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''यद् रजतम्, तदानय'' इत्यादि स्थल पर आनयन का विधान करने के लिए कल्पित रजत का अनुवाद होता है किन्तु अनुवाद के विषय रजत में तात्त्विकत्व नहीं होता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि श्रुति का अनुवाद करने वाली स्मृति में जैसे यथार्थत्व रूप प्रामाण्य माना जाता है ठीक वैसे ही प्रत्यक्ष सिद्ध भेद का अनुवाद करने वाली भेद श्रुति में भी यथार्थत्व रूप प्रामाण्य को माना ही जा सकता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यथार्थत्वरूप प्रामाण्य को मानने पर जहाँ कोई बाधक नहीं होता है, वहीं पर यथार्थत्व रूप प्रामाण्य माना जाता है। कहने का भाव यह है

भ्रान्तिसिद्धानुवादे तात्त्विकत्वादर्शनात्। न च—अनुवादत्वेऽपि यथार्थत्वरूपप्रामाण्याहानिरिति—वाच्यम्; तस्य बाधकाभावनिबन्धनत्वेन प्रकृते असम्भवात्।।५।।

ननु—औपनिषदस्य ब्रह्मणः शास्त्रातिरिक्तेनाप्राप्तेः तद्धर्मिकस्य तत्प्रतियोगिकस्य वा भेदस्य कथं शास्त्रनिरपेक्षप्रत्यक्षादिना प्राप्तिरिति—चेन्न; प्रतियोगिग्रहार्थं तदपेक्षत्वेऽपि स्वसमानविषयप्रमाणपूर्वकत्वानियमेन प्रत्यक्षस्य भेदप्रापकत्वोपपत्तेः। यद्यपीशधर्मिकस्य भेदस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तिः; तथापि प्रत्यक्षसिद्धजीवधर्मिकेशभेदान्यथानुपपत्तिसिद्धस्यापि तस्य श्रुतार्थापत्तिसिद्धस्य श्रौतत्ववत् प्रत्यक्षसिद्धत्वोपपत्तेः।।६।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ भेदश्रुतेरनुवादकत्वम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि ''विरोधेत्वनपेक्षं स्याद् असति ह्यनुमानम्'' (जै० सू० १—३—३) इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि श्रुति का अनुवाद करने वाली जिस स्मृति से किसी श्रुति का विरोध नहीं है उसी स्मृति में तात्त्विक प्रामाण्य माना जाता है किन्तु प्रकृत में प्रत्यक्ष सिद्ध भेद का अनुवाद करने वाली भेद श्रुति का प्रबल विरोधी अद्वैत श्रुति हैं। अतः भेद श्रुति में यथार्थत्व रूप नहीं माना जा सकता हैं।।५।।

शङ्का— औपनिषद ब्रह्म वेदान्त वाक्यों से भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय ही नहीं माना जाता है। ऐसा होने से ब्रह्म अनुयोगिक (जीव प्रतियोगिक भेद) अथवा (जीवानुयोगिक) ब्रह्म प्रतियोगिक भेद की वेदान्त शास्त्र निरपेक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद का ग्रहण नहीं हो सकता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्म अनुयोगी या ब्रह्म प्रतियोगी के ज्ञान के लिए वेदान्तशास्त्र की अपेक्षा होने पर भी भेदावगाही प्रत्यक्ष के समान विषयक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही अनुयोगी प्रतियोगी का ज्ञान भेद प्रत्यक्ष के अव्यवहित पूर्व में होना चाहिए— ऐसा नियम न रहने के कारण श्रुति के द्वारा भी अनुयोगी या प्रतियोगी का ज्ञान होने पर प्रत्यक्ष से भेद का ज्ञान हो ही सकता है यद्यपि ब्रह्म अनुयोगिक जीव प्रतियोगिक भेद की प्रत्यक्षतः प्राप्ति नहीं है, क्योंकि अनुयोगी (ब्रह्म) की प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्ति नहीं मानी जाती है, तथापि प्रत्यक्ष सिद्ध जो जीव अनुयोगिक ब्रह्म प्रतियोगिक भेद उस भेद की अन्यथानुपपत्ति (ईशधर्मिकजीवभेदं विना जीवधर्मिकेशभेदोऽनुपपन्नम्) से सिद्ध जो ईशधर्मिक जीव प्रतियोगिक भेद है, उसमें भी प्रत्यक्षसिद्धत्व की उपपत्ति हो जायेगी। जैसे श्रुति के द्वारा साक्षात् सिद्ध न होने पर भी मीमांसक लोग श्रुति सिद्ध जो याग में स्वर्ग साधनत्व, उसकी अन्यथानुपपत्ति के द्वारा जो अपूर्व को सिद्ध करते हैं, और उस अपूर्व को श्रुति सिद्ध मानते हैं, वैसे ही प्रत्यक्ष सिद्ध जीव धर्मिक ईश भेद की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा सिद्ध जो ईश्वर धर्मिक जीव भेद उसको भी प्रत्यक्ष सिद्ध माना ही जायेगा। यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।।६।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां भेदश्रुतेरनुवादकत्वम्:—

४— भेदश्रुतेर्व्यावहारिकभेदपरत्वविचारः

अथवानुवादकत्वाभावेऽपि व्यावहारिकभेदपरत्वेनैव श्रुत्युपपत्तिः। न चाप्रामाण्यापातः, अर्थवादवाक्यवदुपपत्तेः, प्रतीयमानार्थे वाऽभेदश्रुतिविरोधेनाप्रामाण्यस्येष्टत्वाच्च। न चाभेदश्रुतेरखण्डचिन्मात्रपरत्वेन भेदाविरोधित्वम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

अथवा ''द्वा सुपर्णा'' य आत्मनि तिष्ठन्'' ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'' इत्यादि भेद बोधक श्रुतियों के निष्प्रयोजन अनुवादकत्व न होने पर भी अर्थात् सप्रयोजन अनुवादकत्व होने पर भी भेद बोधक श्रुतियों में सर्वथा अप्रामाण्य नहीं माना जाता है अपितु व्यावहारिक प्रामाण्य माना जाता है। अर्थात् उक्त श्रुति वाक्यों के द्वारा व्यावहारिक भेद कहा गया है— ऐसा मानना भी सूपपन्न है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि व्यावहारिक पदार्थ मिथ्या होते हैं। अतः मिथ्या पदार्थ को बतलाने वाली भेद श्रुति में अप्रामाण्य की आपत्ति आयेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भेद बोधक श्रुति वाक्यों में अर्थवाद वाक्यों के जैसे प्रामाण्य की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् ''वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों का जैसे जैमिनी के मत में स्वार्थ में प्रामाण्य न होने पर भी विधि वाक्यों से एक वाक्यतापन्न होकर विधि की स्तुति का बोधक के रूप में प्रामाण्य माना जाता है। इसको ''विधिना तु एक वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः'' (जै०सू० १—२—७) में स्पष्ट किया गया है, ठीक इसी प्रकार से भेद बोधक श्रुति वाक्यों का स्वार्थ में प्रामाण्य न होने पर भी अभेद बोधक श्रुति वाक्यों के साथ एक वाक्यतापन्न होकर निषेध्यार्थ समर्पक के रूप में प्रामाण्य माना जाता है। प्रबल अभेद श्रुति के साथ विरोध होने के कारण आपाततः प्रतीयमान भेद रूप अर्थ में भेद श्रुति का तात्त्विक प्रामाण्याभाव हमें इष्ट ही है। कहने का भाव यह है कि भेद श्रुति का प्रवृत्यादि में व्यावहारिक प्रामाण्य यदि माना जाता है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु तात्त्विक प्रामाण्य तो सर्व श्रुतियों का साक्षात् या परम्परया शुद्ध ब्रह्म बोधकत्वेन ही स्वीकार किया जाता है— यह सिद्धान्ती का भाव है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्त मतानुसार अभेद बोधक श्रुति वाक्य शुद्ध चैतन्य रूप अखण्डार्थ मात्र के बोधक माने जाते हैं, किसी के निषेधादि का विधान नहीं करते हैं। अतः अभेद बोधक वाक्य भेद बोधक वाक्य के विरोधी ही नहीं हैं। फलतः भेदबोधक वाक्य में तात्त्विक प्रामाण्य माना जायेगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य रूप अखण्डार्थ बोध भेद का विरोधी नहीं होता है तथापि अखण्ड चिन्मात्र बोध में द्वारीभूत जो भेदाभाव तादृश भेदाभाव का भेद के साथ विरोध होता है। (कहने का भाव यह है अभेद बोधक वाक्य पहले भेदाभाव के बोधक होते हैं, इसके पश्चात् भेदाभाव से उपलक्षित शुद्ध चैतन्य रूप अखण्डार्थ के बोधक होते हैं। इसलिए अभेद बोधक वाक्यों का परम तात्पर्य अखण्डार्थ बोधन में होता है और अवान्तर तात्पर्य भेदाभाव के बोधन में होता है। इसलिए अभेद बोधक श्रुति वाक्यों के अवान्तर तात्पर्य की दृष्टि से अभेद बोधक वाक्यों को भेद बोधक वाक्यों का विरोधी माना जाता है।)

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती अभेद श्रुति से विरोध होने से भेद श्रुति को स्वार्थपरक नहीं मान रहे हैं किन्तु ऐसा न मानकर इसके विपरीत ही मान लिया जाय। अर्थात् भेद श्रुति से विरोध होने के कारण अभेद श्रुति को स्वार्थपरक न माना जाय अपितु प्रशंसार्थक माना जाय। जैसे ''आदित्यो यूपः'' यह

तद् द्वारीभूतार्थमादाय तद्विरोधात्। नापि वैपरीत्यम्: प्राप्ताप्राप्तार्थत्वाभ्यां विशेषात्।१९।।

न च—ऐक्यश्रुतेरपि प्रत्यक्षविरुद्धत्वादप्रामाण्यम्, मानान्तरप्राप्तिवत् तद्विरोधस्यापि दौर्बल्यहेतुत्वादिति—वाच्यम्; विरोधे विरोधिनो मानत्ववद् अनुवादकत्वोपपादकस्य मानताया अनपेक्षितत्वात्। किञ्च षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्त्वात् ऐक्यश्रुते: प्राबल्यम्। न च—तात्पर्यमात्रज्ञापकत्वेन तेषामर्थतथात्वाज्ञापकत्वमिति—वाच्यम्; श्रुतेस्तत्परत्वज्ञापनेन परम्परयोपयोगात्, एतद्विरुद्धश्रुते: श्रूयमाणेऽर्थे तात्पर्याभावसम्पादनेनाधिकबलसम्पादकत्वाच्च। न च—अत्रापि स्वाद्वत्ति अनश्नन् पूर्ण: पर: जीवसंघो ह्यपूर्ण' इत्याद्युपपत्तिरूपं 'सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदे' त्यभ्यासादिरूपं तात्पर्यलिङ्गमस्तीति भेदश्रुतिरपि तत्परेति—वाच्यम्; अत्तीति अपूर्ण इति च जीवानुवादेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

वाक्य यूप का प्रशंसार्थक माना जाता है ठीक वैसे ही यज्ञ कर्त्ता यजमान की प्रशंसा के लिए तत्त्वमसि इत्यादि अभेद वाक्य होते हैं। अर्थात् यज्ञ करने वाला यजमान ब्रह्म है— इस प्रकार से यजमान की प्रशंसा की गयी हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति से भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भेद प्राप्त है और श्रुति से भिन्न प्रमाणों से अभेद प्राप्त नहीं है—यही दोनों में विशेषता है। ऐसी विशेषता के कारण ''अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्'' वार्तिककार श्रीकुमारिल भट्टाचार्य के इस कथन के बल पर भेद बोधक शास्त्र को मुख्यार्थक न मानकर गौणार्थक माना जाता है किन्तु प्रमाणान्तर से अनधिगत अभेद के बोधक शास्त्र को मुख्यार्थक माना जाता है। अत: मुख्यार्थक से गौणार्थक का बाध मानना ही उचित है न कि इसके विपरीत।१९।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो यह कहा कि भेद बोधक श्रुति गौणार्थक है क्योंकि प्रत्यक्षादि से प्राप्त भेद का बोधक हैं। अत: भेद बोधक शास्त्र में तात्त्विक प्रामाण्य नहीं माना जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि अभेद बोधक शास्त्र भी प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं। अत: अभेद बोधक शास्त्र में भी तात्त्विक प्रामाण्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रामाणान्तर से प्राप्त अर्थ का बोधकत्व जैसे दौर्बल्य = गौणार्थकत्व = अप्रामाण्य का हेतु होता है ठीक वैसे ही मानान्तर के विरोध को भी दौर्बल्य = गौणार्थकत्व = अप्रामाण्य का हेतु माना जाता है। इस प्रकार भेद बोधक शास्त्र और अभेद बोधक शास्त्र जब समान रूप से गौणार्थक है तब भेद श्रुति भेद प्रत्यक्ष से पोषित होने से बलवान होकर भेद प्रत्यक्ष विरोधी अभेद श्रुति का बाध कर देगी—यह पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जहां दो प्रमाणों में परस्पर विरोध है, वहां विरुद्ध की अपेक्षा से विरोधी में प्रामाण्य माना जाता है और विरुद्ध में अप्रामाण्य माना जाता है। जैसे विरुद्ध = इदं रजतम् और विरोधी = नेदं रजतम्। किन्तु एक अनुवादक और एक अनुवाद्य इन दोनों स्थलों पर अनुवादक की अपेक्षा से अनुवाद्य में प्रामाण्य होना कोई आवश्यक नहीं है। प्रकृत में भेद श्रुति = अनुवादक और भेद प्रत्यक्ष = अनुवाद्य। अर्थात् प्रत्यक्ष सिद्ध भेद का अनुवाद भेद श्रुति ने किया। अत: प्रत्यक्ष सिद्ध भेद के प्रामाणिक न होने पर भी भेद श्रुति ने जब प्रत्यक्ष सिद्ध भेद का अनुवाद किया है तब उस भेद श्रुति में अनुवादकत्व आ ही जायेगा और जब अनुवाद्य भेद प्रत्यक्ष में प्रामाण्य नहीं है तब उसके साथ विरोध होने पर भी अद्वैत श्रुति में अप्रामाण्य नहीं आयेगा। दूसरी बात यह है कि अद्वैत श्रुति में षड्विध तात्पर्य निर्णायक लिङ्ग होते हैं। अत: अद्वैत श्रुति प्रत्यक्षादि प्रमाणें से प्रबल होती है। ऐसा होने से वह सबका बाधक ही होती है किसी से बाधित नहीं होती है।

तस्य पूर्णब्रह्मरूपताविधानार्थत्वेन भेदोपपत्तित्वाभावात्। सत्यं भिदेति न भेदाभ्यासः; एतद्वाक्यस्याप्रामाणिकत्वात्, प्रामाणिकत्वे वा बाधायां सामानाधिकरण्येनाभेदे पर्यवसानात्।।२।।

ननु—भेदश्रुतिरेव प्रबला, असञ्जातविरोधित्वात् प्रत्यक्षादिसंवादान्निरवकाशत्वाच्चेति—चेन्नः; अभेदश्रुतिरूपविराधिनो जातत्वात्, प्रत्यक्षादेरप्रमाणत्वेन तत्संवादस्य प्राबल्याप्रयोजकत्वात्, शतमप्यन्धानामिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि षड्विध ग्राहक लिङ्ग प्रमाण अद्वैत श्रुति में तात्पर्यमात्र ज्ञापकत्व के बोधक होते हैं न कि अर्थ तथात्व (यथार्थ विषयकत्व) रूप प्रामाण्य के ज्ञापक होते हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वैत श्रुति के द्वारा अद्वैत में तात्पर्यवत्त्व का बोधन हो जाने से परम्परया अर्थ तथात्व का भी बोधन हो जाता है। अद्वैत श्रुति के विरुद्ध जो भेद बोधक श्रुति उस का श्रूयमाण जो भेद रूप अर्थ उसमें षड् विध तात्पर्य लिङ्गों के अभाव होने से उस भेद श्रुति का भेद रूप अर्थ में तात्पर्य नहीं है— यह सूचित हो जाने से उस भेद श्रुति की अपेक्षा से अभेद श्रुति में अधिक बल है— यह भी सूचित हो जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद श्रुति भी उपक्रमादि षड्विध तात्पर्य लिङ्गों से युक्त है। जैसे ''तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति'' ''अनश्नन् अन्यः'' ''पूर्णः परः जीवसंघो ह्यपूर्णः'' इत्यादि उपपत्ति रूप तात्पर्य लिङ्ग हैं। अर्थात् परः = परमात्मा, पूर्णः = पूर्ण है और सभी जीव अपूर्ण हैं— इस प्रकार भेद को सिद्ध करने के लिए युक्ति दी गयी है और ''सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यभिदा'' इत्याकारक अभ्यासादि रूप लिङ्ग हैं। इसलिए भेद श्रुति को स्वार्थ परक मानना पड़ेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ''अत्ति'' ''अपूर्णः'' इत्यादि पदों के द्वारा जीव का अनुवाद कर के उसमें ब्रह्म रूपता का विधान किया गया है। कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी स्वाद्वत्ति और अपूर्ण से जीव को ले रहे थे और अनश्नन् और पूर्ण से ईश्वर को ले रहे थे। सिद्धान्ती का कहना है कि स्वाद्वत्ति और अपूर्ण जीव का असली स्वरूप जो लोग समझते हैं वैसा नहीं है किन्तु अनश्नन् और पूर्ण स्वरूप जो ब्रह्म वही असली स्वरूप जीव का है— यह श्रुति कह रही है। अतः उक्त श्रुति भेद की उपपत्ति के लिए है— यह नहीं कहा जा सकता है। ''सत्यं भिदा'' यह भेदाभ्यास नहीं है। क्योंकि यह वाक्य भेद को बतलाने के कारण प्रामाणिक (स्वार्थपरक) नहीं है। यदि प्रामाणिक भी माना जाय तो भी बाधसामानाधिकरण्येन अभेद में ही पर्यवसित होता है। जैसे ''स्थाणुः पुमान्'' इस स्थल पर पुरुष रूप से भासने वाला वस्तु (स्थाणु) वह पुरुष नहीं है ठीक वैसे ही सत्य रूप से भासने वाला जो भेद वह सत्य नहीं है किन्तु अभेद ही सत्य है— यही अर्थ पर्यवसित होता है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ऐक्य बोधक श्रुति की अपेक्षा से भेद बोधक श्रुति बलवान है क्योंकि (१) जिस समय भेद श्रुति उपस्थित होती है उस समय उसका कोई विरोधी नहीं होता है। (२) भेद श्रुति को प्रत्यक्षादि प्रमाणों का समर्थन भी प्राप्त है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण भेद को बतला रहे हैं (३) निरवकाशत्व होने से।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अपौरुषेय वेद वाक्यों में पूर्वापर भाव नहीं माना जाता है। अतः जब भेद विरोधी अभेद बोधक वाक्य हैं तब भेद श्रुति को असञ्जात विरोधी नहीं कहा जा सकता है। श्रवणादि सहकृत श्रुति से उत्पन्न ऐक्य ज्ञान अपने पश्चात् भाविप्रत्यक्षादि का बाध कर देता है और उत्तरभाविप्रत्यक्षजातीय होने से पूर्वभाविप्रत्यक्ष का भी बाध कर देता है। अतः प्रत्यक्षादि के अप्रमाणत्व होने से प्रत्यक्षादि के समर्थन को प्रबलता का प्रयोजक नहीं माना जाता है। जैसे एक

न्यायात्, व्यावहारिकभेदविषयत्वेन सावकाशत्वाच्च। ननु—नायं भेदो व्यावहारिकः, मुक्तावपि भेदस्य श्रुतिस्मृतिभ्यां सिद्धेरिति—चेन्न; तस्या मुक्तेरवान्तरत्वात्। ननु—

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।'

इत्यादि स्मृतौ सर्गाद्यभावोक्तेः

'न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरर्चिताः। श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः,।

इति स्मृतौ मायानिषेधाच्च 'यो वेद निहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यत्र शुद्धब्रह्मज्ञानफलत्वोक्तेश्च।।३।।

त्वयापि शुद्धब्रह्मविषयत्वेन स्वीकृतायाः भूमविद्यायाः फलोक्त्यवसरे 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो

सत्यानन्दप्रबोधिका

अन्धे के समर्थन से पत्थर नहीं देख सकता है वैसे ही अन्धों के शतक के समर्थन से भी पत्थर नहीं देख सकता है। भेद श्रुति को निरवकाश भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भेद श्रुति व्यावहारिक भेद को विषय करती है। यदि कहा जाय कि भेद श्रुति व्यावहारिक भेद को विषय नहीं करती है क्योंकि सालोक्यादि मोक्षावस्था में भी जीव और ईश्वर का भेद श्रुति स्मृतियों में श्रुत है। ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त भेद अवान्तर मुक्ति में ही श्रुत है परम कैवल्य में नहीं। अवान्तर मुक्ति को भी व्यावहारिक कोटि में ही माना जाता है। फलतः भेद श्रुति को व्यावहारिक भेद विषयक मानना उचित ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा अवान्तर मुक्ति को परम मुक्ति के रूप से सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि ''इदं ज्ञानमुपाश्रित्य'' (गीता १४—२) इत्यादि स्मृति में कहा गया है कि इस गीता ज्ञान को प्राप्त कर जीव हमारे समान धर्म अर्थात् सालोक्यादि मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और इसके पश्चात् न तो सृष्टि में उत्पन्न होता है और न ही प्रलय में व्यथित ही होता है। इस प्रकार से मोक्ष में सृष्टि और प्रलय का अभाव कहा गया किन्तु वहां भी भेद का प्रतिपादन है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत पुराण के स्कन्ध २—९—१०—११ में कहा है—

न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिता।।

(अर्थात् भगवान् के लोक में माया रहती नहीं है। जब माया ही नहीं है तब माया प्रयुक्त कार्य कैसे रह सकता है? भगवान् के लोक में भगवान् के पार्षद निवास करते हैं और भगवान् का पूजन देवता और दैत्य दोनों ही करते रहते हैं।)

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशलः।।

(भगवान् शुभ्र नीलमणि की आभा से युक्त श्यामशरीर और शतदल कमल के समान कोमल नेत्र तथा पीले वस्त्र से शोभायमान हैं। उनके अङ्ग अङ्ग से अशीम सौन्दर्य विखरता रहता है और वे कोमलता की मूर्ति हैं।) इस प्रकार यहां पर माया का निषेध किये जाने से उक्त मोक्ष को परम मोक्ष ही मानना चाहिए। ''यो वेद निहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिताः'' (तै०उ०२—१) (जो पुरुष (उस ब्रह्म को) बुद्धि रूपी गुहा में निहित जानता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म से सम्पूर्ण भोगों को एक साथ प्राप्त कर लेता हैं।) इस प्रकार के मोक्ष को शुद्ध ब्रह्म ज्ञान का फल कहा गया है। अर्थात् सिद्धान्ती यह नहीं कह सकते हैं कि परम मोक्ष में कोई भेद नहीं होता और भोग की प्राप्ति नहीं रहती है।।३।।

इसी प्रकार सिद्धान्ती के मतानुसार भी शुद्ध ब्रह्म विषयत्वेन स्वीकृत जो भूमा विद्या है। उसके फलोक्ति

भवति पञ्चधा सप्तधा' इत्यादिभेदोक्तेः 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण' इत्यादौ स्वरूपाभिव्यक्त्युक्तेश्च तथा 'विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'इत्यत्र कर्मक्षयोक्तेश्च 'जुष्टं यदा पश्पत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति, इति भेदज्ञानान्मोक्षोक्तेश्च त्वन्मतेऽति भेदभोगादिपरेषु फलाध्यायान्त्यपादस्थेषु 'जगद्व्यापारवर्जम्' 'सङ्कल्पादेव तु तच्छुतेः' 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' इति सूत्रेषु प्रक्रान्तशुद्धविद्याफलस्यैव वक्तव्यत्वाच्च परममुक्तित्वमेवेति—चेन्न; सगुणोपासनया ब्रह्मलोकं गतस्यापि 'न स पुनरावर्तत' इत्यादिश्रुत्या दैनन्दिनसर्गाद्यसम्बन्धस्य प्रतिपादनेनावान्तरमुक्तावप्युपपत्तेः।।४।।

''न तत्र माया''इत्यादिस्मृतौ च मायाशब्दस्य मात्सर्यादिपरत्वेन मूलमायाविरहाप्रतीतेः, अन्यथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

के अवसर पर ''तस्य सर्वेषु लोकेषु कामसञ्चारो भवति'' (छा०उ०८—१—६) ''स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा'' (छा०उ० ७—२६—२) इत्यादि से परम मोक्ष में भी भेद कहा गया है। ''परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'' (छा०उ० ८—१२—३) ''स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीणन् रममाणः'' (छा०उ०८—१२—३) इत्यादि वाक्यों में स्वरूप अभिव्यक्ति के साथ—साथ भेदादि का भी कथन किया गया है। ''विद्वान् पूण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'' (मु०उ० ३—१—३) इस श्रुति के द्वारा परम मोक्ष में सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कहा जा रहा है। इससे भी परम कैवल्य में भेदादि की पुष्टि होती है। ''जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः (मु०उ० ३—१—२) इस श्रुति के द्वारा भेद ज्ञान पूर्वक परम मोक्ष का कथन किया गया है। इसी प्रकार सिद्धान्ती के मत में भी भेद और भोग को बोधन करने वाले वेदान्त दर्शन के फल संज्ञक चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में ''जगद् व्यापारवर्जम्''(ब्र०सू० ४—४—१७) ''सङ्कल्पादेव तु तच्छुतेः'' (ब्र०सू० ४—४—१८) ''भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च'' (ब्र०सू०४—४—२१) इत्यादि सूत्रों के द्वारा पीछे से जिस शुद्ध ब्रह्म विद्या का प्रकरण चल रहा था, उस शुद्ध ब्रह्म विद्या का फल इन सूत्रों से कहा गया है। इन फलों में भेद सापेक्ष भोगादि का कथन किया गया है। फलतः यह सिद्ध होता है कि परम मुक्ति में भी भेद और भोगादि रहता है। अतः सिद्धान्ती का यह जो कथन था कि जहां भेद और भोगादि रहता है वहाँ अवान्तर मुक्ति होती है, इसका खण्डन हो गया— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सगुण उपासना से अवान्तर मुक्ति रूप ब्रह्म लोक को प्राप्त जो उपासक हैं। उनके लिए श्रुति में कहा गया— ''न स पुनरार्वतते'' (छा०उ० ८—१५—१) इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा के एक दिन के अन्त में जो अवान्तर प्रलय होता है और ब्रह्मा के दूसरे दिन में जो अवान्तर सृष्टि होती है उन अवान्तर सृष्टि और प्रलय के साथ में ब्रह्म लोक गये जीवों (उपासकों) का सम्बन्ध नहीं रहता है। अर्थात् ब्रह्म लोक से भिन्न लोकों में स्थित जीवों का उस समय जन्म मृत्यु होती है किन्तु ब्रह्म लोक प्राप्त उपासकों की जन्म मृत्यु नहीं होती है। इस प्रकार से अवान्तर मुक्ति में जैसे ''न स पुनरावर्तते'' का समन्वय किया जाता है ठीक इसी प्रकार से ''सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'' इस गीता वाक्य की भी अवान्तर मुक्ति में उपपत्ति हो जायेगी।।४।।

पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि ''न यत्र माया किमुतापरे हरेः'' इत्यादि स्मृति में उक्त मोक्षावस्था में माया और तत्प्रयुक्त कार्यों का अत्यन्ताभाव कहा गया है— ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त स्मृति में माया शब्द से मद ईर्ष्या आदि जो माया के निकृष्ट कार्य हैं। उनका अभाव कहा गया है, क्योंकि इसी अर्थ को श्रुति स्पष्ट रूप से कह रही है— तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया च।

श्यामावदातत्वादिविरोधापत्तेः, 'यो वेद निहितम्' इत्यत्र शुद्धब्रह्मज्ञानफलभूता या सर्वकामावाप्तिः, सा न वैषयिकभोगरूपा, किन्तु सर्ववैषयिकसुखानां एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'इति श्रुत्या ब्रह्मानन्दे अन्तर्भावोक्तेस्तदभिप्रायेति न तद्बलान्नानाकामावाप्तेः शुद्धज्ञानफलत्वम्, भूमविद्याफलोक्त्यवसरे सर्वलोककामचारैकधाभावादेः फलस्य भूमविद्यावाक्योपक्रमे प्राणविद्याफलत्वेनोक्तस्य ज्योतिष्टोमप्रकरणे

सत्यानन्दप्रबोधिका

(प्र०उ०१–१६) (अर्थात् जिनमें कुटिलता (वक्रता) नहीं है, जिनमें जिह्म (अनृत भाषण) नहीं है और जिनमें माया (बाहर से कुछ व्यवहार करते हुए भीतर से कुछ व्यवहार करना रूप मिथ्या आचरण) नहीं है, उन्हीं को यह ब्रह्म लोक प्राप्त होता है।) अतः उक्त प्रकार से अर्थ करने पर ही श्रुति से एक वाक्यता की उपपत्ति हो पायेगी। अन्यथा = यदि माया शब्द से मूल माया लेकर मूल माया का अत्यन्ताभाव अर्थ करेंगे तो शुभ्र नील मणि की आभा के समान शरीर ही कैसे मिल सकता है, क्योंकि शरीरादि का कारण तो माया ही है। फलतः माया के अभाव में शरीरादि भी नहीं रह पायेगा। ''यो वेद निहितं गुहायाम्'' (तै०उ०२–१) इस श्रुति वाक्य के द्वारा शुद्ध ब्रह्मज्ञान का फल भूत जो सर्व कामों की प्राप्ति अर्थात् सर्वसुखों की प्राप्ति कही गयी है वह वैषयिक भोग रूप नहीं है अपितु सर्व विषय जन्य सुखों का ''एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'' (बृ०उ०४–३–३२) (अर्थात् इसी आनन्द की (अविद्या द्वारा उपस्थित विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से होने वाली) कला = अंश के आश्रित दूसरे जीव जीते रहते हैं) इस श्रुति से ब्रह्मानन्द में अन्तर्भाव कहा गया है– ऐसा अभिप्राय है। अर्थात् जो ब्रह्म तत्त्व को जानता है उसको सर्वसुख प्राप्त होते हैं– इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि उसको सर्वविषय सुख प्राप्त हो जाते हैं अपितु उसका अभिप्राय यह है कि उसको जिस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हुयी है उसी ब्रह्मानन्द के अन्तर्गत सर्वविषय सुख हैं। इसलिए उक्त श्रुति के आधार पर नाना कामनाओं की प्राप्ति को शुद्ध ब्रह्मज्ञान का फल नहीं माना जा सकता है। भूमा विद्या वाक्य के उपक्रम में प्राणविद्या फलत्वेन श्रुत जो समस्त लोकों में इच्छानुविधान तथा अनेकथा भवन है– ''तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'' (छा०उ० ७–२६–२) ''पञ्चधा सप्तधा'' (छा०उ०७–२६–२) वह सर्वलोक कामाचार और अनेकधाभाव रूप जो फल वह भूमा विद्या के फल के रूप में नहीं कहा गया है किन्तु भूमाविद्या वाक्य के उपक्रम में जो प्राण विद्या कही गयी है उसी का ही फल कहा गया है। आगे सर्वलोक कामाचार और अनेकधाभाव रूप फल के कथन का दूसरा समाधान देते हुए कह रहे हैं कि उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा उक्त फल का कथन निर्गुण विद्या की प्रशंसा के लिए है। जैसे ज्योतिष्टोम के प्रकरण में श्रुत अहीन कर्म में द्वादश उपसद संज्ञक होम का विधान ज्योतिष्टोम कर्म की स्तुति के लिए है। इसका पूर्वमीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के तेरहवें अधिकरण में विचार किया गया है। अर्थात् ज्योतिष्टोम के प्रकरण में ''त्रिस्र एव साह्नस्य उपसदो द्वादशाहीनस्य'' यह वाक्य आया है। ''अह्ना सह वर्तते इति साह्नः'' इस कथनानुसार ज्योतिष्टोम कर्म को साह्न कहते हैं, क्योंकि ज्योतिष्टोम कर्म में साम का अभिषव एक ही दिन होता है और दीक्षा के दिन के पश्चात् तथा सोम का अभिषव जिस दिन होता है उस दिन से पूर्व जो होम किया जाता है उनको उपसत् कहते हैं। ''त्रिस्र एव साह्नस्य उपसदो द्वादशाहीनस्य'' इस वाक्य से कहा गया कि ज्योतिष्टोम कर्म (साह्न कर्म) के उपसत् तीन होते हैं और अहीन कर्म के द्वादश उपसत् होते हैं। अहीन शब्द द्विरात्रत्रिरात्रादि रूप अहर्गण नामक याग में रूढ़ है। यौगिकत्वेन यह ज्योतिष्टोम का भी बोधक हो जाता है, क्योंकि ज्योतिष्टोम सम्पूर्ण सोम याग की प्रकृति है। प्रकृति होने से इसमें सम्पूर्ण अंगों का उपदेश होने से विकृति यागों के जैसे सर्व अङ्ग उपदेश

श्रूयमाणाहीनद्वादशोपसत्तावत् निर्गुणविद्यास्तावकत्वेनाप्युपत्तेः।।५।।

स्वयंज्योतिरित्यादौ जक्षणप्रभृतीनामिव गर्भत्वेन जक्षन्निव क्रीडन्निवेत्यादिबाधितत्वविवक्षया परममुक्तेस्तत्रोक्त्या त्वदभिमतभेदगर्भक्रीडादीनां परममुक्तित्वाभावात्, पुण्यपापे विधूयेत्यत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

विकल्पत्व रूप हीनत्व इसमें नहीं है। अत: ज्योतिष्टोम को भी अहीन शब्द से कहा जा सकता है। यहाँ पर पूर्वपक्ष से कहा गया कि ज्योतिष्टोम के प्रकरण में यह वाक्य पढ़ा गया है। इसलिए उपसदों का द्वादशत्व ज्योतिष्टोम कर्म में ही निविष्ट होता है और यौगिकत्वेन अहीन शब्द की प्रवृत्ति ज्योतिष्टोम कर्म में भी बन जायेगी। इसलिए द्वादशत्व और त्रित्व में विकल्प मानना चाहिए। इसके समाधान में सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि अहीन शब्द अहर्गण कर्म में रूढ़ है। जो रूढ़ होता है वह विग्रह निरपेक्ष होकर शीघ्र पदार्थ विषयक ज्ञान को उत्पन्न करता है। अत: ज्योतिष्टोम कर्म को कहने वाला जो साह्न शब्द है उससे भिन्न यह अहीन संज्ञा ज्योतिष्टोम कर्म से भिन्न अहर्गण को बोधित करती है। उसी अहर्गण में षष्ठी श्रुति से कथित द्वादशत्व निविष्ट होता है इसलिए ''द्वादशाहीनस्य'' इस वाक्य को यहाँ से उठाकर अहर्गण प्रकरण के साथ जोड़ना चाहिए। ज्योतिष्टोम प्रकरण में जो इसका पाठ है। वह ज्योतिष्टोम कर्म की स्तुति के लिए है– द्वादशाहस्य द्वादशभिरुपसद्भिरुपकार: साह्नस्य ततोऽल्पाभि:। (लघुचन्द्रिका) अर्थात् द्वादशाह बारह उपसदों से उपकृत होता है जबकि साह्न ज्योतिष्टोम कर्म उससे अल्प तीन उपसदों से ही उपकृत हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में भूमाविद्या के प्रकरण में जो उक्त फल कहा गया। उसका अभिप्राय यह है कि यह भूमाविद्या ऐसी है कि उसके फल में इन सभी फलों का अन्तर्भाव है।।५।।

''अत्रायं पुरुष: स्वयंज्योतिर्भवति'' (बृ०उ०४–३–९) इस के पश्चात् जो कहा गया'' स्त्रीभि: सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् (बृ०उ० ४–३–१३) और ''एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तम: पुरुष:'' (छा०उ० ८–१२–३) इसके पश्चात् जो ''स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाण: स्त्रीभिर्वा'' (छा०उ० ८–१२–३) यह कहा गया है। इन स्थलों पर ''इव'' शब्द छिपा हुआ है, क्योंकि आगे जो परम मुक्ति के विषय में कहा गया है वहाँ इव शब्द का उल्लेख है– अथ यत्र देव इव राजेव'' (बृ–उ० ४–३–२०) अर्थात् ''जक्षन्निव क्रीडन्निव'' ऐसा इव गर्भत्वेन प्रयोग समझना चाहिए। इव शब्द का प्रयोग जहाँ होता है वहाँ मुख्यार्थ बाधित है– यह अवद्योतित होता है। अर्थात् जक्षन् आदि बाधित होने ही विवक्षा से कहा गया है। उक्त स्थलों पर परम मुक्ति का कथन होने से, पूर्वपक्षी को जो अभिमत है भेद घटित क्रीडादि, उसका परम मुक्ति में अभाव होता है। कहने का भाव यह है कि ''अथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोक:'' (बृ०उ०४–३–२०) इस विद्वत्स्वप्न बोधक श्रुति में इव शब्द का कथन है और स्वप्न के पदार्थ पूर्वानुभव मूलक बाधित होते हैं। अत: विद्वदनुभव बोधक जो ''स तत्र पर्येति जक्षन् कीडन् रममाण:'' (छा०उ० ८–१२–३) इत्यादि वाक्य हैं, उस वाक्य में जक्षन् इत्यादि के उत्तर में इव शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए। जब इव शब्द आयेगा तब मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। फलत: यह अर्थ होगा कि दग्ध पटवत् बाधितानुवृत्ति से प्राप्त विषयों को आसक्ति रहित संकल्प रहित प्रारब्ध कर्म प्रेरित इन्द्रियों से ग्रहण करता हुआ भी तत्त्ववेत्ता ब्रह्मानन्द में निमग्न रहता है। फलत: यहाँ पर विदेह कैवल्य का वर्णन नहीं है अपितु जीवनमुक्ति का ही वर्णन है– यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है। ''पुण्यपापे विधूय निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति'' (मु०उ०३–१–१३) इस स्थल पर मुक्त पुरुष परम साम्य को प्राप्त करता है। अर्थात् जीव ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्नता को प्राप्त करता

परमसाम्यस्यैक्यरूपतया कर्मक्षयस्य ऐक्यरूपमुक्तिफलतया भेदगर्भमुक्तिफलत्वाभावात्।।६।।

जुष्टमित्यत्रान्यपदस्य देहेन्द्रियादिविलक्षणात्मपरत्वेन जीवेशपरत्वाभावात्, तथा च भेदज्ञानस्य न मोक्षहेतुत्वम्–अतः (इतः) अवगम्यते। मन्मते भेदभोगादिपरेषु 'सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेरित्यारभ्याध्याय–परिसमाप्तिपर्यन्ताधिकरणेषु सगुणविद्याफलस्य उक्ततया शुद्धब्रह्मविद्याफलाप्रतिपादकत्वात्। तस्मात् परममुक्तौ भेदस्याप्रसक्तेः व्यावहारिकत्वोपपत्त्या भेदश्रुतेर्व्यावहारिकपरत्वं स्थितम्।।७।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ भेदश्रुतेर्व्यावहारिकभेदपरत्वोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है और पुण्य–पाप रूप कर्मक्षय रूप फल को प्राप्त करता है– इससे यह सिद्ध होता है कि भेद घटित परम मुक्ति रूप फल नहीं हो सकता है।।६।।

''जुष्टं यदा पश्यति अन्यम्– ईशमस्य महिमानमिति वीतशोकः'' (मु०उ० ३–१–२) इस मन्त्र में आये हुए अन्य पद का अर्थ देहादि से भिन्न आत्मा है न कि जीव से भिन्न ईश्वर। अतः इस श्रुति का आश्रय कर के भेद ज्ञान को मोक्ष का हेतु नहीं सिद्ध किया जा सकता है– यह सूपपन्न हो जाता है। सिद्धान्त मतानुसार भेद घटित भोगादि बोधक ''सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः'' (ब्र.सू. ४–४–८) इस सूत्र से लेकर चतुर्थ अध्याय की समाप्ति पर्यन्त अधिकरणों में सगुण विद्या के फलों का प्रतिपादन किया गया है न कि शुद्ध ब्रह्म विद्या के फल का प्रतिपादन किया गया है। अतः इन सूत्रों के द्वारा परम मुक्ति में भेद की प्रसक्ति नहीं दी जा सकती है। फलतः भेद में व्यावहारिकत्व की उपपत्ति से भेद श्रुति को व्यावहारिक भेद परक मानना युक्तियुक्त ही है।।७।।

–ःइति सत्यानन्दप्रबोधिकायां भेदश्रुतेर्व्यावहारिकभेदपरत्वोपपत्तिः–

५— जीवेशभेदे शब्दान्तरादिविचारः

ननु— पूर्वतन्त्रे द्वितीयाध्याये यैरेव शब्दान्तरादिभिः कर्मभेद उक्तः, तैरेव जीवेशभेदोऽपि सिध्यति। तथाहि—''एष एव जीवं प्रबोधयति'' 'एतस्माज्जीव उत्तिष्ठति'इति विरुद्धार्थधातुनिष्पन्नाख्यातरूपशब्दान्तरस्य 'नित्यः परो नित्यः जीवः' इति प्रत्यभिज्ञायमान पुनःश्रुतिरूपाभ्यासस्य 'द्वासुपर्णे'त्यादिसंख्या अशब्दमनश्नन्नित्यादेर्भेदकस्य गुणान्तरस्य 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्यादिप्रकरणान्तरस्य जीवेशाविति

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वमीमांसा दर्शन के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में कर्म भेदक जो छः प्रमाण कहे गये हैं— (१) शब्दान्तर (२) अभ्यास (३) संख्या (४) नामधेय (संज्ञा) (५) गुण (६) प्रकरणान्तर। इन्हीं प्रमाणों के द्वारा जीव और ईश्वर में भेद सिद्ध हो जायेगा। जैसे— (१) एष एव जीवं प्रबोधयति एतस्माज्जीव उत्तिष्ठति। यहाँ ईश्वर के लिए ''प्रबोधयति'' बुध धातु का प्रयोग किया गया और जीव के लिए ''उत्तिष्ठति'' स्था धातु का प्रयोग किया गया है। ऐसे प्रबोधन तथा उत्थापन रूप जो विरुद्धार्थक धातु से निष्पन्न तिप् आदि आख्यात् को ही शब्दान्तर कहते हैं। इसे पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के प्रथम शब्दान्तराधिकरण में कहा गया है। प्रकृत में भी शब्दान्तर होने से जीव और ईश में भेद सिद्ध होता है। (२) नित्यः परो नित्यः जीवः'' इस प्रकार से प्रत्यभिज्ञायमान श्रुति रूप अभ्यास के बल पर जीव और ईश में भेद सिद्ध होता है जैसे ''समिधो यजति'' ''तनूनपातं यजति'' ''इडो यजति'' ''बर्हिर्यजति'' ''स्वाहाकारं यजति'' में यजति पद के अभ्यास के बल से कर्म भेद माना जाता है। इसे पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के द्वितीय अभ्यासाधिकरण में कहा गया हैं। (३) जैसे ''सप्तदश प्राजापत्यान् पशूना लभेत'' यहाँ पर सप्तदश संख्या के बल पर कर्म भेद सिद्ध होता है ठीक वैसे ही ''द्वा सुपर्णा'' इस स्थल पर भी द्वित्व संख्या के बल पर जीव और ईश में भेद सिद्ध होता है। इसे पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के सप्तम सख्याधिकरण में कहा गया है। (४) जैसे ''अथैष ज्योतिः'' ''अथैष विश्वज्योतिः'' ''अथैष सर्वज्योतिः'' इस स्थल पर संज्ञा के भेद से कर्मों में भेद माना गया है। इसका निरूपण पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के अष्टम संज्ञाधिकरण में किया गया है। ठीक इसी प्रकार ''जीवेशौ'' (नृ.उ.ता.९) इस श्रुति के अनुसार जीव और ईश संज्ञा का भेद होने से जीव और ईश में भेद सिद्ध होता है। (५) पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के नवम गुणाधिकरण में ''तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्'' इस स्थल पर आमिक्षा और वाजिन तथा देवता रूप गुण के भेद से कर्म में भेद माना गया है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर में शब्द वाच्यत्व का अभाव और भोक्तृत्व का अभाव है जबकि जीव में शब्द वाच्यत्व और भोक्तृत्व रूप गुण दोनों हैं। अतः गुण के भेद से ईश और जीव में भेद मानना चाहिए। (६) पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद के एकादश प्रकरणान्तराधिकरण में ''उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'' इस स्थल पर उपसत् कर्म कर के मास अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठान करना है किन्तु यह उपसत् कर्म नियत कालिक अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास में नहीं होता हैं। अतः कुण्ड़पाय प्रकरण में पठित ''उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति'' से कथित मास भर होने वाला अग्निहोत्र आदि कर्म नित्य अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास कर्म से भिन्न है क्योंकि दोनों के भिन्न—भिन्न प्रकरण होते हैं ठीक इसी प्रकार से जिस प्रकरण में ईश्वर का वर्णन किया गया है, उससे भिन्न प्रकरण में जीव का वर्णन किया गया है। अतः प्रकरण भेद के बल पर ईश्वर और जीव में भेद सिद्ध होता है। ''जीवेशाविति नामधेयद्वयस्यापि

नामधेयद्वयस्यापि सत्त्वाच्चेति– चेत्।१।।

न; प्रत्यक्षादिसमकक्ष्यतया शब्दान्तरादीनां भेदकत्वेऽपि तात्त्विकाभेदाविरोधित्वात्। किञ्चादृष्टचरस्त्वं मीमांसकः यः कर्मभेदे शास्त्रभेदे वा प्रमाणत्वेन क्लृप्तानां शब्दान्तरादीनां चेतनभेदे प्रमाणत्वं कल्पयसि। न ह्यन्यभेदप्रयोजकस्यान्यभेदप्रयोजकता; विशिष्टभेदे प्रयोजकस्यापि विशेषणभेदस्य विशेष्यभेदकत्वापत्तेः, 'देवदत्त उत्तिष्ठति शिष्यं बोधयति यजति ददाति जुहोति'इत्यादावपि भेदापत्तेः न शब्दान्तरस्य कर्तृभेदकता।।२।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ शब्दान्तरादेरात्मभेदकत्वाभावः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत्त्वाच्च'' इसका अर्थ क्रम संख्या ४ में कर दिया गया है।१।।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि जैसे व्यावहारिक भेद का बोधन कराते हैं ठीक वैसे ही शब्दान्तरादि भी व्यावहारिक भेद का ही बोधन कराते हैं , क्योंकि दोनों ही अतत्त्वावेदक प्रमाणत्वेन सजातीय हैं। फलतः इनके द्वारा तात्त्विक अभेद में किसी भी प्रकार से विरोध उपस्थित नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि आप (माध्व) के जैसे लोकोत्तर मीमांसक तो लोक में देखा नहीं जाता है जो कि कर्म भेद अथवा शास्त्र भेद में प्रमाणत्वेन कलृप्त जो शब्दान्तरादि हैं। उनको चेतन भेद में प्रमाणत्वेन कल्पना कर रहा हो, जबकि अन्य भेद (कर्म भेद या शास्त्र भेद) का जो प्रयोजक (शब्दान्तरादि) हैं। वे (शब्दान्तरादि) अन्य भेद (चेतन भेद) के प्रयोजक नहीं हो सकते हैं। यदि अन्यभेद के प्रयोजक को अन्य भेद के प्रति प्रयोजक मानेंगे तब तो जो विशिष्ट भेद का प्रयोजक विशेषण है। उस विशेषण को विशेष्य के भेद का भी प्रयोजक मानना पड़ेगा। अर्थात् विशिष्ट भेदक विशेषण विशेष्य का भी भेदक हो जायेगा। जैसे– दण्डी देवदत्तः कुण्डली देवदत्तः– इस स्थलों पर विशेषण के भेद से देवदत्त में भी भेद मानने की आपत्ति होगी। इसी प्रकार एक ही जो देवदत्त है। वह देवदत्त उठता है, शिष्य को बोध कराता है, यजन करता है, दान देता है, हवन करता है, इत्यादि स्थल में भी शब्दान्तरादि के द्वारा एक ही देवदत्त में भेद मानने की आपत्ति होगी। इसलिए शब्दान्तरादि के द्वारा कर्मों में व्यावहारिक भेद सिद्ध होने पर भी कर्त्ता (चेतन) में भेद सिद्ध नहीं होता है– यह सिद्धान्ती का भाव है।।२।।

–: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां शब्दान्तरदेरात्मभेदकत्वाभावः–

६— भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गविचारः

ननु— षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतश्रुतिगम्यभेदस्य कथमतात्त्विकत्वम्? तथाहि— आथर्वणे द्वासुपर्णेत्युपक्रमः, परमं साम्यमुपैतीत्युपसंहारः, 'तयोरन्यः अनश्नन्नन्य अन्यमीशम्'इत्यभ्यासः, शास्त्रैकगम्येश्वरप्रतियोगिकस्य कालत्रयाबाध्यभेदस्य शास्त्रं विना अप्राप्तेरपूर्वता, 'पुण्यपापे विधूय'इति फलं, 'अस्य महिमानम्'इति स्तुतिरूपोऽर्थवादः, अत्ति अनश्नन्नित्युपपत्तिः।।१।।

अत्र च 'मायामात्रमिदं द्वैतम्'इत्यादाविव द्विशब्द एव भेदवाचकः, तदाक्षेपको वा द्वित्वसंख्यैवैक्यविरोधिनीति

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है तात्पर्यार्थ के निर्णायक जो षड्विध लिङ्ग हैं। उन लिङ्गों से युक्त श्रुति के द्वारा बोधित भेद है। अतः भेद को अतात्त्विक नहीं कहा जा सकता है। आगे क्रमशः षड्विध लिङ्ग दिखाया जा रहा है। जैसे अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् में ''द्वा सुपर्णा'' इससे भेद का उपक्रम किया गया है और ''परमं साम्यमुपैति'' (मु०उ०३—१—३) के घटक साम्य = समता = सादृश्य = तद् भिन्नत्वे सति तद्गत भूयो धर्मवत्त्वम्— से भेद में उपसंहार किया गया है। ''तयोरन्यः अनश्नन् अन्यः'' (मु०उ० ३—१—१) अन्यमीशम् (मु०उ०३—१—३) यहाँ पर जो अन्य पद का अर्थ भेद विशिष्ट, उसका पुनः पुनः कथन अभ्यास लिङ्ग का सूचक है। केवल शास्त्रैक गम्य जो ईश्वर तादृश ईश्वर प्रतियोगिक जीवानुयोगिक तात्त्विक भेद की शास्त्र के विना प्राप्ति न होने से तात्त्विक भेद में अपूर्वता (श्रुति इतर प्रमाणानधिगति) रूप लिङ्ग भी है। ''पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'' (मु०उ०३—१—३) इस श्रुति के द्वारा फल रूप लिङ्ग कहा गया है। अर्थात् कर्म क्षय और साम्यता की प्राप्ति रूप फल में तात्त्विक भेद का कथन है। अतः तात्त्विक भेद में फल रूप लिङ्ग भी है। ''अस्य महिमानम्'' (मु०उ०३—१—२) यह स्तुति रूप अर्थवाद लिङ्ग है। अर्थात् ''जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः'' (मु०उ०३—१—२) इस श्रुति के द्वारा जीव से भिन्न ईश्वर और ईश्वर की महिमा को जो जानता है, वह वीतशोक हो जाता है— इस प्रकार तात्त्विक भेद की स्तुति की गयी है। अतः स्तुति रूप अर्थवाद लिङ्ग भी है। अत्ति और अनश्नन् इन पदों के द्वारा जीव और ईश में भेद मानने के लिए उपपत्ति रूप लिङ्ग भी है।।१।।

अब पूर्वपक्षी के द्वारा पूर्वोक्त षड्विध लिङ्गों का समन्वय कैसे होगा? इसको स्पष्ट किया जा रहा है। ''मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं तु परमार्थतः'' ''गौड़०का०१—१७) इस कारिका में द्वैत पद भेद समानार्थक है और मायामात्रम् का अर्थ है कि ईश्वर इच्छा अधीन होने के कारण भेद सत्य है। अतः सभी भेद सत्य हैं— यह इस कारिका के द्वारा कहा गया है। ''अद्वैतं तु परमार्थतः'' का अर्थ है कि स्वतन्त्र ईश्वर को लेकर अद्वैत है। अर्थात् स्वतन्त्र ईश्वर एक ही है। (इस प्रकार उक्त कारिका का जो अर्थ सिद्धान्ती करते है उसका खण्डन कर के पूर्वपक्षी ने सत्य भेद बोधक अर्थ किया। इससे प्रकृत में क्या लाभ हुआ? उसको आगे पूर्वपक्षी कह रहा है कि) उक्त कारिका में जैसे द्वैत शब्द का अर्थ सत्य भेद है वैसे ही ''द्वा सुपर्णा'' में द्वि शब्द सत्य भेद का वाचक है। अथवा द्वि शब्द भेद का आक्षेपक है = भेदं विना द्विशब्दोऽनुपपन्नः। अथवा द्वि शब्द भेद का बोधन या आक्षेप न भी कराये तो भी द्वि शब्द का अर्थ जो द्वित्व संख्या वह अभेद का विरोधी होने से फलतः भेद को कहेगी ही। इस प्रकार से उपक्रम = ''द्वा सुपर्णा'' भेद विषयक सिद्ध हो गया। अब ''परमं साम्यमुपैति इस उपसंहार को भेद विषयक दिखलाते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि तद् = जिसका सादृश्य लेना है (जैसे चन्द्र का सादृश्य लेना है तो चन्द्र को तद् पद से लिया जायेगा।) इस प्रकार अर्थ होगा कि ''चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगतभूयो धर्मवत्त्वम्'' यही चन्द्र का सादृश्य मुखादि में लिया

वा भवत्युपक्रमो भेदविषयः। तद्भिन्नत्वविशेषितमेव च तद्गतबहुधर्मयोगित्वं तत्सादृश्यम्, नतु विशेष्यमात्रम्; नायं सः किन्तु तत्सदृशः, नायं तत्सदृशः, किन्तु स एवेति सादृश्यैक्ययोरेकतरविधानायान्यतरनिषेधात्, 'गगनं गगनाकारम्'इत्यादि तु तत्सदृशवस्त्वन्तरनिषेधपरम्, गगनाद्येकदेशस्य तदेकदेशसादृश्यपरं वा इत्युपसंहारोऽपि भेदविषय एव। अभ्यासत्वेऽपि अर्थत एवैकप्रकारत्वं तन्त्रम्, नतु शब्दतः; अतिप्रसङ्गात्। अन्यमीशमित्यत्र ईशगतान्यत्वं प्रति पश्यतीति प्रकृतो जीव एव पदन्यायेन प्रतियोगितया सम्बध्यत

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है। ''तद्गतभूयो धर्मवत्त्वम्'' को ही सादृश्य का लक्षण नहीं माना जा सकता है किन्तु लक्षण का विशेषण ''तद् भिन्नत्वे सति'' को भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार से पूर्वपक्षी ने यह दिखाया कि जहाँ सादृश्य होता है, वहाँ भेद अवश्य होता है। अब पूर्वपक्षी के द्वारा यह दिखाया जा रहा है कि जहाँ सादृश्य रहता है वहाँ ऐक्य नहीं रहता है और जहाँ ऐक्य रहता है वहाँ सादृश्य नहीं रहता है क्योंकि दोनों में विरोध है। जैसे यहाँ सादृश्य है किन्तु ऐक्य नहीं रहेगा— यह मुख चन्द्र नहीं है किन्तु चन्द्र सदृश्य है। इसी प्रकार जहाँ अभेद है वहाँ सादृश्य नहीं रहता है। जैसे यह घट कलस सदृश्य नहीं है किन्तु कलस ही है। इस प्रकार सादृश्य और ऐक्य में से एक का विधान करने के लिए दूसरे का निषेध किये जाने से जहाँ सादृश्य है वहाँ अभेद नहीं रह सकता है। ''गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।।'' यहाँ इव पद के द्वारा उपमा = सादृश्य अभेद में भी कहा गया है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यहाँ गगन के साथ गगन का सादृश्य नहीं कहा गया है किन्तु गगन सदृश्य कोई दूसरा पदार्थ नहीं है— यह कहा गया है। अथवा गनन का एक देश = घटाकाश का गगन के दूसरे एक देश = मठाकाश के साथ सादृश्य कहा गया है। इसी प्रकार सागर में भी समन्वय होगा। राम और रावण युद्ध में कल्पान्तर भेद लेकर समन्वय होगा। इससे सिद्ध हुआ कि उपसंहार में कथित साम्य = सादृश्य के माध्यम से सत्य भेद कहा गया है। शब्द और शब्दार्थ इन दोनों में से जहाँ शब्दार्थ एक ही होता है वहाँ ही अभ्यास माना जाता है। शब्द एक प्रकार का होने पर अभ्यास नहीं माना जाता है क्योंकि अतिप्रसङ्ग की आपत्ति होगी। जैसे जहाँ ''गौः गौः गौः'' इस प्रकार से एक ही गौ शब्द का तीन बार प्रयोग किया गया किन्तु प्रथम गौशब्द का प्रयोग सास्नादिमत् गाय के लिए किया गया और द्वितीय गौ शब्द का प्रयोग पृथ्वी रूप अर्थ के अभिप्राय से किया गया और तृतीय गौ शब्द का प्रयोग वाणी रूप अर्थ के अभिप्राय से किया गया। ऐसे स्थल पर भी अभ्यास मानने की आपत्ति होगी, क्योंकि शब्दतः एक प्रकारत्व यहाँ पर भी है। प्रकृत में ''तयोरन्यः, अनश्नन् अन्यः, अन्यमीशम्'' इत्यादि स्थल पर अन्य शब्द का जीव ईश्वर भेद रूप अर्थ एक ही है। यहाँ भेद का अभ्यास मानना पड़ेगा। ''अन्यमीशम्'' यहाँ पर ईश में रहने वाले भेद के प्रति इस वाक्य के समीप में पठित ''पश्यति'' इस क्रिया का कर्ता जीव ही लिया जायेगा। इसलिए अभ्यास में ''जीव ईश भेद'' ही लिया गया है— यह पूर्वपक्षी के कहने का भाव है। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''एक हायन्या सोयं क्रीणाति'' अर्थात् एक हायनी गौ के द्वारा सोम खरीदने का विधान है। एक हायनी गौ को जब उस स्थान में ले जाया जाता है, जहाँ से सोम लता खरीदना होता है तब अध्वर्यु को उस गौ के पीछे–पीछे जाना पड़ता है। वह गौ जिस–जिस जगह पैर रखती है, उनमें से प्रथम छः स्थान पर पद चिन्हित मिट्टी के ऊपर पैर रख कर अध्वर्यु को जाना पड़ता है और सप्तम बार जिस स्थान पर गौ पैर रखती है, उस स्थान की धूल को अञ्जली में लेकर हविर्धान नामक शकट की धूरी में अञ्जन के साथ चिपकाना पड़ता है— ''सप्तमं पदमध्वयुरञ्जलिना गृह्णाति''। यहाँ पर प्रश्न होता है कि किसका

इत्यभ्यासोऽपि सम्भवतीति–चेत्।।२।।

मैवम्; आथर्वणे प्रथममुण्डके 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'इति शौनकप्रश्नानन्तरं 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' इति विद्याद्वयमवतार्य ऋग्वेदादिलक्षणामपरामुक्त्वा 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्'इत्यादिना परविद्याविषयमक्षरं प्रश्नानुसारेण प्रतिपादयता अभेदस्यैवोपक्रान्तत्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

पद लिया जाय? इसके समाधान में कहा गया कि इस वाक्य के समीप में पठित ''एक हायन्या सोमं क्रीणाति'' इस वाक्य से उपस्थापित एक हायनी गौ का ही पद लिया जायेगा। इसका निरूपण पूर्वमीमांसा के चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद के दशम अधिकरण में किया गया है। इस प्रकार से प्रकृत में ''पश्यति'' से उपस्थित जीव ही लिया जायेगा। अत: भेद में अभ्यास रूप लिंग सुस्थिर है– यह पूर्वपक्षी का भाव है।।२।।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने अथर्ववेदीय मुण्ड़क उपनिषद् का उपक्रमादि न लेकर मुण्ड़क उपनिषद् के एक भाग से उपक्रमादि लेने का असफल प्रयास किया है। यदि मुण्ड़क उपनिषद् के उपक्रमादि को लिया जायेगा तब तो षड्विध तात्पर्य लिङ्ग अद्वैत में ही पर्यवसित होगा। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि अथर्ववेदीय मुण्ड़क उपनिषद् के प्रथम मुण्ड़क में ''कश्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'' (मु०उ० १–१–३) इस प्रकार शिष्य शौनक के पूछने पर आचार्य अङ्गिरा ने ''द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च (मु०उ०१–१–४) इस प्रकार परा और अपरा दो विद्याओं का अवतरण कर ॠग्वेदादि रूप अपरा विद्या का कथन किया– ''तत्रापरा ॠग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद: शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।'' (मु०उ०१–१–५) इसके पश्चात् कहा– ''अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्रोत्रं तदपाणि पादम्।'' (मु०उ०१–१–५) इस प्रकार से परा विद्या विषयी भूत अक्षर तत्त्व का ही प्रश्नानुसार प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने अभेद से ही उपक्रम किया है। अर्थात् अभेद विषयक प्रश्न वाक्य के उत्तर में ''अथ परा'' यह वाक्य कहे जाने से इस वाक्य को अभेद परक ही लिया जायेगा। ऐसा होने पर उपक्रम अभेद परक हो गया। अन्यथा– यदि इस उत्तर वाक्य को अभेद परक नहीं लेंगे तो, तब अभेद विषयक प्रश्न का उत्तर ''अथ परा'' यह वाक्य नहीं बन पायेगा। प्रश्नोत्तर में वैयधिकरण्य की आपत्ति आयेगी। द्वितीय मुण्ड़क में ''पुरुष एवेदं विश्वम् (मु०उ०२–१–१०) ''ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'' (मु०उ०२–२–११) इस प्रकार से मध्य में भी अभेद का ही परामर्श है। तृतीय मुण्ड़क के अन्त में ''परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'' (मु०उ० ३–२–७) ''स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'' (मु०उ०३–२–९) इस प्रकार से ऐक्य फल का उपसंहार में निरूपण किया गया है। पूर्वोक्त प्रकार से मुण्ड़क उपनिषद् के तीनों मुण्ड़कों की पर्यालोचना करने पर सम्पूर्ण मुण्ड़क उपनिषद् का तात्पर्यार्थ अभेद में ही सुस्थिर होने से मध्य स्थित ''द्वा सुपर्णा'' इत्यादि वाक्यार्थ में भी ऐक्य का अनुकूलत्व सम्भव है। फलत: महाप्रकरणीभूत अद्वैत के साथ विरोध होने के कारण महाप्रकरणीभूत अद्वैत के विपरीत भेद में मध्यपतित ''द्वा सुपर्णा'' इत्यादि वाक्य के तात्पर्य की कल्पना अर्थात् पूर्वपक्षी ने जो खण्ड संख्या १ में षड्विध तात्पर्य लिङ्ग की कल्पना की थी। ऐसी कल्पना के द्वारा भेद में उपक्रम नहीं माना जा सकता है। ''असंयुक्तं प्रकरणादिति न्यायेनाभिक्रमणादिवत्'' यह दृष्टान्त दिया गया है। प्रकरण प्रमाण दो प्रकार का होता है– (१) महाप्रकरण (२) अवान्तर प्रकरण। प्रकृत में पूर्वापर का विचार करने से स्पष्ट है कि

अन्यथा तदुत्तरत्वानुपपत्तेः, द्वितीयमुण्डके 'पुरुष एवेदं विश्वं' 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'इति मध्ये परामर्शात्, तृतीयमुण्डकान्ते च 'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति। स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'इत्यैक्यलक्षणफलेनोपसंहाराच्च मुण्डकत्रयात्मिकाया उपनिषद ऐक्यपरत्वे स्थिते 'असयुक्तं प्रकरणात्'इति न्यायेनाभिक्रमणादिवन्मध्यस्थितवाक्यस्यापि द्वासुपर्णेत्यादेस्तदनुकूलत्वे सम्भवति महाप्रकरणविरोधेन विपरीततात्पर्यकल्पनया भेदोपक्रमत्वाभावात्।।३।।

'परमं साम्यमुपैति'इत्यस्य पूर्वोक्तन्यायेन ऐक्यपरतया भेदोपसंहारत्वाभावात्। अतः अनश्नन्नित्यादिना न तात्त्विकभेदाभ्यासः, नापीशस्य शास्त्रगम्यतया तत्प्रतियोगिकस्तद्धर्मिको वा भेदोऽपूर्वः, ईशज्ञानमात्रे

सत्यानन्दप्रबोधिका

महाप्रकरण अद्वैत का ही है। अतः ''द्वा सुपर्णा'' इत्यादि वाक्य महाप्रकरणीभूत ऐक्य के ही उपकारक होंगे, भेद के उपकारक मानने पर महाप्रकरण से विरोध होगा। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''असंयुक्तं प्रकरणाद् इतिकर्त्तव्यार्थित्वात्'' (जै०सू० ३—३—११) अर्थात् जिस कर्म का विनियोग श्रुति—लिङ्ग—वाक्य के आधार पर नहीं होता है, वहाँ इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर उसका विनियोग प्रकरण प्रमाण से होता है। प्रकरण प्रमाण का स्वरूप उभयाकांक्षात्मक होता है। दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पञ्च प्रयाज पठित हैं—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इड़ो यजति, बर्हियजति, स्वाहाकारं यजति। यहाँ श्रुति—लिङ्ग और वाक्य से विनियोग सम्भव न होने से प्रकरण प्रमाण से दर्श पूर्णमास याग में इनका विनियोग होता है, ज्योतिष्टोमादि में नहीं। अर्थात् दर्श पूर्णमास याग को अपनी पूर्णता के लिए इति कर्त्तव्यता की आकांक्षा है और प्रयाज संज्ञक यागों को आकाक्षां है कि हमारा क्या प्रयोजन है? इस प्रकार परस्पर आकांक्षा होने पर महाप्रकरण रूप प्रमाण से प्रयाजादि का विनियोग दर्श पूर्णमास में होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी ''द्वा सुपर्णा'' इत्यादि वाक्य महाप्रकरणीभूत अद्वैत के ही उपकारक सिद्ध होते हैं। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि अभी शास्त्रार्थ चल रहा है। अतः अभी नहीं कहा जा सकता है कि महाप्रकरण अद्वैत का ही है। अतः उक्त न्याय से ''द्वा सुपर्णा'' को अद्वैत का उपकारक नहीं माना जा सकता है। इस अरुचि के कारण दूसरा दृष्टान्त दे रहे हैं— अभिक्रमणादिवत्। पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद के दशम अधिकरण में विचार किया गया है कि दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में अङ्ग भूत प्रयाज बोधक वाक्यों के समीप में अभिक्रमणकर्म (आवाहनीय अग्नि के चारों तरफ घूमना) का विधायक वाक्य ''अभिक्रामं जुहोति'' पठित है। यहाँ पर सन्देह होता है कि यह अभिक्रमण कर्म दर्शपूर्ण मास का अङ्ग है? या अङ्ग भूत प्रयाज का अङ्ग है। सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि इस वाक्य के पूर्व और उत्तर में प्रयाज के दो अङ्गों का निरुपण होने से मध्यपतित यह वाक्य भी सन्दंश न्याय से अर्थात् (एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वं सन्दंशः। अर्थात् ''प्रयाजाः कर्त्तव्याः'' से जो प्रयाज का विधान है। उस प्रयाज का अनुवाद कर के घृतानयन मन्त्र और मिथुन वेदन मन्त्र के मध्य अभिक्रमण मन्त्र को सड़सी के जैसे मध्य में पकड़ कर अंग बनाया जाता है। इस सन्दंश न्याय से प्रयाज का ही अङ्ग होगा। ठीक इसी प्रकार ''द्वा सुपर्णा'' इत्यादि वाक्य भी अभेद परक पूर्वोत्तर भागों से युक्त होने के कारण सन्दंश न्याय से अभेद परक ही माना जायेगा।।३।।

''परमं साम्यमुपैति'' (मु०उ० ३—१—३) यह वाक्य भी महाप्रकरण के अनुसार और पूर्वोक्त मध्य पतित न्याय से अभेद परक है। अतः इस वाक्य के द्वारा भेद विषयक उपसंहार नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार महाप्रकरण के अनुसार और पूर्वोक्त मध्य पतित न्याय से ''अनश्नन्'' इत्यादि वाक्य भी जब अभेद परक हैं तब इन वाक्यों के द्वारा तात्त्विक भेद का अभ्यास भी नहीं माना जा सकता है। अन्यथा

तदपेक्षायामपि प्रत्यक्षेण तत्समकक्ष्यमानेन च तयोः प्राप्तत्वात्। त्वदुक्तफलार्थवादयोरैक्यपक्षेऽपि सम्भवेन न भेदासाधारणलिङ्गता; अनश्नन्नित्यादेः काल्पनिकभेदेनोपपत्त्या तात्त्विकभेदोपपत्तित्वाभावात्।।४।।

ननु—अन्तर्यामिब्राह्मणं षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतं वाक्यं भेदे प्रमाणम्। तथाहि—'वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणम्'इत्युपक्रमः, 'एष त आत्मान्तर्यामि'इत्युपसंहारः, 'एष त आत्मेत्याद्येकविंशतिकृत्वोऽभ्यासः, अन्तर्यामित्वस्याप्राप्ततयाऽपूर्वता, 'स वै ब्रह्मवित्'इत्यादि फलम्, 'तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्द्धा ते विपतिष्यति'इति निन्दारूपोऽर्थवादः, 'यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद'इत्याद्युपपत्तिरिति—चेत्।।५।।

मैवम्; 'आत्मेत्येवोपासीत'इति सूत्रितब्रह्मविद्याविवरणरूपायां चतुरध्याय्यां अनेन ह्येतत्सर्वं वेदेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

महाप्रकरण से विरोध और पूर्वोक्त मध्यपतित न्याय से विरोध होगा। ईश्वर के शास्त्र गम्य होने पर भी ईश्वर प्रतियोगिक या ईश्वरानुयोगिक भेद को अपूर्व भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ईश्वर ज्ञान मात्र में शास्त्र की अपेक्षा होने पर भी प्रत्यक्ष से और प्रत्यक्ष समकक्ष्य अर्थापत्ति प्रमाण से ईश्वर प्रतियोगिक और ईश्वरानुयोगिक भेद प्राप्त है। (इसे ''भेदश्रुतेरनुवादकत्वविचारः के खण्ड संख्या ६ में स्पष्ट किया जा चुका है।'') पूर्वपक्षी ने जो ''पुण्यपापे विधूय'' को फलश्रुति और ''अस्य महिमानम्'' को अर्थवाद श्रुति कहा। वह फलश्रुति और अर्थवाद श्रुति महाप्राकरणिक अभेद की ही है, भेद की नहीं। इसी प्रकार ''अनश्नन्'' इत्यादि में कथित उपपत्ति के द्वारा व्यावहारिक भेद मात्र की सिद्धि होती है तात्त्विक भेद की नहीं। अतः इस श्रुति वाक्य के द्वारा तात्त्विक भेद में उपपत्ति नहीं दिखायी जा सकती है।।४।।

शङ्का— अब पूर्वपक्षी के द्वारा बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण का आश्रय कर के जीव ईश भेद में तात्पर्यार्थ निर्णायक षड्विध लिङ्ग वाक्यों को प्रमाण के रूप से उपस्थापन किया जा रहा है। जैसे ''वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणम्'' (बृ०उ०३—७—१) इससे भेद का उपक्रम किया गया है, क्योंकि ''त्वम्'' (जीव) में प्रथमान्त और ''अन्तर्यामिणम्'' (ईश्वर) में द्वितीयान्त है। इससे जीव और अन्तर्यामी में भेद सिद्ध होता है और ''एष ते आत्मान्तर्यामी'' (बृ०उ०३—७—३) इससे भेद में उपसंहार किया गया है, क्योंकि ते (तुम्हारा) और अन्तर्यामी (ईश्वर) में भेद कहा जा रहा है। ''एष ते आत्मान्तर्यामी'' इत्यादि एकविंशति बार का कथन अभ्यास रूप लिङ्ग है। अन्तर्यामित्व की प्राप्ति श्रुति प्रमाण से इतर प्रमाण से न होने से अपूर्वता है। ''यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात् तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित् स लोकवित् स देववित् स वेदवित् स भूतवित् स आत्मवित् स सर्वविदिति'' (बृ०उ०३—७—१) इससे फलरूप लिङ्ग कहा गया है। ''तच्चेत् त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे ब्रह्मगवीः (ब्रह्मिष्ठार्थं स्थापिता गाः, उदजसे = गृह्णासि) मूर्धा ते विपतिष्यतीति'' (बृ०उ०३—७—१) इत्यादि से निन्दा रूप अर्थवाद कहा गया है। ''यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद'' (बृ०उ०३—७—३) इत्यादि से उपपत्ति रूप लिङ्ग कहा गया है। (न्यायामृत के अनुसार) इस श्रुति के द्वारा भेद कहा गया है— इसे ''शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते'' (ब्र०सू० १—२—२०) इस सूत्र में और इस सूत्र के भाष्य में ''शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते'' से कहा गया है।।५।।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''आत्मेत्येवोपासीत'' (बृ०उ० १—४—७) इस प्रकार संक्षेप से कही गयी ब्रह्म विद्या का व्याख्यान रूप जो बृहदारण्यक उपनिषद् के चारों अध्याय उस चतुरध्याय में ''अनेन हि एतत्सर्वं वेद'' (बृ०उ० १—४—७) इस प्रकार से एक विज्ञान से सर्वविज्ञान

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापूर्वकं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्'— इत्यभेदेनोपक्रम्य षष्ठाध्यायान्ते मैत्रेयीब्राह्मणे निगमनरूपे 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्'इत्यादिनाऽभेदेनैवोपसंहाराद् अध्यायचतुष्टयस्याप्यभेदपरत्वे स्थिते तदन्तर्गतस्य ब्रह्मलोकान्तरसूत्रात्म— प्रतिपादनपरस्य उत्तरब्राह्मणप्रतिपाद्यनिरुपाधिकसर्वान्तरब्रह्मप्रतिपत्त्यनुकूलस्य महाप्रकरणानुरोधेन तद्विरोधिभेदपरत्वाभावात्, त्वदुपन्यस्तलिङ्गानां भेदपरतानिर्णायकत्वेऽपि कल्पितभेदपरतया तात्त्विकाभेदाविरोधित्वाद्। अत एव 'न शारीरश्चोभयेऽपिहि भेदेनैनमधीयत' इति सूत्रविरोधः, नवा तद्भाष्यव्याहतिः।।६।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

की प्रतिज्ञा कर के ''ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्'' (बृ०उ० १—४—१०) इस प्रकार से अभेद का उपक्रम कर के (षष्ठ अध्याय— प्रारम्भ के दो अध्याय जो कर्म सम्बन्धी है उनको लेकर षष्ठ अध्याय और उनको छोड़ देने पर चतुर्थ अध्याय होगा। इस) चतुर्थ अध्याय के अन्त में स्थित मैत्रीय ब्राह्मण में स्थित निगमन रूप में ''यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्'' (बृ०उ०४—५—१५) इस प्रकार से अभेद विषयक उपसंहार किया गया है। फलतः यह सिद्ध होता है कि उक्त चारों अध्याय अभेद परक ही है। इन चारों अध्यायों के अन्तर्गत स्थूल ब्रह्माण्ड का आरम्भक जो पञ्च महाभूत, उसके अन्दर में स्थित जो सूत्रात्मा उसका जो अन्तर्यामी उसका प्रतिपादन परक यह अन्तर्यामी ब्राह्मण है जो कि उत्तर ब्राह्मण प्रतिपाद्य निरुपाधिक सर्वान्तर (अन्तर्यामी को लेकर सबके भीतर में स्थित) जो ब्रह्म है। उसके बोध के अनुकूल है। अतः इस अन्तर्यामी ब्राह्मण को महाप्रकरण के अनुरोध से महाप्रकरण प्रतिपाद्य जो अभेद उसका विरोधी जो भेद तादृश भेद परक नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित षड्लिङ्ग भेद परता के निर्णायक हैं किन्तु तात्त्विक भेद परता के निर्णायक नहीं हैं किन्तु कल्पित भेद परता के निर्णायक हैं। अतः महाप्रकरण से प्राप्त तात्त्विक अभेद परता के साथ किसी भी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता है। अत एव = कल्पित भेद परता होने से ही, ''शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते'' (बृ०उ० १—२—२०) इस सूत्र और इसके भाष्य से विरोध उपस्थित नहीं होता है, क्योंकि भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से कल्पित भेद को स्वीकार कर के कहा है कि— ''अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेद व्यपदेशः, न पारमार्थिकः।'' अर्थात् जीव और अन्तर्यामी का यह भेद व्यपदेश अविद्या से उपस्थापित शरीर इन्द्रिय रूप उपाधि की अपेक्षा से है, परमार्थतः नहीं।।६।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गभङ्गः—

७—ऐक्यस्वरूपविचारः

ननु—ऐक्यं आत्मस्वरूपम्, उतान्यत्, नाद्यः; एकतरपरिशेषाद्यापत्तेः, सापेक्षस्यैक्यस्य निरपेक्षात्मत्वायोगाच्च, नान्त्यः; सत्यत्वे अद्वैतहानेः, मिथ्यात्वे तत्त्वमसीत्यादेरतत्वावेदकतापत्तेरिति—चेन्न; आद्यमेवानवद्यम्। ज्ञानानन्दयोरात्मैक्येऽपि यथा नैकतरपरिशेषापत्त्यादिकं कल्पितानन्दत्वादिधर्मात् तथा प्रकृतेऽपि सम्भवाद्, ऐक्ये अभिज्ञेयत्वस्य प्रागुक्तेः तस्यापि निरपेक्षतया निरपेक्षात्मस्वरूपत्वाविरोधाद्, अज्ञानाद्यधिष्ठानतया भासमानात्मस्वरूपत्वेऽपि ऐक्यस्य तद्गोचरवृत्तिविशेषस्याज्ञाननिवर्तकस्य इदानीमसत्त्वात्संसारोपपत्तेः। अन्त्ये पक्षे दोषास्त्वनुक्तोपालम्भा एव।।१ ।।

अत एव अतिरिक्तमैक्यं नैकत्वसंख्या, नवा तन्निष्ठाशेषधर्मवत्त्वम्, नवा तन्निष्ठासाधारणधर्मवत्त्वम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— ऐक्य (अभेद) आत्मा से अभिन्न है? या भिन्न है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि एकतर परिशेष की आपत्ति होगी। अर्थात् अभेद को आत्म स्वरूप मानने पर अभेद और आत्मा में से एक ही शेष रह जाना चाहिए। ''अयं अभेदः'' और ''अयं आत्मा''— इस प्रकार का व्यवहार भेद नहीं हो पायेगा। ''एकतरपरिशेषादि'' के आदि शब्द से पर्यायत्वादि की आपत्ति होगी। अनुयोगी प्रतियोगी सापेक्ष जो अभेद वह अनुयोगी प्रतियोगी निरपेक्ष जो आत्मा का स्वरूप है। तद् स्वरूप नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष = अभेद आत्मा से भिन्न है— इस पक्ष को स्वीकार करने पर प्रश्न होगा कि आत्मा से अतिरिक्त अभेद सत्य है? या मिथ्या? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर द्वैतापत्ति होगी। द्वितीय पक्ष = अभेद को मिथ्या मानने ''तत्त्वमसि'' इत्यादि महावाक्यों में अतत्त्वावेदकत्व (मिथ्यात्व बोधकत्व) की आपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अभेद को आत्मस्वरूप मानने पर कोई दोष नहीं है। जैसे ज्ञान तथा आनन्द इन दोनों का आत्मा के साथ अभेद होने पर भी एकतरपरिशेषादि की आपत्ति नहीं होती है, क्योंकि कल्पित आनन्दत्वादि धर्मों को लेकर ज्ञान और आनन्द में भेद बन जाना है। इसे ''विशेषतो भेदखण्डनविचारः'' के खण्ड संख्या २० में कहा जा चुका है। ठीक इसी प्रकार अभेद के आत्म स्वरूप होने पर भी ऐक्य और आत्मा में काल्पनिक ऐक्यत्व और आत्मत्व धर्म को लेकर एकतरपरिशेषापत्ति का वारण हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि ''विशेषतो भेदखण्डनविचारः'' के खण्ड संख्या ३ में कहा जा चुका है कि ऐक्य ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न है। अतः जब ज्ञेय ब्रह्म निरपेक्ष है तब उससे अभिन्न ऐक्य भी निरपेक्ष ही होगा। फलतः पूर्वपक्षी ने जो ऐक्य को सापेक्ष मान कर दोष दिया था। उसका खण्डन हो गया और निरपेक्ष ऐक्य निरपेक्ष आत्मस्वरूप सिद्ध हो गया। प्रश्न होता है कि सिद्धान्ती ऐक्य का भान मुक्तावस्था में मानते हैं किन्तु ऐक्य को आत्मस्वरूप मानने पर संसार दशा में आत्मा जब भासमान है तब ऐक्य भी भासमान रहेगा। ऐसा होने पर संसार दशा को ही मोक्ष दशा मानना पड़ेगा। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि संसार दशा में आत्मा से अभिन्न ऐक्य का सामान्य ज्ञान होने पर भी अज्ञान का निवर्तक ऐक्य विषयक विशेष ज्ञान के न रहने के कारण अज्ञान का सत्त्व बना रहने से संसार बना रहेगा और संसारावस्था में मोक्षावस्था की आपत्ति भी नहीं आयेगी। द्वितीय पक्ष (ऐक्य को आत्म स्वरूप से भिन्न मानने के पक्ष) में जो पूर्वपक्षी ने दोष दिये है, वे सभी दोष इसलिए खण्डित हो गये, क्योंकि द्वितीय पक्ष को हम मानते ही नहीं हैं।।१ ।।

अत एव = ऐक्य को आत्म स्वरूप मानने से ही और अन्तिम पक्ष में कथित दोष अनुक्तोपालम्भन मात्र होने से ही आगे कहे जाने वाला पूर्वपक्षी का कथन भी निरस्त हो जाता है। पूर्वपक्षी का कथन है

निर्धर्मके ब्रह्मणि तेषामभावात्। नापि भेदविरहः; भेदस्यैक्यविरहरूपत्वेनान्योन्याश्रयात्। नापि तदवृत्तिधर्मानधिकरणत्वम्; शून्यस्यापि ब्रह्मैक्यापातादिति—निरस्तम्; तदवृत्तिधर्मानाधारत्वोप—लक्षितस्वरूपस्याभेदत्वात्। शून्यस्य निःस्वरूपत्वात् न शून्यस्यैक्यरूपता। न च—तदवृत्तिधर्मनिषेधेन तद्वृत्तिधर्मविधानप्रसङ्गः, विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाफलकत्वादिति—वाच्यम्; शेषविधायकत्वस्य सर्वत्रासम्प्रतिपत्तेः। अन्यथा वायौ न नीलरूपमित्यस्यापि गौरं प्रति विधायकत्वापातात्।।२।।

ननु—अभेदे अभेदत्वपारमार्थिकत्वासद्वैलक्षण्यादीनि तत्त्वतः सन्ति वा नवा, आद्ये सद्वितीयत्वापत्तिः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि आत्म स्वरूप से भिन्न ऐक्य को एकत्व संख्या रूप नहीं माना जा सकता है, अथवा आत्म स्वरूप से भिन्न ऐक्य को आत्मा में रहने वाले अशेष धर्म रूप भी नहीं माना जा सकता है, अथवा आत्म स्वरूप से भिन्न ऐक्य को आत्मा में रहने वाले असाधारण धर्म रूप भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि एकत्व संख्या, अशेष धर्म और असाधारण धर्म निर्धर्मक ब्रह्म में होते ही नहीं हैं। आत्मा से भिन्न जो ऐक्य उसे भेदाभाव रूप भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि अभेद का अर्थ भेदाभाव और भेद का अभेदाभाव करने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। अर्थात् भेद का ज्ञान होने पर भेदाभाव रूप अभेद का ज्ञान होगा और अभेद का ज्ञान होने पर अभेदाभाव रूप भेद का ज्ञान होगा। आत्मा से भिन्न आत्मा में रहने वाला ऐक्य = आत्मा में न रहने वाले धर्म का अनधिकरणत्व रूप है— ऐसा भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शून्य को भी आत्मगत ऐक्य रूप मानना पड़ेगा, क्योंकि निः स्वरूप होने से शून्य भी आत्मा में न रहने वाले जड़त्वादि धर्मों का अनधिकरण होता ही है। इन सभी पक्षों का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि आत्मा में न रहने वाला धर्म = जड़त्वादि, उसका अनाधारत्व = आत्मा। ऐसी आत्मा में रहने वाला अनाधारत्व धर्म से उपलक्षित स्वरूप = अभेद होता है। शून्य निःस्वरूप होने के कारण तदवृत्तिधर्मानाधारत्वोपलक्षित स्वरूपता शून्य में हो ही नहीं सकती है। अतः शून्य में ऐक्य रूपता की आपत्ति नहीं आयेगी।

शङ्का— विरोधी दो पदार्थों में से एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान माना जाता है— इस न्याय का अनुशरण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि आत्मा में न रहने वाले धर्म का निषेध करने पर आत्मवृत्ति धर्मों का विधान मानना पड़ेगा, क्योंकि किसी एक विशेष का निषेध करने पर, उस निषेध का यह फल होता है कि शेष (दूसरे धर्म) की अभ्यनुज्ञा (विधान) मानना। ऐसा होने पर आत्मगत ऐक्य का स्वरूप आत्मवृत्ति धर्मों की आश्रयता रूप होगा, जो कि शुद्ध आत्मा में सम्भव नहीं है। अर्थात् सधर्मकत्वापत्ति शुद्ध आत्मा में होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विरोधी दो पदार्थों में से एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान होता है— ऐसा सर्वत्र नहीं माना जाता है, क्योंकि नील रूप का विरोधी श्वेत रूप होता है (क्योंकि जहाँ नील रूप है वही पर श्वेत रूप नहीं रहता है।) अतः वायु में नील रूप का निषेध करने पर श्वेत रूप मानने की आपत्ति होगी।।२।।

शङ्का— अभेद में रहने वाला अभेदत्व, पारमार्थिकत्व तथा असद्विलक्षणत्वादि धर्म क्या वास्तविक रूप से रहते हैं? अथवा वास्तविक रूप से नहीं रहते हैं? प्रथम पक्ष मानने पर द्वैतापत्ति होगी। द्वितीय पक्ष मानने पर जब अभेद में अभेदत्व ही नहीं है तब उसे अभेद ही नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार जब अभेद में पारमार्थिकत्व ही नहीं रहेगा तब अभेद को मिथ्या मानने की आपत्ति होगी। ऐसे ही अभेद में असद् वैलक्षण्य न रहने पर अभेद को अलीक मानने की आपत्ति आयेगी।

द्वितीये अभेदत्वादिहानिरिति—चेन्न; तत्त्वतः स्वरूपभूतैरेव तैरभेदरूपताया अद्वैतस्य चाहान्युपपत्तेः। न च—एवमभेदस्याबाधितात्मस्वरूपपर्यवसाने तस्य चात्मस्वरूपस्य परैरपि सम्मतत्वेन त्वच्छास्त्राविषयत्वमिति—वाच्यम्; जीवावृत्तिधर्मानधिकरणत्वोपलक्षितात्मस्वरूपस्य परैरनङ्गीकारात्। तदेवमुक्ते जीवब्रह्माभेदे ''तत्त्वमसि'' ''स वा अयमात्मा ब्रह्म'' इत्यादिश्रुतिर्मानम्।।३।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ ऐक्यस्वरूपोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— सिद्धान्त मतानुसार अभेद में रहने वाला अभेदत्वादि अभेद स्वरूप ही होते हैं। अतः सद्वितीयत्वादि की आपत्ति नहीं होगी और अभेदत्व पारमार्थिकत्व तथा असद् विलक्षणत्वादि— ये तीनों अभेद के स्वरूप भूत होने से अभेदादि के हानि का प्रसङ्ग भी नहीं आयेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार अबाधित आत्म स्वरूप ही आत्मगत अभेद होता है— यह सिद्ध होता है। ऐसे आत्मस्वरूप को द्वैतवादी भी मानते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार का आत्म स्वरूप केवल अद्वैत वेदान्त के द्वारा ही प्रतिपाद्य है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार जीव में न रहने वाले धर्म = सर्वज्ञत्वादि, उसका अनधिकरण (शुद्ध ब्रह्म) उस अनधिकरणत्व से उपलक्षित ब्रह्म स्वरूप को ही अभेद माना जाता है। जबकि पूर्वपक्षी के मतानुसार सर्वज्ञत्वादि का अनधिकरण ब्रह्म को नहीं माना जाता है। अतः पूर्वपक्षी के मत से भिन्न मत सिद्धान्ती का है। इस प्रकार से पूर्वोक्त जीव ब्रह्म का जो अभेद सिद्ध हुआ है। उसमें ''तत्त्वमसि'' (छा०उ० ६—८—७) '' स वा अयमात्मा ब्रह्म'' (बृ०उ० ४—४—५) इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं।।३।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामैक्यरूपोपपत्तिः—

८— जीवब्रह्माभेदे प्रमाणविचारः

ननु—सार्वज्ञ्यासार्वज्ञ्यादिविशिष्टयोरैक्यमयोग्यत्वपराहतम्। कथमुदाहृतश्रुत्या बोध्यमिति—चेन्न; सोऽयमित्यादाविव विरुद्धाकारत्यागेन शुद्धयोरैक्यबोधनात्। ननु— विरुद्धाकारत्यागः किमविवक्षामात्रेण?, उतानित्यत्वेन?, उत मिथ्यात्वेन?, नाद्यः; विरुद्धाकारस्याविवक्षायामप्यनपायात्। न हि 'असद्वा इदमग्र आसीत्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'इत्यादिश्रुत्या सत्त्वशून्यत्वयोश्चित्त्वजड़त्वयोर्वेहाविवक्षामात्रेण ब्रह्मणः शून्येन जडेन च ऐक्यं सुवचम्। न द्वितीयः तत्त्वं भविष्यसीति निर्देशापत्त्या असीति वर्तमाननिर्देशायोगात्, दशाभेदेन भेदाभेदयोः सत्त्वापत्त्या त्वयाप्यनङ्गीकाराच्च, जीवेशयोः स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादेर्नित्यत्वाच्च। न तृतीयः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सार्वज्ञ्यादि धर्मों से विशिष्ट तत् पद वाच्य ब्रह्म है जबकि त्वम् पद वाच्य जीव असार्वज्ञ्यादि (अल्पज्ञत्वादि) धर्मों से विशिष्ट है। जबकि समान धर्म वाले दो विशिष्ट पदार्थों में ऐक्य की योग्यता मानी जाती है। यहाँ पर ऐसा है नहीं। अतः इन दोनों का ऐक्य अयोग्यत्वेन बाधित है। इसलिए इन दोनों का ऐक्य ''तत्त्वमसि'' (छा०उ० ६—८—७) तथा ''स वा अयमात्मा ब्रह्म'' (बृ०उ० ४—४—५) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा बोधित होता है। अर्थात् उक्त श्रुतियां इन दोनों के ऐक्य में प्रमाण हैं— ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भागत्यागलक्षणा के द्वारा जैसे ''सोऽयम्'' इत्यादि स्थल पर विरुद्ध अंश के त्याग पूर्वक शुद्धांश में ऐक्य का बोधन होता है, ठीक उसी प्रकार तत् और त्वम् स्थल पर भी भागत्यागलक्षणा के द्वारा विरुद्धांश के त्याग पूर्वक शुद्धांश में ऐक्य का बोधन हो जायेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती विरुद्ध आकारों का त्याग इसलिए करते हैं कि विरुद्धाकारों की विवक्षा नहीं है? अर्थात् उन विरुद्ध धर्मों के प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य नहीं है— इसलिए सिद्धान्ती उन विरुद्ध धर्मों का त्याग करते हैं? अथवा दोनों विरुद्ध आकार अनित्य हैं, इसलिए सिद्धान्ती उन विरुद्ध धर्मों का त्याग करते हैं? अथवा दोनों विरुद्ध आकार मिथ्या हैं— इसलिए सिद्धान्ती उन विरुद्ध धर्मों का त्याग करते हैं? प्रथम पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है कि विरुद्धाकारों की अविवक्षा होने पर भी उसका उपाय = नाश नहीं हो सकता है। जैसे ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' (तै०उ० २—७—१) इस श्रुति में असत् शब्द का अर्थ = असत्त्व विशिष्ट शून्य और आसीत् शब्द का अर्थ = सत्त्व विशिष्ट ब्रह्म। अतः यहाँ दोनों विरुद्ध धर्म (असत्त्व और सत्त्व) की विवक्षा नहीं है। अतः आप के कथनानुसार इन दोनों विरुद्ध धर्मों का नाश हो जाना चाहिए। ऐसा होने पर शून्य और ब्रह्म के ऐक्य की सिद्धि उक्त श्रुति से मानने की आपत्ति आयेगी। इसी प्रकार ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' (छा०उ०३—१४—१) इस स्थल पर सर्वम् का अर्थ = जड़त्व विशिष्ट जड़ और ब्रह्म शब्द का अर्थ = चेतनत्व विशिष्ट ब्रह्म। यहाँ विरुद्धाकार (जड़त्व और चेतनत्व) की विवक्षा न होने के कारण नाश हो जाने से ब्रह्म और जड़ का अभेद उक्त श्रुति से सिद्ध होने की आपत्ति आयेगी। अनित्य होने के कारण विरुद्धाकार धर्मों का त्याग करते हैं— यह द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''तत्त्वमसि'' ऐसा वर्तमान कालिक निर्देश की उपपत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि जीवगत अल्पज्ञता और ईश्वर गत सर्वज्ञता दोनों मायिक होने से अनित्य हैं। अतः सर्वज्ञता और अल्पज्ञता दोनों भविष्य में जब कभी नष्ट हो जायेंगी तब जीव और ब्रह्म में अभेद होगा। अतः आचार्य को ''तत्त्वमसि'' न कहकर ''तत्त्वं भविष्यसि'' ऐसा शिष्य को कहने की आपत्ति आयेगी। दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञत्व और सर्वज्ञत्व की दशा में जीव ब्रह्म भेद तथा अल्पज्ञत्वाभाव और सर्वज्ञत्वाभाव की दशा में जीव ब्रह्म

निर्दोषश्रुतिसाक्षिसिद्धयोर्विरुद्धधर्मयोर्मिथ्यात्वायोगादिति—चेत्।१।।

न; विरुद्धाकारस्याविवक्षयैव त्यागात्। त्यागश्च ब्रह्मानुभवाविषयत्वम्, न त्वपायः, तस्य चरमसाक्षात्कारसाध्यत्वात्। तथाच तत्तेदन्ते इवानपेते अपि सार्वज्ञ्यासार्वज्ञ्ये नाश्रयाभेदविरोधाय। अविवक्षा च प्रधानप्रमेयनिर्वाहाय। न च—सोऽयमित्यत्र तत्तेदन्तयोर्न त्यागः। क्रमेणैकत्र तयोरविरोधादिति—वाच्यम् अभेदपरे अस्मिन्विशेषणयोरैक्यापत्त्या क्रमेणैकत्र सत्त्वेऽपि तत्त्यागस्यावश्यकत्वात्, असद्वा'इत्यादौ 'सर्व

सत्यानन्दप्रबोधिका

अभेद— इस प्रकार से भेदाभेद मानना पड़ेगा जो कि सिद्धान्ती मानते नहीं हैं। पूर्वपक्षी के मतानुसार ब्रह्म में स्वातन्त्र्यादि और जीव में पारतन्त्र्यादि मायिक न होने से नित्य माने जाते हैं। अतः इनका परित्याग हो ही नहीं सकता है। मिथ्या होने के कारण विरुद्ध आकारों का त्याग होता है— ऐसा तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि निर्दोष श्रुति के द्वारा ईश्वर गत सर्वज्ञत्व सिद्ध है और साक्षी प्रत्यक्ष के द्वारा जीवगत अल्पज्ञत्व सिद्ध है। इसलिए जीव और ईश्वर गत विरुद्ध धर्मों (अल्पज्ञत्व और सर्वज्ञत्व) को मिथ्या नहीं माना जा सकता है। फलतः मिथ्यात्वेन इन विरुद्ध धर्मों का त्याग नहीं हो सकता है— यह पूर्वपक्षी का भाव है।१।।

समाधान— सिद्धान्ती प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हुए कह रहे हैं कि विरुद्ध आकारों का त्याग अविवक्षा के कारण होता है। पूर्वपक्षी ने त्याग का अर्थ अपाय = नाश कर के दोष दिया था। उसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि यहाँ त्याग का अर्थ ब्रह्मानुभव की अविषयता है न कि अपाय। अर्थात् ब्रह्म का जब अनुभव होता है तब विरुद्ध आकार भासते नहीं हैं न कि विरुद्धाकार धर्मों का नाश हो जाता है, क्योंकि विरुद्धाकार धर्मों का नाश तो विदेह कैवल्य के अव्यवहित पूर्व चरम वृत्ति रूप प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा ही होता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये उदाहरण स्थल पर वाक्य जन्य परोक्ष ज्ञान के द्वारा विरुद्ध आकारों का नाश न होने से पूर्वोक्त दोष नहीं लगेगा। अतः जैसे ''सोऽयम्'' इत्यादि स्थल पर यज्ञदत्तादि गत तत्ता और इदन्ता का नाश न होने पर भी वे यज्ञदत्त की एकता के बाधक नहीं होते हैं ठीक उसी प्रकार ''तत्त्वमसि'' इत्यादि स्थल पर सर्वज्ञत्व और असर्वज्ञत्व का नाश न होने पर भी ये आश्रयीभूत चैतन्य के अभेद के विरोधी नहीं होते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि इन विरोधी आकारों की अविवक्षा क्यों की जाती है? इसके समाधान में कह रहे हैं कि महातात्पर्य का विषयीभूत अखण्डैक्य प्रमेय की उपपत्ति के लिए की जाती है।

शङ्का— सिद्धान्ती ने जो कहा कि ''सोऽयं यज्ञदत्तः'' इत्यादि स्थल पर तत्ता और इन्दत्ता का नाश नहीं होता है और वे यज्ञदत्त की एकता के बाधक नहीं होते हैं। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है उक्त स्थल पर विरुद्ध आकारों का नाश इसलिए नहीं होता है, क्योंकि क्रम से एक अधिकरण में उनके रहने से विरोध ही नहीं है। अर्थात् यज्ञदत्त में पहले तत्ता और उसके पश्चात् इदन्ता वैसे ही रह जाता है जैसे पट में श्वेत रूप के पश्चात् रक्त रूप रह जाता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि, सोऽयं यज्ञदत्तः'' इत्यादि स्थल अभेद परक ही होते हैं। ऐसी स्थिति में विरुद्धाकार द्वय का यदि त्याग न करके तत्ता विशिष्ट और इदन्ता विशिष्ट का ऐक्य मानने पर तत्ता और इदन्ता में भी ऐक्य प्रसक्त होगा। अतः तत्ता और इदन्ता रूप क्रमिक धर्मों का एकत्र सत्त्व होने पर भी उनका त्याग करना आवश्यक होता है। ''असद्वा इदमग्र आसीत् (तै०उ०२—७—१) एवम्'' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ''(छा०उ०३—१४—१) इत्यादि स्थल पर शून्य और जड़ के साथ ब्रह्म के अभेद की

खल्विदं ब्रह्म'इत्यादौ च न शून्यजडैक्यापत्तिः, शून्यसतोः चिज्जडयोर्वा विरुद्धकारपरित्यागेन जीवब्रह्मणोरिवानुस्यूत– स्याकारस्याभावाद्, असतो निःस्वरूपत्वाज्जडस्य बाध्यस्वरूपत्वात्।।२।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ जीवब्रह्माभेदे प्रमाणम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

आपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि शून्य और सत् में और चित् तथा जड़ में विरुद्ध आकार (शून्यत्व और सत्त्व तथा चेतनत्व और जड़त्व) का परित्याग कर देने पर अनुस्यूत आकार बचता ही नहीं है, क्योंकि प्रथम जोड़ी जो शून्य और सत् है उनमें से शून्य = असत् निःस्वरूप होता है और द्वितीय जोड़ी जो चित् और जड़ है उनमें से जड़ बाध्य स्वरूप होता है। जबकि दार्ष्टान्त में जीव के असर्वज्ञत्व और ब्रह्म के सर्वज्ञत्व रूप विरुद्धाकार का त्याग होने पर भी अखण्डैक्य रूपता शेष बची रहती है।।२।।''

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां जीवब्रह्माभेदे प्रमाणम्:—

९— ऐक्यश्रुतेरुपजीव्यविरोधविचारः

ननु— ऐक्यश्रुत्या प्रत्यक्षसिद्धं जीवमनूद्य ब्रह्मत्वं वा बोधनीयं, श्रुतिसिद्धं ब्रह्मानूद्य तस्य जीवत्वं वा, उभयानुवादेनाभेदो वा विधेयः, सर्वथाप्युजीव्यविरोधात् नैक्ये प्रामाण्यम्, प्रत्यक्षेण जीवस्य ब्रह्मभिन्नत्वेन श्रुत्या च सर्वज्ञत्वादिमद्ब्रह्मग्राहिण्या तद्धीनत्वेनानुभूयमानाज्जीवाद् भिन्नत्वेन ब्रह्मणो ज्ञायमानत्वात्, न चानुमानने ब्रह्मोपस्थितिः; तेनापि सर्वज्ञत्वादिना ब्रह्मणो विषयीकरणेन उपजीव्यविरोधतादवस्थ्यादिति—चेन्न; शक्तिग्रहादौ तयोरुपजीव्यत्वेऽपि स्वप्रमेयेऽनुपजीव्यत्वात्। तदुक्तम् वाचस्पत्ये—'यद् उपजीव्यं, तन्न बाध्यते,

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— ''तत्त्वमसि'' इत्यादि अभेद बोधक श्रुति के द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध जीव का अनुवाद करके उस जीव में ब्रह्मत्व का विधान किया जाता है? अथवा श्रुति सिद्ध जो ब्रह्म है। उस ब्रह्म का अनुवाद करके उसमें जीवत्व का विधान किया जाता है? अथवा प्रत्यक्ष से जीव का अनुवाद करके और श्रुति से ब्रह्म का अनुवाद करके उन दोनों में अभेद का विधान किया गया है? तीनों ही पक्षों में उपजीव्यभूत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने के कारण अभेद बोधिका ''तत्त्वमसि'' इत्यादि श्रुतियों का ऐक्य में प्रामाण्य सम्भव नहीं है। प्रत्यक्षादि उपजीव्य कैसे है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जीव प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। उस प्रत्यक्ष सिद्ध जीव का अनुवाद कर के ''तत्त्वमसि'' इत्यादि के द्वारा जीवगत ब्रह्मत्वादि का बोधन किया गया है। इसलिए ''तत्त्वमसि'' इत्यादि का उपजीव्य प्रत्यक्ष होगा। इस प्रकार ब्रह्म को बतलाने वाली ''य सर्वज्ञः सर्ववित्'' (मु० उ० १—१—९) यह श्रुति है। इस श्रुति से सिद्ध ब्रह्म का अनुवाद कर के ब्रह्मगत जीवत्वादि का बोधन किया गया है। इसलिए ''तत्त्वमसि'' इत्यादि का उपजीव्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ब्रह्म को बोधन करने वाली श्रुति होगी। उपजीव्य से विरोध कैसे है? इसको स्पष्ट कर रहे हैं कि उपजीव्य भूत जो प्रत्यक्ष है। उस प्रत्यक्ष से जीव का ब्रह्मभिन्नत्वेन ज्ञान हो रहा है। जब ब्रह्मभिन्नत्वेन जीव का ज्ञान हो रहा है तब उपजीवक रूप ऐक्य श्रुति से ब्रह्माभिन्नत्वेन जीव का ज्ञान हो नहीं सकता है, क्योंकि उपजीव्य रूप प्रत्यक्ष से विरोध होगा। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वज्ञत्वादिमत् ब्रह्मबोधक श्रुति (यः सर्वज्ञः सर्ववित्) से सर्वज्ञत्वादि रहितत्वेन अनुभूयमान जीव से भिन्नत्वेन ब्रह्म का बोधन हो रहा है। अर्थात् सर्वज्ञत्वादि से रहित जीव से भिन्नत्वेन सर्वज्ञत्वादि से विशिष्ट ब्रह्म का बोधक श्रुति (यः सर्वज्ञः सर्ववित्) उपजीव्य है। इस उपजीव्य भूत श्रुति से सिद्ध जीवभिन्नत्वेन सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ब्रह्म का अनुवाद कर के उसमें उपजीवक भूत ऐक्य श्रुति से अभेद का बोधन नहीं हो सकता है, क्योंकि उपजीव्य भूत श्रुति (यः सर्वज्ञः सर्ववित्) से विरोध होगा। यदि कहा जाय कि जिस ''तत्त्वमसि'' वाक्य के द्वारा ब्रह्म में जीवाभेद का बोधन किया जाता है उस ब्रह्म की उपस्थिति श्रुति के द्वारा नहीं होती है अपितु अनुमान (जगत् सर्वज्ञब्रह्मकर्तृकम्, विचित्रकार्यत्वात्,) के द्वारा होती है। अतः अनुमान ही ''तत्त्वमसि'' इस अभेद श्रुति का उपजीव्य है न कि ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' यह श्रुति उपजीव्य है। अतः ''तत्त्वमसि'' वाक्य का उक्त श्रुति के साथ विरोध होने पर भी उपजीव्य विरोध नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अनुमान से भी सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ब्रह्म का बोधन होने से उक्त अनुमान रूप उपजीव्य के साथ विरोध होने से अभेद श्रुति का ऐक्य में प्रामाण्य सम्भव नहीं हो पायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''तत्त्वमसि'' इस वाक्य में आये हुए जो तत् और त्वम् पद है। इन दोनों पदों में किस अर्थ के बोधन कराने की शक्ति है। इसका ग्रहण प्रत्यक्ष और सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ब्रह्म बोधक श्रुति के द्वारा ही होता है। अतः शक्ति ग्रह की दृष्टि से प्रत्यक्ष और ब्रह्मबोधक श्रुति

यद्बाध्यते तन्नोपजीव्यम्'इति। यथा, कथंचिदपेक्षामात्रेणोपजीव्यत्वे नेदं रजतमित्यत्रापि इदं रजतमित्यस्योपजीव्यतापत्तेः।।१।।

ननु—यद्धि यदपेक्षं यस्य बाधे स्वस्य बाधापत्तिश्च तत्तस्योपजीव्यम्, प्रकृते च धर्म्यादिग्राहकस्यैव स्वप्रामाण्यग्राहकतया तद्बाधे स्वबाधापत्तिः, निषेध्यार्पणस्थले तु न तथा। नहि ब्रह्मस्वरूपधर्मिज्ञानाप्रमाण्ये ऐक्यज्ञानाप्रामाण्यवत् प्रतिषेध्यज्ञानाप्रामाण्ये प्रतिषेधज्ञानाप्रामाण्यम्, प्रतिषेधशास्त्रविलोपप्रसङ्गादिति—चेत्, सत्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

यद्यपि अभेद बोधक ''तत्त्वमसि'' श्रुति का उपजीव्य है तथापि ''तत्त्वमसि'' इस वाक्य का जो प्रमेय = जीव ब्रह्म ऐक्य। इसके बोधन कराने में अभेद बोधक श्रुति (तत्त्वमसि) प्रत्यक्ष और ब्रह्म बोधक श्रुति की अपेक्षा नहीं रखने के कारण प्रत्यक्ष और ब्रह्मबोधक श्रुति ''तत्त्वमसि'' इत्यादि अभेद बोधक श्रुति का उपजीव्य नहीं है। अतः उपजीव्य विरोध न होने से अभेद श्रुति का ऐक्य में प्रामाण्य सम्भव है। इसको स्पष्ट करते हुए भामतीकार ने कहा है कि —''यदुपजीव्यं तन्न बाध्यते, यद् बाध्यते तन्नोपजीव्यम्।'' (भामती १—१—१) ''तुष्यतु दुर्जनः'' इस न्याय से यथा—कथञ्चित् उपजीव्यत्व होने पर उपजीव्य विरोध मानने पर ''नेदं रजतम्'' इस स्थल पर भी ''इदं रजतम्'' इसके उपजीव्यत्व को लेकर उपजीव्य विरोध की आपत्ति होगी। इसे ''प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वेन प्राबल्यविचारः'' के खण्ड संख्या २ में स्पष्ट किया जा चुका है।। १।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जो पदार्थ (मकान की छत) जिस वस्तु (मकान की दिवाल) की अपेक्षा रखता हो और उस वस्तु (मकान की दिवाल) का बाध हो जाने पर स्व (मकान की छत) के बाध की आपत्ति होती है। वह (मकान की दिवाल) उस (मकान की छत) का उपजीव्य होता है। यह प्रकृत में है। {जैसे—यत् = ''तत्त्वमसि'' से होने वाला अभेद ज्ञान, यद् = ब्रह्मबोधक श्रुति और जीवबोधक प्रत्यक्ष, की अपेक्षा रखता है। यस्य = ब्रह्मबोधक श्रुति और जीव बोधक प्रत्यक्ष, के बाध होने पर स्वस्य = ''तत्त्वमसि'' से होने वाला अभेद ज्ञान के बाध होने की आपत्ति आयेगी। तत् = ब्रह्मबोधक श्रुति और जीव बोधक प्रत्यक्ष तस्य = ''तत्त्वमसि'' से होने वाले अभेद ज्ञान का उपजीव्य है। इसको ही स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि} अभेद का धर्मी = अनुयोगी = ब्रह्म और आदि शब्द से प्रतियोगी = जीव। इनका ग्राहक ब्रह्म बोधक श्रुति और जीव बोधक प्रत्यक्ष, स्व = 'तत्त्वमसि' से होने वाला अभेद ज्ञान, के प्रामाण्य का ग्राहक है। अभेद के अनुयोगी और प्रतियोगी ग्राहक ब्रह्मबोधक श्रुति और जीव बोधक प्रत्यक्ष में यदि प्रामाण्य होगा तब ही अभेद ज्ञान में प्रामाण्य माना जायेगा। अतः ब्रह्मबोधकश्रुति और जीव बोधक प्रत्यक्ष का बाध होने पर स्व = ''तत्त्वमसि'' से होने वाला अभेद ज्ञान, के बाध की आपत्ति होगी। अतः ब्रह्म बोधक श्रुति और जीव बोधक प्रत्यक्ष ''तत्त्वमसि'' से होने वाले अभेद ज्ञान का उपजीव्य होगा। निषेध्य अर्पण स्थल में ऐसा नहीं है। अर्थात् ''इदं रजतम्'' यह ज्ञान ''नेदं रजतम्'' इस ज्ञान का उपजीव्य नहीं होगा, क्योंकि जैसे अभेद के अनुयोगी ब्रह्म और प्रतियोगी जीव के ग्राहक ब्रह्म बोधक श्रुति और जीव बोधक प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य होने पर ऐक्य ज्ञान में अप्रामाण्य होता है वैसे प्रतिषेध्य = रजत् के ज्ञान में अप्रामाण्य आ जाने पर ''नेदं रजतम्'' इस प्रकार के प्रतिषेध ज्ञान में अप्रामाण्य नहीं आता है, क्योंकि भ्रम ज्ञान में अप्रामाण्य मानने से यदि निषेध ज्ञान में भी अप्रामाण्य आ जाय तब तो निषेधशास्त्र का ही लोप हो जायेगा, क्योंकि अप्रामाणिक निषेधशास्त्र की कोई उपयोगिता ही नहीं रहेगी।

समाधान :— उपजीव्य और उपजीवक के विषय में पूर्वपक्षी का उक्त प्रकार का कथन ठीक है किन्तु इससे सिद्धान्त मत में कोई हानि नहीं हैं, क्योंकि अभेद का धर्मी सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ब्रह्म नहीं है किन्तु

सार्वज्ञ्यादिविशिष्टं न तावद्धर्मि, किन्तु ब्रह्मस्वरूपमात्रम्। विशिष्टधर्मिज्ञानप्रामाण्यं ऐक्यज्ञानप्रामाण्ये नापेक्ष्यते, किन्तु स्वरूपज्ञानप्रामाण्यमात्रम्। अन्यथा 'इदं रजतम्' इत्यस्यापि धर्मिज्ञानत्वेन उपजीव्यतया निषेधज्ञानप्रामाण्ये रजतत्वविशिष्टेदंज्ञानप्रामाण्यं स्यात्। रजतत्ववैशिष्ट्यस्य धर्मित्वाप्रयोजकत्ववत् सर्वाज्ञ्यादिवैशिष्ट्यस्यापि तदप्रयोजकत्वस्य प्रकृतेऽपि समानत्वात्।।२।।

ननु– एवमसाधारणसार्वज्ञ्यादिधर्मावच्छेदेन ब्रह्मणोऽनुद्देश्यत्वे साधारणधर्मेण स्वरूपेण वा उद्देश्यता वाच्या, तत्राद्ये इष्टापत्तिः, चित्त्वादिसाधरणधर्मैक्यस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात्, द्वितीये ब्रह्मैक्यासिद्धिः, साधारणस्वरूपमात्रोद्देशादिति–चेन्नः, ब्रह्मैक्यासिद्धिरित्यत्र ब्रह्मशब्देन सार्वज्ञ्यादिविशिष्टं चेदभिमतं तदेष्टापत्तिः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्म स्वरूप मात्र है। { ''न तावद्धर्मि'' के स्थान पर ''तद्धर्मि'' ऐसा पाठान्तर है। जिसका अर्थ है–ऐक्यधर्मी} अर्थात् सर्वज्ञत्वविशिष्ट में अल्पज्ञत्वविशिष्ट के अभेद का बोध ''तत्त्वमसि'' से नहीं होता है, क्योंकि ऐसा अभेद तो असम्भव है। इसलिए तत् पदार्थ का शोधितरूप ही अभेद का धर्मी है। उसका त्वम् पदार्थ के शोधित रूप कूटस्थ के साथ ही अभेद का बोधन ''तत्त्वमसि'' से होता है। अत: सर्वज्ञत्वविशिष्ट ब्रह्म रूप अनुयोगी के ज्ञान का प्रामाण्य ऐक्य ज्ञान के प्रामाण्य में अपेक्षित नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञत्वविशिष्ट धर्मी ही नहीं है किन्तु ब्रह्मस्वरूपज्ञानगतप्रामाण्य अर्थात् शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान और शुद्ध आत्मा का ज्ञान गत प्रामाण्य ही ऐक्य ज्ञानगत प्रामाण्य में अपेक्षित है। अन्यथा = ऐक्य ज्ञानगत प्रामाण्य में विशिष्ट धर्मिज्ञानगत प्रामाण्य अपेक्षित होता है–ऐसा मानने पर, ''नेदं रजतम्'' इस स्थल पर भी ''इदं रजतम्'' के द्वारा बोधित रजतत्व विशिष्ट इदं ज्ञान को धर्मिज्ञानत्वेन उपजीव्य मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर उपजीवक ''नेदं रजतम्'' इस निषेध ज्ञान का प्रामाण्य होने पर धर्मी उपस्थापक रजतत्व विशिष्ट इदं ज्ञान (इदं रजतम्–इस ज्ञान) में भी प्रामाण्य मानने की आपत्ति होगी। अत: जैसे दृष्टान्त स्थल पर रजतत्व विशिष्ट रजत को धर्मी नहीं माना जाता है वैसे ही दार्ष्टान्त स्थल पर भी सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट को भी धर्मी नहीं माना जाता है। अत: सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट को धर्मी मानकर जो दोष पूर्वपक्षी ने दिया था। उसका खण्डन हो गया।।२।।

शङ्का– एवम् = सिद्धान्ती के पूर्वोक्त कथनानुसार, असाधारण सर्वज्ञत्वादि धर्म = ब्रह्म से भिन्न में न रहने वाला सर्वज्ञत्वादि धर्म, उससे विशिष्ट को, अनुद्देश्यत्वे = धर्मी न मानने पर चेतनत्व विशिष्ट ब्रह्म को धर्मी मानना पड़ेगा अथवा केवल चेतन को धर्मी मानना पड़ेगा। इन दोनों विकल्पों में से प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर अर्थ होगा कि चेतनत्वेन जीव और ब्रह्म में अभेद है– ऐसा अर्थ पूर्वपक्षी को भी मान्य है। जैसे दो मनुष्यों में रहने वाले मनुष्यत्व धर्म में अभेद माना जाता है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर चैतन्य मात्र में ही जीव के अभेद की सिद्धि ''तत्त्वमसि'' इत्यादि वाक्य के द्वारा होगी, ब्रह्म में नहीं होगी, क्योंकि साधारण स्वरूप मात्र = जीव और ब्रह्म का जो साधारण स्वरूप मात्र अर्थात् चेतन मात्र को ही उद्देश्य बनाया गया है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि द्वितीय पक्ष में जो पूर्वपक्षी ने कहा कि ब्रह्म के साथ जीव के अभेद की सिद्धि नहीं होगी अपितु स्वरूप मात्र = चेतन मात्र में अभेद की सिद्धि होगी। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि यहाँ ब्रह्म शब्द से यदि सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ब्रह्म लेते हैं तब तो हम भी मानते हैं कि ऐसे विशिष्ट ब्रह्म के साथ जीव के अभेद की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि तत् पद और त्वम् पद के द्वारा लक्षित शुद्ध चैतन्य रूप पदार्थों में ही अभेद माना जाता है। इसका प्रतिपादन पीछे किया जा चुका है। कहने का भाव यह है कि ब्रह्म शब्द से सर्वज्ञत्व विशिष्ट ब्रह्म लेंगे तब तो अभेद की सिद्धि नहीं होगी किन्तु ब्रह्म शब्द से शुद्ध चेतन= जीव ब्रह्म का उभय साधारण शुद्ध चैतन्य स्वरूप मात्र लेंगे तब अवश्य ही अभेद

तदा त्वमा च लक्षितयोरेव पदार्थयोरैक्यबोधस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात्। अत एव—शब्देन असाधारणब्रह्मस्वरूपोद्देशस्यासाधारणधर्मेण विनाऽसिद्धेरुपजीव्यविरोधतादवस्थ्यमिति— निरस्तम्; असाधारणधर्मस्य उद्देश्यसमर्पणे उपलक्षकत्वात्।।३।।

नच उपलक्ष्यतावच्छेदकाभावे उपलक्ष्यत्वासिद्धि:, चित्त्वस्य तत्त्वे सिद्धसाधनादिति—वाच्यम्; स्वरूपोपलक्षणे (स्वरूपलक्षणे) उपलक्ष्यतावच्छेदकस्यानपेक्षणात्। यत्तु चित्त्वेनैक्ये सिद्धसाधनम्, तन्न; चित्त्वैक्यस्येष्टत्वेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

की सिद्धि होती है— इसे पीछे कहा जा चुका है। अत एव = लक्षित शुद्ध पदार्थों में ऐक्य बोधन होने से पूर्वपक्षी का यह कथन भी निरस्त हो गया कि ''तत्त्वमसि'' वाक्य के द्वारा जीव से भिन्न जो ब्रह्म का स्वरूप जो कि अभेद का धर्मी है। उसका ज्ञान ब्रह्म में रहने वाले सर्वज्ञत्वादि असाधारण धर्म के ज्ञान के विना नहीं हो सकता है और उस सर्वज्ञत्वादि धर्म का ज्ञान श्रुति से ही हो पायेगा। अत: उस असाधारण धर्म से विशिष्ट ब्रह्म का बोधक श्रुति अभेद ज्ञान का उपजीव्य होने के कारण अभेद ज्ञान का उपजीव्य के साथ विरोध होगा— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन इसलिए निरस्त हो गया कि सिद्धान्त मत में असाधारण धर्म (सर्वज्ञत्वादि) से विशिष्ट ब्रह्म के स्वरूप को धर्मी नहीं मानते हैं अपितु असाधारण धर्म से उपलक्षित शुद्ध ब्रह्म के स्वरूप को ही अभेद का धर्मी मानते हैं। फलत: विशिष्ट ब्रह्म के धर्मी न होने से उपजीव्य विरोध नहीं होगा।।३।।

शङ्का— ब्रह्म तभी उपलक्ष्य होगा जब ब्रह्म में कोई उपलक्ष्यतावच्छेदक रहता हो। अत: उस अवच्छेदक को सिद्धान्ती को बतलाना होगा। सिद्धान्ती यदि उपलक्ष्यतावच्छेदक चेतनत्व मानते हैं तब तो सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि जीव और ब्रह्म में रहने वाले चेतनत्व धर्म में हम भी अभेद मानते हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वरूप के उपलक्ष्य होने पर उपलक्ष्यतावच्छेदक की आवश्यकता नहीं होती है। इसे ''प्रत्यक्षस्य भाविबाधविचार:'' के खण्ड संख्या ४ में स्पष्ट किया जा चुका है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि चेतनत्वेन ब्रह्म और जीव का ऐक्य द्वैतवादी को भी मान्य होने से सिद्धसाधन दोष होगा। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि चेतनत्व धर्म के ऐक्य में इष्टत्व होने पर भी चेतनत्व के आश्रयीभूत जीव और ब्रह्म के ऐक्य में पूर्वपक्षी इष्टापत्ति नहीं दे सकता है। यदि चेतनत्व के आश्रयीभूत जीव और ब्रह्म के ऐक्य में पूर्वपक्षी इष्टापत्ति देता है तब तो पूर्वपक्षी हमारे सिद्धान्त को स्वीकार लेगा। ऐसा होने पर पूर्वपक्षी से हमारा कोई मत भेद ही नहीं रहेगा। अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। अत एव = चित्त्वाश्रयैक्यस्य तवानिष्टत्वादेव। पूर्वपक्षी का कथन है ''अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थो हि विधियते'' (जै०सू० ४—१—३६) इस सूत्र में कहा गया है कि 'पुरोड़ाशकपालेन तुषान्— उपवपति'' यहाँ पर पुरोड़ाश श्रपण (पकाने) के लिए रखे हुए कपाल में तुषोपवाप (धान की भूसी भरना) किया जाता है। यहाँ पर संशय होता है कि कपाल में भूसी भरते समय पुरोड़ाश का श्रपण (पाक) नहीं होता है अपितु भविष्य में पुरोड़ाश श्रपण होता है। अत: तुषोपवाप (धान की भूसी भरते) समय कपाल को पुरोड़ाश कपाल कैसे कहा गया? इसके समाधान में कहा गया कि ''पुरोड़ाशकपाल'' पद से पुरोड़ाश उपलक्षित केवल कपाल स्वरूप का बोध होता है। केवल कपाल स्वरूप में पुरोड़ाशकपाल पद की लक्षणा कर लेने पर श्रुति से भिन्न प्रमाण से अप्राप्त तुषोपवाप रूप कार्य का विधान रूप इष्ट की सिद्धि हो जाती है किन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है, क्योंकि ''तत्त्वमसि'' इस स्थल पर तत् पद की चेतनस्वरूप मात्र में लक्षणा कर लेने पर भी चेतनत्व गत एकत्व श्रुति से भिन्न से प्राप्त है। अर्थात् जो चेतनत्व ब्रह्म में है वही चेतनत्व जीव में है— यह प्राप्त है। अत: अप्राप्त न होने से अर्थात् अपूर्वता न होने से इसका विधान नहीं माना

तदाश्रयैक्यस्य तवानिष्टत्वाद्, इष्टौ चाविवादात्। अत एव— 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवति'इत्यत्राधिष्ठानलक्षणायां अन्यतोऽप्राप्ततुषोपवापविधानरूपेष्टसिद्धिवदत्र न लक्षणयाभीष्टसिद्धिः, येन लक्षणा स्यादिति—निरस्तम्; चित्त्वैक्यस्य प्राप्तत्वेऽपि आश्रयैक्यस्याप्राप्तस्य लक्षणाप्रापणीयस्य सत्त्वात्, सोऽयमित्यत्रापि उक्तप्रकारस्यावश्यवाच्यत्वात्। न च— तत्ताविशिष्टस्य तत्रोद्देश्यता यद्वत्तया ज्ञात एव यदन्वयधीः तत्त्वस्य विशेषणत्वस्य तत्तादौ सम्भवादिति—वाच्यम्; दत्तोत्तरत्वात्।।४।।

ननु—एवं परमाणुः सावयवः, ईश्वरो न सर्वज्ञः, 'आदित्यो यूपः' इत्यादावुपजीव्यविराधो न स्यात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

जा सकता है। फलतः लक्षणा का आश्रय करने पर भी जीव और ब्रह्म में ऐक्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः लक्षणा करना भी व्यर्थ है। पूर्वपक्षी का ऐसा कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि चेतनत्व का ऐक्य श्रुति से भिन्न प्रमाण से प्राप्त होने पर भी चेतनत्व के आश्रयीभूत जीव और ब्रह्म का ऐक्य श्रुति से भिन्न प्रमाण से प्राप्त नहीं है। अतः अपूर्वता होने से लक्षणा पूर्वक ऐक्य का विधान मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। जैसे ''सोऽयम्'' इस स्थल पर तत्ता विशिष्ट और इदन्ता विशिष्ट में चेतनत्व धर्म में ऐक्य प्राप्त होने पर भी उनके आश्रयों में ऐक्य प्राप्त न होने से लक्षणा पूर्वक ऐक्य का विधान मानना सार्थक माना जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''सोऽयम्'' इत्यादि स्थल पर तत्ताविशिष्ट देवदत्त ही (न कि शुद्ध देवदत्त) अयम् के अभेद का उद्देश्य (धर्मी) है। तत्ताविशिष्ट देवदत्त रूप धर्मी (उद्देश्य) में तत्ता विशेषण है, क्योंकि तत्ता में विशेषण का लक्षण समन्वय हो रहा है। जैसे—तत्ता विशिष्ट देवदत्त का ज्ञान जिसको पहले हुआ है, उसी को ही तत्ताविशिष्ट के साथ इदन्ता विशिष्ट के अभेद का बोध होता है। अतः तत्ता धर्म को उद्देश्य का विशेषण मानना चाहिए। इस प्रकार तत्ताविशिष्ट धर्मी (उद्देश्य) होगा और उपलक्ष्यतावच्छेदक तत्ता होगा। फलितार्थ यह हुआ कि दृष्टान्त स्थल ''सोऽयं देवदत्तः'' स्थल पर उपलक्ष्यतावच्छेदक तत्ता के मानने पर उपलक्ष्य (उद्देश्य) की सिद्धि हो पा रही है। ऐसे ही प्रकृत में चित्त्व को उपलक्ष्यतावच्छेदक न मानने पर उद्देश्य (धर्मी) की सिद्धि नहीं हो पायेगी और चित्त्व को उपलक्ष्यतावच्छेदक मानने पर जीव और ब्रह्म में रहने वाले चित्त्व धर्म में हम भी अभेद मानते हैं। अतः सिद्धसाधन दोष बना रहेगा—यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— इसका समाधान दिया जा चुका है कि जहाँ उपलक्ष्य = विशिष्ट पदार्थ होता है वहाँ उपलक्ष्य में उपलक्ष्यतावच्छेदक रहेगा किन्तु स्वरूप जहाँ उपलक्ष्य है। वहाँ उपलक्ष्यतावच्छेदक नहीं होता है। दूसरी बात यह भी है कि विशेषण का उक्त लक्षण मानने पर स्वरूप लक्षण स्थल पर जहाँ कि उपलक्ष्यतावच्छेदक (विशेषण) की कोई अपेक्षा नहीं रहती है। वहाँ भी विशेषण (उपलक्ष्यतावच्छेदक) मानने की आपत्ति आयेगी।।४।।

शङ्का—एवम्— ब्रह्म स्वरूप मात्र को जीवाभेद बोधन में उद्देश्य (धर्मी) मान कर उपजीव्य विरोध का परिहार करने पर, ''परमाणुः सावयवः, द्रव्यत्वात्, घटवत्।'' इस अनुमान का उपजीव्य = पक्षीभूत परमाणु का ग्राहक प्रमाण। उस उपजीव्य प्रमाण के द्वारा निरवयवत्व विशिष्ट परमाणु का बोधन होने के कारण उस उपजीव्य प्रमाण के द्वारा इस अनुमान (निरवयवत्वविशिष्ट परमाणु में सावयवत्व सिद्ध करने वाला अनुमान) का विरोध होने से यह अनुमान बाधित हो जाने से दुष्ट सिद्ध हो जाता है किन्तु सिद्धान्ती के कथनानुसार यहाँ उपजीव्य विरोध नहीं हो पायेगा, क्योंकि ''परमाणुः सावयवः द्रव्यत्वात्'' यहाँ निरवयवत्व विशिष्ट परमाणु को सावयवत्व का उद्देश्य (धर्मी) न मानकर के स्वरूपेण परमाणु को सावयवत्व का धर्मी मानकर उपजीव्य विरोध हटाया जा सकता है। इसी प्रकार ''ईश्वरो न सर्वज्ञः, चेतनत्वात्, जीववत्।'' इस अनुमान का उपजीव्य = पक्षीभूत ईश्वर का उपस्थापक ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' (मु०उ० १—१—९) इत्यादि

उत्पन्नशिष्टगुणविधौ सगुणोत्पत्तिवाक्यविरोधश्च न स्यात्, तत्रापि परमाणुत्वादिविशिष्टं न धर्मि किन्तु स्वरूपमात्रमिति सुवचत्वादिति–चेत्।।५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्वज्ञतादियुक्त ईश्वर बोधक श्रुति प्रमाण। इस उपजीव्य श्रुति प्रमाण से विरोध होने के कारण इस अनुमान का बाध हो जाता है किन्तु सिद्धान्ती के अनुसार उक्त श्रुति प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञतादि से विशिष्ट ईश्वर का बोध न मानकर सर्वज्ञतादि से उपलक्षित ईश्वर स्वरूप मात्र का बोधन माना जायेगा। ऐसा होने से उपजीव्य विरोध का निवारण हो जायेगा। इसी प्रकार ''आदित्यो यूपः ''यहाँ पर उपजीव्य = यूप (यज्ञस्तम्भ) को बतलाने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण, क्योंकि प्रत्यक्ष से आदित्य भिन्नत्वेन यूप का बोधन होता है। अतः श्रुति के द्वारा आदित्य भिन्न यूप में आदित्य का अभेद बोधन कराने पर उपजीव्य = प्रत्यक्षप्रमाण से विरोध होता है किन्तु सिद्धान्ती के अनुसार यहाँ पर उपजीव्य विरोध नहीं हो पायेगा, क्योंकि श्रुति के द्वारा यूप स्वरूप मात्र में (न कि आदित्यभिन्न यूप में) आदित्य का अभेद कहा गया है–ऐसा अर्थ मानकर उपजीव्य विरोध हटाया जा सकता है। इसी प्रकार उत्पन्नशिष्ट वाक्यों के द्वारा कथित जो गुण विधि है। उस गुणविधि में सगुण कर्मोत्पत्ति वाक्य = उत्पत्ति शिष्ट गुण बोधक वाक्यों का विरोध नहीं हो पायेगा। अर्थात् पूर्वमीमांसा के १–४–१४ में कहा गया है कि द्रव्य देवता आदि गुण दो प्रकार के होते हैं। एक उत्पत्ति शिष्ट और दूसरा उत्पन्न शिष्ट। कर्मस्वरूप बोधक उत्पत्ति वाक्य के द्वारा जो गुण शिष्ट (उपदिष्ट) हैं। उस गुण को उत्पत्ति शिष्ट कहा जायेगा और जो उत्पत्ति वाक्य से भिन्न वाक्य के द्वारा उपदिष्ट (शिष्ट) हैं। वह उत्पन्न शिष्ट कहा जायेगा। इन दोनों में से उत्पत्ति शिष्ट को प्रबल माना जाता है। अर्थात् यदि दोनों में विरोध हो तो उत्पत्ति शिष्ट बोधक वाक्य के द्वारा उत्पन्न शिष्ट का बाध हो जायेगा, क्योंकि उत्पत्ति शिष्ट वाक्य उत्पन्न शिष्ट का उपजीव्य है। अर्थात् उत्पत्तिशिष्ट वाक्य स्वतन्त्र होकर गुण का विधान करता है और अन्य का आश्रय कर के उत्पन्न शिष्ट वाक्य गुण का विधान करता है। अतः उत्पत्ति शिष्ट वाक्य उपजीव्य और उत्पन्न शिष्ट वाक्य उपजीवक होता है। जैसे ''वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्।'' यहां ''वैश्वदेव्यामिक्षा'' यह वाक्य उत्पत्ति शिष्ट गुण विधि है और ''वाजिभ्यो वाजिनम्'' यह उत्पन्न शिष्ट गुण विधि है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि वाजिन द्रव्य क्या वैश्वदेवरूपदेवता का अङ्ग है? अथवा वाजिसंज्ञक देवता का अङ्ग है? यहाँ पर पूर्वपक्षी का कथन है कि वाजम् = अन्नम् = आमिक्षा, तद् (वाजम्) येषामस्ति–इस व्युत्पत्ति के अनुसार वाजी शब्द का अर्थ वैश्वदेवरूपदेवता हो जाने से ''वाजिभ्यो वाजिनम्'' इस उत्पन्नशिष्ट गुण विधि वाक्य से वाजिन् = वैश्वदेवरूप देवता का अङ्ग है– ऐसा बोध होता है। इस पर सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि उपजीव्य = वैश्वदेव्यामिक्षा (वैश्वदेवरूप देवता का अङ्गभूत आमिक्षा) इस वाक्य से जब वैश्वदेव का अङ्ग भूत आमिक्षा कहा गया है तब उस आमिक्षा रूप द्रव्य के द्वारा उपजीवक वाक्य (वाजिभ्यो वाजिनम्) से प्राप्त वाजिन द्रव्य का बाध हो जायेगा। अर्थात् ''वाजिभ्यो वाजिनम्'' इस उपजीवक वाक्य से वाजिन द्रव्य को वैश्वदेव का अङ्ग मानने पर उपजीव्य = ''वैश्वदेव्यामिक्षा'' के साथ विरोध हो जायेगा, क्योंकि उपजीव्य वाक्य के द्वारा आमिक्षा को वैश्वदेव का अङ्ग कहा गया है। प्रकृत में पूर्वपक्षी का इस पर कहना है कि उत्पत्ति वाक्य = ''वैश्वदेव्यामिक्षा'' में स्थित आमिक्षा पद का अर्थ सिद्धान्ती के मतानुसार द्रव्य स्वरूप = द्रव्यसामान्य परक लेंगे। अतः वह द्रव्य विशेष परक वाजिन पद का बाध नहीं कर पायेगा। इस प्रकार उपजीव्य विरोध यहाँ भी हटाया जा सकता है। इस प्रकार पूर्वोक्त स्थलों पर विशिष्ट धर्मी न मानकर स्वरूप मात्र धर्मी को कहकर सुगमतापूर्वक विरोध का परिहार हो जायेगा।।५।।

न; परमाण्वादेः स्वरूपेणापि सावयवत्वादिकं प्रति धर्मित्वे परमाणुत्वादिकं धर्मिसमानसत्ताकं परमाण्वादौ न स्यात्, तदीयासमसत्ताकत्व(कल्पन)स्य तत्सावयवत्वबोधकप्राबल्याधीनत्वात्, तत्प्राबल्येऽनुमानाभावात्, प्रत्युत भ्रान्तवाक्यत्वेन दुर्बलत्वात्। आदित्यो यूप इत्यत्राभेदो न प्रमेयः; स्तुतिद्वारान्यशेषत्वात्, स्तुतेश्च प्रत्यक्षाविरुद्धैर्गुणैरपि सम्भवे प्रत्यक्षविरुद्धार्थकल्पनायोगाद्।।६।।

उत्पन्नशिष्टगुणविधौ तूत्पत्तिवाक्यस्थितामिक्षादिपदस्य द्रव्यसामान्यपरत्वे तत्पदवैयर्थ्यापत्तिः, (तद्धितार्थस्येति)

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणु आदि को स्वरूप से सावयवत्वादि के प्रति धर्मी मानने पर परमाणु आदि में परमाणुत्वादि धर्मिसमान सत्ताक सिद्ध नहीं हो पायेंगे। {कहने का भाव यह है कि परमाणु को स्वरूपेण सावयवत्व के प्रति धर्मी (पक्ष) मानने पर परमाणु (धर्मी) का समान सत्ताक परमाणुत्व परमाणु में सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि भले ही काल्पनिक परमाणुत्व विशिष्ट परमाणु में सावयवत्व रहे किन्तु वास्तविक परमाणुत्व विशिष्ट परमाणु में सावयवत्व नहीं रह सकता है क्योंकि उपजीव्य विरोध होगा। अर्थात् जिस प्रमाण से धर्मिसमानसत्ताक परमाणुत्व परमाणु में सिद्ध होगा। वह प्रमाण उपजीव्य होगा। इस उपजीव्य प्रमाण के विरुद्ध जब परमाणु स्वरूप में सावयवत्व सिद्ध करने के लिए अनुमान आयेगा। तब उपजीव्य विरोध होने के कारण इस अनुमान का बाध हो जायेगा।} यदि पूर्वपक्षी कहता है कि परमाणुत्व को परमाणु रूप धर्मी के असमान सत्ताक मानेंगे। अर्थात् काल्पनिक परमाणुत्व वाले परमाणु में सावयवत्व को सिद्ध करेंगे। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि परमाणुत्व को धर्मी का असमानसत्ताक (काल्पनिक) तभी मान सकते हो, यदि उक्त अनुमान (परमाणुः सावयवः) से पहले परमाणु गत सावयवत्व का बोध किसी प्रबल प्रमाण के द्वारा सिद्ध हो जाय। यह प्रबल प्रमाण उपजीव्य होगा। परमाणुगत सावयवत्व का बोधक यदि कोई उपजीव्य रूप प्रबल प्रमाण इस अनुमान से पहले ही विद्यमान है तब तो इस अनुमान को करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायेगा, क्योंकि सावयवत्व तो प्रबल प्रमाण से सिद्ध हो चुका है। अतः सिद्धसाधनदोष होगा। सिद्धसाधनदोष के रहने पर भी अनुमान (परमाणुः सावयवः) करोगे तब तो यह अनुमान न होकर भ्रान्त वाक्य हो जायेगा। भ्रान्त वाक्य होने से उस उपजीव्य रूप प्रबल प्रमाण से यह दुर्बल हो जायेगा। अतः यहाँ उपजीव्य विरोध होगा। ''आदित्यो यूपः'' इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा आदित्य और यूप के अभेद के बोधन में श्रुति का तात्पर्य नहीं है किन्तु यह अर्थवाद वाक्य पशुयाग की स्तुति के माध्यम से पशुयाग का अङ्ग बनता है। आदित्य में रहने वाला तेजस्वित्वादि गुण यूप में भी होते हैं, क्योंकि यूप में भी पालिस आदि लगा देने से चमक आ ही जाती है। अतः यूप गत तेजस्वित्व का श्रुति के उपजीव्य रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध नहीं कहा जा सकता है। अतः प्रत्यक्ष अविरुद्ध तेजस्वित्वादि गुणों के द्वारा ''आदित्यो यूपः'' इस प्रकार से यूप की स्तुति की ही जा सकती है। अतः इस प्रकार से जब समाधान सम्भव है तब आदित्य और यूप में प्रत्यक्ष से दिखाई देने वाला जो भेद है। उसके विरुद्ध अर्थ = अभेद की कल्पना करना अनुचित है।।६।।

पीछे जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि सिद्धान्ती के अनुसार उत्पत्ति वाक्य में स्थित आमिक्षा पद से द्रव्य सामान्य लेने पर (आमिक्षा रूप विशेष द्रव्य न लेने पर) उपजीव्य विरोध नहीं आयेगा— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि उत्पन्नशिष्ट गुणों के विधान में उत्पत्ति वाक्यस्थ आमिक्षा शब्द से द्रव्य सामान्य को लेने पर आमिक्षा पद देना व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि ''विश्वेदेवा देवता अस्या'' इस तद्धितार्थ व्युत्पत्ति का पोषक ''सा अस्य देवता'' (अ०सू० ४—२—२४) इस सूत्रगत ''अस्य'' इस सर्वनाम पद के द्वारा और

तद्धितार्थान्तर्गतस्यास्येति सर्वनाम्ना यजतिचोदनाद्रव्यदेवताक्रियामिति, न्यायेन यागचोदनमात्रेण च द्रव्यसामान्यलाभात् प्रकृते अनन्यशेषतया प्रबलत्वात् प्रमाणवाक्यत्वाच्च तद्विरोध्यैक्यप्रतिपादकतया स्वरूपलक्षणाया युक्ततमत्वाच्च। ननु— रूप्यरूपनिषेध्यार्पकस्यापेक्षितस्यापि परीक्षितत्वाभावाद् यद्यपि दुर्बलत्वम्, उपजीव्यत्वमात्रस्य प्राबल्याप्रयोजकत्वात्; तथापीह निषेध्यार्पकभेदश्रुतिः साक्षिप्रत्यक्षं च निर्दोषत्वात् परीक्षितमपि प्रबलं तद्विरोधात् कथमैक्यपरत्वमिति—चेत्।।७।।

न; निर्दोषाया अपि श्रुतेः भेदपरत्वस्यैवाभावेन तद्विरोधस्यैक्यश्रुतावसम्भावितत्वात्। नहि श्रुतेरुपक्रमादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गशून्यार्थपरत्वम्; तन्नियामकाभावाद्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, साक्षिणोऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

''यजतिचोदनाद्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्'' (जै०सू०४—२—२७) (याग शब्द का अर्थ है— द्रव्य देवता और क्रिया— इन तीनों का समुदाय, क्योंकि याग शब्द उक्त समुदायार्थक होता है।) अर्थात् याग का अर्थ ही होता है कि किसी देवता के उद्देश्य से किसी द्रव्य का त्याग करना। अतः विश्वेदेव देवता उद्देश्यक याग में भी द्रव्य सामान्य के त्याग की प्रतीति तो याग से ही हो जाती है। अतः आमिक्षा पद व्यर्थ हो जायेगा। फलतः आमिक्षा पद आमिक्षा रूप द्रव्य विशेष का ही वाचक मानना होगा। ऐसा होने पर उपजीव्य विरोध होगा। प्रकृत में ''तत्त्वमसि'' इत्यादि अभेद बोधक श्रुति किसी अन्य का शेष नहीं होने से प्रबल है और ऐक्य बोधक श्रुति वाक्य प्रमाण वाक्य है। अतः ब्रह्म प्रतियोगिक जीव अनुयोगिक भेद अवगाहि प्रत्यक्ष का विरोधी जो अभेद तादृश अभेद के प्रतिपादन के लिए तत् और त्वम् के शुद्ध स्वरूप में लक्षणा करना युक्ति युक्त ही है।

शङ्का— सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या २ में जो कहा था— अन्यथा ''इदं रजतम्'' इत्यस्यापि धर्मिज्ञानत्वेन उपजीव्यतया .... इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि रजत रूप जो निषेध्य उसका समर्पक जो ''इदं रजतम्'' यह ज्ञान ''नेदं रजतम्'' इस निषेध के प्रति अपेक्षित (उपजीव्य) होने पर भी परीक्षितत्व के अभाव के कारण यद्यपि दुर्बल है, क्योंकि उपजीव्यत्व मात्र को प्राबल्य का हेतु नहीं माना जाता है। {अर्थात् जो परीक्षित हो और उपजीव्य हो वह ही उपजीवक की अपेक्षा से प्रबल माना जाता है। केवल उपजीव्य होने से कोई उपजीवक की अपेक्षा से प्रबल नहीं माना जाता है।} तथापि अभेद बोधक श्रुति स्थल में भेद रूप निषेध्यार्थ की अर्पक भेद श्रुति (द्वा सुपर्णा) (मु०उ० ३—१—१) और साक्षि प्रत्यक्ष (अहं न सर्वज्ञः) निर्दोष होने से परीक्षित हैं। अर्थात् उपजीव्य होने के साथ—साथ परीक्षित भी हैं। तद्विरोधात् = उपजीव्य और परीक्षित जो भेद श्रुति और साक्षि प्रत्यक्ष इन दोनों से विरोध होने के कारण अभेद बोधक ''तत्त्वमसि'' इत्यादि श्रुति अभेद का बोधन नहीं करा सकती है।।७।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भेद श्रुति के निर्दोष होने पर भी भेद श्रुति का तात्पर्य भेद को बदलाने में नहीं है। {अपितु अभेद श्रुति के निषेध्य भेद को बतलाने में है। इस प्रकार भेद श्रुति अभेद श्रुति का शेष सिद्ध होती है। जो अन्य का शेष होता है वह दुर्बल होता है। और जो अनन्य शेष होता है वह बलवान होता है} अतः भेद श्रुति का विरोध अभेद श्रुति में सम्भव ही नहीं है। {इस पर प्रश्न होता है कि भेद श्रुति का तात्पर्य भेद को बतलाने में क्यों नहीं है — इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि} किस श्रुति का किस अर्थ में तात्पर्य है— इसका निर्णायक उपक्रमादि रूप षड् विध जो तात्पर्य लिङ्ग ऐसे तात्पर्य लिङ्ग से शून्य जो कोई अर्थ हो उसमें श्रुति का तात्पर्य नहीं माना जाता है, क्योंकि उपक्रमादि षड्विध तात्पर्य लिङ्ग से शून्य अर्थ को मानने में कोई नियामक नहीं है। अन्यथा = श्रुति को

निर्दोषत्वमात्रेण परीक्षितत्वाभावात्, दुःखाभावादावारोपितसुखादेरपि प्रामाणिकत्वापत्तेः, मन्मते प्रातिभासिकमात्रस्य साक्षिसिद्धस्य मिथ्यात्वात्, साक्षिणोऽपि दोषजवृत्त्युपरक्तत्वेनाबाध्यत्वासिद्धेरुक्तत्वाच्च। प्रमाणतदाभावव्यवस्थापि प्रातिभासिकव्यावहारिकयोः करणसंसर्गिदोषप्रयुक्तत्वाप्रयुक्तत्वाभ्याम्, व्यावहारिकस्य चैतन्यमात्रस्थाज्ञानदोष–प्रयुक्तत्वाद्, तस्मादुपजीव्यविरोधाभावात् प्रत्युताभेदश्रुतेरेव सर्वशेषितया भेदश्रुतिं प्रत्युपजीव्यत्वाद् भेदश्रुतेरेव तद्विरोधेन तदनुकूलतया नेयत्वात् सर्वविरोधशून्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यं, तथा चैक्यपरमिति सिद्धम्।।८।।

।। इत्यैक्यश्रुतेरुपजीव्यविरोधाभावः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

षड्विध तात्पर्य लिङ्ग रहित अर्थ परक मानने पर, श्रुति वाक्यों को शून्यवाद परक भी मानने की आपत्ति होगी। पूर्वपक्षी मतानुसार साक्षी के निर्दोष होने पर भी साक्षिज्ञान में परीक्षितत्व नहीं माना जा सकता है। अन्यथा = साक्षिज्ञान में परीक्षितत्व मानने पर, दुःखाभावादि में आरोपित जो सुखादि तादृश सुखादि भी साक्षिप्रत्यक्ष होने से प्रामाणिक हो जायेंगे। फलतः यह सिद्ध हुआ कि पूर्वपक्षी के मतानुसार भी साक्षिप्रत्यक्ष परीक्षित न होने से दुर्बल है। अतः वह अभेद बोधक श्रुति का बाध नहीं कर पायेगा। सिद्धान्त मत में साक्षिसिद्ध प्रातिभासिक मात्र को मिथ्या माना जाता है और साक्षी भी निर्दोष नहीं माना जाता है अपितु दोषजवृत्ति = अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को साक्षी कहा जाता है। इसका निरूपण ''प्रत्यक्षस्य भाविबाधविचारः'' के खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है। अविद्यावृत्ति अविद्या रूप दोष से जन्य होने के कारण अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य = साक्षिज्ञान भी बाधित ही माना जाता है। फलतः पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों ही मतों में साक्षिप्रत्यक्ष में परीक्षितत्व नहीं है। अतः परीक्षितत्वाभाव के कारण साक्षिप्रत्यक्ष दुर्बल होने से अभेद परक श्रुति को बाध नहीं कर सकता है। इस पर प्रश्न होता है कि साक्षी सिद्ध व्यावहारिक भेद को सिद्धान्ती के उक्त कथनानुसार बाध्य मानने पर व्यावहारिक और प्रातिभासिक दोनों के बाध्य होने के कारण व्यावहारिक ज्ञान = प्रमाण और प्रातिभासिक ज्ञान = प्रमाणाभास। यह व्यवस्था कैसे बनेगी? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रातिभासिक ज्ञान करण सम्बन्धित काच कामल आदि आगन्तुक (सादि) दोष से प्रयुक्त होने से प्रमाणाभास माना जाता है और व्यावहारिक ज्ञान करण सम्बन्धित आगन्तुक दोष से प्रयुक्त न होने से प्रमाण माना जाता है। इस पर प्रश्न होगा कि व्यावहारिक ज्ञान यदि दोष प्रयुक्त नहीं है तब उसका बाध नहीं होना चाहिए? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि व्यावहारिक ज्ञान करण सम्बन्धित आगन्तुक दोष से जन्य न होने पर भी चैतन्य के आश्रित अनादि अविद्या रूप दोष से जन्य होने के कारण व्यावहारिक ज्ञान का भी तत्त्वज्ञान से बाध हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रातिभासिक ज्ञान जैसे दोष युक्त होने से परीक्षित नहीं होता है और परीक्षित नहीं होने से दुर्बल होता है वैसे ही व्यावहारिक ज्ञान भी अविद्या दोष से युक्त होने से परीक्षित नहीं होता है और परीक्षित नहीं होने से दुर्बल होता है। परीक्षित उपजीव्य न होने से अभेद बोधक श्रुतियों में उपजीव्य विरोध नहीं होगा अपितु अभेद श्रुति ही भेद बोधक श्रुतियों का शेषी (उपजीव्य) है, क्योंकि अभेद श्रुति प्रतिपाद्यार्थ के लिए अपेक्षित अर्थ का ही प्रतिपादन भेद श्रुति करती है। इसलिए भेद श्रुति = शेष = उपजीवक है। अतः भेद श्रुति का ही अभेद श्रुति के साथ विरोध होने पर अभेद श्रुति के अनुकूल अर्थ करना पड़ता है। फलतः उपजीव्यादि सभी विरोधो से रहित ''तत्त्वमसि'' इत्यादि अभेद बोधक वाक्य अभेद परक हैं– यह सिद्ध हो गया।।८।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामैक्यश्रुतेरुपजीव्यविरोधाभावः—

ok

१०— तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थविचारः

ननु—एवं पदद्वयेऽपि लक्षणा स्यात्, तथाच मन्मतमाश्रित्य एकपदलक्षणैवाश्रयणीया। तथाहि—'द्वा सुपर्णा सयुजा'इत्यादौ जीवस्य ब्रह्मसाहचर्योक्तेस्तत्साहचर्यात्तदिति व्यपदेशः, 'वसन्तादिभ्यष्ठक्'इत्यत्र वसन्तसहचरिते अध्ययने वसन्तपदप्रयोगस्य महाभाष्ये उक्तत्वात्। 'सन्मूलाः प्रजाः सदायतना'इत्यादिवाक्यशेषात् प्रसिद्धतदाश्रितत्वाद्वा तदिति व्यपदेशः; 'समर्थः पदविधिः, इति सूत्रे समर्थपदाश्रितत्वेन पदविधौ समर्थपदप्रयोगस्य महाभाष्योक्तेः।।१।।

'सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सर्वाः, इति वाक्यशेषात् प्रसिद्धतज्जन्यत्वाद्वा तत्पदप्रयोगः, 'ब्रह्मणोऽस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— एवम् = पूर्वोक्त प्रकरणानुसार ''तत्त्वमसि'' इत्यादि श्रुतियों को अभेद परक मानने पर, अद्वैतवादी को ''तत्त्वमसि'' इत्यादि स्थल पर दोनों पदों में लक्षणा मानना पड़ेगा जब की द्वैतवादी के मत का आश्रय करने पर एक पद में ही लक्षणा मानना पड़ेगा जो कि लाघव है। एक पद में लक्षणा करने से पूर्वपक्षी को क्या लाभ होगा? उसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि '' तत्त्वमसि'' के तत् पद में लक्षणा कर के ब्रह्म साहचर्य कहा गया है। अर्थात् ''तत्त्वमसि'' का अर्थ है = ब्रह्म के साथ जीव रहता है। तत् का साहचर्य जीव में है, इस में श्रुति प्रमाण भी है —''द्वा सुपर्णा सयुजा'' (मु०उ०३—१—१) अर्थात् इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म का सहचारी जीव कहा गया है। अर्थात् एक ही शरीर में दोनों रहते हैं। इसलिए जीव को ब्रह्म कह दिया गया है। इसी प्रकार तत्सहचरित में तत् का कथन व्याकरण में भी देखा गया है। जैसे ''वसन्तादिभ्यष्ठक्'' (अ०सू० ४—२—६३) इस सूत्र में वसन्त सहचरित वसन्त अध्ययनीय ग्रन्थ के लिए भी वसन्त पद का प्रयोग किया गया है। इस सूत्र के महाभाष्य में कहा गया कि ''तदधीते तद्वेद'' (अ०सू० ४—२—५९) इस सूत्र के अधिकार में वसन्त पद से ठक् का विधान किया गया है— वसन्तमधीते वेद वा वासन्तिकः। किन्तु वसन्त पद काल विशेष अर्थात् वसन्त ऋतु रूप काल विशेष का वाचक होने से उसको अध्ययनीय ग्रन्थादि नहीं माना जा सकता है। इसलिए यहाँ वसन्त शब्द का अर्थ किया गया— वसन्त प्रतिपादक ग्रन्थ। ग्रन्थ में वसन्त सम्बन्धिपद सम्बन्धित्वेन वसन्त का साहचर्य है। अथवा ''तत्त्वमसि'' महावाक्य के शेष ''सन्मूलाः प्रजा सदायतना'' (छा०उ० ६—८—४) इत्यादि वाक्य घटक सदायतना पद के द्वारा जीव में प्रसिद्ध जो ब्रह्म आश्रितत्व कहा गया है। ब्रह्म आश्रितत्व होने के कारण ''जीव ब्रह्म है'' ऐसा कथन किया गया है। अर्थात् प्रसिद्ध जो तत् = ब्रह्म, उस ब्रह्म में जीव के आश्रित होने के कारण जीव को ब्रह्म कह दिया गया है। इस पक्ष में तत् पद में लक्षणा कर के अर्थ करेंगे = तदाश्रितः। अतः ''तत्त्वमसि'' का अर्थ होगा— तद् आश्रितः त्वमसि। अतः अर्थ होगा— जीव ब्रह्म के आश्रित है (न कि जीव ब्रह्म है) इसको दृष्टान्त के माध्यम से पूर्वपक्षी स्पष्ट करते हुए कह रहा है कि ''समर्थः पदविधिः'' (अ०सू० २—१—१) इस सूत्र में कहा गया है कि समर्थ जो पद तादृश समर्थ पद को आश्रय कर के समासादि पदविधि का विधान किया जाता है। यहाँ पर पद विधि समर्थपद आश्रित होने के कारण पद विधि को समर्थ जैसे कहा गया है वैसे ही जीव ब्रह्माश्रित होने के कारण जीव को ब्रह्म कहा गया है (न कि ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण) इस पर विस्तार से चर्चा महाभाष्य में की गयी है।।१।।

अथवा ''तत्त्वमसि'' महावाक्य के शेष ''सन्मूला सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः'' (छा०उ०६—८—४) के घटक ''मूल'' शब्द का अर्थ करेंगे— कारणत्व। अर्थात् ब्रह्म कारण है उससे जन्य जीवादि हैं, फलतः जीव में प्रसिद्ध जो ब्रह्म जन्यत्व है। उस जन्यत्व के कारण जीव को ब्रह्म कह दिया गया है। इस पक्ष में ''तत्त्वमसि'' वाक्य घटक तत् पद की तज्जन्य रूप अर्थ में लक्षणा करनी होगी। अतः ''तत्त्वमसि'' का

मुखमासीत्'इत्यादिवत्; 'इग्यणः संप्रसारणम्'इत्यत्र संप्रसारणाज्जातो वर्णः संप्रसारणमिति भाष्योक्तेः, 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मन' इति वाक्यशेषेण जीवस्येशाधीनत्वोक्त्या तदधीनत्वाद्वा तच्छब्दप्रयोगः; 'धान्यमसि धिनुहि' इत्यत्र मन्त्रे तण्डुले धान्यपदप्रयोगवत्, तत्सादृश्याद्वा तत्पदप्रयोगः; 'सारुप्यात्'इति जैमिनिसूत्रे 'आदित्यो यूपः' इत्यादिकं सादृश्यादित्युक्तत्वात्, 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्'इत्यत्र ब्रह्मसूत्रे ब्रह्मगुणयोगाज्जीवे तद्व्यपदेश इत्युक्तेः महाभाष्ये च बहुगणेत्यादिसूत्रे वतिं विनैव सङ्ख्यावदिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थ होगा– तज्जन्यः त्वमसि। इसमें श्रुति प्रमाण देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे ''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'' यहाँ पर ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए ब्राह्मण को ब्रह्मा का मुख कह दिया गया है। इसी प्रकार ''इग्यणः सम्प्रसारणम्'' (अ०सू० १–१–४५) इस सूत्र में महाभाष्यकार ने कहा है कि '' यथा काकाज्जातः काकः, श्येनाज्जातः श्येनः, एवं सम्प्रसारणाज्जातः सम्प्रसारणम्'' अर्थात् ''यण्'' के स्थान में प्रयुक्त ''इक्'' की सम्प्रसारण संज्ञा इसलिए कही गयी है कि वह सम्प्रसारण से उत्पन्न है। जैसे काक से उत्पन्न हुए को काक, श्येन से उत्पन्न हुए को श्येन कहा जाता है। अथवा ब्रह्म के अधीन जीव के होने के कारण जीव को ब्रह्म कह दिया गया है। इस पक्ष में ''तत्त्वमसि'' वाक्य घटक तत् पद की तद् अधीन रूप अर्थ में लक्षणा करनी होगी। अतः ''तत्त्वमसि'' का अर्थ होगा कि ''तदधीनः त्वमसि''। ब्रह्म के अधीन जीव है– इसमें श्रुति प्रमाण देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''तत्त्वमसि'' महावाक्य का शेष ''प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'' (छा०उ० ६–८–२) में कहा गया है कि मन (जीव) प्राण (ब्रह्म) के अधीन हैं। इसी प्रकार ''धान्यमसि धिनुहि देवान्'' इस मन्त्र को बोलते हुए पुरोड़ाश बनाने के लिए सिल पर तण्डुल पीसने के लिए कहा गया है किन्तु तण्डुल न कह कर के तण्डुल के स्थान पर धान्य शब्द का प्रयोग किया गया है। वह इसलिए किया गया है कि तण्डुल धान का कार्य होने से तण्डुल धान के अधीन है। अथवा ब्रह्म के साथ जीव का चेतनत्वेन सादृश्य रहने के कारण जीव को तत् (ब्रह्म) कहा गया है। इसमें प्रमाण के रूप से पूर्वपक्षी पूर्वमीमांसा दर्शन का उल्लेख करते हुए कह रहा है कि पूर्वमीमांसा दर्शन के ''सारूप्यात्'' (जै०सू० १–४–२५) इस सूत्र में कहा गया है कि आदित्य और यूप में तेजस्विता रूप सादृश्य होने के कारण यूप को आदित्य कह दिया गया है ठीक इसी प्रकार ब्रह्म और जीव में चेतनत्व रूप सादृश्य होने के कारण जीव को ब्रह्म कह दिया गया है। इसलिए ''तत्त्वमसि'' का अर्थ होगा कि– तत्सदृशस्त्वमसि। अर्थात् तुम (जीव) ब्रह्म के सदृश हो। इसी प्रकार उत्तरमीमांसादर्शन के ''तद् गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्'' (ब्र०सू० २–३–२९) इस सूत्र में कहा गया है कि ब्रह्म में रहने वाले चेतनत्व गुण से सम्पन्न जीव के होने से जीव को ब्रह्म कह दिया गया है। इसी प्रकार ''बहुगणवतुडतिसंख्या'' (अ०सू०१–१–२३) इस सूत्र के महाभाष्य में भी कहा गया है कि इस सूत्र से बहुगुणादि की संख्या संज्ञा का विधान होने पर ''संख्यापूर्वो द्विगुः'' (अ०सू०२–१–५२) इत्यादि में एक द्वि त्रि इत्यादि संख्या का ग्रहण नही हो पायेगा, क्योंकि ''कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः'' इस न्याय से कृत्रिम संख्या बहुगुणादि का ही ग्रहण हो पायेगा– ऐसी आशङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है ''बहुगणवतुडतिसंख्या'' इस सूत्र से संज्ञा का विधान नहीं है अपितु बहुगुणादि संख्यावत् हैं। इस प्रकार से अतिदेश किया गया है। अर्थात् वति के विना भी संख्या शब्द को गौणीवृत्ति से संख्या सदृश्यार्थक माना गया है। इसको स्पष्ट करते हुए दृष्टान्त दिया गया कि जैसे कोई ब्रह्मदत्त नहीं है फिर भी ब्रह्मदत्त के सदृश होने के कारण उसे ब्रह्मदत्त कहा जाता है– ऐसा तात्पर्य के ज्ञाता हम लोग मानते हैं कि देवदत्त ब्रह्मदत्त के जैसा है। इसी प्रकार प्रकृत में ब्रह्म के साथ

वत्यर्थो गम्यते। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्तेत्याह ते वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीत्युक्तेश्चेति—चेत्।।२।।

न, अभेदे तात्पर्येऽवधृते तन्निर्वाहकलक्षणाबाहुल्यस्यादोषत्वात्। नहि लक्षणैक्यानुरोधेन तात्पर्यपरित्यागः। तदुक्तं न्यायचिन्तामणौ—'तात्पर्यात्तु वृत्तिः, नतु वृत्तेस्तात्पर्यम्'इति। जहदजहल्लक्षणया मुख्यपरत्वे सम्भवति तत्सहचरिताद्यर्थपरत्वकल्पनस्यानुचितत्वाच्च। यथा अभेदपरत्वे न बोधकत्वानुपपत्तिः, तथोक्तं प्राक्। 'द्वा सुपर्णा सयुजा'इत्यादिना न जीवस्य ब्रह्मणा सहचरितत्वोक्तिः, किन्त्वन्तःकरणेनेति न तेन सहचरितत्वप्रसिद्धिरपि। न वा 'सन्मूलाः प्रजाः' इत्यादिना जीवस्य तदाश्रितत्वप्रसिद्धिः; प्रजाशब्दस्य प्रजायमानवाचकत्वेन जीवस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीव का चेतनत्वेन सादृश्य होने के कारण तत् पद का अर्थ तत् सदृश होगा। अर्थात् जीव ब्रह्म सदृश है न कि ब्रह्म से जीव का अभेद है।।२।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अभेद बोधक श्रुतियों का तात्पर्य षड्विध तात्पर्य ग्राहक लिङ्गों के द्वारा अभेद में निश्चित हो जाने पर, उक्त तात्पर्य निर्वाह के लिए जो उभय पद में लक्षणा की गयी है, उसे कोई दोष नहीं माना जाता है, क्योंकि एक पद में लक्षणा करने में लाघव है— ऐसा मानकर श्रुतियों का जो अभेद में तात्पर्य है, उसका परित्याग नहीं किया जा सकता है। इसका समर्थन करते हुए तत्त्वचिन्तामणि में कहा गया है कि उपक्रमादि तात्पर्यग्राहक लिङ्गों के द्वारा निर्णीत जो तात्पर्य है। उस तात्पर्य की सिद्धि के लिए लक्षणादि वृत्तियों की कल्पना की जाती है परन्तु वृत्ति लाघव दिखाकर तात्पर्यान्तर की कल्पना नहीं की जाती है। अन्यथा अर्थवादादि स्थल पर भी लक्षणा नहीं मानी जा सकेगी। अर्थात् ''आदित्यो यूपः'' यहाँ पर जघन्यवृत्ति लक्षणा न मानकर मुख्यार्थ वृत्ति मानकर यूप को आदित्य रूप मानना पड़ेगा। प्रकृत में भागत्यागलक्षणा के द्वारा ऐक्य बोधक श्रुतियों का अभेद रूप तात्पर्यार्थ जब उपपन्न हो जाता है तब तत्सहचरितत्व—तदाश्रितत्व—तज्जन्यत्वादि रूप जो अर्थ तादृश अर्थ बोधकत्व की कल्पना करना अनुचित है। अभेद बोधकता मानने पर ऐक्यबोधक ''तत्त्वमसि'' इत्यादि वाक्यों में बोधकता की अनुपपत्ति नहीं होती है— इसे ''तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थकत्वविचारः'' इत्यादि स्थलों पर स्पष्ट किया जा चुका है। पूर्वपक्षी ने ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'' (मु०३—१—१) इस श्रुति के द्वारा जीव को ब्रह्म का सहचारी बताकर ''तत्त्वमसि'' का अर्थ किया था— ब्रह्मसहचरितस्त्वमसि। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''द्वा सुपर्णा'' इस श्रुति के द्वारा जीव के साथ ब्रह्म का सहचरितत्त्व नहीं कहा गया है अपितु अन्तःकरण के साथ जीव का सहचरितत्त्व कहा गया है। (इसको ''भेदश्रुतेरनुवादकत्वविचारः'' के खण्ड संख्या १ में कहा जा चुका है।) अतः ''द्वा सुपर्णा'' इस वाक्य के द्वारा जीव के साथ ब्रह्म के सहचरितत्त्व की प्रसिद्धि हीं नहीं होती है। इसलिए सहचरितत्त्व के माध्यम से दिया गया दोष खण्डित हो गया। पूर्वपक्षी ने ''सन्मूलाः प्रजाः सदायतना'' (छा०उ० ६—८—४) इस श्रुति के द्वारा जीव को ब्रह्म के आश्रित बताकर ''तत्त्वमसि'' का अर्थ किया था— तदाश्रितस्त्वमसि। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''सन्मूलाः प्रजाः'' इस श्रुति के द्वारा जीव में ब्रह्माश्रितत्व नहीं कहा गया है, क्योंकि इस श्रुति के घटक प्रजा शब्द से उत्पद्यमान पदार्थों को कहा गया है, जबकि जीव नित्य है। अतः प्रजा शब्द से जीव का ग्रहण नहीं हो सकता है। अतः तदाश्रितत्व के माध्यम से दिया गया दोष खण्डित हो गया। अत एव = प्रजा शब्द से उत्पद्यमान पदार्थों का ही ग्रहण होने से (अर्थात् नित्य जीव का ग्रहण न होने से) ब्रह्म जन्यत्वेन जीव को ब्रह्म कहा गया है— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी खण्डित हो गया, क्योंकि जीव नित्य होने से जन्य ही नहीं है। पूर्वपक्षी ने यह जो स्मृति वाक्य उद्धृत किया था

नित्यस्याप्रतिपादनात्। अतएव न तज्जन्यत्वेनापि तच्छब्दप्रयोगः; 'ब्राह्मणो मुखमित्येव मुखाज्जातत्वहेतुतः। यथावदुच्यते (यथाऽवदच्छुतिः) तद्वज्जीवो ब्रह्मेति वाग्भवेत्।।' इति स्मृतिरप्यस्मृतिरेव (अपस्मृतिरेव) श्रुतिविरोधात्।।३।।

यत्तु तद्गुणसारत्वादित्यादिना जीवे ब्रह्मगुणयोग उक्त इत्युक्तं, तन्न; बुद्धिगुणसूक्ष्मत्वयोगात् जीवे ब्रह्मणीव सूक्ष्मत्वमित्येवंपरत्वात्सूत्रस्य। एतेन—शाखासदेशे चन्द्रे शाखेतिवत् जीवान्तर्यामितया जीवसदेशे ब्रह्मणि त्वमिति प्रयोगः, आत्मनि तिष्ठन्निति श्रुतेः, ब्राह्मणो वै सर्वा देवता इत्यादिवत्, जीवाश्रयत्वाद्वा, ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वेन यजमानः प्रस्तर इत्यादिवत् तत्सिद्ध्या वा ब्रह्मणि त्वमिति व्यपदेश इति—निरस्तम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि जैसे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण को ब्रह्मा का मुख कहा गया है वैसे ही ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जीव को ब्रह्म कहा गया है— यह स्मृति भी अपस्मृति = स्मृत्याभास अर्थात् अप्रामाणिक है, क्योंकि जीव को नित्य बतलाने वाली श्रुतियों से विरुद्ध है। ''यथावदुच्यते'' के स्थान पर ''यथाऽवदच्छुतिः'' ऐसा पाठान्तर है और ''स्मृतिरप्यस्मृतिरेव'' के स्थान पर ''स्मृतिरपस्मृतिरेव'' ऐसा पाठान्तर है।।३।।

पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ''तद्गुणसारत्वात्'' इत्यादि सूत्र के द्वारा जीव में ब्रह्म के चेतनत्वादि गुणों का सम्बन्ध होने से जीव को ब्रह्म कह दिया गया है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सूत्र में यह कहा गया है कि जीव की उपाधिभूता बुद्धि का गुण जो सूक्ष्मत्व उसका योग = सम्बन्ध जीव के साथ होने से जीव में ब्रह्म के समान सूक्ष्मत्व है। अर्थात् जीव सूक्ष्म है— इस अर्थ में उक्त सूत्र का तात्पर्य है न कि जीव में ब्रह्म का सादृश्य बतलाने में। एतेन = भाग त्याग लक्षणा के द्वारा ''तत्त्वमसि'' वाक्य को अभेद रूप मुख्य अर्थ का बोधक मानना सम्भव है तब गौणार्थ की कल्पना करना अनुचित होने से, पूर्वपक्षी का पूर्वोक्त कथन भी निरस्त हो गया। पूर्वपक्षी का पूर्वोक्त कथन को दिखलाते हुए कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि जैसे शाखा के समान देश में स्थित चन्द्र के लिए ''शाखा चन्द्र'' कह दिया जाता है ठीक इसी प्रकार ''आत्मनि तिष्ठन्'' इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित जो जीव का अन्तर्यामित्व है। उसके कारण जीव के समान देश में विद्यमान ब्रह्म के लिए त्वम् (तत् त्वम्) कह दिया गया है। यागादि द्वारा तृप्तिकरत्वेन ब्राह्मण सर्व देवताओं का आश्रय है। इसलिए सर्व देवताओं के लिए जैसे ब्राह्मण शब्द का प्रयोग होता है कि ''ब्राह्मण सर्व देवता है'' ठीक इसी प्रकार ब्रह्म सभी जीवों का आश्रय होने से ब्रह्म में त्वम् पद का प्रयोग होता है अथवा जैसे यजमान से साध्य जो कार्य उसका साधक प्रस्तर होने से प्रस्तर को यजमान कह दिया गया ठीक उसी प्रकार जीव से साध्य सर्व कार्य का साधक ब्रह्म होने से ब्रह्म को जीव कह दिया गया है— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जहदजहद् लक्षणा करने से पहले वाच्यार्थ = सर्वज्ञत्व विशिष्ट ब्रह्म और अल्पज्ञत्व विशिष्ट आत्मा में जो विशेष्यांश (ब्रह्म और आत्मा) अन्तर्गत होने से बुद्धि में स्थित था। उस विशेष्य अंश का जहदजहद् के घटक जहद् लक्षणा करने से त्याग होगा क्योंकि सर्वज्ञत्व विशिष्ट ब्रह्म और अल्पज्ञत्व विशिष्ट आत्मा के अभेद का प्रत्यक्ष रूप बाधक प्रमाण के द्वारा बाध हो जाने से वाच्यार्थ का त्याग करना पड़ता है और वाच्यार्थ का त्याग करने से वाच्यार्थ गत विशेष्यांश (ब्रह्म और आत्मा) का भी त्याग हो जायेगा। किन्तु सिद्धान्ती को विशेष्यांश (ब्रह्म और आत्मा) में अभेद सिद्ध करने के लिए त्यागे हुए विशेष्यांश को पुनः ग्रहण करने के लिए जहदजहद् के घटक अजहद् लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। (इस प्रकार जहदजहद् लक्षणा में जिसको त्यागा उसी को पुनः ग्रहण करना पड़ता है— जो कि अनुचित

ननु— जहदजहल्लक्षणायां वाच्यान्तर्गतत्वेन प्राग्धीस्थस्य बाधकात् त्यक्तस्य पुनः स्वीकारः, जहल्लक्षणायां अधीस्थस्यात्यक्तस्यैव स्वीकारः त्यक्तस्वीकाराद्वरमधीस्थस्य स्वीकार इति—चेन्न; अनुपपत्त्या विशेषणत्यागेऽपि विशेष्यांशात्यागात्।।४।।

एतेन—तच्छब्दात् परतृतीयादिविभक्तेः सुपां सुलुगित्यादिना प्रथमैकवचनादेशो वा लुग्वा, तथा च तेन त्वं तिष्ठसीति वा, ततः सञ्जात इति वा, तस्य त्वमिति वा, तस्मिन् त्वमिति वार्थः; 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रभूतः

सत्यानन्दप्रबोधिका

है।) केवल जहद् लक्षणा करने पर वाच्यार्थ गङ्गादि का सर्वथा त्याग हो जाता है और जो बुद्धिस्थ नहीं है और जिसका त्याग भी नहीं किया गया है— ऐसे तीर आदि पदार्थों का ही ग्रहण होता है। अतः केवल जहद् लक्षणा भी उचित नहीं है। फलतः अजहद् लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। इस पक्ष में वाच्यार्थ का त्याग नहीं होता और वाच्यार्थ से अतिरिक्त अबुद्धिस्थ का केवल ग्रहण किया जाता है। यह पक्ष उचित क्यों है? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि त्याग कर पुनः स्वीकार करने की अपेक्षा जो अबुद्धिस्थ है, उसे स्वीकार करना श्रेष्ठ होता है। इससे पूर्वपक्षी को यह लाभ होगा कि तत् = ब्रह्म में अजहद् लक्षणा कर के ब्रह्म सदृश आदि अर्थ लिया जा सकेगा। जिसे पूर्वपक्षी खण्ड संख्या १ में कह चुका है। ऐसा होने पर तत् और त्वम् में अभेद की सिद्धि नहीं हो पायेगी— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अभेद रूप तात्पर्य की अनुपपत्ति (विशेषणांशत्यागं विना अभेदोऽनुपपन्नम्) के कारण ही विशेषण अंश का ही त्याग होता है विशेष्यांश का नहीं। अतः भागत्यागलक्षणा करने पर त्याग कर के पुनः ग्रहण करने की जो आपत्ति पूर्वपक्षी ने दी थी, उसका खण्डन हो गया।।४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''तत्त्वमसि'' का घटक जो तत् शब्द है उस तत् शब्द के उत्तर तृतीयादि विभक्ति के स्थान पर ''सुपां सुलुक्'' (अ०सू० ७—१—३९) इस सूत्र से प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हो गया है, अथवा तृतीयादि विभक्ति का लोप हो गया है। अतः जब तत् शब्द से पर तृतीया विभक्ति का अर्थ लेंगे तब ''तत्त्वमसि'' का अर्थ होगा — तेन = ब्रह्म से, त्वम् = तुम = जीव तिष्ठसि = सत्ता वाला है। (इस पक्ष में यह दोष होगा कि ब्रह्मसत्तातिरिक्तसत्ताकत्व का अभाव जीव में सिद्ध हो जाने से जीव मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। इस अरुचि के कारण द्वितीय पक्ष का उत्थापन कर रहे हैं कि) अथवा तत् शब्द से पर पञ्चमी विभक्ति का अर्थ लेंगे तब ''तत्त्वमसि'' का अर्थ होगा— ततः = ब्रह्म से, त्वम् = तुम, सञ्जातः = उत्पन्न हुए हो। (इस पक्ष में यह दोष होगा कि जीव जन्य होने के कारण अनित्य सिद्ध हो जायेगा। अनित्य जीव के मोक्ष की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। इस अरुचि के कारण तृतीय पक्ष का उत्थापन कर रहे हैं कि) अथवा तस्य = ब्रह्म का, त्वम् = तुम, असि = हो। (इस पक्ष में यह दोष है कि षष्ठी विभक्ति के द्वारा जो जीव और ब्रह्म में सम्बन्ध का बोध हो रहा है। उसका निरूपण करना सम्भव नहीं है। इस अरुचि के कारण चतुर्थ पक्ष का उत्थापन कर रहे हैं कि) अथवा तस्मिन् = ब्रह्म में, त्वम् = तुम, असि = स्थित हो। तृतीया विभक्ति लेने में श्रुति प्रमाण दे रहे हैं कि अनेन जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति'' (छा०उ० ६—११—१) पूर्वपक्षी के अनुसार अर्थ होगा— ब्रह्म से जीव सत्तावान् होकर इस वृक्ष में स्थित रहने के कारण आघात प्राप्त होने पर भी जीव सानन्द रहता है। ततः त्वम् सञ्जातः— इस पञ्चमी विभक्ति में श्रुति प्रमाण दे रहे हैं कि ''सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायताः सत्प्रतिष्ठाः'' (छा०उ० ६—८—४) अर्थात् हे सोम्य यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक है और सत् ही इसका आश्रय है और अन्त में लय स्थान भी सत् ही है। षष्ठी और सप्तमी विभक्ति लेने में यह श्रुति प्रमाण है— ऐतदात्म्यमिदं

पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति' 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'इत्यादिवाक्यशेषात्। तथा च मीमांसका 'उत यत्सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः, इत्यत्र यत्तच्छब्दयोः सप्तम्यर्थे प्रथमां स्वीकृत्य यत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्वम् (छा०उ० ६—८—७) इस श्रुति का अर्थ खण्ड संख्या ८ में पूर्वपक्षी करेगा) इस प्रकार उन श्रुति वाक्यों के आधार पर तृतीयादि विभक्ति ली गयी है— यह पूर्वपक्षी के कहने का भाव है। प्रथमा विभक्ति सप्तमी विभक्ति के अर्थ में भी होती है— इसमें पूर्वमीमांसक की सम्मति दिखला रहे हैं। पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के सप्तम अधिकरण में ज्योतिष्टोम के प्रसंग का यह वाक्य है— ''उत यत् सुन्वन्ति सामिधेनीः तदन्वाहुः।'' इस वाक्य का अर्थ किया गया— उत इत्ययं शब्दोऽथशब्दार्थे वर्तते, अथ यत् = यस्मिन् हविर्धाने सोममभिषुण्वन्ति तत् = तस्मिन् सामिधेनीरनुब्रूयुः।'' अर्थात् जिस दक्षिण हविर्धानाख्य शकट के पास में सोम का अभिषव करते हैं। उस हविर्धान के पास में स्थित होकर सामधेनी ऋचाओं का उच्चारण करें। कहने का भाव यह है कि ज्योतिष्टोम में हविर्धान नाम का मण्डप होता है। उसके दक्षिण और उत्तर में दोनों ओर दो शकट (छकड़े या गाड़ी) रहते हैं। उन्हें भी हविर्धान शकट अथवा हविर्धान कहा जाता है। उनमें से दक्षिण हविर्धान (शकट) में भरे सोम को उतार कर उसके नीचे अभिषवण फलकों पर अभिषव किया जाता है। अर्थात् सोम को कूट छानकर रस निकाला जाता है। जिस समय सोम का अभिषव करते हैं उस समय होता द्वारा शकट पर बैठकर या खड़े होकर ''प्र वो वाजा अभिद्यवः'' (ऋ० ३—२७—१) इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं का उच्चारण किया जाता है । इस स्थल पर यत् और तत् पदों के उत्तर सप्तम्यर्थ में प्रथमा विभक्ति को पूर्वमीमांसकों ने माना है। इसी प्रकार ''तत्त्वमसि'' इस स्थल पर भी तत् शब्द के उत्तर प्रथमा भी सप्तमी इत्यादि के अर्थ में हो ही सकती है— यह पूर्वपक्षी के कथन का भाव है। (अब तक ''तत्त्वमसि'' इस महावाक्य में सिद्धान्ती ने लक्षणा के द्वारा प्रातिपदिकार्थ को बदल दिया और पूर्वपक्षी ने विभक्ति को बदल दिया है। अब पूर्वपक्षी प्रातिपदिकार्थ को न बदलने और विभक्ति को बदलने में युक्ति दे रहा है कि प्रातिपदिक और प्रातिपदिक के उत्तर आयी हुयी विभक्ति इन दोनों में से प्रातिपदिक निरवकाश और प्रधान होता है। जबकि विभक्ति एकवचन द्विवचन आदि संख्यार्थत्व प्रयुक्त सावकाश और अप्रधान होती है, क्योंकि प्रातिपदिक का एक ही अर्थ होता है जबकि विभक्ति के अनेक अर्थ होते हैं। अतः विभक्ति का एक ही अर्थ न लेकर दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है किन्तु प्रातिपदिक का जो एक ही अर्थ है, यदि उसको न लिया जाय तो वह अन्य अर्थ में सावकाश नहीं हो पायेगा, क्योंकि उसका अन्य अर्थ होता ही नहीं। दूसरी बात यह है कि तत् और त्वम् इत्यादि प्रातिपदिक अनेक हैं जबकि दोनों में विभक्ति एक ही प्रथमा है। इस प्रकार से प्रातिपदिक निरवकाश प्रधान और अनेक होने के कारण प्रातिपदिक का ही स्वारस्य = मुख्यार्थत्व मानना चाहिए। एकवचन द्विवचन आदि और विभक्ति सावकाश अप्रधान और एक होने के कारण उक्त प्रथमा विभक्ति में परिवर्तन कर तृतीयादि विभक्ति मानकर प्रथमा विभक्ति का अस्वारस्य = गौणार्थत्व मानना ही उचित है अतः ''तेन त्वमसि'' इत्यादि रूप से अर्थ करना न्यायोचित है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन = भागत्यागलक्षणा के द्वारा ''तत्त्वमसि'' महावाक्य का अभेद रूप मुख्यार्थ जब सम्भव है तब गौणार्थ की कल्पना करना अनुचित होने से पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त हो गया। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि प्रातिपदिक के अर्थ को बदलना उचित नहीं है अपितु विभक्ति के अर्थ को बदलना ही उचित होता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि

सुन्वन्ति तत्र हविर्धाने स्थित्वा सामिधेनीरनुब्रूयादिति व्याख्याञ्चक्रुः। न्याय्यं च निरवकाशप्रधानभूतानेकप्रातिपदिक–स्वारस्याय सङ्ख्यार्थत्वेन सावकाशाप्रधानैकविभक्त्यस्वारस्यमिति–निरस्तम्; प्रोद्गातॄणामित्यत्र विभक्तिस्वारस्याय प्रातिपदिकस्यान्यथानयनवदत्रापि प्रातिपदिकस्यैवान्यथानयनाच्च।।५।।

न च–षष्ठीबहुवचनस्य प्रथमैकवचनवदन्यत्राविधानेन तस्यान्यथानयनमसम्भवीति बहुवचनानुसारणे प्रातिपदिकस्य प्रस्तोत्रादिछन्दोगेषु लक्षणाऽऽश्रितेति–वाच्यम्; 'सक्तून् जुहोति'इत्यत्रेवान्यत्र नयनस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रातिपदिक का अर्थ बदलना उचित होता है। इसे पूर्वमीमांसा में स्पष्ट किया गया है। जैसे प्रोद्गातॄणाम्– इस स्थल पर विभक्ति के स्वारस्य (मुख्यार्थत्व) के लिए प्रातिपदिक के अर्थ का अन्यथा नयन होता है उसी प्रकार प्रकृत में भी तत् शब्द के उत्तर प्रथमा विभक्ति में लक्षणा कर के तृतीयादि न लेकर प्रातिपदिक तत् पद की ही शुद्ध चैतन्य में लक्षणा करना उचित है। कहने का भाव यह है कि पूर्वमीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय के पञ्चम पाद के अष्टम अधिकरण में विचार किया गया है कि ''ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।'' स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम याग करे। ज्योतिष्टोम प्रसंग से शतपथ ब्राह्मण (४–२–१–२९) में उल्लेख है– प्रैतु होतुश्चमसः प्रब्रह्मणः, यजमानस्य, प्रोद्गातॄणाम्। ऋत्विक कुल सोलह होते हैं– चार उद्गाता चार अध्वर्यु चार होता और चार ब्रह्मा। इनमें सामवेदिय ऋत्विक जो सामगान करते हैं। उनको उद्गाता कहते हैं। उद्गाता गणीय चारों का नाम इस प्रकार से है– उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य। प्रैतु .... इस श्रुति के द्वारा उद्गाता को चमस पात्रस्थ हुतशेष (हवन से बचा सोम) का भक्षण करने को कहा गया है। यहाँ पूर्वपक्ष से कहा कि यद्यपि ''प्रोद्गातॄणाम्'' पद में बहुवचनार्थक विभक्ति है। उसके अनुसार उद्गातृ गणीय चारों को सोम भक्षण करना चाहिए– ऐसा प्राप्त होता है तथापि प्रातिपदिक उद्गाता उन चारों में से एक का ही नाम है। अतः उद्गाता गणीय चारों में से अकेले उद्गाता को ही सोम भक्षण करना चाहिए। इस पर सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि बहुवचनान्त विभक्ति का एक वचनान्त विभक्ति में लक्षणा न कर के प्रातिपदिक में लक्षणा कर के उद्गातृ गणीय चारों को भक्षण करना चाहिए– ऐसा अर्थ पूर्वमीमांसा में किया गया, ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी विभक्ति में लक्षणा न कर के तत् प्रातिपदिक में लक्षणा कर के शुद्ध चैतन्य लिया गया है। अतः पूर्वपक्षी का जो कथन विभक्ति में लक्षणा कर के तृतीयादि लेने का था। वह निरस्त हो गया।।५।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा दिये गये दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे दार्ष्टान्त में तत् शब्द के उत्तर आयी हुयी प्रथमा विभक्ति के एकवचन का ''सुपां सुलुक्'' (अ०सू० ७–१–३९) इत्यादि से तृतीयादि अर्थ में विधान है वैसे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का एक वचन आदि में या तृतीयादि अर्थ में विधान किसी सूत्र के द्वारा नहीं है। अतः ''प्रोद्गातॄणाम्'' इस स्थल पर षष्ठी बहुवचन का एकवचन में लक्षणा करना सम्भव न होने के कारण बहुवचन के अनुरोध से उद्गातृ रूप प्रातिपदिक की उद्गातृ गणीय चारों (सामगान करने वाले उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य) में अजहद् लक्षणा की गयी है जबकि दार्ष्टान्त स्थल पर ''तत्त्वमसि'' वाक्यस्थ तत् शब्द के उत्तर जो प्रथमा विभक्ति है, वह ''सुपां सुलुक्'' इत्यादि सूत्र के द्वारा तृतीयादि अर्थ में प्रयुक्त है। अतः प्रथमा का तृतीया पञ्चमी और सप्तमी में लक्षणा करने में कोई प्रतिबन्धक नहीं है। फलतः तत् शब्द से उत्तर प्रथमा का तृतीयादि अर्थ में प्रयोग उचित ही है।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के तृतीय अधिकरण

सम्भावितत्वात्। किञ्च न तावद् प्रातिपदिकस्य निरवकाशत्वम्; विभक्तेः सङ्ख्यायामिव विशेष्यांशे सावकाशत्वात्। नापि प्राधान्यम्; प्रधानार्थवाचकप्रत्ययस्यैव प्राधान्यात्। तदुक्तं—'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोः प्रत्ययः प्राधान्येन'इति। नापि प्रातिपादिकानेकत्वं स्वारस्ये तन्त्रम्; 'गभीरायां नद्याम्'इत्यादौ अनेकत्वेऽप्यस्वारस्यदर्शनात्। तात्पर्यबलात्तत्र तथेति चेत्, समं प्रकृतेऽपि।।६।।

यत्तु 'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति'इत्यत्र प्रयाजशेषं हविष्युपक्षिपतीति तृतीयाविभक्त्यस्वारस्यं, 'सक्तून् जुहोति'इत्यादावपि द्वितीयाविभक्त्यस्वारस्यं (लक्षणात्) तदगत्या; 'प्रयाजशेषेण'इत्यादौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

के जैमिनीय न्यायमाला में कहा है कि ''सक्तून् जुहोति— इत्यत्र द्रव्यप्राधान्यपरित्यज्य द्वितीयाया भङ्गः कृत्वा क्रियाप्राधान्याय सक्तुभिर्जुहोतीति, तृतीयात्वेन विपरिणामो वक्ष्यते।'' अर्थात् यहां पर द्वितीया बहुवचन का तृतीया बहुवचन में नयन किया गया है वैसे ही ''प्रोद्गातॄणाम्'' इस स्थल पर भी षष्ठी बहुवचन का एकवचन में नयन किया जा सकता था, किन्तु नहीं किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रातिपदिक की अपेक्षा प्रत्यय प्रधान होता है। प्रधान की अपेक्षा गौण पदार्थ में ही लक्षणा करना उचित माना जाता है। फलतः तत् प्रातिपदिक में लक्षणा कर के शुद्ध ब्रह्म चैतन्य अर्थ लेना उचित ही है न कि प्रधान भूत प्रत्यय में लक्षणा कर के तृतीयादि अर्थ लेना। खण्ड संख्या ५ में जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि प्रातिपदिक निरवकाश प्रधान और अनेक होने के कारण मुख्यार्थक होता है। जबकि विभक्ति संख्यार्थत्वेन सावकाश, अप्रधान और एक होने से गौणार्थक होती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रातिपदिक निरवकाश नहीं होता है, क्योंकि जैसे विभक्ति संख्यार्थत्वेन सावकाश है। अर्थात् एकवचन का परित्याग नहीं किया किन्तु विभक्ति बदल दिया ठीक वैसे ही प्रातिपदिक में लक्षणा के द्वारा विशेषण अंश का त्याग किया गया है, विशेष्य अंश का नहीं। अतः प्रातिपदिक भी विशेष्य अंश में सावकाश है। इसलिए प्रातिपदिक को निरवकाश नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार प्रातिपदिक को प्रधान भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रातिपदिक और प्रत्यय में प्रत्यय को ही प्रधान माना जाता है। जैसा कि कहा गया है कि—प्रातिपदिक और प्रत्यय ये दोनों मिलकर अर्थ कहते हैं किन्तु उन दोनों में प्रत्यय प्रधान होता है। इसी प्रकार प्रातिपदिकगत अनेकत्व भी मुख्यार्थत्व का व्याप्य नहीं है। अर्थात् ''यत्र यत्र प्रातिपदिकानेकत्वं तत्र तत्र मुख्यार्थत्वम्।'' ऐसा नियम भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''गम्भीरायां नद्याम्'' यहाँ पर अनेक प्रातिपदिक के होने पर भी मुख्यार्थत्व नहीं है अपितु गम्भीर और नदी के मुख्यार्थ को त्याग कर लक्षणा के द्वारा अमुख्यार्थ तीर को लिया जाता है। यदि कहा जाय की तात्पर्य के बल से ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' इस स्थल पर अनेक प्रातिपदिक के होने पर भी मुख्यार्थ न लेकर अमुख्यार्थ लिया गया है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि ठीक वैसे ही अभेद में तात्पर्य की उपपत्ति के लिए प्रातिपदिकों में लक्षणा की गयी है।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''प्रयाजशेषेण हवींष्यभिधारयति'' (तै०सं०२—६—१) अर्थात् प्रयाजशेषेण = प्रयाज याग करने के पश्चात् घृतपात्र में जो बचा हुआ घृत है। उसके द्वारा हवींषि = प्राजापत्य पशुओं के अङ्ग प्रत्यङ्ग जो काट कर रखे गये हैं, उनका अभिधारयति = सिंचन करो अर्थात् उन पर छिड़क दो। यहाँ पूर्वमीमांसा के चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद के चतुर्दश अधिकरण के अनुसार ''प्रयाजशेषेण'' के तृतीया विभक्ति को द्वितीया विभक्ति में कर के कहा गया— प्रयाजशेषं हविःषु प्रक्षिपति'' इस प्रकार तृतीया विभक्ति में अमुख्यार्थत्व आ गया। इसी प्रकार ''सक्तून् जुहोति'' यहाँ पर द्वितीया विभक्ति में अमुख्यार्थत्व है क्योंकि यहां लक्षणा कर के द्वितीया के स्थान पर तृतीया विभक्ति (सक्तुभिः जुहोति) कर दिया गया है।

उपयुक्तसंस्कारव्यतिरेकेण प्रकारान्तरस्यासम्भवात्, सक्तूनित्यादौ भूतभाव्युपयोगाभावेन संस्कार्यत्वाभावात्। एतेन—तस्य त्वं तत्त्वमिति समस्तं पदमिति—निरस्तम्; असमासेनैव षष्ठ्यर्थलक्षणादिरहितेन उपपत्तौ षष्ठीसमासस्यान्याय्यत्वाद्, अन्यथा स्थपत्यधिकरणविरोधापत्तेः।।७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त कथन पूर्वपक्षी का ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ अगत्या विभक्तियों में परिवर्तन किया गया है। अर्थात् विभक्ति अमुख्य है— इसलिए परिवर्तन किया गया है—ऐसी बात नहीं किन्तु अन्य कोई रास्ता नहीं था। इसलिए परिवर्तन किया गया है। अर्थात् बचे हुए घी को जो पशुओं के अङ्ग के उपर सिंचन के लिए श्रुति में कहा गया, वह तो उन पशुओं के अङ्गों को संस्कार करने के लिए नहीं कहा गया है अपितु घृत पात्र को खाली करने के लिए कहा गया है। जिसे प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है। यदि पशु अङ्गों को संस्कार के लिए कहा गया होता तो तब तो प्रयाज याग करने के पश्चात् यदि घृत शेष नहीं बचता अथवा बचा हुआ घृत नष्ट हो जाता तब संस्कार के लिए नूतन घृत लिया जाता किन्तु नूतन घृत नहीं लिया जाता है। इस प्रकार निश्चित रूप से घृत संस्कार के लिए साधन नहीं है। फलतः ''प्रयाज शेषेण'' इत्यादि में प्रतिपत्ति रूप उपयुक्त संस्कार के विना प्रकारान्तर सम्भव ही नहीं है। अतः साधन को बतलाने वाली तृतीया विभक्ति हटा कर द्वितीय विभक्ति अर्थात् साध्य बतलाने वाली विभक्ति रखा गया। अर्थात् घृत बचा है तो उसका साध्य = वर्तन खाली करने के लिए घृत को हवि के उपर सिंचन कर दो। ''सक्तून् जुहोति'' स्थल पर होम रूप कर्म के द्वारा सत्तुओं का विनाश हो जाता है। अर्थात् होम के पश्चात् सत्तू बचता ही नहीं। अतः भविष्य में उसके उपयोग आदि का विचार ही नहीं हो सकता है। इसलिए सत्तू होम को प्रधान मानकर ''व्रीहिर्भियजेत'' के जैसे ''सक्तुर्भिजुहोति'' इस प्रकार अर्थ करना उचित ही है। अतः ''प्रयाजशेषेण'' के जैसे ''सक्तून् जुहोति'' को नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि ''तत्त्वमसि'' इस महावाक्य के घटक ''तत्त्वम्'' में ''तस्य त्वम्'' इस प्रकार से षष्ठी तत्पुरुष समास है। एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि तत् और त्वम् के प्रथमा विभक्ति का षष्ठी अर्थ में लक्षणा के विना असमास पद से अभेद रूप तात्पर्यार्थ की उपपत्ति हो जाने से लक्षणा के द्वारा षष्ठी समास मानना उचित नहीं है। अन्यथा = विना समास किये तात्पर्यार्थ की उपपत्ति होने पर भी समास करने का आग्रह करने पर स्थपत्त्यधिकर से विरोध होगा। इसका विचार पूर्वमीमांसा दर्शन के षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद के त्रयोदश अधिकरण में किया गया है। ''वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत् '' इस वाक्य से विहित वास्तु इष्टि का विधान कर कहा गया कि ''एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'' यहाँ पर संशय होता है कि निषादानां स्थपति = स्वामी तं निषादस्थपतिं याजयेत् (अर्थात् निषादों का स्वामी जो कोई त्रैवर्णिक उससे यजन करावें — ऐसा षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार अर्थ ले? अथवा निषादश्चासौ स्थपतिः'' ऐसा कर्मधारय समास कर के निषादाभिन्न स्थपति उससे यजन करावें? यहाँ पर सिद्धान्त पक्ष को बतलाने वाला सूत्र है— ''स्थपतिनिषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात्'' (जै०सू०६—१—५१) अर्थात् षष्ठी समास करने पर निषाद पद की निषाद सम्बन्धी में लक्षणा करनी पड़ती है। अतः यहाँ कर्मधारय समास के अनुसार निषाद रूप स्थपति ही लेना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृत में भी ''तस्य त्वम्'' ऐसा षष्ठी समास करने पर सम्बन्ध रूप षष्ठी अर्थ में लक्षणा कर के अभेद रूप मुख्यार्थ का त्याग नहीं किया जा सकता है अपितु अभेद रूप मुख्यार्थ के लिए तत् और त्वम् में प्रथमा मानना ही उचित है। ''द्वितीयाविभक्त्यस्वारस्यम्'' के घटक ''अस्वारस्यम्'' के स्थान पर ''लक्षणात्'' ऐसा पाठान्तर है।।७।।

ननु—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'इत्यत्र तत्पदेन नात्मा परामृश्यते, किन्तु ऐतदात्म्यम्; नपुंसकत्वात्, ऐतदात्म्यमित्यस्य एष चासावात्मा च एतदात्मा तस्येदमैतदात्म्यम्। एवं च एतदीयं वस्तु त्वमसीत्यर्थः, नत्वभेदः; एतदात्मा यस्य तदैतदात्म्यमित्यर्थे भावप्रत्ययवैयर्थ्यापत्तेः। ततो वरमर्थान्तराश्रयणम्; विचित्रा हि तद्धितगतिरिति वचनात्।

'स स्रष्टा चैव संहर्ता नियन्ता रक्षिता हरिः। तेन व्याप्तमिदं सर्वमैतदात्म्यमतो विदुः।।'

इति स्मृतेश्चेति— चेन्न; तस्येदमित्यर्थे ष्यञोऽविधानात् प्रयोगादर्शनाच्च, स्वार्थे च सौख्यमित्यादिप्रयोगदर्शनात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'' (छा०उ०६—८—७) यहाँ पर ''तत्त्वमसि'' के तत् पद के द्वारा ''स आत्मा'' इस पूर्व वर्णित आत्मा को नहीं लिया जा सकता है अपितु तत् पद से ऐतदात्म्यम् को लिया जायेगा, क्योंकि ''तत्त्वमसि'' में आया हुआ तत् पद नपुंसक लिङ्ग है और ऐतदात्म्यम् यह भी नपुंसक लिङ्ग है। जब कि ''स आत्मा'' यहाँ पर आत्मा पुंलिङ्ग है। अब पूर्वपक्षी ''ऐतदात्म्यम्'' का अर्थ करते हुए कह रहा है कि ''एष चासौ आत्मा च'' एतदात्मा = सर्वात्मक ब्रह्म। तस्येदम् ऐतदात्म्यम् = उस सर्वात्मक ब्रह्म का सम्बन्धी यह सर्व है। अतः ''तत्त्वमसि'' का अर्थ होगा— ऐतदात्म्यं त्वमसि= सर्वात्मक ब्रह्म सम्बन्धी तुम हो। जहाँ सम्बन्ध होगा वहाँ भेद की ही प्रतीति होगी अभेद की नहीं । सिद्धान्ती जो अर्थ करते हैं कि एतद् (ब्रह्म) आत्मा (स्वरूप) यस्य। अर्थात् ब्रह्म है स्वरूप जिसका। इस प्रकार ऐतदात्म्यम् का अर्थ करने पर ''तत्त्वमसि'' का अर्थ होगा जीव ब्रह्म स्वरूप है किन्तु उक्त अर्थ करने पर ''ऐतदात्म्यम्'' में जो भाव प्रत्यय ष्यञ् है, वह व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि भाव रूप अर्थ यहाँ निकल नहीं रहा है, क्योंकि भाव प्रत्यय का अर्थ है सम्बन्धी। पूर्वपक्षी के अनुसार ''तस्येदम्'' से किया गया जो ष्यञ् प्रत्यय है। उसका सम्बन्धी अर्थ निकल रहा है। अतः सिद्धान्ती के अर्थ की अपेक्षा पूर्वपक्षी का अर्थ श्रेष्ठ है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में भाव प्रत्यय की सार्थकता उपपन्न हो जा रही है। पूर्वपक्षी ने जो ''ऐतदात्म्यम्'' का अर्थ किया। उसमें क्या प्रमाण है? इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि तद्धित प्रत्यय अनेक अर्थों में होता है और उक्त प्रकार के अर्थ को स्मृति में भी कहा गया है— वह हरि सर्व को बनाने वाला है और सर्व का संहार करने वाला है और सर्व का नियमन करने वाला तथा सर्व का रक्षण करने वाला है। अतः सर्व को ऐतदात्म्यम् = हरि सम्बन्धी कहते हैं।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''तस्येदम्'' इस अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय का विधान नहीं है और इस अर्थ में ष्यञ् के प्रयोग को भी नहीं देखा जाता। प्रश्न होगा कि ष्यञ् का प्रयोग कहाँ होता है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि सौख्यम्— इत्यादि स्थलों पर स्वार्थ में ष्यञ् का प्रयोग देखा जाता है। सुख से स्वार्थ में ष्यञ् का विधान होकर सौख्यम् होगा। स्वार्थ में प्रत्यय होने से सौख्यम् का अर्थ सुख होता है। अतः ऐतदात्म्यम् में ष्यञ् प्रत्यय भी स्वार्थ में होने से अर्थ होगा— ऐतदात्म्यम् = ब्रह्म (न की ब्रह्म सम्बन्धी) अतः अर्थ होगा— एतद् सद् = जगत् का कारणीभूत ब्रह्म, वह है आत्मा = स्वरूप जिसका = सर्व का, तत् = उन सबको एतदात्मा = ब्रह्म स्वरूप कहते हैं। पुनः स्वार्थ में भाव प्रत्यय होने पर ''ऐतदात्म्यम्'' बना। स्वार्थ में प्रत्यय होने पर एतदात्मा का जो अर्थ है वही रहेगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ऐतदात्म्यम् का जो ''स आत्मा'' के साथ सामानाधिकरण्य निर्देश है, वह तो प्रत्यय के स्वार्थ में निर्देश होने से है। अर्थात् ''ऐतदात्म्यम'' से स्वार्थ में प्रत्यय होने से एतदात्मा होगा और उसका ''स आत्मा'' से सामानाधिकरण्य बन जायेगा। अथवा भाव (होना रूप क्रिया) और भविता

तथा च एतत् सद् आत्मा यस्य सर्वस्य तदेतदात्म तस्य भाव ऐतदात्म्यं सामानाधिकरण्यं च स्वार्थिकत्वाद्वा, भावभवित्रोरभेदोपचाराद्वा, 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इतिवत्। यत्तु स्मृतावेतद्व्यापकत्वेन ऐतदात्म्योक्तिः, सा न युक्ता; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधात्।।८।।

ननु—शरीरवाचिनां देवमनुष्यशब्दानां शरीरिपर्यन्तत्वदर्शनात् ब्रह्मशरीरभूतजीववाचित्वं पदस्य ब्रह्मपर्यन्तत्वेन तत्त्वमिति व्यपदेशः शरीरशरीरिभावनिबन्धनः, 'यस्यात्मा शरीरम्'इत्यादिश्रुतेरिति मुख्यमेवास्मन्मते पदद्वयमिति—चेन्न; शरीरिपर्यन्तत्वमिति तल्लक्षकत्वं वा, तत्रापि शक्तत्वं वा, शरीरविषयवृत्त्यैव तत्प्रतिपादकत्वं वा। नाद्यः; मुख्यत्वानुपपादनात्। न द्वितीयः; शरीरवाचिनामित्यसाधारण्येन निर्देशानुपपत्तेः प्रवृत्तिनिमित्त—मनुष्यत्वादिजातेः शरीरिण्यवृत्तेरुक्तत्वाच्च। न तृतीयः; अन्यविषयवृत्तेरन्यत्रानुपयोगेन शरीरशरीरिणोरनादिभ्रमसिद्धाभेदनिबन्धनोऽयं प्रयोगो वाच्यः। तथाचात्राप्यभेदनिबन्धन एवायं प्रयोगः, अभेदस्तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

(होने वाला) इन दोनों में अभेद (सामाना— धिकरण्य) का गौण प्रयोग होता है। अर्थात् यदि स्वार्थ में प्रत्यय नहीं भी मानते हैं तो भी भाव और भविता दोनों में अभेद का गौण प्रयोग होने से सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी। जैसे ''यो वै भूमा तत्सुखम्'' (छा०उ० ७—२३—१) यहाँ पर ''भूम्नो (सुखात्मनो) भावः = भूमा— इस प्रकार भूमा रूप भाव और भविता रूप सुखात्मा का सामानाधिकरण्य देखा जाता है। उक्त स्मृति में जो कहा गया कि एतद् व्यापकत्वेन ऐतदात्म्य की उक्ति है। अर्थात् हरि सर्व का सम्बन्धी है। अतः भेद की सिद्धि होती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त प्रकार से भेद को मानने पर एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की जो अभेद परक प्रतिज्ञा है। उससे विरोध होगा।।८।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जिसका कोई शरीर होता है उसका कोई शरीरी भी अवश्य होगा। अतः जिस शरीरी का देव मनुष्यादि शरीर है— ऐसा शरीरी अवश्य होना चाहिए। वह शरीरी मनुष्यादि शब्द का वाच्य हो नहीं सकता है। अतः वह मनुष्यादि से भिन्न ही होगा, क्योंकि मनुष्यादि का वाच्य तो केवल शरीर ही है। अतः ब्रह्म ही वह शरीरी है। उस ब्रह्म का देव मनुष्यादि शरीर है। इसको ''यस्य आत्मा शरीरम्'' इत्यादि श्रुति द्वारा कहा गया है। अतः त्वम् पद का अर्थ होगा— ब्रह्म का जीव रूप शरीर। इस पर जिज्ञासा होती है कि जीव रूप शरीर का शरीरी कौन है? उसका उत्तर शरीरशरीरिभाव सम्बन्ध को लेकर दिया गया कि जीव का शरीरी ब्रह्म ही है। अतः ''तत्त्वमसि'' का अर्थ होगा कि ''तुम ब्रह्म के शरीर हो।'' इस प्रकार पूर्वपक्षी के मत में दोनों पद (तत् और त्वम्) लक्ष्यार्थक न होकर मुख्यार्थक ही रहेंगे।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर वाची त्वम् पद शरीरी पर्यन्त अर्थ के बोधक होते हैं। इससे पूर्वपक्षी क्या यह कहना चाह रहा है कि त्वम् पद लक्षणा के द्वारा शरीरी का बोधन कराता है? (शक्तिवृत्ति से केवल शरीर का बोधन कराता है?) अथवा तत्र = शरीरी में अपि = शरीर में अर्थात् त्वम् पद शक्तिवृत्ति से शरीर और शरीरी दोनों का बोधन कराता है? अथवा त्वम् पद से केवल शरीर विषयणिवृत्ति बनती है और उस वृत्ति के द्वारा शरीरी रूप अर्थ का प्रतिपादन होता है? (इस पक्ष में शरीरी का प्रतिपादन त्वम् पद के द्वारा न तो शक्तिवृत्ति से न तो लक्षणा वृत्ति से होगा। अर्थात् शब्द प्रमाण से होगा ही नहीं अपितु कोई अन्य प्रमाण से होता है?) प्रथम पक्ष मानने पर पूर्वपक्षी ने जो कहा था— ''मुख्यमेवास्मन्मते पदद्वयम्।'' इसका खण्डन हो जायेगा, क्योंकि जब शरीरवाचक त्वम् पद में लक्षणा स्वीकार कर लिया तब शरीर वाचक त्वम् पद में मुख्यत्व नहीं रहेगा अपितु, लक्षकत्व रहेगा। द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शरीरशरीरि—एतदुभय वाचक पदों के लिए ''शरीरवाचिनाम्'' ऐसा

बाधकाभावादत्र तात्त्विक इत्येव विशेषः। यत्तु 'आदित्यो ब्रह्म' इतिवत् जीवे ब्रह्मत्वोपासनार्थस्तत्त्वमसीति निर्देश इति, तत्र; अनुपासनाप्रकरणस्थत्वेन दृष्टान्तवैषम्याद्, उक्तरीत्या वस्तुनिष्ठत्वे सम्भवति तत्त्यागायोगाच्च।।९।।

ननु—'स आत्मा तत्त्वमसि'इत्यत्रातत्त्वमसीति पदच्छेदः, 'शब्दोऽनित्य' इत्यत्रानित्य इति पदच्छेदो यथा घटदृष्टान्तानुसारेण, तथाऽत्रापि शकुनिसूत्रादिदृष्टान्तानुसारात्। नहि प्रथमखण्डे: ''स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः'' इत्युक्तयोः शकुनिसूत्रयोः षष्ठे ''लवणमेतदुदकम्''इत्यादिनोक्तयोर्लवणोदकयोः सप्तमे 'पुरुषं सोम्य गन्धारेभ्यः' इत्यादिनोक्तयोः पुरुषगन्धारदेशयोः नवमे च 'अपहार्षीत् स्तेयमकार्षीद्'इत्यादिनोक्तयोः

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रयोग नहीं होगा अपितु, ''शरीरशरीरिवाचिनाम्'' ऐसा प्रयोग होना चाहिए। दूसरा दोष यह है कि अचाक्षुषत्व की आपत्ति से मुनष्यत्वादि जाति आत्मवृत्ति नहीं मानी जाती है। यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। अतः मनुष्यादि शब्दों के प्रवृत्ति का निमित्त = मनुष्यत्वादि जाति वह शरीरी में नहीं रहेगी। अतः शरीरवाची मनुष्यादि शब्द का शक्ति लभ्य अर्थ शरीरी नहीं होगा, केवल शरीर ही होगा। अतः शक्तिवृत्ति से त्वम् पद शरीर शरीरी दोनों का बोधन कराता है—इसका खण्डन हो गया। तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि शरीर विषयणी वृत्ति का शरीरी के बोधन में कोई उपयोगिता नहीं होती है। ''यस्य आत्मा शरीरम्'' यह श्रुति वाक्य अनादि सिद्ध जो शरीरशरीरी में अभेद भम्र है। उस अभेद भ्रम को लेकर कहा गया है। इसी प्रकार जीव ब्रह्म में अभेद निबन्धन (कारण) ही ''तत्त्वमसि'' यह प्रयोग है। जीव ब्रह्म के अभेद का कोई बाधक न होने से जीव ब्रह्म के अभेद को तात्त्विक माना जाता है और शरीरशरीरी में जो अभेद है। उसका बाधक विद्यमान होने से उस अभेद ज्ञान को भ्रमात्मक माना जाता है—यही दोनों में भिन्नता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि ''आदित्यो ब्रह्म'' (छा०उ० ३—१९—१) इस स्थल पर आदित्य में ब्रह्मत्व दृष्टि से जैसे उपासना कही गयी है ठीक उसी प्रकार ''तत्त्वमसि'' इस स्थल पर जीव में ब्रह्मत्व दृष्टि से उपासना कही गयी है। ऐसा कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे—''आदित्यो ब्रह्म'' यह उपासना प्रकरण में है और ''तत्त्वमसि'' यह वाक्य ज्ञानकाण्ड में है। जीव ब्रह्म के अभेद में कोई बाधक न होने से वस्तुनिष्ठत्वे = ''तत्त्वमसि'' में वास्तविक अभेद की बोधकता मानना जब सम्भव है, तब, वास्तविक अभेद का त्याग करना उचित नहीं है।।९।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सर्वजन सिद्ध घट की अनित्यता है। अत ''शब्दो नित्यः कृतकत्वाद् घटवत् ''यहाँ पर जैसे घट दृष्टान्त के अनुसार ''शब्दोऽनित्यः'' इस प्रकार से पदच्छेद किया जाता है। कहने का भाव यह है कि यदि वक्ता को शब्द नित्य सिद्ध करना होता है तो वक्ता विनाशशाली घट को दृष्टान्त नहीं बनाता किन्तु अनित्य घट को दृष्टान्त बनाया है। अतः दृष्टान्त में साध्य का समन्वय करने के लिए ''अनित्यः'' ऐसा पदच्छेद किया जाता है। ठीक उसी प्रकार ''स आत्मा तत्त्वमसि'' (छा०उ० ६—८—७) यहाँ पर दिये गये शकुनिसूत्रादि दृष्टान्त के अनुसार ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद करना चाहिए। अर्थात् जीव ब्रह्म में भेद है (अभेद नहीं)। आगे पूर्वपक्षी यह दिखाने जा रहा है कि उक्त स्थल पर कहे गये जो दृष्टान्त हैं। उन स्थलों पर भेद ही देखा जा रहा है न कि अभेद। जैसे जो नव वार ''स आत्मा तत्त्वमसि'' का उपदेश दिया गया है। उसमें से प्रथम उपदेश में ''स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः (छा०उ० ६—८—२) इस प्रकार से कहे गये जो शकुनि (पक्षी) और सूत्र हैं। इन दोनों में ऐक्य नहीं है अपितु भेद ही है। इसी प्रकार छठे उपदेश में ''लवणमेतदुदकम्'' (छा०उ०६—१३—१) इस प्रकार से कहे गये जो लवण और उदक हैं। इन दोनों में अभेद नहीं है अपितु भेद ही है। ऐसे ही सप्तम उपदेश में ''पुरुषं सोम्य गन्धारेभ्यः''

स्तेनापहार्ययो: ऐक्यम्। स्तेनापहार्यदृष्टान्ते हि स्पष्टमैक्यज्ञानिनोऽनर्थ:, परकीयब्रह्मत्वाभिमानी हि स्तेन:, नतु विद्यमानब्रह्मत्वाज्ञानीति—चेन्न; शकुनिसूत्रादौ दृष्टान्ते विद्यमानोऽपि भेदो नातदिति पदच्छेदप्रयोजक:, तं विनैव तदुपपत्ते:, घटदृष्टान्तस्तु न नित्यत्व उपपद्यत इति वैषम्यात्। तथाहि—ज्वरादिरोगग्रस्तस्य तन्निर्मोके स्वास्थ्ये विश्रान्तिवज्जाग्रत्स्वप्नयो: करणव्यापारजनितश्रमापनुत्तये जीवस्य देवतात्मस्वरूपावस्थानमित्यस्मिन्नर्थे शकुनिसूत्रसदृष्टान्त इत्यन्यथैवोपपत्ते:, 'स्वमपीतो भवति'इति श्रुते:।।१०।।

ननु—ब्रह्मणि स्वशब्दो न जीवाभेदाभिप्राय:, किन्तु आत्मीयत्वाद्यर्थ: स्वातन्त्र्याभिप्रायो वा; 'स्वातन्त्र्यात्स्व इति प्रोक्त:' इत्यागमात्, 'अपीतो भवति'इत्यस्यापि तिरोहित: सन् प्राप्तो भवतीत्येवार्थ:; नत्वभिन्न इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

(छा०उ०६—१४—१) इस प्रकार से कथित जो पुरुष और गान्धार देश है, इसमें ऐक्य नहीं है किन्तु भेद ही है। इसी प्रकार नवम उपदेश में ''अपहार्षीत् स्तेनमपकार्षीत्'' (छा०उ०६—१६—१) इस प्रकार से स्तेन (चोर) और अपहार्य जो वस्तु है। इन दोनों में ऐक्य नहीं है अपितु भेद ही है। दूसरी बात यह है कि स्तेन और अपहार्य वस्तु के दृष्टान्त से अभेदवादी को अनर्थ की प्राप्ति हो रही है। कहने का भाव यह कि चोर ने दूसरे की वस्तु को अपने वस्तु से अभिन्न समझकर चोरी की। इस प्रकार का अभेद ज्ञान चोर के लिए अनर्थ कारी होता है। अर्थात् राजदण्डादि भोगना रूप अनर्थ के लिए होता है। इसी प्रकार अपने से भिन्न जो ब्रह्म है, उसमें ऐक्याभिमान करने वाला अभेद वादी ही स्तेन है— ऐसा अर्थ ही उचित है। सिद्धान्ती जो कहते हैं कि अपने में स्थित जो ब्रह्मत्व है। उसका अज्ञानी स्तेन है— वह उचित नहीं है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शकुनि सूत्रादि दृष्टान्तों में विद्यमान भेद ''अतत्त्वमसि'' इस प्रकार के पदच्छेद का हेतु नहीं बन सकता है, क्योंकि ''अतत्त्वमसि'' इस प्रकार से पदच्छेद किये विना ही शकुनि सूत्रादि दृष्टान्त में भेद की उपपत्ति हो जायेगी। पूर्वमीमांसा के अनुसार शब्द पक्ष में नित्यत्व को साध्य बनाने पर अवश्य ही घट दृष्टान्त नहीं बन पायेगा। अत: दृष्टान्त (घट दृष्टान्त) और दार्ष्टान्त (शकुनिसूत्रादि दृष्टान्त) में वैषम्य है। इस को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे ज्वरादि रोग से ग्रस्त पुरुष को ज्वरादि रोग के निवृत्त हो जाने पर स्वस्थता में विश्रान्ति होती है ठीक उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न में होने वाला जो करण व्यापार जनित श्रम है। उस श्रम की निवृत्ति के लिए देवतात्मस्वरूप (ब्रह्म स्वरूप आत्मा) में अवस्थान रूप अभेद शकुनि सूत्र दृष्टान्त के द्वारा कहा गया है। इस प्रकार ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद किये विना ही शकुनिसूत्र दृष्टान्त की उपपत्ति हो जाने से दार्ष्टान्त में भेद सिद्ध न होकर अभेद ही सिद्ध होता है। इस पर प्रश्न होता है कि ''प्राणमेव उपश्रयते'' (छा०उ०६—८—२) अर्थात् जीव सुषुप्ति काल में प्राण में अवस्थान करता है— ऐसा कहा गया है। अत: सिद्धान्ती ने जो कहा कि सुषुप्ति काल में जीव ब्रह्म में अवस्थान करता है, वह ठीक नहीं है। इसका उत्तर यह है कि उक्त प्राण पद से ब्रह्म कहा गया है। इसी को ''स्वमपीतो भवति'' (छा०उ०६—८—१) इस श्रुति के द्वारा भी कहा गया कि सुषुप्ति अवस्था में जीव अपने स्वरूप भूत ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है। ''इमा: सर्वा: प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकम्'' (छा०उ०८—३—२) इत्यादि श्रुतिवाक्यों को भी ग्रहण कर लेना चाहिए।।१०।।

शङ्का— ''स्वमपीतो भवति'' (छा०उ० ६—८—१) इस श्रुति में स्व शब्द का प्रयोग जो ब्रह्म के लिए किया गया है, वह जीव ब्रह्म स्वरूप है— इस अभिप्राय से नहीं किया गया है, अपितु स्व शब्द आत्मीयत्वाद्यर्थक है। अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों चेतन होने से चेतनत्व रूप समान ज्ञाति वाले हैं और

अपेःपिधाने इणो धातोश्च गतौ निष्ठायाः कर्तरि शक्तेः क्लृप्तत्वाद् ऐक्ये योगरूढ्योरभावाच्चेति—चेत्, न स्वशब्दस्य स्वरूपे मुख्यस्यार्थान्तरपरत्वे गौणीलक्षणयोरन्यतरापत्तेः अभेदे योगरूढ्योरभावेऽपि उपसर्गप्रकृतिप्रत्ययपर्यालोचनया लब्धस्वरूपप्राप्तिरूपार्थस्याभेदे पर्यवसानात्। अतएव—ऐक्यार्थत्वे अपीत इत्यस्य भवतेश्चाकर्मकतया श्रुतद्वितीयाऽयोगः अश्रुततृतीयाकल्पनमिति—निरस्तम्; अतएव—'यथा अस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते। एवमेवायं पुरुषः' इति सुषुप्तिसमये

सत्यानन्दप्रबोधिका

सुषुप्ति अवस्था में आत्मीय जो ब्रह्म उसको जीव प्राप्त करता है। अथवा स्व शब्द ब्रह्म के स्वातन्त्र का बोधक है। अर्थात् जीव ब्रह्म के अधीन होने से पराधीन है और ब्रह्म स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र (अपराधीन) ब्रह्म को सुषुप्ति अवस्था में पराधीन जीव प्राप्त करता है। ऐसा अर्थ लेने में आगम की सम्मति दिखा रहे हैं—

स्वातन्त्र्यात् स्व इति प्रोक्तं आत्मायं चातत्त्वतः। ब्रह्मायं गुणपूर्णत्वाद् भगवान् विष्णुरव्ययः।।

इसी प्रकार ''अपीतो भवति'' का अर्थ होता है तिरोहित हुआ प्राप्त होता है अर्थात् जाग्रत् तथा स्वप्न काल में परतन्त्र जीव के लिए स्वतन्त्र ब्रह्म तिरोहित था (अप्राप्त था) किन्तु सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त हो जाता है न कि जीव ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है। ऐसा अर्थ कैसे निकलता है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अपि पूर्वक इण् धातु से क्तः प्रत्यय करने पर ''अपीतः'' पद बनता है। इसमें अपि शब्द का अर्थ पिधान (तिरोधान) और इण् धातु का अर्थ गति तथा निष्ठा (क्तः) प्रत्यय से कर्ता का बोधन होता है। इस प्रकार ''अपीतः'' से जीव कर्ता और स्वम् = स्वतन्त्र ब्रह्म कर्म और इण् धातु से प्राप्ति कही गयी। फलतः तो कर्ता (जीव) है वह कर्म (ब्रह्म) नहीं हो सकता है। इसलिए इस श्रुति वाक्य में अभेदार्थ को बतलाने की योग शक्ति नहीं है। इसी प्रकार ''अपीतः'' शब्द अभेदार्थ में रूढ़ भी नहीं माना जाता है। अतः ''अपीतः'' शब्द की अभेदार्थ में रूढ़ शक्ति भी नहीं है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि स्वरूप में मुख्यार्थक जो स्व शब्द है उस स्व शब्द का स्वातन्त्र्य या आत्मीय अर्थ करने पर गौणी या लक्षणा इन दोनों वृत्तियों में से किसी एक को स्वीकार करने की आपत्ति होगी। इसी प्रकार ''अपीतः'' पद की अभेदार्थ में योगशक्ति या रूढ़शक्ति का अभाव होने पर भी उपसर्ग (उप) प्रकृति (इण् धातु) और प्रत्यय (क्तः) पर विचार करने से जो प्राप्ति रूप अर्थ लब्ध होता है। उसका अभेद में ही पर्यवसान होता है। अर्थात् सुषुप्ति से पहले स्वरूप लब्ध न होने का भ्रम था। सुषुप्ति में लब्ध स्वरूप प्राप्त होने पर ब्रह्म और जीव का स्वरूप एक होने के कारण अर्थात् अभेद में पर्यवसान हो जाता है। यहाँ पर लब्ध स्वरूप प्राप्ति का अर्थ है कि जो स्वरूप पहले से ही प्राप्त है उसी की ही प्राप्ति होती है न कि नवीन स्वरूप की प्राप्ति। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि इण् धातु और भू धातु अकर्मक हैं। अकर्मक होने से यहाँ द्वितीया विभक्ति हो नहीं सकती है। अतः ''स्वम्'' में आयी हुयी द्वितीया विभक्ति को तृतीया विभक्ति में बदल कर अर्थ करना होगा— स्वेनापीतो भवति। ऐसा करण अर्थ लेने पर भेद ही सिद्ध होगा अभेद नहीं क्योंकि करण और कर्ता आदि में भेद ही रहता है। अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। अत एव = अपीतः पद का पूर्वोक्त प्रकार से अभेद में पर्यवसान हो जाने पर पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त हो गया। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''यथा अस्मिन् आकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुषः एतस्मा अन्ताय धावति।'' (बृ०उ०४—३—१९) (जैसे इस भौतिक आकाश में बाज या श्येन पक्षी सभी ओर उड़कर थक जाने पर पंखों को अच्छी प्रकार फैला कर अपने घोंसलों की ओर ही दौड़ने लगता है ठीक ऐसे ही जीव (जाग्रत

श्रुत्यन्तरे भिन्नश्येननीडदृष्टान्तोक्तिरिति च—निरस्तम्; सर्वसाम्यस्य दृष्टान्ततायामतन्त्रत्वात्।।११।।

न च—प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः स इति सुषुप्तिविषये भेदश्रुत्या त्वन्मतेऽपि भेदपरेण सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेनेति सूत्रेण त्वत्पक्षेऽपि जागरण इव सुषुप्तावपि आविद्यकजीवब्रह्मभेदस्वीकारेण च विरोध इति—वाच्यम्ः यतो जाग्रत्स्वप्नयोरिव स्फुटतरविक्षेपो नास्तीत्यभिप्रायेण स्वस्वरूपप्राप्त्युक्तिः, न त्वात्यन्तिकाभेदाभिप्रायेण; अन्यथा सुषुप्तिमुक्त्योरविशेषापत्तेः। यदि सज्जगतो मूलं, तदा कथं नोपलभ्यत इत्याशङ्कायां विद्यमानमपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

और स्वप्न में प्रारब्धानुसार कर्म फल को भोग कर थक जाने पर) इस सुषुप्ति स्थान की ओर दौड़ता है।) इस श्रुति में भी सुषुप्ति काल में जीव के लिए श्येन और ब्रह्म के लिए नीड का दृष्टान्त जो दिया गया है। इस दृष्टान्त के माध्यम से भी यही सिद्ध होता है कि जैसे श्येन और नीड में भिन्नता है वैसे ही जीव और ब्रह्म में भी भिन्नता है न कि अभिन्नता। अत एव निरस्तम्। अत एव = ''स्वमपीतो भवति'' इत्यादि श्रुतियों का जैसे अभेद में पर्यवसान होता है वैसे ही इस श्रुति का भी अभेद में ही पर्यवसान होने से पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त हो गया। दूसरी बात यह है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में सर्वथा साम्य नहीं माना जाता है अन्यथा दोनों एक ही हो जायेंगे।।११।।

शङ्का— ''अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः सः'' (बृ०उ०४—३—२१) यहाँ प्राज्ञेनात्मना = ब्रह्मणा— यहाँ तृतीया विभक्ति है और पुरुषः = जीवः — यहाँ प्रथमा है। इस प्रकार यहाँ भेद का प्रतिपादन किया है। यदि सुषुप्ति अवस्था में अभेद मानोंगे तब तो इस भेद श्रुति से विरोध होगा। इसी प्रकार ''सुषुप्त्युत्क्रान्तोः भेदेन'' (ब्र०सू०१—३—४२) (योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः (बृ०उ०४—३—७) इत्यादि श्रुति में प्रतिपाद्य पुरुष परमात्मा है, क्योंकि ''प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः'' इस प्रकार सुषुप्ति और ''अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ उत्सर्जन्याति'' इस उत्क्रान्ति अवस्था में जीव से भिन्न रूप से परमात्मा का व्यपदेश है।) इस भेद बोधक सूत्र से विरोध होगा यदि सुषुप्ति में अभेद मानेंगे। सिद्धान्ती के मत में भी जागरण के जैसे सुषुप्ति में भी जीव और ब्रह्म में आविद्यक भेद माना गया है। अतः सुषुप्ति में अभेद मानने पर स्व सिद्धान्त से ही विरोध हो जायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जाग्रत और स्वप्न में अविद्या और अविद्या प्रयुक्त प्रपञ्च इन्द्रियादि की बहिर्मुखता रूप स्पष्टतर विक्षेप जैसे रहता है वैसे स्पष्टतर विक्षेप सुषुप्ति में नहीं रहता है, क्योंकि सुषुप्ति में केवल अविद्या रूप विक्षेप ही रहता है। इसलिए सुषुप्ति अवस्था में स्व स्वरूप की प्राप्ति कही गयी है, अत्यन्ताभेद के अभिप्राय से स्वस्वरूप की प्राप्ति नहीं कही गयी है। अन्यथा = यदि अत्यन्ताभेद के अभिप्राय से स्व स्वरूप की प्राप्ति मानेंगे तो सुषुप्ति और मुक्ति में भिन्नता ही सिद्ध नहीं हो पायेगी। सोते ही मुक्त होने की आपत्ति आयेगी। पूर्वपक्षी ने छठे उपदेश के अवसर पर लवण और उदक का दृष्टान्त जो श्रुति में कहा गया था। उस लवण और उदक में स्पष्ट भेद होने से दार्ष्टान्त में भी भेद सिद्ध होता है— ऐसा जो कहा था। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रकृत = जीव और ब्रह्म में अभेद स्वीकार करने पर भी (भेद न स्वीकार करने पर भी) लवण और उदक के दृष्टान्त की उपपत्ति हो जाती है। जैसे— यदि सद् वस्तु जगत् का मूल है तब उस सद्वस्तु की उपलब्धि क्यों नहीं होती है? इस शङ्का के निराकरणार्थ कहा गया कि वस्तु के विद्यमान होने पर भी कभी उपलब्धि नहीं होती है। अन्यथा = साधन विशेष से और प्रतिबन्धक के निवृत्ति हो जाने पर उक्त वस्तु की उपलब्धि हो जाती है। इसको स्पष्ट करने के लिए लवण और उदक का दृष्टान्त दिया गया है। इस प्रकार तत्रापि = दार्ष्टान्त

वस्तु नोपलभ्यते अन्यथा तूपलभ्यत इत्यमुमर्थं स्पष्टीकर्तुं लवणोदकदृष्टान्त इति; तत्राप्यन्यथोपपत्तेः। यद्येवं लवणमिवेन्द्रियैरनुपलभ्यमानमपि जगन्मूलं सत् उपायान्तरेण उपलब्धुं शक्यत इति तस्यैवोपलम्भे क उपाय इत्याशङ्कायां 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'इत्युपायं वक्तुं गान्धारपुरुषदृष्टान्त इति तत्राप्यन्यथैवोपपत्तेः। तथा चाचार्यवान् विद्वान् येन क्रमेण सता सम्बध्यते स क इत्याशङ्कायां सत्याभिसन्धस्यार्थप्राप्तिरनृताभि— सन्धस्यानर्थप्राप्तिरिति वक्तुं स्तेनास्तेनदृष्टान्त इति तत्राप्यन्यथैवोपपत्तेः। न च सत्यानृतदृष्टान्तेन पूर्ते ''अपहार्षीत्'' 'स्तेयमकार्षीत्'इति उदाहरणायोगः; तदुपपादकत्वेन पृथक् दृष्टान्तत्वाभावात्।१२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में अन्यथोपपत्तेः = भेद की सिद्धि के विना ही दृष्टान्त की उपपत्ति हो जाती है। अर्थात् पूर्वपक्षी ने दृष्टान्त को समन्वय करते हुए कहा था कि लवण और उदक में भेद है। अतः प्रकृत जीव और ब्रह्म में भी भेद सिद्ध होता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टान्त की उपपत्ति अन्य प्रकार से भी हो जायेगी। जैसे उदक में विलीन लवण श्रोत्राादि इन्द्रिय से उपलब्ध न होने पर भी साधन विशेष = रसना इन्द्रिय अथवा अग्नि के द्वारा जल सुखा देने पर नेत्रेन्द्रिय से लवण की उपलब्धि हो जाती है वैसे ही बहिर्मुख इन्द्रियादि से जगत् का मूल सत् वस्तु उपलब्ध न होने पर भी साधन विशेष से उपलब्ध हो जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि वह साधन विशेष क्या है जिससे जगत् के मूल सत् वस्तु की उपलब्धि होती है? इसके उत्तर में कहा गया कि ''आचार्यवान् पुरुषो वेद'' (छा०उ०६—१४—१) इस साधन विशेष को समझाने के लिए गान्धार पुरुष का दृष्टान्त दिया गया। यह दृष्टान्त भी भेद को न बताकर अन्य प्रकार से जीवब्रह्म के अभेद के बोध को ही बतलाता है। अर्थात् चोरादि के द्वारा आंख पर पट्टी बांधकर लाए गान्धार देश के पुरुष को जंगल में छोड़ देने पर किसी कृपालु पुरुष के द्वारा उसके आंख की पट्टी खोल देने पर और गान्धार देश की दिशा आदि बता देने पर वह गान्धार पुरुष अपने गन्तव्य को प्राप्त कर लेता है वैसे ही तत्त्ववेत्ता आचार्य से पूछकर उससे निर्देशित मार्ग पर क्रमशः चल कर साधक तत्त्वबोध प्राप्त कर लेता है। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि जिस क्रम से चलकर जिज्ञासु तत्त्वबोध प्राप्त करता है। वह ब्रह्म प्राप्ति का क्रम क्या है? इसके उत्तर में कहा गया कि सत् में अहन्ता को स्थापित करने वाले को अर्थ (संसार बन्धनादि से मुक्ति) की प्राप्ति और असत् में अहन्ता स्थापित करने वाले को अनर्थ (संसार बन्धनादि) की प्राप्ति होती है। इसको स्पष्ट करने के लिए स्तेन और अस्तेन का दृष्टान्त दिया गया है। अर्थात् जैसे चोर व्यक्ति अनृत में स्थित होकर जेलादि में कष्ट भोगता है और ईमानदार व्यक्ति सत्य में स्थित होकर जेलादि से मुक्त रहता है ठीक वैसे ही जिज्ञासु आचार्य से निर्देशित सत् वस्तु में स्थित होकर विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है और आचार्य सन्निधि से वञ्चित व्यक्ति देहादि असत् में स्थित होकर जन्म मरणादि के बन्धन में बंधा रहता है। इस प्रकार जीव ब्रह्म के भेद को कहे विना ही यह दृष्टान्त भी अन्य प्रकार (मोक्षामोक्ष के प्रतिपादन के प्रकार) से उपपन्न हो जाता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार सत्याभिसन्ध और असत्याभिसन्ध के कथन मात्र से ही मोक्षामोक्ष की पूर्तेः = उपपत्ति हो जा रही है। अर्थात् सिद्धान्ती का अभीष्ट उतने मात्र से ही सिद्ध हो जाने से ''अपहार्षीत् स्तेयमपकार्षीत्'' (छा०उ०६—१६—१) इत्यादि दृष्टान्त का कोई उपयोग न होने से इस दृष्टान्त में व्यर्थता की आपत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''अपहार्षीत्'' इत्यादि कथन भी उक्त दृष्टान्त का ही अंग है उससे पृथक नहीं है। अतः उक्त दृष्टान्त की उपपत्ति के साथ ही इसकी उपपत्ति हो जाने से इसके व्यर्थता की आपत्ति नहीं आयेगी।१२।।

शङ्का— छन्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के नवम खण्ड में ''यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति

ननु—नवमखण्डे 'नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्'इत्यादिनोक्तानां नानावृक्षरसानां तृतीये 'इमाःसोम्य नद्यः' इत्यादिनोक्तयोर्नदीसमुद्रयोश्चैक्यं वक्तुं नहि शक्यम्, नहि नानावृक्षरसा अन्योन्यभेदत्यागेन प्राक् सिद्धेन मधुना ऐक्यमापद्यन्ते, नवा प्राक् भेदभ्रान्तिविषयाः पश्चात्तदविषयाः, किन्तु तन्तव इव पटमन्योन्यभिन्ना एव प्रागसिद्धं मधूत्पादयन्ति। नचेदं दार्ष्टान्तिकानुगुणम्; नदीसमुद्रदृष्टान्तेऽपि किं नदीसमुद्रावयविनोरैक्यं, किंवा तदवयवजलाणूनां, उत द्रव्यान्तरारम्भः। नाद्यद्वितीयौ; माषराशौ प्रक्षिप्तमाषतदवयवानामिव क्षीरे

सत्यानन्दप्रबोधिका

नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मि इत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति संपद्यामहे इति।'' (छा०उ०६—९—१/२) इस श्रुति में कहा गया जो नाना वृक्षों का रस है — इनमें ऐक्य नहीं माना जा सकता है और छन्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के दशम खण्ड में ''इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति समुद्र एव भवति'' (छा०उ०६—१०—१) इस श्रुति से कहा गया जो नदी और समुद्र इन दोनों में ऐक्य नहीं माना जा सकता है। इन दोनों स्थलों पर ऐक्य क्यों नहीं माना जा सकता है? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि मधु प्राक् सिद्ध होता अर्थात् नानावृक्षों के रसों से पहले ही मधु होता तब तो उस प्राक् सिद्ध मधु के साथ नाना वृक्षों के रस ऐक्य को प्राप्त कर सकते थे किन्तु मधु प्राक् सिद्ध है नहीं। अतः नाना वृक्षों का रस मधु से अभिन्न हो जाता है— ऐसा नहीं कहा जा सकता है। फलतः जीवब्रह्मैक्य में इसको दृष्टान्त नहीं बना सकते हैं। अथवा नाना वृक्षों के रस मधु रूप को प्राप्त करने से पहले नाना वृक्ष रसों का जो भेद ज्ञान था वह भ्रम ज्ञान था। नाना वृक्ष के रसों का मधु रूप में परिणत होने के पश्चात् नाना वृक्ष रसों के पारस्परिक भेद भ्रम की निवृत्ति हो जाती है— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मधु रूप से परिणत होने से पहले नाना वृक्षों के रसों में जो भेद ज्ञान था, वह यथार्थज्ञान होता है। इस पर प्रश्न होता है कि पूर्वपक्षी के मतानुसार क्या है? इसका उत्तर असत् कार्य वाद का आश्रय कर के पूर्वपक्षी दे रहा है कि वहाँ वस्तु स्थिति यह है कि जैसे परस्पर भिन्न तन्तु प्राग्— असिद्ध पट को उत्पन्न करते हैं वैसे ही परस्पर भिन्न नाना वृक्षों के रस प्राग्— असिद्ध मधु को उत्पन्न करते हैं। किन्तु इस प्रकार का अर्थ सिद्धान्ती अभिमत अभेद रूप दार्ष्टान्त के अनुकूल नहीं है, क्योंकि यहाँ तो पट और तन्तु में भेद माना जाता है। दूसरी बात यह भी है कि सिद्धान्ती असत् कार्यवाद को मानते ही नहीं और सभी जीव सुषुप्ति में पहुँच कर प्राक् असिद्ध एक तत्त्व को उत्पन्न करते हैं— ऐसा भी सिद्धान्ती को अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार नदी और समुद्र के दृष्टान्त में भी प्रश्न होता है कि क्या नदी और समुद्र का जो स्थूल जल (अवयवी) में ऐक्य कहना चाहते हैं? अथवा इन स्थूल जलों का जो अवयवभूत नदी जल के परमाणु और समुद्र जल के परमाणु में एकता कहना चाह रहे हैं? अथवा नदी का जल समुद्र के जल में मिलकर नदी और समुद्र के जल से भिन्न कोई तीसरा जल उत्पन्न करते हैं? प्रथम पक्ष और द्वितीय पक्ष को इसलिए मानना उचित नहीं है, क्योंकि उड़द के ढेर में प्रक्षिप्त जो उड़द है। उन प्रक्षिप्त उड़दों का और प्रक्षिप्त उड़दों के अवयवों का ढेर भूत उड़दों के साथ तथा ढेर भूत उड़दों के अवयवों के साथ परस्पर मिश्रण होने पर भी ऐक्य नहीं होता है। इसी प्रकार दूध में प्रक्षिप्त जो जल है। उस प्रक्षिप्त जल का तथा प्रक्षिप्त जल के अवयवों का दूध के साथ तथा दूध के अवयवों के साथ मिश्रण होने पर भी ऐक्य नहीं होता है। इसी प्रकार नदी और समुद्र के जल का मिश्रण होने पर भी इन दोनों के अवयवीभूत जलों का और इन दोनों के अवयवीभूत जलों के परमाणुभूत अवयवों का ऐक्य नहीं

प्रक्षिप्तनीरतदवयवानामिव चान्योन्यमिश्रीभावेऽपि प्राग्भिन्नानां पश्चादप्यैक्यायोगात्, तृतीये तु भेद एव, एवं दार्ष्टान्तिकाननुगुण्यं चेति—चेत्।१३।।

न, स्फुटावच्छेदकविरहेण स्पष्टभेदाभावाभिप्रायेण दृष्टान्तानामुपात्तत्वेन दृष्टान्ते वास्तवभेदाभेदयोरौदासीन्येन त्वदुक्तदूषणगणानामगणनीयत्वात्। अतएव—सतो भेदस्याज्ञानमात्रे दृष्टान्त इति—निरस्तम्; भेदसत्तायामौदासीन्यात्। नचैवमस्फुटभेदविषयत्वस्यात्यन्तिकाभेदेऽनुपयोगः; सूक्ष्मोपाध्यवच्छिन्नस्य महोपाध्यवच्छिन्नैक्यवत्तदवच्छिन्नस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो सकता है, क्योंकि पूर्व में जो भिन्न पदार्थ होते हैं, पश्चात् भी भिन्न ही रहते हैं अभिन्न नहीं होते हैं। तृतीय पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् नदी जल और समुद्र जल मिलकर किसी अन्य जल को उत्पन्न करते हैं। ऐसा मानने पर उत्पन्न जल और उत्पन्न करने वाले जल में स्पष्ट भेद रहेगा। ऐसा होने से इस दृष्टान्त को दार्ष्टान्त (ऐक्य) के अनुकूल नहीं कहा जा सकता है।१३।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जाग्रत् काल में जो स्पष्ट भिन्न—भिन्न अहङ्कार रूप उपाधि के रहने से जो स्पष्ट भेद भासता है, सुषुप्ति काल में उन स्पष्ट अहङ्कारों के लय हो जाने से स्वरूपभूत ब्रह्म में जीवों का परस्पर स्पष्ट भेद नहीं रहता है— इसको दिखाने के लिए मधु दृष्टान्त और नदी दृष्टान्त दिया गया है। (अर्थात् भिन्न—भिन्न वृक्ष रूप उपाधि से युक्त रस जब मधु बन जाता है तब वृक्ष रूप उपाधि का अभाव होने से रसों में भेद का भान नहीं होता है। इसी प्रकार भिन्न—भिन्न नदीयाँ अपने स्पष्ट नामादि उपाधि को छोड़कर जब समुद्र में मिल जाती हैं। तब उनका मैं गङ्गा हूँ— मैं यमुना हूँ— इस प्रकार से भेद का भान स्पष्ट रूप से नहीं होता है। इस प्रकार भेद का स्पष्ट भान नहीं होता है— इसको दिखाने के लिए ही ये दोनों दृष्टान्त दिये गये हैं न कि वास्तविक भेद अथवा वास्तविक अभेद दिखाने के लिए उक्त दृष्टान्त दिये गये है। इसलिए पूर्वपक्षी के द्वारा दार्ष्टान्त = वास्तविक अभेद को मानकर मधु नदी आदि के दृष्टान्त में जो दोष दिया गया था। उसका खण्डन हो गया।) पूर्वपक्षी का यह जो कहना है कि मधु रूप से परिणत होने के पश्चात् नाना वृक्ष रसों में भेद विद्यमान रहने पर भी उन भेदों का अज्ञान रहता है— इस अभिप्राय से दृष्टान्त दिया गया है। इसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी सुषुप्ति काल में ब्रह्म में जीवों का पारस्परिक भेद विद्यमान होने पर भी उन भेदों का अज्ञान रहता है। अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। अत एव = स्पष्टभेदाभावाभिप्रायेण दृष्टान्तानामुपातत्त्वादेव निरस्तम्। अर्थात् स्पष्ट भेदाभाव को बतलाने के अभिप्राय से उक्त दृष्टान्तों के दिये जाने से पूर्वपक्षी का यह कथन कि उक्त अवस्था में विद्यमान भेद के अज्ञान को बतलाने के लिए दृष्टान्त दिया गया है— इसका खण्डन हो गया। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टान्त बोधक श्रुति भेद सत्ता के बोधन में उदासीन है।

शङ्का— सिद्धान्ती का यह जो कथन है कि सुषुप्ति अवस्था के स्फुट उपाधि के न रहने से अस्फुट भेद रहता है— इसको बतलाने के लिए उक्त दृष्टान्त दिये गये हैं। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि अस्फुट भेद को बतलाने वाले उक्त दृष्टान्तों को यदि माना जाता है तब उक्त दृष्टान्तों का अत्यन्त अभेद बतलाने वाले दार्ष्टान्तों में कोई उपयोग ही नहीं होगा। फलतः उक्त दृष्टान्तों में व्यर्थतापत्ति आयेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सूक्ष्मोपाधि = अन्तःकरण रूप उपाधि का सुषुप्ति अवस्था में लय हो जाने पर सूक्ष्मोपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य का महोपाधि = अविद्योपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य से जैसे स्फुट भेद का अभाव रहता है। वैसे ही सूक्ष्मोपाधि (अहङ्कार उपाधि) से उपलक्षित चैतन्य का ब्रह्म ज्ञान से महोपाधि = अविद्योपाधि का विलय (नाश) हो जाने पर अविद्या से अनवच्छिन्न अर्थात् उपलक्षित चैतन्य

तद्विलये अनवच्छिन्नैक्यमिति सम्भावनाबुद्धिजननद्वारोपयोगित्वसम्भवात्।।१४।।

अत एव 'ताः समुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव एव भवति'इत्यत्र प्रकृतनदीरुद्दिश्य समुद्रभवनविधाने सुवर्ण कुण्डलं भवतीतिवत्, ताः समुद्र एव भवन्तीति व्यपदेशः स्यात्। अतो नद्योऽनियतजलराशिरूपात् समद्रात् समुद्रं गच्छन्ति तं प्रविशन्ति च। समुद्रस्तु स एव। नैतासां समुद्रत्वमिति वा, समुद्र एव नतु नदीत्वं प्राप्नोतीति वार्थः। सतोऽप्यन्योन्यं भेदस्याज्ञान एवेमौ दृष्टान्तौ। अतएव—नानारसवाक्ये दार्ष्टान्तिके 'एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा'इति नदीसमुद्रवाक्ये च दार्ष्टान्तिके 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह'इति 'त इह व्याघ्रो वा'इति सतो भेदस्याज्ञानेनैवानर्थ उक्त इति।।१५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

के साथ अभेद होगा— इत्याकारक जो सम्भावना बुद्धि है। तादृश सम्भावना बुद्धि जनन द्वारा उक्त दृष्टान्तों की दार्ष्टान्त में उपयोगिता होने से उक्त दृष्टान्तों में व्यर्थतापत्ति नहीं आयेगी। (यहाँ ऐक्यवत् = स्फुट भेदाभाव के जैसे) अर्थात् सुषुप्ति कालीन स्फुट भेदाभाव का आत्यन्तिक अभेद को सिद्ध करने में उपयोगिता सूपपन्न है।।१४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि, ''ताः समुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति सः समुद्र एव भवति।'' (छा०उ० ६—१०—१) यहाँ पर विभिन्न दिशाओं से आने वाली नदियों को उद्देश्य कर के समुद्र भवन विधान मानने पर यह अर्थ होगा कि जैसे सुवर्ण कुण्डल हो जाता है वैसे ही वे नदियाँ समुद्र हो जाती हैं— इस प्रकार से कथन की आपत्ति होगी। अर्थात् श्रुति में ''सः समुद्र एव भवति'' इस प्रकार से ''सः'' में एकवचन न देकर ''ताः'' ऐसा बहुवचन कहना चाहिए और ''भवति'' न कहकर ''भवन्ति'' ऐसा कहना चाहिए। अर्थात् ''स समुद्र एव भवति'' के स्थान पर ''ताः समुद्र एव भवन्ति'' ऐसे कथन की आपत्ति होगी। जो कि मूल श्रुति से विरुद्ध होगा। इस प्रकार सिद्धान्तमतानुसार ''स समुद्र एव भवति'' इस वाक्य की अनुपपत्ति हो जाने पर पूर्वपक्षी स्वमतानुसार श्रुति का अर्थ करते हुए कह रहा है कि नियत जल राशि वाली नदियाँ अनियत जलराशिरूप समुद्र से निकलती हैं और उसी समुद्र में पुनः प्रविष्ट हो जाती हैं। समुद्र ज्यों का त्यों रहता है। अर्थात् समुद्र में कोई परिवर्तन नहीं आता है अथवा न तो नदियों में समुद्रत्व आता है और न समुद्र में नदीत्व आता है। समुद्र में नदियों के प्रवेश करने के पश्चात् समुद्र से नदियों का परस्पर भेद रहने पर भी उस भेद का अज्ञान रहता है— इस अर्थ में उक्त दोनों दृष्टान्त (मधु और समुद्र का दृष्टान्त) दिये गये हैं। अत एव = भेद रहने पर भी उस भेद का अज्ञान रहता है— इसको बतलाने के लिए ही उक्त दोनों दृष्टान्त दिये जाने से ही नाना रस वाले दृष्टान्त वाक्य का जो दार्ष्टान्त वाक्य है— ''एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति। (छा०उ० ६—९—२/३) यहाँ पर ''सम्पद्य'' से प्राप्ति कही गयी है। जिससे भेद सिद्ध होता है और ''न विदुः'' से उस भेद का अज्ञान सूचित होता है। इसी प्रकार नदी समुद्र दृष्टान्त वाक्य का जो दार्ष्टान्त वाक्य है—''एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा——''(छा०उ० ६—१०—२) में भी ''सम्पद्य'' से भेद कहा गया और ''न विदुः'' से उस भेद का अज्ञान कहा गया है। इसी प्रकार सुषुप्ति काल में जीव ब्रह्म से अभेद को प्राप्त नहीं करता है अपितु उस समय भी ब्रह्म से जीव का भेद विद्यमान रहता है किन्तु भेद का ज्ञान जीव को नहीं रहता है। अर्थात् उसका अज्ञान रहता है। इसलिए अनर्थ होता है। अर्थात् यदि भेद का ज्ञान रहता तब वह ईश्वर भजनादि करके मुक्त हो जाता पुनः व्याघ्रादि नहीं बनता— यह पूर्वपक्षी के कहने का भाव है।। १५।।

निरस्तम्: स्पष्टभेदविषयताभावाभिप्रायेण दृष्टान्तत्वात्। यच्च भेदाज्ञाननिबन्धनव्याघ्रादिरूपानर्थपरा श्रुतिरिति, तन्न; सति सम्पद्येत्यस्यासन्नत्वात्। 'न विदु'रित्यनेन सत्सम्पत्त्यज्ञानमुच्यते नतु भेदाज्ञानम्। तथाच सत्सम्पत्तेर्ज्ञानपूर्वकत्वाभावात् तत्तद्वासनया तत्तद्व्याघ्रादिभाव एव भवतीत्येतत्परत्वात्।।

तस्माद् दृष्टान्तवर्याणां भेदे तात्पर्यहानितः। एतेषामनुसारेण छेदो नातदिति स्फुटम्।।१६।।

ननु– अष्टमखण्डे स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति स्वातन्त्र्यशङ्कानास्पदसुषुप्तिनिदर्शनेन एकादशे चास्य यदेकां शाखां जीवो जहातीत्यादिना अन्वयव्यतिरेकोक्त्या पञ्चदशे च पुरुषं सोम्योतोपतापिनमित्यादिना स्वातन्त्र्यशङ्कानास्पदमरणनिदर्शनेन ईश्वराधीनत्वस्योक्तत्वादतदित्येव छेदो युक्त इति– चेन्न; स्वप्नान्तमित्यादेः सुषुप्त्यव्यवस्थायामेव जीवत्वविनिर्मुक्तं स्वं देवतारूपं दर्शयिष्यामीत्यनेनाभिप्रायेण उद्दालकेनावतारितत्वेनेश्व–राधीनत्वपरत्वाभावात्। जलादुत्थितानां वीचीतरङ्गफेनबुद्बुदानां पुनस्तद्भावं गतानां विनाशो दृष्टः। जीवानां

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– अत एव निरस्तम्। (यहाँ खण्ड संख्या १५ के प्रारम्भ में आये हुए ''अत एव'' का खण्ड संख्या १६ के प्रारम्भ में आये हुए ''निरस्तम्'' के साथ अन्वय करना चाहिए।) अत एव = स्फुटावच्छेदकविरहेण स्पष्टभेदाभावाभिप्रायेण दृष्टान्तानामुपात्तत्वादेव, पूर्वपक्षिणा यद् उक्तं तद् निरस्तम् – इत्यर्थः। इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सुषुप्ति में जीव और ब्रह्म में स्फुट भेद नहीं रहता है– इस अभिप्राय से उक्त दोनों दृष्टान्त दिये गये हैं, न कि भेद के अस्तित्व को बतलाने के लिए उक्त दोनों दृष्टान्त दिये गये हैं। अतः पूर्वपक्षी का पूर्वोक्त कथन खण्डित हो गया। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि भेद के अज्ञान के कारण व्याघ्रादि रूप अनर्थ की प्राप्ति होती है–इसको बतलाने के लिए उक्त श्रुति आयी है–ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ''सति सम्पद्य सति सम्पद्यामहे'' के समीप में ''न विदुः'' ऐसा पाठ होने से यह अर्थ निकलता है कि सुषुप्ति की सत् प्राप्ति का न जानना ही अनर्थ का कारण है न कि विद्यमान भेद का न जानना अनर्थ का कारण है। इसलिए सुषुप्ति में जो सत् की प्राप्ति है। वह ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस प्रकार ज्ञानपूर्वक न होने से व्याघ्रादि की तत्–तद् वासनाओं से प्रेरित होकर तत्तद् व्याघ्रादि भाव को प्राप्त होता है–इसी अर्थ को उक्त श्रुति में कहा गया है। आगे श्लोक के द्वारा फलितार्थ कहा जा रहा है–

तस्माद् दृष्टान्तवर्याणां भेदे तात्पर्यहानितः। एतेषामनुसारेण छेदो नातदिति स्फुटम्।।

{इसलिए (दार्ष्टान्त को स्पष्ट करने के लिए) जो दृष्टान्त श्रेष्ठ है। उनका तात्पर्य भेद के साधन में है ही नहीं। इसलिए इन दृष्टान्तों के सहारे ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद सम्भव ही नहीं है।}।।१६।।

शङ्का – छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के अष्टम खण्ड में आचार्य उद्दालक ने जिज्ञासु श्वेतकेतु से कहा–''स्वप्नान्तं सोम्य मे विजानिहि'' (छा०उ० ६–८–१) स्वप्नान्तम् = सुषुप्तपुरुषम्। अर्थात् सुषुप्त पुरुष का क्या स्वरूप है–इसे मुझसे समझो। जाग्रत् काल में तो ऐसी शङ्का हो सकती थी कि जीव ईश्वराधीन नहीं है किन्तु स्वाधीन है। जो चाहे सो कर सकता है किन्तु सुषुप्ति में यह शङ्का नहीं हो सकती है। इस प्रकार से जीव में स्वातन्त्र्य शङ्का को दूर करते हुए ईश्वर अधीनत्व और ईश्वर का भेद प्रतिपादित है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के एकादश खण्ड में– ''अस्य चैकां शाखा जीवो जहाति अथ सा शुष्यति'' (छा०उ० ६–११–२) यहाँ अन्वय व्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि जीव का कहीं रहना और कहीं न रहना यह जीव के अधीन नहीं है अपितु ईश्वर के अधीन है। इस प्रकार यहाँ पर भी जीव में ईश्वर अधीनत्व और ईश्वर का भेद प्रतिपादित है। इसी प्रकार ''पुरुषं सोम्य! उतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते

प्रत्यहं स्वरूपतां गच्छतां मरणप्रलययोश्च नाशाभाव: कथमित्याशङ्कायां तत्परिहारत्वेनोक्तस्य वृक्षशाखानिदर्शनस्य जीवाधिष्ठितं शरीरं जीवति तदपेतं च म्रियते नतु जीवो म्रियत इत्येतत्परत्वात्। 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' इति वाक्यशेषात् यथा सोम्योपतापिनमित्यस्यापि 'आचार्यवान् विद्वान् केन क्रमेण सत् सम्पद्यत इत्याशङ्कायां तत्क्रमप्रदर्शनपरत्वेन ईश्वराधीनत्वे तात्पर्याभावात्।।१७।।

यत्तु एकादशे 'जीवेनात्मनानुप्रभूत: पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति'इत्यत्र जीवशब्द ईश्वरपर: मोदमान इति संसारिण: पृथगुक्तिरिति, तन्न; मोदमान इत्यस्य दृष्टान्तत्वेन प्रक्रान्तवृक्षविशेषणत्वेन संसारिपरत्वाभावेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मन: प्राणे प्राणस्तेजसि तेज: परस्यां देवतायां तावज् जानाति।'' (छा०उ० ६–१५–१) (उपतापिनम् = ज्वरादि से अन्यन्त सन्तप्त) यहाँ पर भी जीव के मरण के दृष्टान्त के द्वारा जीव में स्वातन्त्र्य शङ्का को दूर करते हुए ईश्वराधीनत्व तथा ईश्वर का भेद प्रतिपादित है। अत: ईश्वर अधीनत्व और ईश्वर भेद को जीवगत देखते हुए ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद करना ही उचित है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ''स्वप्नान्तं मे सोम्य'' (छा०उ० ६–८–१) इसके द्वारा सुषुप्ति अवस्था में ही सुषुप्त पुरुष जीव भाव से रहित होकर अपना जो ब्रह्म स्वरूप उस को प्राप्त कर लेता है– इसको दिखाने के लिए आचार्य उद्दालक ने ''स्वप्नान्तम्'' इत्यादि को अवतरित किया है न कि ईश्वराधीनत्वादि बतलाने के लिए। इसी प्रकार ''अस्य चैकां शाखां जीवो जहाति अथ सा शुष्यति'' (छा०उ० ६–११–२) इस दृष्टान्त से यह कहा गया कि जल से उत्पन्न होने वाले फेन बुलबुलादि पुन: जलभाव को प्राप्त होकर अर्थात् जल में विलीन होकर नष्ट हो जाते हैं– ऐसा लोक में देखा गया है। तब प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में जीव स्व–स्वरूप को प्राप्त होने पर और मरण प्रलय प्राप्त होने पर जीवों के नाश का अभाव कैसे माना जाय? इस आशङ्का के परिहार के लिए वृक्षशाखा का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे जीव का सम्बन्ध रहने पर शाखा हरी रहती है और जीव का सम्बन्ध न रहने पर शाखा सूख जाती है। ऐसे ही जीव से अधिष्ठित शरीर जीता है और जीव से अधिष्ठित जो शरीर नहीं है वह शरीर मर जाता है किन्तु जीव नहीं मरता है–इसको स्पष्ट करने के लिए श्रुति में उक्त दृष्टान्त (छा०उ० ६–११–२) को दिया गया है। इस पर प्रश्न होता है कि पूर्वपक्षी ने इस श्रुति का जो अर्थ किया उसको न मानकर सिद्धान्ती ने जो अर्थ किया, उसको ही क्यों माना जाय? इसके उत्तर में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्धान्ती के द्वारा किये गये अर्थ का पोषक वाक्यशेष है– ''जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते इति'' (छा०उ० ६–११–३) (जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है जीव नहीं मरता है।) इसी प्रकार ''पुरुषं सोम्य! उतोपतापिनम्'' (छा०उ० ६–१५–१) इस स्थल पर ''आचार्यवान् विद्वान किस क्रम से सत् को प्राप्त होता है?'' ऐसी आशङ्का के निराकरण के लिए सत्प्राप्ति के क्रम को दिखलाने के लिए यह दृष्टान्त (छा०उ० ६–१५–१) दिया गया है। फलत: उक्त दृष्टान्तों का तात्पर्य जीव में ईश्वराधीनत्वादि के प्रतिपादन में नहीं है–यह सिद्ध हो जाने से पूर्वपक्षी इन दृष्टान्तों के सहारे ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद नहीं कर सकता है–यह सिद्धान्ती का भाव है।।१७।।

शङ्का — छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के एकादश खण्ड में कहा है– ''एष: जीवेनात्मनानुप्रभूत: पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।'' (छा०उ० ६–११–१) (यह वृक्ष जीवात्मा से ओतप्रोत है और केवल जलपान करता हुआ सानन्द स्थित रहता है।) इस श्रुति वाक्य घटक जीव शब्द ईश्वर का बोधक है क्योंकि

जीव इत्यत्र श्रुतार्थत्यागायोगात्। यच्च द्वादशे एतस्यैव सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठतीति, अत्र अणिमशब्दः सूक्ष्मेश्वरपरः; स एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति इहैव श्रुतावीश्वरे तस्य प्रयोगात्, नतु धानापरः; तासां किमत्र पश्यसीति अण्व्य इवेमा धाना इति भावप्रत्ययरहितेन स्त्रीलिङ्गेन बहुवचनान्तेन इवशब्दशिरस्केनाणुशब्देन निर्दिष्टतया तद्विपरीताणिमशब्दानर्हत्वाच्चेति—चेन्न; एषोऽणुरात्मेत्यत्र भावप्रत्ययरहितप्रयोगविषयेऽपीश्वरे एषोऽणिमेति प्रयोगदर्शनेन धानासु तथा वक्तुं शक्यत्वात्। नच तर्हि

सत्यानन्दप्रबोधिका

''मोदमानः'' इस पद के द्वारा संसारी जीव का पृथक् कथन है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य'' इस प्रकार से जिसका प्रकरण प्रारम्भ किया गया, ऐसा जो वृक्ष शरीर उसी का ''मोदमानः'' विशेषण है। (यहाँ पर प्रश्न होता है कि वृक्ष शरीर तो जड़ है। वह कैसे मोदमान हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि जीव के सम्बन्ध से जड़ वृक्ष शरीर में भी मोदमान शब्द के प्रयोग की योग्यता आ जाती है।) अतः ''मोदमानः'' पद से जीव को नहीं लिया जा सकता है। इसी प्रकार ''जीवेन'' पद के द्वारा बोधित जीव का परित्याग कर ईश्वर अर्थ भी लेना उचित नहीं है।

शङ्का— छन्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के द्वादश खण्ड में यह जो कहा गया है— ''यं वै सोम्य! एतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्य! एषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति'' (छा०उ०६—१२—२) (हे सोम्य इस वट वृक्ष की जिस सूक्ष्मता को तुम नहीं देखते हो, हे सोम्य उस अणिमा का ही कार्य इतना बड़ा यह वट वृक्ष खड़ा है।) इस श्रुति वाक्य के घटक अणिम शब्द से सूक्ष्म ईश्वर कहा गया है, क्योंकि इस श्रुति के वाक्य शेष में कहा गया है—

''स एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' (छा०उ०६—१२—३) यहाँ पर अणिमा शब्द का प्रयोग ईश्वर अर्थ में किया गया है। अतः अणिमा शब्द को धान (बीज) का बोधक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''किमत्र पश्यसीति अण्व्य इवेमा धाना'' (छा०उ०६—१२—१) यहाँ ''अण्व्यः'' पद भाव प्रत्यय से रहित है और स्त्रीलिङ्ग है, तथा प्रथमा बहुवचन का रूप है तथा ''अण्व्यः'' पद इव शब्दशिरस्क (शिरस्क = पश्चात्) अर्थात् ''अण्व्यः'' पद के बाद (पश्चात्) में इव शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत अर्थात् (छा०उ०६—१२—१) में आया हुआ चार प्रकार (भाव प्रत्यय रहित, स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त तथा इव शब्द युक्त) वाले से विपरीत = भाव प्रत्ययान्त, पुंलिङ्ग एकवचन और इव शब्द से रहित ऐसा जो (छा०उ०६—१२—३) में आया हुआ अणिमा शब्द, उसके द्वारा धाना (वट बीज) का कथन नहीं हो सकता है। अतः यहाँ अणिमा शब्द से सूक्ष्म ईश्वर को लेना चाहिए और न्यग्रोध से जीव अधिष्ठित वट वृक्ष कहा गया है। इस प्रकार दृष्टान्त में ईश्वर और जीव के भेद होने से ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद करना चाहिए— ऐसा पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'' (छा०उ०३—१—९) यहाँ पर जिस ईश्वर को भाव प्रत्यय रहित अणु शब्द के द्वारा कहा गया है। उसी ईश्वर को (छा०उ०६—१२—३) में भाव प्रत्ययान्त अणिमा के द्वारा जैसे कहा गया है, वैसे ही भाव प्रत्यय से रहित जो धाना उस को अणिमा इस प्रकार भाव प्रत्यय से युक्त रूप से कहा ही जा सकता है।

शङ्का— तर्हि = यदि अणिमा शब्द के द्वारा धान बीज का कथन किया गया और उस बीज (वटबीज) को ''अण्व्यः इवः'' इस कथन के द्वारा अणु के जैसे है— ऐसा कहा गया तब तो बीज अदृश्य नहीं अपितु

न निभालयस इत्युक्तादृश्यत्वायोगः; अनुभूतायां धानायामेव महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति स त्वयाऽनभिव्यक्तत्वात् न ज्ञायत इत्येवंपरत्वात्।।१८।।

ननु–यदि पञ्चदशे विदुषो ब्रह्मप्राप्तिमात्रं विवक्षितम्, तदा तस्य वाङ्मनसि सम्पद्यत इत्यादि तेजः परस्यां देवतायामित्यन्तमेव वाक्यं स्यात्, यावन्न वाङ्मनसि संपद्यत इत्यादि व्यर्थं स्यादिति– चेन्न; लौकिकमरणे यः सत्सम्पत्तिक्रमः स एव विदुषोऽपि, विशेषस्तु ज्ञानाज्ञानकृत इति अमुमर्थं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सत्सम्पत्तिक्रम इति वैयर्थ्याभावात्। न च 'तत् सत्यं स आत्मा'

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृश्य होगा। अतः ''न निभालयसे'' से जो अदृश्य कहा गया है, उससे विरोध होगा।

समाधान– उक्त शङ्का का समाधान यह है कि जो सूक्ष्म रूप से दृश्य होने पर भी उस सूक्ष्म बीज में महान् वृक्ष छिपा रहता है। वह महान् वृक्ष बीज में अनभिव्यक्त होने के कारण तुझे दिखाई नहीं पड़ता है। फलतः बीज को अदृश्य नहीं कहा गया है किन्तु बीज में जो छिपा हुआ महान् वट वृक्ष उसको अदृश्य = अनभिव्यक्त कहा गया है। अतः सिद्धान्ती के द्वारा किये गये अर्थ में किसी भी प्रकार से विरोध उपस्थित नहीं होता है।।१८।।

शङ्का– खण्ड संख्या १७ में पूर्वपक्षी ने कहा था– ''पुरुषं सोम्य! उतोपतापिनम्'' (छा०उ०६–१५–१/२) यहाँ मरण के दृष्टान्त से यह कहा गया है कि जीव स्वतन्त्र नहीं है और ईश्वराधीन है। अतः भेद होने से ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद करना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या १७ के अन्त में कहा था कि आचार्यवान् विद्वान् किस क्रम से सत् प्राप्त करता है– इसको कहा गया है, ईश्वराधीनत्वादि को नहीं। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि (छा०उ० ६–१५–१/२) में विद्वान् के ब्रह्म प्राप्ति के क्रम मात्र को बतलाना ही अभीष्ट है तब तो ''तस्य वाङ्. मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्'' (छा०उ०६–१५–२) तक का ही वाक्य चरितार्थ हो पायेगा। ''जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ्.मनसि सम्पद्यते'' (छा०उ०६–१५–१) इत्यादि वाक्य व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि बन्धु बान्धवों को पहचानना ब्रह्मप्राप्ति के कथन में अनपेक्षित है। अर्थात् श्रुति के उतने भाग को नहीं कहना चाहिए था किन्तु श्रुति ने कथन किया है। अतः उक्त वाक्य का ब्रह्म प्राप्ति में तात्पर्य नहीं है अपितु जो पूर्वपक्षी ने कहा है कि मरण दृष्टान्त से जीव में पराधीनता और ईश्वराधीनत्व कहा गया है वही उचित है। अतः ''अतत्त्वमसि'' पदच्छेद करना उचित ही है– यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो तत्त्वज्ञानी नहीं है– ऐसे व्यक्ति के मरण में जो सत् की प्राप्ति का क्रम है वही सत् की प्राप्ति का क्रम तत्त्वज्ञानी के मरण में भी है। इस पर प्रश्न होता है कि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही सत् में लीन होते हैं, तब इनमें अन्तर क्या है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि ज्ञानी का सत्सम्पत्ति क्रम ज्ञान पूर्वक है और लौकिक (अज्ञानी) का सत्सम्पत्ति क्रम अज्ञान पूर्वक होता है। अज्ञान पूर्वक होने के कारण पुनः संसार में आता है और ज्ञानी विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। इसी अर्थ को प्रतिपादन करने के लिए दृष्टान्त में अन्वय व्यतिरेक से सत्सम्पत्ति का क्रम दिखाया गया है। अतः व्यर्थता की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। यहाँ अन्वय व्यतिरेक को इस प्रकार समझना चाहिए। वागादि के लय होने पर सत्सम्पत्ति होती है– यह अन्वय है और वागादि के लय न होने पर सत्सम्पत्ति नहीं होती है– यह व्यतिरेक है। दूसरी बात यह है कि वागादि के सम्पत्ति (लय) न होने पर विशेष ज्ञान (तत्त्व ज्ञान) होने पर भी सत् में सम्पत्ति (विदेह कैवल्य की प्राप्ति) नहीं होगी, क्योंकि जब तक तत्त्वज्ञानी

इत्यत्रात्मशब्देनाणिमशब्दोक्तेश्वर एव गृह्यते नतु जीवः, 'यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते।।' इति वचनादिति–वाच्यम्।।१९।।

कतम आत्मेत्यादौ आत्मशब्दस्य जीवे प्रसिद्धत्वाद्, वचनोक्तविषयात्तृत्वस्य जीव एव स सम्भवात् तत्परिग्रहस्यैवोचितत्वात्। यच्च 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति वाक्योक्तो न जीवः तद्वाचिशब्दाभावादिति सिद्धान्तितम्, तदात्मशब्दस्य न जीवे अमुख्यत्वाभिप्रायेण किन्तु प्रधानादौ। जीवस्य तु आत्मत्वेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीवित रहता है तब तक सत् स्वरूप (विदेह कैवल्य) को नहीं प्राप्त होता है। इसमें यह वाक्य भी प्रमाण है– ''तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये।'' (छा०उ०६–१४–२) और वागादि की सम्पत्ति (लय) होने पर भी विशेष ज्ञान (तत्त्वज्ञान) न रहने पर भी सत्सम्पत्ति होती है, क्योंकि अज्ञानी प्राणी भी मरते समय सत् में लीन होता है किन्तु, अज्ञान उपाधि सहित। यही यहाँ विशेषता है। फलतः सत् सम्पत्ति के पश्चात् ज्ञानी मुक्त होता है और अज्ञानी पुनः संसार में आता है। ऐसा अर्थ लेने से कोई भी पद व्यर्थ नहीं होगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''स य एषोऽणिमा एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'' (छा०उ०६–८–७) यहाँ पर आत्मा शब्द के द्वारा अणिमा शब्द से कहा गया ईश्वर की गृहीत होता है न कि जीव। इसमें महाभारत का यह वचन प्रमाण है।

''यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।''
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते।।

{अर्थात् आत्मन् शब्द आप्लृ व्याप्तौ, आङ्.पूर्वक डुदाञ् दाने, अद भक्षणे और अत सातत्य गयने– इन चार धातुओं से बनता है। अतः आत्मन् शब्द को आप्लृ धातु से निष्पन्न मानने पर अर्थ होगा कि जो सर्व व्याप्त है वह आत्मा है। आङ्. पूर्वक डुदाञ् धातु से निष्पन्न आत्मा शब्द का अर्थ होगा– अपने उदर में विश्व का आदान करने वाला और अद् धातु से निष्पन्न आत्मा शब्द का अर्थ होगा– मृत्यु पर्यन्त समस्त चराचर जगत का भक्षक। अत धातु से निष्पन्न आत्मा शब्द का अर्थ होगा– सतत् गतिशील वाला। इस प्रकार ये सभी अर्थ ईश्वर के ही हैं न कि जीव के। अतः आत्मा शब्द से ईश्वर ही लिया जायेगा। ऐसा आत्मा का अर्थ होने पर ''तत्त्वमसि'' का अर्थ होगा– जो सर्व व्याप्त आदि है वह सर्व व्यापक ईश्वर है– ऐसा पूर्वपक्षी का भाव है।}।।१९।।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं हैं, क्योंकि ''कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः'' (बृ०उ०४–३–७) (जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा– आत्मा कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा– जो प्राणों में बुद्धि वृत्तियों के भीतर स्थित विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है।) इत्यादि श्रुतियों में आत्मा शब्द की प्रसिद्धि जीव में होने से और उक्त महाभारत वाक्य में जो ''विषयान् अत्ति'' कहा गया है, उससे भी आत्मा शब्द जीव का ही वाचक होगा, क्योंकि ईश्वर के लिए श्रुति ने ''अनश्नन्'' कहा है। अतः ''तत् सत्यं स आत्मा'' (छा०उ०६–८–७) में भी आत्मा शब्द से जीव को लेना उचित ही है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का यह जो कथन है ''यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानम्'' (मु०उ०२–२–५) इस श्रुति वाक्य पर विचार करते हुए ''द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्'' (ब्र०सू०१–३–१) इस सूत्र से कहा गया कि द्युलोक–भूलोकादि का आयतन ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्म का वाचक आत्मा शब्द है। अतः प्रकृत में भी आत्मा शब्द से ब्रह्म ही लेना चाहिए।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन यह है कि ब्रह्मसूत्र के सूत्र का सिद्धान्त जीव में आत्मशब्द की

परिच्छिन्नतया जगत्कर्तृत्वासम्भवाद् व्युदास इत्येवंपरम्, जीवेनात्मनेति सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च। न च जीवशब्देन ईश्वर एवोक्तः; रूढ़िपरित्यागे कारणाभावाद्, रूढेश्च क्लृप्तत्वाद्, अहं हि जीवसंज्ञ इत्यादेश्च अभेदपक्षेऽपि सम्भवात्। न च प्राणधारकत्वमीशमात्रवृत्ति; जीवसाधारणत्वात्। न च त्रिवृत्करणपूर्वकनामरूप–व्याकरणस्य जीवेऽसम्भवः अस्मदादावसम्भवेऽप्यत्रिवृत्कृतभूतारब्धलिङ्गशरीराभिमानिनो हिरण्यगर्भस्य नामरूपात्मकप्रपञ्चव्याकरणसम्भवात्।।२०।।

न च–तर्हि पुनर्जीवप्रवेशोक्त्ययोगः 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' 'इमास्तिस्रो देवता' इति पूर्वमेव चेतनत्वसिद्धेरिति–वाच्यम्; अव्याकृतभूतसृष्टौ साक्षात्कारणत्ववत् ब्रह्माण्डादिसृष्टौ न साक्षात्कारणता किन्तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

अमुख्यवृत्ति है– इस आशय से नहीं किया गया है अपितु प्रधानादि में आत्मा शब्द के अमुख्यत्व के अभिप्राय से है। इस पर प्रश्न होता है कि आत्मा शब्द से जीव क्यों नहीं लिया गया। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जीव मुख्य रूप से आत्मशब्द वाच्य होने पर भी जीव परिच्छिन्न होने के कारण जगत्कर्ता नहीं हो सकता है। इसलिए आत्मा शब्द के मुख्यार्थ जीव को छोड़कर ब्रह्म लिया गया है। जीव को आत्मशब्द का मुख्यार्थ न मानने पर ''अनेन जीवेन आत्मना'' (छा०उ०६–३–२) इस श्रुति में जीव के साथ आत्मा का जो सामानाधिकरण्य निर्देश है। वह अनुपपन्न हो जायेगा। इस श्रुति वाक्य में जीव शब्द से ईश्वर कहा गया है– ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जीव का जो रूढ़ि अर्थ है उसको त्याग करने में कोई कारण उपलब्ध नहीं है और विना कारण के विशेष अर्थ में निश्चित रूप रूढ़ि अर्थ को त्यागा नहीं जाता है। यह जो कहा गया कि ''अहं हि जीव संज्ञो वै मयि जीवः समाहितः'' इत्यादि मोक्ष धर्म के भगवद् वचन में जीव शब्द से ईश्वर कहा गया है। वह भी उचित नहीं है, क्योंकि उक्त भगवद् वचन का अभेद पक्ष में भी अर्थ किया जा सकता है कि मैं और जीव अभिन्न हैं और जीव मुझमें ही समाहित है। अतः इस वाक्य के बल पर जीव शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि शरीर में ईश्वर के रहने से ही प्राण का धारण होता है और शरीर में ईश्वर के न रहने से शरीर में प्राण नहीं रहता है। अतः जीवति= प्राणं धारयति इति जीवः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जीव शब्द ईश्वर का बोधक है– ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि शरीर में जीव के रहने पर प्राण धारण होता है और न रहने पर नहीं होता है। साधारण इसलिए कहा गया कि समष्टि प्राणधारकत्व जैसे ईश्वर का धर्म है वैसे ही व्यष्टि प्राणधारकत्व जीव का भी धर्म है। अतः सामान्य रूप से प्राणधारकत्व दोनों में है। इसलिए उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार जीव का अर्थ ईश्वर नहीं किया जा सकता है। यह जो कहा गया कि त्रिवृत्करण पूर्वक नाम रूप की सृष्टि जीव में सम्भव नहीं है। वह यद्यपि अस्मदादि में सम्भव नहीं है तथापि अत्रिवृत्कृत भूतों से उत्पन्न जो सूक्ष्म शरीर तादृश सूक्ष्म शरीर अभिमानी जो हिरण्यगर्भ उसमें नाम रूपात्मक प्रपञ्च की सृष्टि करने की सामर्थ्य सम्भव है। (यहाँ पर यह ध्यान देना चाहिए कि एक जीव वाद में हिरण्यगर्भ को ही मुख्य जीव माना जाता है और अन्य को जीवाभास। अतः मुख्य जीव में सृष्टि की सामर्थ्य मानना उचित ही है।)।।२०।।

शङ्का– तर्हि = नाम रूप प्रपञ्च व्याकरण से पूर्व यदि जीव था और जीव ईश्वर अभिन्न है– ऐसा मानने पर भूतादि की सृष्टि के अनन्तर उसमें जीव रूप से प्रवेश का कथन व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि अचेतन प्रपञ्च में चेतनत्व सम्पादन के लिए उक्त प्रवेश कहा गया है। वह चेतनत्व तो भूतों में पहले से ही है, क्योंकि ''तत्तेज ऐक्षत'' (छा०उ०६–२–३) ''ता आप ऐक्षन्त'' (छा०उ०६–२–४) इमास्त्रिस्रो देवताः''

स्वाभिन्नजीवद्वारेणेत्येवंपरत्वात्। किञ्च 'एकमेवाद्वितीयम्'इत्युपक्रमात् न श्येनादिदृष्टान्तानुसारादतदिति पदच्छेदो युक्तः; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानविरोधाद्, ब्रह्मजीवैक्यस्याप्रसक्तत्वेन निषेधानुपपत्तेश्च। नच– 'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठम्'इत्यादाविव श्रुतितात्पर्यापरिज्ञानेन 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्'इत्यादाविव– नादिकुसमयेन वा देहेन्द्रियादीन् प्रति स्वातन्त्र्यरूपस्य ऐश्वर्यस्य सर्वैरपि स्वात्मन्यभिमन्यमानत्वेन प्रत्यक्षेण वा प्रसक्तिरैक्यस्येति–वाच्यम्: ऐक्यतात्पर्यस्य प्रमितत्वेन सुसमयत्वस्य व्यवस्थापितत्वेन च

सत्यानन्दप्रबोधिका

(छा०उ०६–३–१) इत्यादि वाक्यों से उनमें ईक्षण कर्तृत्व रूप चैतन्य पहले से ही विद्यमान है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अव्याकृत (सूक्ष्म) भूत सृष्टि की साक्षात् कारणता जैसे ईश्वर में है वैसे ही ब्रह्माण्ड आदि की सृष्टि की साक्षात् कारणता ईश्वर में नहीं है अपितु स्व = ईश्वर से अभिन्न जीव = हिरण्यगर्भ के द्वारा ही कारणता है। अर्थात् ईश्वर हिरण्यगर्भ के द्वारा स्थूल प्रपञ्च की सृष्टि करता है– इसी अर्थ में उक्त श्रुति (जीवेनात्मनानुप्रविष्य) का तात्पर्य है। अतः जीव के प्रवेश की उक्ति व्यर्थ नहीं है। दूसरी बात यह है कि ''सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'' (छा०उ०६–२–१) इस प्रकार से अभेद पोषक उपक्रम के होने से केवल श्येन आदि के दृष्टान्त के बल पर भेद मानकर ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद नहीं किया जा सकता है। यदि भेद मानकर ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद करेंगे तब तो एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा से विरोध होगा। जीव और ब्रह्म का अभेद प्रमाणान्तर से अप्रसक्त होने से उसका निषेध ''अतत्त्वमसि'' के द्वारा भी नहीं हो सकता है क्योंकि अप्रसक्त के निषेध की आपत्ति होगी।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो कहा कि ऐक्य की प्रसक्ति नहीं है– वह उचित नहीं है, क्योंकि ''एहि–एहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिः यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्ति– अर्चयन्त्यः एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः।'' (मु०१–२–६) इस श्रुति का तात्पर्य है कि कोई निष्काम कर्म करते हुए मन आदि शुद्ध कर परमात्मा की प्राप्ति के लिए नहीं अग्रसर हो रहा है अपितु निषिद्ध कर्म करते हुए संसार की तरफ प्रवृत्त होने जा रहा है। उस व्यक्ति को उस तरफ से रोक कर सकाम कर्म करते हुए स्वर्ग प्राप्ति के लिए अग्रसर किया जा रहा है। पुनः सकाम कर्म की निन्दा कर के निष्काम कर्म करते हुए मन की शुद्धि के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति कराना ही श्रुति का तात्पर्य है किन्तु ''एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः'' (मु०१–२–६) का तात्पर्य यह समझ लेते हैं कि स्वर्ग की प्राप्ति ही सर्वोत्तम है और उसका साधन इष्टापूर्त कर्म ही वरिष्ठ है तब कहा गया कि सकाम कर्म (इष्टापूर्तकर्म) को ही पुरुषार्थ का सर्वोतम साधन अर्थात् वरिष्ठ साधन समझने वाले स्वर्ग में कर्म फल का अनुभव कर इस मनुष्य शरीर या इससे भी अधम तिर्यक आदि शरीर को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से श्रुति के तात्पर्य को न समझने वालों के द्वारा प्राप्त इष्टापूर्त कर्म गत वरिष्ठत्व का ''इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठम्'' (मु०उ०१–२–१०) इस श्रुति के द्वारा निषेध किया गया है, वैसे ही ईश्वर जीव में भेद है– ऐसा श्रुति का जो तात्पर्य है उसको न समझने वाले सिद्धान्ती को जीव ईश्वर का ऐक्य प्राप्त है। उसी ऐक्य का ''अतत्त्वमसि'' के द्वारा निषेध किया है। अथवा अनादि काल से शून्यवादी के कुमत से जो यह प्राप्त है कि जगत् का कारण असत् है। इस कुमत का जैसे ''तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्'' (छा०उ०६–२–१) इस श्रुति के द्वारा निषेध किया गया है ठीक वैसे ही अद्वैत रूप कुमत के द्वारा प्राप्त जो ऐक्य उसका निषेध ''अतत्त्वमसि'' के द्वारा किया गया है। अथवा देह इन्द्रिय के प्रति में स्वतन्त्र हूँ। अर्थात् मैं ही ईश्वर हूँ– इस प्रकार जीव ईश्वर का ऐक्य प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त है। उसका निषेध करने के लिए ''अतत्त्वमसि'' ऐसा पदच्छेद किया गया है। अतः

तात्पर्यापरिज्ञानकुसमयप्राप्तत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। ऐक्यलिङ्गस्यापि आभिमानिकत्वाभावेन तेन चेत् प्रसक्तिः, तदा निषेद्धुमशक्यतैव; देहेन्द्रियादीनां जीवस्यैक्येनाध्यस्तत्वात् तान् प्रति स्वातन्त्र्याभिमानस्य सार्वलौकिकस्य वक्तुमशक्यत्वाद् यत्किञ्चित्प्रति स्वातन्त्र्यस्य ईश्वरलक्षणत्वाभावाच्च।।२१।।

एतेन—एकमेवाद्वितीयमिति समाभ्यधिकराहित्यस्योपक्रमाद् ऐतदात्म्यमिति तस्यैवोपसंहाराद् अतत्त्वमसीति नवकृत्वोऽभ्यासाद् शास्त्रं विना शास्त्रैकगम्यस्य ईश्वरभेदस्याप्रसक्ततयाऽपूर्वत्वाद् अथ सम्पत्स्यत इति फलश्रवणाद् येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यर्थवादात् शकुनिसूत्रादिदृष्टान्तैरुपपादनाद् षड्विधतात्पर्यलिङ्गानि भेदपराण्येवेति—निरस्तम्; एकमेवेत्यत्र समाभ्यधिकराहित्यमात्रेण भेदोपक्रमत्वाभावाद्, अभेदेऽपि तत्सम्भवाद्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

यहाँ पर अप्रसक्त निषेध की आपत्ति नहीं है— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐक्य विषयक श्रुति का तात्पर्य प्रमित है और श्रुति सम्मत श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ आचार्यों के द्वारा व्यवस्थापित होने से सुमत है। अत: अद्वैत मत को तात्पर्य परिज्ञान से रहित या कुमत नहीं कहा जा सकता है। ऐक्यलिङ्गस्यापि = मैं देहादि के प्रति स्वतन्त्र हूँ। अर्थात् मैं देहादि का अधिष्ठान असङ्ग तत्त्व हूँ— इत्याकार जो प्रत्यक्षात्मक लिङ्ग है। उस लिङ्ग को आभिमानिक नहीं कहा जा सकता है। अत: ऐसे लिङ्ग से यदि ऐक्य की प्रसक्ति है तो उसे निषेध ही नहीं किया जा सकता है। देहेन्द्रियादि में जीवैक्य अध्यस्त है। यहाँ प्रथम पक्ष यह है कि अपना—अपना देहेन्द्रियादि जीव के साथ अभिन्नत्वेन अध्यस्त है। अत: दुनियाँ के जो सभी देहादि हैं उन सबके प्रति "मैं स्वतन्त्र हूँ।" ऐसा अभिमान किसी एक जीव को है— ऐसा कहा नहीं जा सकता है। अत: ऐक्य की प्रसक्ति प्रत्यक्ष से नहीं है। द्वितीय पक्ष यह है कि यत् किञ्चित् एक शरीरेन्द्रिय के प्रति स्वतन्त्रता का अभिमान यदि किसी एक जीव को है तो वह स्वतन्त्रता ईश्वर का लक्षण न होने के कारण उक्त प्रत्यक्ष के द्वारा जीव ईश्वर के ऐक्य की प्राप्ति है— ऐसा कहा ही नहीं जा सकता है।।२१।।

शङ्का— सिद्धान्ती ने जो कहा कि श्रुति का तात्पर्य ऐक्य विषयक है। उसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि श्रुति का तात्पर्य भेद विषयक है। जैसे— "एकमेवाद्वितीयम्" (छा०उ०६—२—१) इस श्रुति से कहा गया कि ईश्वर के समान भी कोई नहीं है और ईश्वर से श्रेष्ठ भी कोई नहीं है। इस प्रकार से उपक्रम में भेद दिखाया गया है। इसी प्रकार खण्ड संख्या ८ में "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् " (छा०उ०६—८—७) से कहा जा चुका है कि इस वाक्य का अर्थ है कि जीव ईश्वर के अधीन है। अत: इससे भेद सिद्ध होता है। फलत: इस उपसंहार वाक्य के द्वारा भी भेद ही कहा गया है। "अतत्त्वमसि" इस प्रकार नव बार भेद का ही अभ्यास है। शास्त्रैकगम्य ईश्वर है। अत: उस का भेद भी शास्त्र के विना अप्रसक्त होने से भेद में अपूर्वता है। "अथ सम्पत्स्ये" (छा०उ०६—१४—२) से फल कहा गया है। "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" (छा०उ०६—१—२) इससे अर्थवाद कहा गया है। शकुनि सूत्रादि दृष्टान्तों के द्वारा भेद के विषय में ही उपपत्ति दी गयी है। इस प्रकार तात्पर्य ग्राहक षड्विध लिङ्ग भेद बोधक ही है न कि अभेद बोधक।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन = ऐक्यतात्पर्यस्य प्रमितत्वेन सुसमयत्वस्य व्यवस्थापितत्वेन च, निरस्तम्। दूसरी बात यह है कि "एकमेवाद्वितीयम्" से सजातीय विजातीय स्वगत भेद से शून्य अद्वैत ही कहा गया है न कि समान या अधिक वस्तु का निषेध किया गया है। इसी प्रकार उपसंहार भी अभेद में ही है— इसे पीछे खण्ड संख्या ८ में स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी "एकमेवाद्वितीयम्" का अर्थ "समाभ्यधिकराहित्य" अर्थात् ईश्वर के समान कोई जीव नहीं है और ईश्वर

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानविरोधाद्, द्वितीयाभावमात्रस्यैवोपक्रमात्। अत एवाभ्यासोपसंहारावपि भेदविषयौ न भवतः अभेदे तु यथाऽपूर्वता तथोक्तम्। फलार्थवादोपपत्तीनामभेद एव सम्भवाच्च। तथा शाखान्तरस्थिताभेदवाक्यानामुपासनाप्रकरणस्थितानां तूपासनापरतया नाभेदपरवाक्यविरोधः॥२२॥

॥ इति तत्त्वमसिवाक्यार्थनिरूपणम्॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

से अधिक कोई जीव नहीं है— ऐसा जो अर्थ कर रहा था। उसका अर्थ अभेद पक्ष में भी समन्वय हो जायेगा कि जीव से अभिन्न ईश्वर के समान मिथ्या जड़ पदार्थ नहीं है और उससे अधिक भी नहीं है। अतः इस श्रुति के द्वारा भेद का उपक्रम नहीं माना जा सकता है। भेद मानने पर एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा जो है— उससे विरोध होगा। फलतः समस्त द्वैत के अभाव के माध्यम से ऐक्य से ही उपक्रम कहा गया है। अत एव = उक्त प्रतिज्ञा से विरोध होने से ही अभ्यास और उपसंहार भी भेद परक नहीं माना जा सकता है। ऐक्य पक्ष में अपूर्वता का प्रतिपादन पीछे किया जा चुका है। फल अर्थवाद और उपपत्ति इन तीनों का अभेद पक्ष में ही सम्भव है। उपासना प्रकरण में स्थित जो शाखान्तरीय अभेद वाक्य— ''आदित्यो ब्रह्म'' (छा०उ०३—१९—१) इत्यादि हैं। यहाँ पर आदित्य को जो ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है। वह उपासना के लिए कहा गया है। अतः वह वाक्य अभेद परक नहीं हो सकता है किन्तु भेद परक ही है वैसे ही ''तत्त्वमसि'' इस अभेद परक वाक्य को भी उपासना परक मान कर के भेद परक मानना चाहिए— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जैसे ''आदित्यो ब्रह्म'' (छा०उ०३—१९—१) यह वाक्य उपासना प्रकरण में स्थित है वैसे ही ''तत्त्वमसि'' इत्यादि अभेद बोधक वाक्य उपासना प्रकरण में स्थित नहीं हैं। अतः उपासना प्रकरण में पठित अभेद परक वाक्यों के साथ ''तत्त्वमसि'' इत्यादि अभेद परक वाक्यों का विरोध नहीं है।॥२२॥

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां तत्त्वमसिवाक्यार्थनिरूपणम्:—

११—अहं ब्रह्मास्मीत्यादिश्रुत्यर्थविचारः

बृहदारण्यकस्थितस्य तु 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मस्मि'इति वाक्यस्यानुपासना—प्रकरणस्थतया अभेदप्रमापकत्वमेव। न च तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणामिति भेदपरवाक्यशेषविरोधः; तत्रापि देवादिषु प्रबुद्धं पुरुषं निर्धार्य 'स एव तदभवद्'इति ब्रह्माभेदपरत्वेन भेदपरत्वाभावात्। न च—अत्र वाक्ये ब्रह्मण एव प्रकृतत्वान्नानेन जीवब्रह्मैक्यसिद्धिरिति—शङ्क्यम्; यो

सत्यानन्दप्रबोधिका

बृहदारण्यक उपनिषद् में स्थित ''ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथा— ऋषीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्— ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेद— अहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां भवति।'' (बृ०उ०१—४—१०) {उत्पत्ति से पहले यह नाम रूपात्मक प्रपञ्च ब्रह्म स्वरूप ही था। उसने अपने को ही जाना कि ''मैं ब्रह्म हूँ।'' ऐसा जानने से वह सर्वरूप हो गया। उसे देवताओं में से जिस जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में से भी (जिस जिसने उस ब्रह्म को उक्त प्रकार से जाना वह ब्रह्म रूप हो गया।) ऋषिवामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना कि मैं ही मनु और सूर्य हुआ था। इस प्रकृत ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार से जानता है कि ''मैं ब्रह्म हूँ'' तो वह इस विज्ञान से सर्व रूप हो जाता है। ऐसे तत्त्ववेत्ता का पराभव करने में द्योतनशील देवता भी समर्थ नहीं होते हैं क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी इन देवताओं का आत्मा हो जाता है।) यह श्रुति वाक्य अनुपासना प्रकरण = तत्त्वज्ञान के प्रकरण में स्थित होने से अभेद का ही यथार्थ बोधक है—''बृहदारण्यक—स्थितस्य तु'' यहाँ तु शब्द के द्वारा उपासना प्रकरण में स्थित अभेद बोधक वाक्यों की व्यावृत्ति की गयी है।

शङ्का— उक्त बृहदारण्यक श्रुति को अभेद प्रमापक मानने पर ''तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत'' इत्यादि भेद बोधक वाक्य शेष से विरोध होगा। यहाँ पूर्वपक्षी का भाव यह है कि मैंने घट को जाना। यहाँ मैं और घट भिन्न होते हैं वैसे ही देवतादि ने ब्रह्म को जाना तो यहाँ भी देवतादि और ब्रह्म में भेद रहेगा। अतः इस वाक्य को पूर्वपक्षी भेद परक कह रहा है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य शेष में भी देवादि को पहले तत्त्ववेत्ता रूप से कहा गया है। इसके पश्चात् तत्त्ववेत्ता रूप देवादि के लिए ''स एव तदभवत्'' इस प्रकार देवादि से ब्रह्म के अभेद का बोधन किया गया है। अतः उक्त वाक्य को भेदपरक नहीं माना जा सकता है।

शङ्का— ''ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्'' (बृ०उ०१—४—१०) यह श्रुति वाक्य जिस प्रकरण में आया है। वह प्रकरण केवल शुद्ध ब्रह्म का है। अतः ''अनेन = अहं ब्रह्मास्मीति'' इस वाक्य के द्वारा जीव और ब्रह्म के ऐक्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। पूर्वपक्षी के कहने का भाव यह है कि उक्त श्रुति वाक्य से यह कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व पर ब्रह्म ही था। उस पर ब्रह्म ने अपने को मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार से जाना। उस ज्ञान रूप निमित्त से वह पर ब्रह्म सर्वात्मक भाव को प्राप्त किया— इस प्रकार यहाँ जीव का उल्लेख ही नहीं है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''तद् यो देवानां प्रत्यबुध्यत'' इत्यादि वाक्य शेष में जीव बोधक जो देव— ऋषि—मनुष्य आदि शब्द आये हैं। उनके अनुसार उक्त श्रुति वाक्य में स्थित ब्रह्म शब्द से शुद्ध ब्रह्म न लेकर शबल ब्रह्म लिया जायेगा। (इसके पश्चात् जीव बोधक अहम्—देव—मनुष्यादि में

देवानामिति जीवपरामर्शिवाक्यशेषानुसारेण ब्रह्मपदस्य कार्यब्रह्मपरत्वात्, शुद्धब्रह्मपरत्वे च बोधनिमित्तस्य तस्मात्तत्सर्वमभवदिति सार्वात्म्यलक्षणफलकीर्तनस्यायुक्तत्वापत्तेः।।१।।

न च–'नाम ब्रह्मेत्युपासीतादित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इत्यादावितिशब्दशिरस्कतया नामाद्यभेदाभावादत्रापीति–शब्दशिरस्कतया ब्रह्माभेदाभाव इति–शङ्क्यम्; अनुपासनाप्रकरणस्थत्वेनाभेदाविवक्षाया नाम ब्रह्मेत्यादाविव वक्तुमशक्यत्वात्। न चेतिशब्दवैयर्थ्यम्; आत्मेत्येवोपासीत इत्यादाविव शब्दज्ञानयोः स्वाभाविकसकर्मकत्वप्राप्तौ तन्निराकरणपरत्वेनोपयोगात्। यच्च–अहं शब्दो जीवान्तर्यामिणि मुख्यः, अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

लक्षणा कर के शुद्ध आत्मा और शबल ब्रह्म में लक्षणा कर के शुद्ध ब्रह्म और उनका अभेद कहा जाता है जिसका फल सर्वरूपता है।) यदि ब्रह्म शब्द से शुद्ध ब्रह्म लेंगे तब तत्त्वज्ञान के निमित्त से होने वाला सर्वात्मता रूप फल का कथन जो ''तस्मात् तत्सर्वमभवत्'' (तस्मात् = तत्त्वज्ञान से, तत् = तत्त्वज्ञानी, सर्वरूप हो जाता है।) इस वाक्य शेष से किया गया है, वह अनुपपन्न हो जायेगा, क्योंकि ब्रह्म तो तत्त्वज्ञान के पहले से ही सर्वात्मक है।।१।।

शङ्का– ''नाम ब्रह्मेत्युपासीत'' (छा०उ०७–१–५) (यहाँ उपासीत के स्थान पर उपास्ते ऐसा पाठान्तर है।) ''आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'' (छा०उ०३–१९–१) इत्यादि श्रुति वाक्यों में ''ब्रह्म'' पद के अनन्तर इति शब्द होने से इन स्थलों पर नामादि के साथ ब्रह्म का जैसे अभेद नहीं माना जाता है वैसे ही ''अहं ब्रह्मास्मीति'' इस स्थल पर भी ''ब्रह्म'' पद के अनन्तर इति शब्द है। अतः यहाँ भी ब्रह्म के साथ अहम् = जीव का अभेद नहीं माना जा सकता है। ''नामाद्यभेदाभावात्'' के स्थान पर ''नामाद्यभाववत्'' ऐसा पाठान्तर है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है, क्योंकि दृष्टान्त वाक्य उपासना प्रकरण में है और दार्ष्टान्त वाक्य तत्त्वज्ञान के प्रकरण में है। अतः उपासना प्रकरण में स्थित वाक्य ''नाम ब्रह्मेत्युपासीत'' इत्यादि जैसे अभेद बोधक नहीं होते हैं वैसे ही तत्त्वज्ञान के प्रकरण में कहे गये वाक्य ''अहं ब्रह्मास्मीति'' इत्यादि भी अभेद के बोधक नहीं होंगे– ऐसा नहीं कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि उक्त प्रकार से समाधान देने पर इति शब्द व्यर्थ हो जायेगा तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''आत्मेत्येवोपासीत'' (बृ०उ०१–४–७) इत्यादि उपासना स्थल पर उपासीत– धातु रूप शब्द और उपासनात्मक ज्ञान के प्रति आत्मा में स्वाभाविक रूप से जैसे कर्म की प्राप्ति होती है। उसके वारण के लिए ''आत्मेत्येवोपासीत'' यहाँ पर जैसे इति शब्द दिया गया है। (इसे स्पष्ट करते हुए भाष्य में कहा गया है कि ''यस्त्वात्मशब्दस्येतिपरः प्रयोग आत्मशब्दप्रत्ययोरात्मतत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञाप नार्थम्।'') वैसे ही ''अहं ब्रह्मास्मीति'' यहाँ पर भी ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस शब्द के प्रति और एतच्छब्द जन्य ज्ञान के प्रति ब्रह्म में कर्मता वारण के लिए इति शब्द दिया गया है क्योंकि स्वतः सिद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म में साध्यत्व रूप कर्म सम्भव ही नहीं है। पूर्वपक्षी का कथन है कि अहम् शब्द जीव का अन्तर्यामी जो ईश्वर उसमें मुख्य है। अतः ''अहं ब्रह्मास्मि'' का अर्थ है कि अन्तर्यामी और ब्रह्म एक ही हैं नाना नहीं। उसी अन्तर्यामी बोधक अहम् शब्द का प्रयोग ''अहं मनुरभवं सूर्यश्च'' (बृ०उ०१–४–१०) इस श्रुति में किया गया है। अतः इस श्रुति का अर्थ होगा कि मनु सूर्य आदि का नियमन करने वाला अन्तर्यामी है। ऐसा अर्थ करने में आगम की सम्मति दिखा रहे हैं–

सर्वान्तयामिको विष्णुः सर्वनाम्नाभिधीयते। एषोऽहं त्वमसौ चेति न तु सर्व स्वरूपतः।।

{अर्थात् सर्व के अन्तर्यामी जो भगवान् विष्णु हैं। उन्हीं को ही ''एष–अहम्– त्वम्– असौ इत्यादि

अन्तर्यामिण्यहंशब्दप्रयोगात्, सर्वान्तर्यामिको विष्णुः सर्वनाम्ना विधीयते। एषोऽहं त्वमसौ चेति न तु सर्वस्वरूपतः।। इति वचनाच्चेति।।२।।

तन्न; शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववदिति न्यायेन वामदेवजीवचैतन्यस्य वस्तुनो ब्रह्माभेदेन सूर्यादिभावस्योक्ततया अन्तर्यामिपरत्वाभावात् 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवद्' इति पूर्ववाक्ये तत्त्वबोधनिमित्तकब्रह्मभावस्य प्रकृततया पश्यन् प्रतिपेदे इत्यादेरपि बोधनिमित्तब्रह्मभावपरतया अन्तर्यामिपरत्वाभावात्। स्मृतेरपि असाधरणतत्तदात्मनि शक्तेरावश्यकतया तत्सहचारेणान्तर्यामिणि एषोऽहमित्यादिप्रयोगः, न तु सर्वस्वरूपत इति—निषेधस्य तूपहितयोरैक्याभावनिबन्धनत्वान्न विरोधः।।३।।

अत एव—विशिष्टचैतन्यरूपे वामदेवे विशिष्टचैतन्यरूपमनुसूर्यादिभावो न सम्भवतीति—निरस्तम्: शास्त्रदृष्ट्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्वनामों से कहा जाता है। सर्व स्वरूप = अन्तर्यामी रूप न होने के कारण जीव को अहम् इत्यादि सर्वनामों से नहीं कहा जाता है।}''।।२।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''शास्त्र दृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्'' (ब्र०सू०१—१—३०) {वामदेववत्— वामदेव के समान, शास्त्र दृष्ट्या— मैं पर ब्रह्म हूँ— इस शास्त्र दृष्टि से, उपदेशः—''मामेव विजानीहि'' वक्ता इन्द्र का यह उपदेश प्रतर्दन के प्रति युक्त है। इसलिए ''प्राणोऽस्मि'' यह प्राण शब्द ब्रह्म परक है।} इस प्रकार इस सूत्र से यह कहा गया है कि यथार्थ रूप से ब्रह्माभिन्न जो वामदेव नामक जीवोपलक्षित चैतन्य है। उस चैतन्य रूप ब्रह्म को आत्मरूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना— मैं मनु हुआ और सूर्य भी। अतः उक्त वाक्य में अन्तर्यामी का बोधक अहम् शब्द को नहीं माना जा सकता है। इसको और स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''तद्धैतत्पश्यन्— ऋृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च'' इस वाक्य से पूर्व ''तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्'' (बृ०उ०१—४—१०) इस वाक्य में तत्त्वबोध निमित्तक जो ब्रह्मभाव कहा गया है। उसी का अनुशरण करते हुए आगे वाले वाक्य ''अहं मनुरभवं सूर्यश्च'' का भी अर्थ करना होगा कि वामदेव को भी तत्त्वबोध निमित्तक ब्रह्मभाव प्राप्त होने से ''अहं मनुः'' इत्यादि कहा गया है। अतः यहाँ पर अहम् को अन्तर्यामी का बोधक नहीं माना जा सकता है। उक्त आगम वाक्य से भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि चैत्र मैत्र आदि तत् तत् व्यक्ति को बोधन कराने की शक्ति अहम् शब्द में मानी जाती है। चैत्र—मैत्रादि के अन्दर रहकर जो नियमन करता है। उसे अन्तर्यामी कहा जाता है। अतः अहम् शब्द से जैसे चैत्र मैत्रादि को कहा जाता है वैसे ही चैत्रादि के अन्दर नियमन करने वाले अन्तर्यामी को भी अहम् शब्द से कहा ही जा सकता है। उक्त आगम में ''न सर्वस्वरूपतः'' इस प्रकार से स्वरूपैक्य का जो निषेध किया गया है, वह इसलिए कि अहन्त्व और अन्तर्यामित्व रूप उपाधियों से विशिष्ट स्वरूपों में अभेद नहीं माना जाता है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस उपाधि से विशिष्ट चैतन्य रूप वामदेव है, उस उपाधि से भिन्न उपाधि से विशिष्ट चैतन्य रूप सूर्य मनु आदि का अभेद नहीं बन सकता है, क्योंकि भिन्न—भिन्न उपाधि से विशिष्ट चैतन्य में सिद्धान्ती भी अभेद नहीं मानते हैं। फलतः अहम् का अर्थ अन्तर्यामी ही कर के ''अहं मनुरभवं सूर्यश्च'' इस वाक्य का समन्वय हो पायेगा।

समाधान— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। अत एव = पश्यन् प्रतिपेदे इत्यादेः बोधनिमित्तब्रह्मभावपरत्वात् निरस्तम्। इसको ही स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्'' (ब्र०सू०१—१—३०) इस सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया कि वेदान्त के द्वारा बोधित शुद्ध चैतन्य की एकता को ही उद्देश्य

तूक्तत्वात्। न च तर्हि शुद्धचित्यभवमित्युत्तमपुरुषायोगः; भूतपूर्वगत्या सम्भवात्। न च—अहं भूमिमदामार्यायेत्या—द्ययोगः, नहि चिन्मात्रं भूमिदात्रिति—वाच्यम्; उपहितचितमादाय तेषामुपपत्तेः। अहं नामाभवत्तस्योपनिषदहमित्यादेश्च तादृशोपासनापरत्वेन शक्तिनिर्णायकत्वाभावात्। तस्मान्नान्तर्याम्यभेदपरेयं श्रुतिः; अन्तर्यामिणि भेदाप्रसक्तेश्च।।४।।

न च नियम्यानन्त्यादिना प्रसक्तिः; एकस्मिन्नपि जीवे अनेकावयवनियामकत्वस्यैकस्मिन्नपि राजन्ये

सत्यानन्दप्रबोधिका

कर के कहा गया है कि ''मैं ही मनु और सूर्य था'' न कि विशिष्ट चैतन्य की एकता को लेकर। अतः विशिष्ट चैतन्य को लेकर दिया गया दोष खण्डित हो गया।

शङ्का— तर्हि = वामदेव ने यदि अपने को शुद्ध चित् समझकर यदि कहा कि ''अहं मनुरभवं सूर्यश्च'' तब तो, शुद्ध चित् में उत्तम पुरुष का प्रयोग नहीं होगा, क्योंकि अहम्—उपहित में ही उत्तम पुरुष का प्रयोग होता है। फलतः सिद्धान्ती के कथनानुसार यहाँ पर ''शुद्धचैतन्यः मनुरभवत् सूर्यश्च'' ऐसे प्रयोग की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि उक्त कथन बाधितानुवृत्ति से सम्भव हो जायेगा। अर्थात् तत्त्वज्ञान से पहले वामदेव अहन्त्वोपहित था। तत्त्वज्ञान होने पर अहन्त्व का बाध होकर शुद्ध चैतन्य रूप हो गया किन्तु अहन्त्व का बाध होने पर भी उस बाधित अहन्त्व उपाधि की अनुवृत्ति कर अहम् शब्द का प्रयोग उपपन्न हो जायेगा। जैसे दग्ध रज्जु जो कि राख हो चुकी है फिर भी उसे रज्जु कह दिया जाता है।

शङ्का— अहम् शब्द से शुद्ध चैतन्य लेने पर ''अहं भूमिम्— अदाम—आर्याय'' (यहाँ अदाम के स्थान पर अददाम ऐसा पाठान्तर है।) इसका अर्थ है— मैने आर्याय = इन्द्र के लिए, भूमि का दान किया— यह अर्थ उपपन्न नहीं हो पायेगा, क्योंकि शुद्ध चैतन्य में दान आदि क्रिया सम्भव ही नहीं है। पूर्वपक्षी के मतानुसार कोई दोष यहाँ पर नहीं होगा क्योंकि अहम् शब्द से अन्तर्यामी विष्णु लेंगे और विष्णु ने इन्द्र के लिए भूमि दान किया— इस प्रकार वाक्यार्थ सूपपन्न हो जायेगा। फलतः ''अहं ब्रह्मास्मि'' में भी अहम् शब्द से अन्तर्यामी ही लेना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अहम् शब्द से उपहित चैतन्य लेंगे। उसमें भूमि दातृत्वादि की उपपत्ति हो जायेगी। ''अहं नामाभवत्'' (बृ०उ०१—४—१) {अर्थात् सर्वात्मरूप से अपने को ही देखने के कारण इस श्रौत विज्ञान जनित संस्कार से युक्त प्रजापति (अन्तर्यामी) ने ''अहमस्मि'' ऐसा कहा। इसलिए अन्तर्यामी अहम् नाम वाला हो गया।} इस प्रकार यहाँ अहम् शब्द से अन्तर्यामी लिया गया है। ऐसे ही ''तस्योपनिषदहम्'' (बृ०उ०५—५—४) (अर्थात् दक्षिण नेत्र में जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष उसका अहम् यह गूढ़ नाम है, क्योंकि वह पुरुष प्रत्यग् आत्मा स्वरूप है।) इस श्रुति में अहम् शब्द से अन्तर्यामी लिया गया है। अतः ''अहं ब्रह्मास्मि'' में भी अहम् शब्द से अन्तर्यामी लेना चाहिए— ऐसा जो पूर्वपक्षी का कथन है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि ''अहम्'' शब्द की शक्ति अन्तर्यामी रूप अर्थ को बोधन कराने की है— ऐसा निर्णय उक्त उपासना बोधक वाक्यों के बल पर नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें भी वैसी वस्तु का आरोप कर के उपासना की जाती है। अतः अहम् के अन्तर्यामी न होने पर भी अहम् में अन्तर्यामी का आरोप कर के उपासना की जा सकती है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि अहम् का अर्थ अन्तर्यामी होता है। अतः ''अहं ब्रह्मास्मि'' यह श्रुति ब्रह्म और अन्तर्यामी के अभेद की बोधिका नहीं है, क्योंकि इनमें भेद ही प्रसक्त नहीं है।।४।।

शङ्का— एक अन्तर्यामी रूप नियामक के द्वारा अनेक जीवादि नियम्य पदार्थों का नियमन नहीं हो सकता

अनेकदेश नियामकत्वस्य च दर्शनात्। ''स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः'' इत्यस्यापि नान्तर्याम्यैक्यपरताः ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादिना शुद्धस्य ब्रह्मणः प्रकततया तस्मिन्नुपाधिकृतभेदस्य तात्त्विकत्वप्रसक्तौ तन्निराकरणार्थत्वेन ऐक्योपदेशोपपत्तेः। न चैवं छान्दोग्ये य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मीत्यत्र स एवैनान् ब्रह्म गमयतीत्यत्र भेदपरोत्तरवाक्यविरोधः; तस्य उपासनाप्रकरणस्थत्वे— नाहंग्रहोपासनापरतया विरोधाभावात्। नचोपासनाप्रकरणस्थितवाक्यबलादैक्यासिद्धावपि अनुपासनाप्रकरणस्थितादपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अतः अनेक नियम्यों के बल पर अन्तर्यामी में भी भेद की प्रसक्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि एक नियामक के द्वारा भी अनेक नियम्य होने पर भी एक नियामक में भेद नहीं माना जाता है जैसे एक जीव अपने भिन्न—भिन्न अवयवों का नियमन करता है किन्तु एक ही जीव में भेद नहीं माना जाता है और एक राजा अपने अधीन अनेक देशों का नियमन करता है किन्तु राजा में भेद नहीं माना जाता है वैसे ही अन्तर्यामी के द्वारा नियम्य अनेक होने पर भी अन्तर्यामी में भेद नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''अहं ब्रह्मास्मि'' में अहम् शब्द का अर्थ अन्तर्यामी है और उस अन्तर्यामी का ब्रह्म से ऐक्य कहा गया है। इसमें पूर्वपक्षी तैतरिय वाक्य की सम्मति देते हुए कह रहा है कि ''स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः'' (तै०उ०२—१—५) यहाँ पर श्रुति कह रही हैं कि पुरुष में रहने वाला व्यक्ति और आदित्य में रहने वाला व्यक्ति एक ही है। यहाँ श्रुतिस्थ ''सः'' पद से अन्तर्यामी लिया गया है। अतः इस श्रुति से भी सिद्ध हो रहा है कि अन्तर्यामी एक ही है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त श्रुति वाक्य में स्थित ''सः'' पद से अन्तर्यामी नहीं लिया जाता है किन्तु ''सः'' पद से शुद्ध ब्रह्म लिया जाता है, क्योंकि ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै०उ०२—१—१) इत्यादि वाक्यों के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन किया जा रहा है। उस शुद्ध ब्रह्म में उपाधिकृत भेद के तात्त्विकत्व की प्रसक्ति होने पर तादृश भेद के निराकरण के लिए अभेद का उपदेश ''स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः'' (तै०उ०२—१—५) से किया गया है।

शङ्का— एवम् = शुद्ध चैतन्य गत उपाधिकृत जो भेद, उस भेदगत तात्त्विकत्व के निराकरण के लिए '''स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः'' इस वाक्य से ऐक्योपदेश किया गया है— ऐसा मानने पर छान्दोग्योपनिषद् में ''य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोहमस्मि'' (छा०उ०४—११—१) इस वाक्य के द्वारा भी शुद्ध चैतन्यगत उपाधिकृत जो भेद उस भेदगत तात्त्विकत्व का निराकरण ही मानना पड़ेगा किन्तु ऐसा मानने पर ''स एवैनान् ब्रह्म गमयति'' (छा०उ०५—१०—२) इस उत्तर वाक्य से विरोध होगा क्योंकि अमानव पुरुष एनान् = सगुण उपासकों को ब्रह्म के पास ले जाता है। अतः उपासक जीव और ब्रह्म के साथ भेद कहा गया है।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य के द्वारा आदित्य पुरुष से उपहित ब्रह्म कहा गया है। उस उपहित ब्रह्म में अहन्त्वारोप पूर्वक अहंग्रहोपासना कही गयी है न कि शुद्ध चैतन्य का जीव से अभेद कहा गया है। उपहित ब्रह्म और जीव में भेद माना ही जाता है। अतः उक्त उत्तर वाक्य से कोई विरोध नहीं है।

शङ्का— उपासना प्रकरण में स्थित ऐक्य बोधक वाक्य के बल पर यदि अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है तब तो अनुपासना प्रकरण में स्थित ऐक्य बोधक ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्यादि वाक्यों से भी ऐक्य की सिद्धि नहीं हो सकती हैं। जैसे देवदत्त का नेत्र काशी में शब्द का श्रवण नहीं कर सकता है वैसे ही प्रयागराज में भी नहीं कर सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे उपासना प्रकरण

तदसिद्धिः शङ्कया; अन्यशेषत्वस्य तस्य तत्प्रयोजकस्याभावाद्, अथ योऽन्यां देवतामुपास्त इत्युत्तरवाक्यस्य भेदज्ञाननिन्दापरतया तदनुसारेण पूर्ववाक्यस्योपासनापरत्वायोगात्।।५।।

यत्तु ब्रह्मशब्दोऽत्र बृंहणार्थ इति न परब्रह्मैक्यसिद्धिः, अन्यथा पूर्ववाक्ये आत्मानमेवावेदहमित्यनेनैव ब्रह्मेति ज्ञानस्य सिद्धत्वाद् ब्रह्मास्मीति व्यर्थमिति, तन्न; आत्मशब्देन जीवचैतन्यमनूद्य बृंहितत्वाद्युपलक्षितब्रह्म–चैतन्याभेदविधिपरत्वेन सार्थकत्वात्। तथा च स्मृतिः 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दन' इत्यादिकापि सङ्गच्छते। यत्तु अथ योऽन्यां देवतामुमास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशु'रित्यत्रान्तर्यामिभेदज्ञाननिन्दनमिति, तन्न; अन्तर्यामिणोऽप्रकृतत्वात् पदद्वयलक्षणादेस्तात्पर्यानुरोधेन लब्धत्वात्।।६।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में स्थित वाक्य उपासना विधि के शेष होते हैं और अनुपासना प्रकरण में स्थित वाक्य उपासना विधि के शेष नहीं होते हैं। अतः सभी वाक्यों का स्वभाव एक जैसा होता है— ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है। फलतः उपासना प्रकरण स्थित वाक्य जो अन्य शेष हैं उनका प्रयोजन ऐक्य सिद्धि नहीं होता है और जो अनुपासना प्रकरण में स्थित वाक्य अनन्य शेष हैं। उनका प्रयोजन ऐक्य सिद्धि होता है। यदि कहा जाय कि ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस वाक्य को भी उपासना परक माना जाय तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''अथ योऽन्यां देवातामुपास्ते'' (बृ०उ०१—४—१०) यह उत्तर वाक्य भेद ज्ञान की निन्दा परक है। अतः पूर्व वाक्य (अहं ब्रह्मास्मि) को भेद घटित उपासना परक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जिसकी निन्दा की जाती है, उसी का विधान नहीं किया जाता है।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अहं ब्रह्मास्मि'' यहाँ ब्रह्म शब्द बृंहणार्थक है। इसलिए ''अहं ब्रह्मास्मि'' का अर्थ होगा— अहं शरीरादिवृद्धिकारकः। ऐसा अर्थ होने से ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस वाक्य के द्वारा जीव ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध नहीं होगा। अन्यथा = ''अहं ब्रह्मास्मि'' इसका अर्थ उक्त प्रकार से ''अहं शरीरादिवृद्धिकारकः'' ऐसा न मानकर इस वाक्य के द्वारा जीवब्रह्मैक्य सिद्धि मानने पर, पूर्ववाक्य (आत्मानमेवावेदहम्) के घटक आत्मा शब्द का अर्थ पूर्वपक्षी के मतानुसार ब्रह्म है। अतः इस वाक्य के द्वारा ही मैं ब्रह्म हूँ— इत्याकार बोध की उपपत्ति हो जाने से ''ब्रह्मास्मि'' यह भाग व्यर्थ हो जायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ ब्रह्म नहीं है अपितु जीव चैतन्य है। उस जीव चैतन्य का अनुवाद कर के बृंहितत्वादि से उपलक्षित ब्रह्म चैतन्य के अभेद का विधान किया गया है। अतः ''ब्रह्मास्मि'' यह भाग भी सार्थक है। फलतः उक्त वाक्य के किसी भी भाग में व्यर्थतापत्ति नहीं है। तथा च = उक्त श्रुति वाक्य से जब जीवब्रह्मैक्य सिद्ध है तब, ''अहं हरिः सवमिदं जनार्दनः'' इत्यादि स्मृति भी जीवब्रह्मैक्य बोधन करती हुयी संगत हो जाती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''योऽन्यां देवतामुपास्ते'' इत्यादि वाक्य के द्वारा जीव और ब्रह्म के भेद की निन्दा नहीं की गयी है अपितु अन्तर्यामी के भेद ज्ञान (अर्थात् अन्तर्यामी और ब्रह्म में भेद है— ऐसे भेद ज्ञान) की निन्दा की गयी है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ अन्तर्यामी का प्रकरण ही नहीं है अपितु जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रकरण चल रहा है, जिससे एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की उपपत्ति हो सके। अतः जीवब्रह्मैक्य में जो श्रुति का तात्पर्य हैं। उसके अनुरोध से अहम् और ब्रह्म पद में लक्षणा की ही जा सकती है।।६।।

यत्तु अत्र योऽन्यो जीव: अन्यां विलक्षणां देवतामुपास्ते अन्योऽसौ परमात्मा अहमस्मीति न स वेद यथा पशुरित्यर्थ इति, तत्तुच्छम्; व्यवहितान्वयदोपात्। अहं शब्दसन्निहितान्य इत्यस्य य इत्यत्र नयनात्। न च–'यस्य येनार्थसम्बन्ध' इति न्यायेन सन्निधानाद्योग्यताया: प्रबलत्वमिति–शङ्क्यम्; यथास्थितार्थसम्बन्धेऽप्युक्त–क्रमेण योग्यतासत्त्वात्। न चेयं श्रुति: स्वातन्त्र्येणान्यसद्भावनिषेधिका; अन्यत्वप्रतियागिनि स्वातन्त्र्योपस्थापक–पदाभावात्। यत्तु कैश्चिदुपास्त इति श्रवणात् प्रयत्नसाध्यज्ञानविजातीयवृत्त्यन्तररूपोपासनाया एव निषेध: ननु

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्'' (बृ०उ०१–४–१) इसका अर्थ है–''योऽन्यो जीव: अन्यां विलक्षणां देवतामुपास्ते अन्योऽसौ परमात्मा अहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्।'' अर्थात् परमात्मा से भिन्न जो जीव अपने से विलक्षण परमात्मा की उपासना करते हैं (कैसे) जीव से भिन्न जो परमात्मा है वह परमात्मा मैं ही हूँ– इस प्रकार से उपासना करते हैं, वह देवताओं का पशु है। इस प्रकार जीवब्रह्मैक्य ज्ञान की निन्दा की गयी है।

समाधान– पूर्वपक्षी का उक्त कथन अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि पूर्वपक्षी के अनुसार व्यवहित अन्वय की आपत्ति होगी, क्योंकि अहम् शब्द के अव्यवहित पूर्व में आया हुआ अन्य पद को उठाकर जो ''य:'' पद से अन्वय किया जा रहा है।

शङ्का– पूर्वपक्षी न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय के द्वितीयाह्निक के नवम सूत्र के भाष्य में कथित न्याय का उल्लेख व्यवहित अन्वय की उपपत्ति के लिए कर रहा है–

यस्य येनार्थ सम्बन्ध: दूरस्थस्यापि तस्य स:। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्।।

{एक पद के व्यवहित दूसरा पद है किन्तु उन दोनों पदों के अर्थ का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध है तब तो उन दोनों पदों में असमीपता (दूरी) होने पर भी अन्वय होगा किन्तु, एक पद के अव्यवहित दूसरा पद है, किन्तु उन दोनों पदों के अर्थ का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध यदि नहीं है तब तो उन दोनों पदों का आनन्तर्य (समीपता) अन्वय के प्रति कारण नहीं हो सकती है।} इस कथन के अनुसार सन्निधि की अपेक्षा योग्यता प्रबल मानी गयी है। अत: दोनों पदों के अर्थ के अन्वय की योग्यता होने पर सन्निधि का बाध कर के ''य:'' के साथ ''अन्य'' का अन्वय हो जायेगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिस क्रम से पद हैं। उस क्रम से भी अन्वय करने पर अर्थ के सम्ब– न्ध की योग्यता बनी ही रहती है। अत: व्यवहित अन्वय करना उचित नहीं है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अथ योन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशु:'' (बृ०उ०१–४–१०) इस श्रुति से ईश्वर से भिन्न जीवगत स्वातन्त्र्य का निषेध किया गया है। अर्थात् जो जीव ऐसा समझता है कि मैं परमात्मा से भिन्न स्वतन्त्र हूँ, वह पशु है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर से भिन्न जो जीव है। उसमें जिस स्वातन्त्र्य का निषेध किया गया है। उस स्वातन्त्र्य का बोधक कोई पद ही उक्त श्रुति वाक्य में नहीं है। अत: पूर्वपक्षी का उक्तार्थ खण्डित हो गया।

शङ्का– यह जो कहा जाता है कि ''अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते'' यहाँ उपास्ते का श्रवण होने से वस्तुतन्त्रभूत ज्ञान की अपेक्षा से विजातीय जो प्रयत्न साध्य वृत्ति रूप उपासना उसका निषेध इस श्रुति वाक्य के द्वारा हुआ है। मैं परमात्मा से भिन्न हूँ– इस प्रकार के ज्ञान का निषेध नहीं किया गया है। अत: मैं परमात्मा से भिन्न हूँ– इस प्रकार का ज्ञान यथार्थ ही है।

ज्ञानस्येत्युक्तम, तन्न; ''तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत'' इति पूर्ववाक्ये न स वेदेति निन्दावाक्ये च वेदनस्यैव निर्देशात् मध्यस्थितोपास्तेरपि ज्ञानपरत्वात्।।७।।

एवं मुण्डके 'स यो ह वैतत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्येतदपि वाक्यमभेदपरमेव। न च—द्वितीयब्रह्मशब्दो जीवपर एव, तस्य जातिजीवकमलासनाद्यनेकार्थत्वात्, द्वे ब्रह्मणी इत्यादौ जीवे ब्रह्मशब्दप्रयोगसम्भवाच्च, तथा च यः परमं ब्रह्म वेद स जीव एव भवति नतु परमं ब्रह्मेत्यर्थः। अत एव आद्यो ब्रह्मशब्दः परमत्वेन विशेषित इति—वाच्यम्; जीवे ब्रह्मपदप्रयोगसम्भवेऽपि प्रकृते परब्रह्मोपादानमेवोचितम्, जीवभावस्याब्रह्मभावस्य च प्रागेव सिद्धतया ब्रह्मज्ञानसाध्यत्वाभावात्। एवं च अर्थाद् द्वितीयब्रह्मभवनमपि परमत्वविशेषितमेव। यच्च ब्रह्म भवतीत्यस्य बृंहितत्वरूपब्रह्मत्वाक्रान्तो भवतीत्यर्थः। सम्पूज्य ब्राह्मणं भक्त्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत'' इस वाक्य में और ''न स वेद'' इस निन्दक उत्तर वाक्य में वेदन = ज्ञान का ही निर्देश होने से मध्य स्थित उपास्ते का भी अर्थ ज्ञान ही होगा। अतः उपास्ते का अर्थ उपासना करना उचित नहीं है।।७।।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् के ''स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्या ब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।'' (मु०उ० ३—२—९) इत्यादि वाक्य भी अभेद के ही बोधक हैं।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''परमं ब्रह्म'' और ''ब्रह्मैव'' इस प्रकार से दो बार ब्रह्म शब्द आया है। इसमें से द्वितीय ब्रह्म शब्द का अर्थ जीव है, क्योंकि ब्रह्म शब्द ब्राह्मणत्व जाति, जीव, कमलासन = ब्रह्मा इत्यादि अनेक अर्थों का बोधक होता है। ''द्वे ब्रह्मणी'' (मैत्रायणी उपनिषद्— ६—२२) में जीव अर्थ के बोधक के रूप में ब्रह्म शब्द का प्रयोग देखा जाता है। {''ब्रह्मशब्दप्रयोगसम्भवाच्च'' के स्थान पर ''ब्रह्मशब्दप्रयोगाच्च'' ऐसा पाठान्तर है।} इसलिए उक्त श्रुति वाक्य का अर्थ होगा— जो परम ब्रह्म को जानता है वह जीव ही होता है न कि परम ब्रह्म। अत एव = द्वितीय ब्रह्म शब्द का जीव अर्थ होने से ही प्रथम ब्रह्म शब्द से भी कोई जीव ही अर्थ न ले लें। इसके लिए प्रथम ब्रह्म शब्द का परमात्मार्थक परम विशेषण दिया गया है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म पद का जीव अर्थ होने पर भी प्रकृत वाक्य में द्वितीय ब्रह्म पद से भी परम ब्रह्म अर्थ लिया जायेगा, क्योंकि जीव में जीवत्व और ब्रह्मत्वाभाव तो ब्रह्मज्ञान से पहले ही सिद्ध है। इसलिए वह ब्रह्मज्ञान से साध्य नहीं हो सकता है। एवम् = उक्त श्रुति वाक्य में द्वितीय ब्रह्म पद में जीव वाचित्व असम्भव होने से द्वितीय ब्रह्म पद का भी परमत्व विशेषण अर्थात् सिद्ध हो जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रकृत श्रुति वाक्य में आये हुए ''ब्रह्म भवति'' का अर्थ है— ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म के समान बृंहितत्व = व्यापकत्व आदि से युक्त हो जाता है, जैसे भक्ति से ब्राह्मण का यथावत् पूजन कर शूद्र भी ब्राह्मण के समान शीलत्वादि गुण से आक्रान्त हो जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ब्राह्मण की पूजा करने वाला शूद्र ब्राह्मण व्यक्ति नहीं हो जाता है अपितु ब्राह्मण में रहने वाले शीलत्वादि धर्मों से आक्रान्त हो जाता है। ''शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेत्'' के अपि शब्द से यह दृष्टान्त भी ग्रहण कर लेना चाहिए— शेर के समान पराक्रम को दिखलाने वाला माणवक शेर के धर्म शूरत्वादि से आक्रान्त होता है। (न कि माणवक शेर व्यक्ति होता है।) अतः ''सिंहो माणवकः'' कह दिया जाता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से पहले ही जीव में जीवत्व और ब्रह्मत्वाभाव

इतिवत्। नहि शूद्रोऽपि पूजितब्राह्मणव्यक्तिर्भवति, किन्तु ब्राह्मणत्वजात्याक्रान्त इति, तन्न; पूर्वोक्तयुक्त्या प्रकृते व्यक्त्यभेदस्यैव सम्भवेन दृष्टान्तवैषम्यात्।।८।।

न च—'अस्य महिमानम्'इति वाक्यशेषात्तदीयमहत्त्वप्राप्तिरेव, न तु तद्भाव इति युक्तम्; देहेन्द्रियादिप्रपञ्चविलक्षणं यो वेद, प्रपञ्चं तद्विभूतिं यो वेद, स वीतशोको भवतीत्येवंपरत्वात्। न च—'यथा नद्यः स्यन्दमाना' इति भिन्ननदीदृष्टान्तोक्तिरयुक्तेति—वाच्यम्; स्पष्टभेदविलयनमात्रपरत्वेन दृष्टान्तोपपत्तेरुक्तत्वात्। परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति न देशान्तरस्थब्रह्मप्राप्त्युक्तिपरा; तस्याः सगुणोपासनाफलत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

जैसे सिद्ध है वैसे ही जीव में बृंहितत्वादि धर्मों का आक्रान्तत्व भी सिद्ध है— यह अहंग्रह उपासना आदि स्थलों पर देखा गया है। अत: उसको ब्रह्म ज्ञान से साध्य नहीं माना जा सकता है। अत: ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म स्वरूप हो जाता है— ऐसा मानना ही उचित है। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है, क्योंकि किसी ब्राह्मण व्यक्ति की पूजा कर के शूद्र का पूज्य ब्राह्मण व्यक्ति से अभेद को प्राप्त करना सम्भव नहीं है और प्रकृत में ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर जीव का ब्रह्म से अभेद होना सम्भव है। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य होने से उक्त दृष्टान्त के सहारे दार्ष्टान्त में दोष नहीं दिया जा सकता है।।८।।

शङ्का— ''समाने वृक्षे पुरुषः .... अस्य महिमानमिति वीतशोकः।।'' (मु०उ०३—१—२) इस वाक्य के द्वारा यह कहा गया कि ब्रह्म की महिमा जो व्यापकता आदि है, उसको देखकर शोकादि से रहित होता है न कि ब्रह्म स्वरूप होता है। फलत: इस श्रुति के अर्थ के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' के द्वारा ब्रह्मविद् ब्रह्म की महत्ता को ही प्राप्त करता है न कि ब्रह्म स्वरूपता को।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य का अर्थ है कि— देहेन्द्रियादि रूप प्रपञ्च से विलक्षण ब्रह्म को जो जानता है। अर्थात् ब्रह्म सत्य है और प्रपञ्च मिथ्या है— इस प्रकार से जो जानता है और अधिष्ठान सत्ता से अतिरिक्त सत्ता प्रपञ्च की नहीं है। अर्थात् अधिष्ठान ही माया से प्रपञ्चरूप में भास रहा है— इस प्रकार उस ब्रह्म की विभूति ही प्रपञ्च है— इस प्रकार जो जानता है। वह शोकादि से रहित हो जाता है। इस प्रकार उक्त श्रुति का अर्थ है। ऐसा अर्थ लेने पर ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म स्वरूप हो जाता है— यह अर्थ सूपपन्न हो जाता है।

शङ्का— ''यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।'' (मु०उ०३—२—८) (जैसे गङ्गादि नदियाँ निरन्तर बहती हुयी समुद्र में पहुँचने पर अपने नाम रूप का त्याग कर अविशेष भाव को प्राप्त हो जाती हैं वैसे ही तत्त्वज्ञानी नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।) इस श्रुति का आश्रय कर के पूर्वपक्षी कह रहा है कि यहाँ जो नदी और समुद्र का दृष्टान्त दिया गया है। उसमें स्पष्ट भेद है। अत: दृष्टान्त गत भेद को देखते हुए ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म में भेद मानना चाहिए। अन्यथा दृष्टान्त भेद बोधक और दार्ष्टान्त अभेद बोधक होने से दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में अयुक्तता = वैषम्यता की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि समुद्र में नदियों के विलय होने पर नदियों में स्पष्ट भेद का अभाव रहता है, वैसे ही सुषुप्ति आदि में ब्रह्म में मिलने के पश्चात् जीवों में स्पष्ट भेदाभाव रहता है। इसे ''तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थविचारः'' के खण्ड संख्या १४ में स्पष्ट किया जा चुका है। ''परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'' (मु०उ०३—२—८) इस श्रुति के दिव्यम् पद से यह सूचित होता है कि ब्रह्मवेत्ता पृथिवी आदि लोकों की अपेक्षा देशान्तरस्थ वैकुण्ठ आदि दिव्य लोकों को प्राप्त करता है न कि ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। ऐसा

ब्रह्मविद्याफलत्वासम्भवेन स्वरूपभूतब्रह्मप्राप्तिपरत्वात्। न च—अद्वैतमते नित्यं ब्रह्मभूतस्यापूर्वब्रह्मभावोक्ति—रयुक्तेति—वाच्यम्; कण्ठगतचामीकरादौ भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रेण प्राप्तप्राप्तिरूपतया फलत्वदर्शनात्। नचारोपनिवृत्तेरशाब्दत्वम्; श्रुतार्थापत्तिगम्यतया शाब्दत्वोपपत्तेः॥९॥

'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'इति श्रुतिरप्यैक्यपरा। न चात्र प्रथमब्रह्मपदस्य जीवपरत्वाभावे कर्तृकर्मभावविरोधः;

सत्यानन्दप्रबोधिका

कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि देशान्तरस्थ कार्य ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) की प्राप्ति सगुण उपासना का फल है। अतः देशान्तरस्थ कार्य ब्रह्म की प्राप्ति को ब्रह्म विद्या का फल नहीं माना जा सकता है। अतः उक्त श्रुति वाक्य को स्वरूप भूत ब्रह्म प्राप्ति परक ही मानना उचित है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जब सिद्धान्ती के मत में जीव नित्य ब्रह्म स्वरूप ही है तब ब्रह्मज्ञान से पहले जीव ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त नहीं था और ब्रह्मज्ञान के पश्चात् ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करता है—ऐसा कथन अयुक्त है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे किसी को कण्ठ गत मालादि का विस्मरण हो जाने से अप्राप्तता का भ्रम हो जाता है और भ्रम की निवृत्ति होने पर मालादि के प्राप्ति का व्यवहार होता है वैसे ही प्रकृत में जीव का स्वरूप ब्रह्म होने पर भी अज्ञान से उसका विस्मरण हो जाता है और ब्रह्मज्ञान होने पर भ्रम की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति रूप फल का व्यवहार हो जाता है।

शङ्का— सिद्धान्ती के उक्त कथनानुसार आरोपित अब्रह्मत्व की निवृत्ति में फलत्व के व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी किन्तु जीवगत आरोपित अब्रह्मत्व की निवृत्ति किसी वाक्य का अर्थ नहीं है। अर्थात् सिद्धान्ती के द्वारा जो आरोपित अब्रह्मत्व की निवृत्ति रूप फल कहा गया। उसमें कोई शब्द प्रमाण नहीं है— यह पूर्वपक्षी के कहने का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''ब्रह्मज्ञानेन अब्रह्मत्वभ्रान्तिनिवृत्तिं विना ब्रह्मणः ब्रह्मभावप्राप्तिरूप— श्रुतार्थानुपपन्नः।'' अर्थात् ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' इस श्रुति में जो सुना गया अर्थ वह श्रुतार्थ है। इस श्रुतार्थ की उपपत्ति तभी हो पायेगी जब ब्रह्मज्ञान के द्वारा अब्रह्मत्व रूप भ्रान्ति की निवृत्ति मानी जाय। इस प्रकार इस श्रुतार्थापत्ति की सहायता से उक्त श्रुति वाक्य का विषय अब्रह्मत्व रूप भ्रान्ति की निवृत्ति रूप पर्यवसित अर्थ भी हो जायेगा। अर्थात् अब्रह्मत्व रूप भ्रान्ति की निवृत्ति में शाब्दत्व की उपपत्ति हो जायेगी॥९॥

''अथ— अकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति।'' (बृ०उ०४—४—६) (अथ जो अकाम पुरुष है, उसके विषय में कहते हैं। जो अकाम निष्काम आप्तकाम और आत्मकाम होता है। उस तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिङ्ग देह रूप प्राणों का उत्क्रमण शरीरान्तर के लिए नहीं होता है। ब्रह्मज्ञान से पहले ब्रह्म स्वरूप होता हुआ भी ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।) इस प्रकार यह श्रुति भी जीवब्रह्मैक्य की बोधिका है।

शङ्का— इस श्रुति वाक्य में प्रथम ब्रह्म पद से जीव कहा गया है, क्योंकि ब्रह्म पद का ब्राह्मणत्व जाति—जीव—ब्रह्मादि अर्थ होते हैं। जिसे खण्ड संख्या ८ में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः श्रुति का अर्थ होगा— जीवः सन्—ब्रह्माप्येति।'' फलतः आप्ति क्रिया का कर्ता जीव और कर्म ब्रह्म होने से भेद ही सिद्ध होता है न कि अभेद। यदि प्रथम ब्रह्म पद का अर्थ जीव नहीं करेंगे तब कर्तृकर्मभाव विरोध होगा, क्योंकि आप्ति क्रिया का कर्ता भी ब्रह्म होगा और कर्म भी।

साक्षात्कारप्राक्कालीनौपाधिकभेदमादाय तादृङ्निर्देशोपपत्तेः। परेऽव्यये सर्व एकीभवन्तीत्येतदप्यभेदे मानम्। न च गावः सायं गोष्ठ एकीभवन्ति। एकीभूता नृपाः सर्वे ववृषुः पाण्डवं शरैः। कीटो भ्रमरेणैकीभूत इति स्थानैक्यमतैक्यसादृश्यनिबन्धनैकीभावस्य गोनृपकीटभ्रमरादौ दर्शनाद् अत्रापि तैरेव निमित्तैः गौण एकीभाव इति–वाच्यम्; मुख्यत्वे सम्भवति गौणत्वस्यायोगात्। ब्रह्मैक्यमात्रपरत्वेन सकृदुच्चरितस्य नानेकार्थपरत्वशङ्कापि।

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार के पहले जो जीव और ब्रह्म में औपाधिक भेद है। उस भेद को लेकर कर्तृकर्मभाव का निर्देश जो श्रुति में है, उसकी उपपत्ति हो जायेगी।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'' (मु०उ०३–२–७) यह श्रुति भी जीवब्रह्मैक्य में प्रमाण है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''गावः सायं गोष्ठे एकीभवन्ति।'' इस स्थल पर स्थानैक्य प्रयुक्त गौण एकीभाव का व्यवहार होता है और ''एकीभूता नृपाः सर्वे ववृषुः पाण्डवं शरैः।'' (अर्थात् सभी राजाओं ने एक मत होकर अभिमन्यु के प्रति बाणों की बौछार की।) इस स्थल पर मतैक्य प्रयुक्त गौण एकीभाव का व्यवहार देखा जाता है और ''कीटो भ्रमरेण एकीभूतः।'' (जिस भ्रमर का चिन्तन करते करते कीट भ्रमर हो गया वह चिन्तनीय भ्रमर के सदृश बना न कि वही भ्रमर बन गया।) इस स्थल पर सादृश्य प्रयुक्त गौण एकीभाव व्यवहार होता है। इसी प्रकार इन तीनों हेतुओं को लेकर जीव और ब्रह्म का गौण एकीभाव उक्त श्रुति के द्वारा कहा गया है न कि जीवब्रह्मैक्य को लेकर मुख्य रूप से एकीभाव कहा गया है। पूर्वपक्षी के अनुसार प्रकृत में स्थानैक्य = वैकुण्ठ लोक में भक्त जीव और भगवान् एकत्रित होते हैं। मतैक्य = वैकुण्ठ लोक में गया हुआ भक्त और ईश्वर कृपा करने में एक मत वाले होते हैं। सादृश्य = जीव और ईश्वर दोनों ही वैकुण्ठ लोक में शंख चक्रादि वाले होते हैं। अतः इन हेतुओं से उक्त गौण एकीभाव का व्यवहार होता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''सिहो माणवकः'' इत्यादि स्थल पर जब मुख्यार्थ सम्भव नहीं होता है अपितु उस का बाध हो जाता है तब उक्त स्थलों पर गौणार्थ की कल्पना की जाती है किन्तु प्रकृत में मुख्यार्थ = एकीभाव = ऐक्य जब सम्भव है तब गौण एकीभाव की कल्पना करना अनुचित है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति।'' (मु०उ०३–२–७) यहाँ पर सिद्धान्ती के अनुसार अर्थ होगा कि सञ्चितादि कर्म समूह और जीव दोनों ब्रह्म से अभिन्न हो जाते हैं किन्तु कर्म का ब्रह्म से अभिन्न होना सम्भव नहीं, क्योंकि कर्म मिथ्या है। अतः सिद्धान्ती को ''कर्माणि एकीभवन्ति'' का अर्थ ''तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद् व्यपदेशात्'' (ब्र०सू०१–४–१३) इस सूत्र के अनुसार होगा कि ब्रह्मज्ञान होने पर कर्म समूह की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार एक बार उच्चरित ''एकीभवन्ति'' का अर्थ कर्म के लिए निवृत्ति परक किया और जीव के लिए जीवब्रह्मैक्य परक किया। ऐसा करने पर अर्थात् एक बार उच्चरित पद का अनेक अर्थ करने पर वाक्य भेद दोष होगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''एकीभवन्ति'' पद का अर्थ ब्रह्मैक्य ही लिया जाता है। जब ब्रह्म के साथ कर्म का ऐक्य करना होता है तब उसका तात्पर्य यह होता है कि कर्म की सत्ता ब्रह्म सत्ता से पृथक् न होने से कर्म का भी ब्रह्म से अभेद कहा जाता है। अर्थात् यहाँ बाधसामानाधिकरण्य है और जीव ब्रह्म का तो अभेद मुख्य सामानाधिकरण्य है।

नचैक्यस्य प्रागेव सिद्धतया अभूततद्भावार्थच्विप्रत्यययायोगः; स्वगृहनिक्षिप्ताज्ञातनिधिवत् सतोऽप्यावृतत्वेना— भूतसमतया च्विप्रत्ययोपपत्तेः। न च परेऽव्यय इति श्रुतसप्तमीहानिरश्रुततृतीया— कल्पनापत्तिश्चेति—वाच्यम्; श्रुत्यन्तरानुसारेण सप्तम्या अननुसरणीयत्वात्। न च 'परमं साम्यमुपैति' 'परात्परं पुरुषमुपैति'इति पूर्वोत्तरवाक्यविरोधः; तस्य प्रागेव निरासात्।।१०।।

तथान्तर्यामिप्रकरणस्थं 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'इतिवाक्यं अक्षरप्रकरणस्थं 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा'इति वाक्यं

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अतद् रूप वस्तु की तद् रूपता होने पर ''अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः'' (अ०सू०५—४—५०) से च्वि प्रत्यय होता है। जैसे जो कृष्ण नहीं था अब वह कृष्ण हो रहा है। यहाँ पर च्वि प्रत्यय कर के कृष्णीभवति रूप बनता है। किन्तु सिद्धान्ती के अनुसार जीव और ब्रह्म में सर्वदा ऐक्य माना जाता है। अतः जीव को ब्रह्मीभवति या एकीभवति नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् यहाँ पर सिद्धान्ती के मतानुसार च्वि प्रत्यय प्रयोग उपपन्न नहीं हो पायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अपने गृह में गड़ी हुयी अज्ञात निधि जब तक नहीं मिलती है तब तक अभूत जैसी होती है ठीक ऐसे ही जीवब्रह्मैक्य जब तक अज्ञान से आवृत है तब तक अप्राप्त जैसा होता है और अज्ञान निवृत्त होने पर प्राप्त जैसा हो जाता है। अतः जो ऐक्य प्राप्त नहीं था वह प्राप्त हो रहा है— इस अर्थ को बतलाने के लिए च्वि प्रत्यय सार्थक है।

शङ्का— ''परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'' (मु०उ०३—२—७) यहाँ पर सिद्धान्ती के अनुसार ऐक्य परक अर्थ करने पर ''परेऽव्यये'' में जो श्रुत सप्तमी विभक्ति है, उस की हानि होगी और ''परेण अव्ययेन एकीभवन्ति'' ऐसी अश्रुत जो तृतीया विभक्ति है। उसकी कल्पना करने की आपत्ति होगी। अर्थात् पर ब्रह्म के द्वारा अभिन्न हो जाते हैं। जब कि पूर्वपक्षी के मतानुसार गौण एकीभाव लेने पर ''गावः सायं गोष्ठे एकीभवन्ति'' के जैसे सप्तमी विभक्ति का त्याग नहीं करना पड़ेगा— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''तत्त्वमसि'' इत्यादि अभेद बोधक श्रुतियों के अनुसार यहाँ सप्तमी विभक्ति का अर्थ बदलना उचित ही है। अर्थात् ब्रह्मज्ञान होने पर ब्रह्म के द्वारा सबमें ऐक्य हो जाता है और ब्रह्म के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है— ऐसे अर्थ को देखते हुए यहाँ पर भी सप्तमी का त्याग कर तृतीया का अर्थ लेना उचित ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह कथन है कि ''परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'' (मु०उ०३—२—७) के पूर्व वाक्य ''परमं साम्यमुपैति'' (मु०३—१—३) से यह कहा गया है कि मुक्त जीव वैकुण्ठ लोक में भगवान् की समता अर्थात् शंख चक्रादि से युक्त होकर समता को प्राप्त कर लेता है और ''परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'' (मु०उ०३—२—८) इस उत्तर वाक्य से यह कहा गया कि मुक्त जीव वैकुण्ठ लोक में दिव्य हरि भगवान् को प्राप्त करता है। इस प्रकार पूर्व और उत्तर वाक्यों से भेद ही कहा गया है। अतः ''परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'' से अभेद बतलाने पर विरोध होगा। फलतः गौणार्थक एकीभाव ही मानना चाहिए। यह पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इसका खण्डन खण्ड संख्या ९ में ''परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति न देशान्तरस्थ ब्रह्म प्राप्त्युक्तिपरा.......'' इत्यादि से किया जा चुका है।।१०।।

इसी प्रकार अन्तर्यामी ब्राह्मण में कथित— ''नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता— एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्त्तम्।'' (बृ०उ०३—७—२३) (अर्थात्

च ऐक्ये प्रमाणम्। न चात इत्यनेन प्रस्तुतं सर्वनियन्तारं परामृश्यान्यो द्रष्टा नास्तीत्युक्तेः सर्वनियामकद्रष्ट्रन्तरनिषेध आयाति, न तु द्रष्टृसामान्यनिषेधः, अस्मिन् ग्रामे अयमेव सर्वनियामको नान्यः पुरुषोऽस्तीत्यादावन्यशब्दस्य प्रस्तुतसदृशान्यपरतया व्युत्पन्नत्वात् समानमितरच्छ्येनेनेत्यत्र इतिरशब्दस्य पूर्वनिर्दिष्टसदृशपरत्वोक्तेश्चेति—वाच्यम्, अनेन ह्येतत्सर्वं वेदेति प्रतिज्ञातस्य एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपपादनार्थं अन्यत्वेन प्रतीतेन जीवेनाभेदबोधनात्। अचेतनवर्गस्य अतोऽन्यदार्तं नेति नेतीति निषेधाच्च जीवब्रह्माभेद एव वाक्यप्रमेयः। दृष्टान्ते तु अभेदस्याविवक्षितत्वात् त्वदुक्तप्रकाराश्रयणे बाधकाभावात्।।११।।

न चात्राप्यन्तर्यामिवाक्ये य आत्मनोऽन्तरः यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयतीति

सत्यानन्दप्रबोधिका

इससे भिन्न द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न श्रोता नहीं है। इससे भिन्न मन्ता नहीं है और न ही इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सभी नश्वर हैं।) यह श्रुति वाक्य भी जीवब्रह्मैक्य में प्रमाण है। ऐसे ही अक्षर ब्राह्मण में कथित ''नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ।'' (बृ०उ०३—८—११) (अर्थात् इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मनन कर्ता नहीं और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है।) यह श्रुति वाक्य भी जीवब्रह्मैक्य में प्रमाण है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त श्रुति में आया हुआ ''अतः'' पद से प्रस्तुत जो सर्व का अन्तर्यामी है। उसका परामर्श कर के ''अन्य द्रष्टा नहीं है।'' इस कथन से यह कहा गया है कि सर्व नियामक जो अन्तर्यामी है। उसके सदृश अन्य कोई द्रष्टा = अन्तर्यामी नहीं है। द्रष्टा सामान्य का निषेध नहीं किया गया है। जैसे ''इस ग्राम में यह मैत्र ही सर्व का नियामक है अन्य पुरुष नहीं।'' यहाँ पर अन्य शब्द से ''मैत्र के सदृश अन्य पुरुष'' का ग्रहण होता है। अर्थात् मैत्र के सदृश अन्य पुरुष सर्व का नियामक नहीं है— यह कहा जाता है न कि सर्व पुरुषों का निषेध किया जाता है। पूर्वमीमांसा दर्शन के सप्तम अध्याय के प्रथम पाद के द्वितीय अधिकरण में कहा गया है कि ''समानमितरच्छ्येनेन'' यहाँ पर अन्य अर्थ वाचक जो इतर शब्द है उसका अर्थ = पूर्व निर्दिष्ट के सदृश है। अतः प्रकृत में भी अन्य शब्द का अर्थ = पूर्व निर्दिष्ट जो अन्तर्यामी, उसके सदृश करना चाहिए। अर्थात् ''अन्य द्रष्टा नहीं है'' का अर्थ है— पूर्व निर्दिष्ट अन्तर्यामी के सदृश अन्तर्यामी नहीं है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकरण के प्रारम्भ में ''अनेन हि एतत् सर्वं वेद'' (बृ०उ०—१—४—७) इस प्रकार से एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की जो प्रतिज्ञा की गयी है। उस विज्ञान के उपपादन के लिए भिन्नत्वेन प्रतीत जीव का अभेद ब्रह्म से है— इसका बोधन उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा किया गया और ''अतोऽन्यदार्त्तम्'' (बृ०उ०३—४—२३) (यहाँ आर्त्त शब्द का अर्थ मिथ्या होने से आर्त्त शब्द को निषेधार्थक कहा गया है।) तथा ''स एष नेति नेति'' (बृ०उ०३—९—२६) इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा दृश्य वर्ग का निषेध किया गया है। इस प्रकार उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा जीवब्रह्मैक्य ही कहा गया है। पूर्वपक्षी के द्वारा जो दृष्टान्त दिये गये हैं, उन स्थलों पर अभेद बतलाना अभीष्ट ही नहीं है। अतः उक्त दृष्टान्त स्थलों पर उक्त प्रकार से अर्थ करने पर भी दार्ष्टान्त स्थल पर किसी भी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता है। ''सर्वनियामकद्रष्ट्रन्तरनिषेधः'' के स्थान पर ''स्वनियामकद्रष्टन्तरनिषेधः'' ऐसा पाठान्तर है।।११।।

शङ्का— अत्रापि विरोधः— ऐसा अन्वय है। अत्रापि = ''नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'' (बृ०उ०३—७—२३) इस वाक्य को जीवब्रह्मैक्य परक मानने पर ''य आत्मनोऽन्तरः यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो

पूर्ववाक्येन एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः अतोऽन्यदार्तमित्युत्तरवाक्येन च विरोधः, तत्र परमात्मनोऽन्यं चेतनमङ्गीकृत्य तस्यार्तियुक्तत्वेनास्वातन्त्र्यस्यैवोक्तरिति—वाच्यम्; पूर्ववाक्यस्यौपाधिकभेदमात्रेणोपपत्तेः। उत्तरवाक्येन न चेतनान्तरस्यार्तियोगो विधीयते, किन्तु 'एषोऽन्तर्यामी ते आत्मा'इति जीवस्वरूपभूतादन्तर्यामिणो व्यतिरिक्तं सर्वं आर्तं विनश्वरमिति वा मिथ्येति वा बोधनान्न विरोधशङ्का। अतएव—अक्षरवाक्येऽपि 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादिपूर्ववाक्येन विरोध—इत्यपास्तम्।।१२।।

किञ्च द्वितीयाद्वै भयं भवतीति भेदस्य भयहेतुत्वेन निन्दितत्वादप्यभेद एवोपनिषद्गम्यः। न च—अस्य विरोधिनः समानाद् भयं भवतीत्येवार्थः, लोके तादृशादेव भयं भवतीति लोकसिद्धानुवादित्वात् पूर्वत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

यमयति'' इत्यादि पूर्ववाक्य से और ''एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः (बृ०उ०३—७—२३) तथा ''अतोऽन्यदार्त्तम्'' (बृ०उ०३—७—२३) इत्यादि उत्तर के वाक्यों से विरोध होगा, क्योंकि पूर्व वाक्य में यः = अन्तर्यामी, आत्मा = जीव के, अन्तरः = भीतर है— इस प्रकार परमात्मा से भिन्न जीव माना गया है, इसी प्रकार अतः = परमात्मा से, अन्यद् = भिन्न जीव, आर्त्त = दुःखी हैं— इससे भी परमात्मा से भिन्न जीव में दुःख युक्तता और ईश्वर पराधीनता कही गयी है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''य आत्मनोऽन्तरः यमात्मा न वेद'' इस पूर्व वाक्य के द्वारा औपाधिक भेद (कल्पित भेद) कहा गया है। अतः कल्पित भेद मानकर इस वाक्य की उपपत्ति हो जायेगी और कल्पित भेद से जीवब्रह्मैक्य में कोई विरोध नहीं होता है। उत्तर के जो दो वाक्य हैं— ''एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः'' ''अतोऽन्यदार्त्तम्'' के द्वारा न चेतनान्तर कहा गया है और न ही जीव में दुःख युक्तता और ईश्वर पराधीनता कही गयी है अपितु उक्त वाक्यों के द्वारा ''एषोऽन्तर्यामी ते आत्मा'' = इस जीव स्वरूप भूत जो अन्तर्यामी तादृश अन्तर्यामी से भिन्न सर्व आर्त्त=विनश्वर या मिथ्या है— यह बोधन किया गया है। अतः इन वाक्यों के द्वारा जीवब्रह्मैक्य में किसी प्रकार से विरोध उपस्थित नहीं होता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'' (बृ०उ०३—७—२३) इस वाक्य के द्वारा जीवब्रह्मैक्य का बोधन मानने पर अष्टम अक्षर ब्राह्मण के ''एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।'' (बृ०उ०३—८—९) इत्यादि उत्तर वाक्य से विरोध होगा, क्योंकि इस वाक्य के द्वारा ईश्वर नियामक और सूर्यादि नियम्य कहकर भेद कहा गया है। अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। अत एव = पूर्वोक्त प्रकार से अष्टम अक्षर ब्राह्मण वाक्य की भी औपाधिक भेद मान कर उपपत्ति हो जायेगी। कल्पित भेद से जीवब्रह्मैक्य में कोई विरोध नहीं होता है। अतः पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त हो गया।।१२।।

इसी प्रकार ''''द्वितीयाद्वै भयं भवति'' (बृ०उ०१—४—२) इस श्रुति के द्वारा भेद में भयहेतुत्व दिखलाकर भेद की निन्दा की गयी है। भेद की निन्दा किए जाने से श्रुति का तात्पर्य भेद में होगा ही नहीं। फलतः यह मानना होगा कि श्रुति से गम्य अभेद ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''द्वितीयाद्वै भयं भवति'' (बृ०उ०१—४—२) इस वाक्य से कहा गया है कि अपने समान बलवाले विरोधी से ही भय होता है। लोक में भी यह देखा जाता है कि अपने समान बलवाले विरोधी से भय होता है। (इस प्रकार यहाँ पर लोक सिद्ध जो है उसका अनुवाद किया गया है न कि भेद की निन्दा की गयी है।) समान बलवाले विरोधी से भय होता है किन्तु जहाँ समान बल वाला विरोधी नहीं होता है वहाँ भय नहीं होता है— इसको ''तस्मादेकाकी न विभेति'' (बृ०उ०१—४—२) इस

'तस्मादेकाकी बिभेति' उत्तरत्र 'तस्मादेकाकी न रमत' इति श्रवणाच्चेति—वाच्यम्; यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्न बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयायेति श्रुतेः। सामान्यतो द्वितीयमात्रदर्शनस्यैव भयहेतुत्वाद् विशेषकल्पनायोगात् एकाकी विभेतीति पूर्ववाक्ये परमार्थदर्शनरहितस्य तन्निमित्तभयसम्भवाद् एकाकी बिभेतीत्युक्तम। उत्तरवाक्ये तस्मादेकाकी न रमत इत्यत्र इष्टसंयोगजन्यरतेरेकाकिन्यभावाद् एकाकिनो रतिर्नास्तीत्युक्तम्। ततश्चातत्त्वज्ञ—विषयोक्तवाक्यानुसारेण तत्त्वज्ञविषयमध्यवाक्यस्य स्वार्थसमर्पणेनाप्युपयुक्तत्वात् तद्विरोध्यर्थपरत्वायोगात्।१३।।

य एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवतीति भेदनिन्दयाप्यभेदसिद्धिः। न च—एतस्मिन्निति

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्ववाक्य से कहा गया है। {इस प्रकार इस पूर्ववाक्य से यह कहा गया कि भेद भय का हेतु नहीं होता है अपितु समान बल वाला विरोधी भय का हेतु होता है। फलतः भेद की निन्दा न होने से श्रुति का तात्पर्य भेद में माना ही जा सकता है। इसलिए सिद्धान्ती ने जो कहा था कि उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा भेद की निन्दा होने से श्रुति का तात्पर्य भेद में न होकर अभेद में होगा— इसका खण्डन हो गया। आगे पूर्वपक्षी उत्तर वाक्य ''तस्मादेकाकी न रमते'' (बृ०उ०१—४—३) से यह दिखाने जा रहा है कि अभेद की ही निन्दा की गयी है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'' (बृ०उ० १—४—२) इस श्रुति वाक्य के उत्तर आया हुआ ''तस्मादेकाकी न रमते'' (बृ०उ०१—४—३) से एकाकी = अभेद होने पर प्रसन्न नहीं होता है— ऐसा कहकर अभेद की ही निन्दा की गयी है। अतः अभेद में श्रुति का तात्पर्य न मानकर भेद में ही श्रुति का तात्पर्य मानना चाहिए— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु विभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद् हि अभेष्यद्— द्वितीयाद्वै भयं भवति''(बृ०उ० १—४—२) इस वाक्य के द्वारा स्पष्ट रूप से कहा गया कि— यदि मुझसे भिन्न कोई नहीं है तो मैं किससे डरता हूँ? इतना विचार करते ही उसका भय जाता रहा, क्योंकि भय का कारण कोई अन्य दिखता ही नहीं था। भय तो सदा दूसरे से ही होता है। इस प्रकार सामान्यत द्वितीय मात्र का ज्ञान (चाहे द्वितीय चेतन हो चाहे अचेतन हो— समान बल वाला हो या कम बल वाला हो या अधिक बल वाला हो— द्वितीयमात्र का ज्ञान) ही भय का हेतु कहा गया है। अतः समान बल वाले विरोधी से ही भय होता है— ऐसी विशेष कल्पना करना अनुचित है क्योंकि द्वितीय मात्र का ज्ञान ही भय का हेतु है। ''एकाकी विभेति'' (बृ०उ०१—४—२) इस पूर्ववाक्य से यह कहा गया है कि तत्त्वज्ञान रहित व्यक्ति को तत्त्व अज्ञान प्रयुक्त जन्म मृत्यु आदि भय सम्भव होने से एकाकी = तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति समान विरोधी न होने पर भी जन्म मृत्यु आदि भय से डरता है। '' एकाकी न रमते'' (बृ०उ० १—४—३) इस उत्तर वाक्य से यह कहा गया कि जिसको तत्त्वज्ञान नहीं है वह जब अकेले रहता है तब उस समय उसका जो भी संसारिक इष्ट है उस इष्ट के साथ संयोग न होने से इष्ट संयोग जन्य सुख से रहित होता है। {अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि इस वाक्य के द्वारा अभेद की निन्दा की गयी है। उसका खण्डन हो गया, क्योंकि इस वाक्य से जीव ब्रह्मैक्य का कोई विचार ही नहीं किया गया हैं।} ततः = उक्त पूर्व—उत्तर वाक्य अतत्त्वज्ञ विषयक हैं। अतः अतत्त्वज्ञ विषयक इन वाक्यों के तत्त्वज्ञ विषयक वाक्यों से किसी प्रकार का विरोध न होने से, तत्त्वज्ञ विषयक मध्य में स्थित वाक्य ''द्वितीयाद्वै भयं भवति'' का जो स्वार्थ = सामान्यतो द्वितीयमात्रदर्शनस्यैव भयहेतुत्वात्— ऐसा जो किया गया अर्थ उपयुक्त ही है। इसका अर्थ उचित होने से पूर्वपक्षी ने जो अर्थ किया था—''विरोधिनः समानाद् भयं भवति''— ऐसा अर्थ मानना अनुचित है।१३।।

''यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति'' (तै०उ०२—७) (जिस समय यह ब्रह्म

श्रवणात् स्वगतभेदनिषेधोऽयम्, न भेदमात्रनिषेध इति—शङ्क्यम्: अल्पार्थकारशब्दस्वारस्यादप्यर्थकोत्पदस्वारस्यात् एतस्य प्रतियोगित्वेनानुल्लेखाच्च भेदमात्रनिषेधपरतया तद्विशेषनिषेधपरत्वकल्पनायोगात्। एवं ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'' इत्यादिश्रुतिरप्यत्रैक्ये प्रमाणम्। न च—अन्तर्याम्यैक्यपरेयं श्रुतिः, ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' इत्यादाविव भूतशब्दस्य चेतनपरत्वादिति—वाच्यम्; दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः, चेतनस्य जायमानत्वाद्ययोगात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

में थोड़ा सा भी भेद देखता है तब उस भेद दर्शन के कारण इसको जन्म मृत्यु आदि का भय होता है।) इस श्रुति वाक्य के द्वारा भी भेद की निन्दा के माध्यम से अभेद = जीवब्रह्मैक्य में श्रुति का तात्पर्य है— यह सिद्ध होता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद में से स्वगत भेद का ही ''एतस्मिन्'' इस पद के द्वारा निषेध किया गया है न कि सभी भेदों का।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''उदरम्'' के घटक अर पद के स्वल्प अर्थ के स्वाभाविकता के लिए और ''उदरम्'' के घटक उत् पद के अपि अर्थ के स्वाभाविकता के लिए ''एतस्य'' इस पद के द्वारा किसी विशेष प्रतियोगी का उल्लेख न होने से यह सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य के द्वारा भेद मात्र (सभी भेदों का) निषेध किया गया है न कि भेद विशेष = स्वगत भेद का निषेध किया गया है। {कहने का भाव यह हैं कि यदि स्वगत भेद का ही निषेध उक्त वाक्य से होता तब श्रुति में उदरम् पद का प्रयोग नहीं करते तब एक भेद (स्वगत भेद) का निषेध होता और सजातीय—विजातीय भेद शेष रह जाता किन्तु उदरम् पद का प्रयोग से यह सूचित किया कि थोड़ा भी भेद (तीनों भेदों में से कोई भी भेद) रहने पर भय होता है। इसी प्रकार एतस्य पद से किसी प्रतियोगी विशेष का उल्लेख न होने से यह नहीं कहा जा सकता है कि स्वगत भेद का ही प्रतियोगी लिया जायेगा सजातीय विजातीय भेद का प्रतियोगी नहीं लिया जायेगा। अतः भेद मात्र का ही निषेध इस श्रुति से सिद्ध होता है।} इसी प्रकार ''एको देव सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।'' (श्वे०उ०६—११) (समस्त प्राणियों में सर्व व्यापक सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक परमात्मा देव ही गुप्त भाव से स्थित है।) इत्यादि श्रुति वाक्य भी जीव ब्रह्मैक्य में प्रमाण है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा अन्तर्यामी की एकता का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै०उ०३—१—१) इस श्रुति में भूत शब्द का अर्थ जीव किया गया है। अर्थात् इस श्रुति वाक्य के शाङ्कर भाष्य में कहा गया है कि ''यतो यस्माद्वा इमानि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि भूतानि जायन्ते।'' (= जिससे ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जीव उत्पन्न होते हैं।) इस प्रकार यहाँ भूत शब्द का अर्थ जीव जैसे है वैसे ही ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः'' में भूत शब्द का अर्थ जीव है। अतः इस श्रुति वाक्य का अर्थ होगा कि सभी चेतन जीवों में गूढ़ (व्याप्त) एक ही अन्तर्यामी है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जो पूर्वपक्षी ने दृष्टान्त दिया है, उसमें जीव को नित्य मानने वाले जितने भी लोग हैं वे सभी लोग सहमति नहीं दे सकते हैं, क्योंकि चेतन जीव की उत्पत्ति मानना सम्भव ही नहीं है। अन्यथा कृतहानाकृत कल्पनापत्ति होगी। इस पर प्रश्न होता है कि भूत शब्द का यहाँ क्या अर्थ है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि ''मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'' इस स्थल पर भूत शब्द का अर्थ है— चेतन से अधिष्ठित प्राणशरीरादि। ऐसे शरीरादि की उत्पत्ति आदि मानने पर किसी प्रकार विरोध नहीं है। अतः ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।'' यहाँ भूत शब्द से चेतन से अधिष्ठित प्राणशरीरादि जो ब्रह्मादि का है। उसे लिया गया है और ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'' में भी

भूतहिंसानिषेधवाक्य इव चेतनाधिष्ठितप्राणशरीरादेरेव भूतशब्दवाच्यत्वात्। अत एव 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित:।' इत्यादिस्मृतिरपि (श्रुतिरपि) ।१४।।

एवं 'यावन्मोहं तु भेद: स्यात् जीवस्य च परस्य च। तत: परं न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावत:।। विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं क: करिष्यति।।' इत्यादिस्मृत्या भेदस्याविद्यकत्वप्रतीतेरभेद एव तात्त्विक इति गम्यते। न चात्र भेदशब्दो मित्रभेद इत्यादाविव वैमत्यार्थ:;

सत्यानन्दप्रबोधिका

भूत शब्द का अर्थ चेतन से अधिष्ठित प्राण शरीरादि को लिया गया है और ''एको देव:'' अधिष्ठान स्वरूप चैतन्य अर्थात् जीवब्रह्मैक्य लिया गया है। फलत: यह श्रुति भी ऐक्य में प्रमाण है। अत एव = भूत शब्द चेतन अधिष्ठित शरीरवाचि होने से ''एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित:'' यह स्मृति भी ऐक्य में प्रमाण है क्योंकि इसका भी अर्थ होगा कि सभी शरीरों का अधिष्ठान एक ही है। ''स्मृतिरपि'' के स्थान पर ''श्रुतिरपि'' ऐसा पाठान्तर है। ऐसा पाठान्तर भी उचित ही है, क्योंकि ''एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित:'' यह वाक्य ब्रह्म बिन्दु उपनिषद् और अमृत बिन्दु उपनिषद् में भी मिलता है।१४।।

एवम् = ''एतस्मिनुदरमन्तरं कुरुते'' इत्यादि स्थलों पर जैसे भेद निन्दा के माध्यम से अभेद की सिद्धि होती है, उसी प्रकार जब तक मोह = अज्ञान है तब तक जीव और परमात्मा में भेद रहता है। तत: = अज्ञान नाश के पश्चात् भेद नहीं रहता है, क्योंकि भेद का हेतु जो अज्ञान था। उसका अभाव हो गया। भेद का जनक जो अज्ञान उसका आत्यन्तिक नाश हो जाने पर आत्मा और परमात्मा में मिथ्याभेद को भी कोई कर नहीं सकता है— इस स्मृति से भी जीव ब्रह्म भेद गत आविद्यकत्व की प्रतीति होने से अभेद ही तात्त्विक है— यह अवगत होता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त स्मृति वाक्य में आया हुआ भेद पद का अर्थ विरुद्ध मतित्व रूप वैमत्य है। जैसे मित्र भेद स्थल पर भेद शब्द का अर्थ विरुद्धमतित्व रूप वैमत्य होता है। अर्थात् एक अल्पज्ञ मति वाला है और दूसरा सर्वज्ञ मति वाला है— इस प्रकार विरुद्ध मतित्व रूप वैमत्य उक्त स्थल पर कहा गया है। अर्थात् जब तक जीव को मोह है तब तक जीव परमात्मा के शासन को स्वीकार न कर अपने बुद्धि से करता रहता है और जब मोह निवृत्त हो जाता है तब अपनी बुद्धि के विचार को छोड़कर परमात्मा के शासन में ही निष्ठा कर लेता है— यह उक्त स्मृति का भाव है न कि जीवब्रह्म के भेद का निराकरण पूर्वक अभेद उक्त स्मृति के द्वारा कहा गया है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तथा सति = भेद शब्द का अर्थ वैमत्य करने पर भेद शब्द की वैमत्य में लक्षणा करनी पड़ेगी। दूसरी बात यह है कि भेद शब्द का लक्षणा से वैमत्य अर्थ लेने पर वैमत्य यौगिक शब्द होने के कारण उसका शक्यतावच्छेदक गुरु धर्म = वैमत्यत्व या विरुद्ध मतित्व होगा। उसकी अपेक्षा रूढ़ि जो भेदादि उसका अन्योन्याभावत्व या भेदत्व रूप अखण्ड धर्म को शक्यतावच्छेदक मानने में लाधव है। अत: भेद शब्द का मुख्यार्थ अन्योन्याभावादि ही लिया जायेगा। इसी प्रकार श्रुतार्थ = मुख्यवृत्ति से निष्पादित अर्थ सम्भव होने पर उसका त्याग कर के गौण वृत्ति (लक्षणा वृत्ति) का आश्रय कर अर्थ लेना अनुचित होता है। इसी प्रकार ''हे भारत सर्व क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझको जानों।'' इत्यादि श्रीमद्भगवद्गीता वचन भी जीवब्रह्मैक्य में प्रमाण है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीता के उक्त श्लोक का ''क्षेत्रज्ञं सर्वज्ञं मां सर्वक्षेत्रेषु विद्धि।'' ऐसा अर्थ है {अर्थात् पूर्वपक्षी के अनुसार ''क्षेत्रज्ञम्'' और ''माम्'' ये दोनों ही पद परमात्मा के

तथा सति लक्षणापत्तेः, अन्योन्याभावादेरेव मुख्यत्वात्, श्रुतार्थत्यागस्यान्याय्यत्वात्। क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। इत्यादिस्मृतिरप्यत्र मानम्। न च—क्षेत्रज्ञं सर्वज्ञं मां सर्वक्षेत्रेषु विद्धीत्यर्थः। 'महाभूतान्यहङ्कार' इत्याद्युक्त्वा 'एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्' इत्यनेन 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादिश्रुत्येश्वरशरीरतयोक्तं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं क्षेत्रमित्युक्तत्वादिति—वाच्यम्।।१५।।

सर्वनियामकतया सकलक्षेत्रसम्बन्धस्य प्रागेव सिद्धेः पौनरुक्त्यापत्तेः, तत्तत्क्षेत्राधिष्ठातृत्वेन क्षेत्रज्ञपदवाच्यजीवाभेदपरत्वस्यैवोचितत्वात्। अत एव 'क्षेत्राणि च शरीराणि बीजानि च शुभाशुभे। श्रुतानि वेत्ति योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते। प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणात्मकम् (अगुणान्वितम्)। क्षेत्रज्ञमाहुर्जीवं तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

बोधक हैं। उस परमात्मा को सर्वक्षेत्रेषु = चेतनाचेतन (जीव और जड़) में व्याप्त जानों। अत: इस वाक्य के द्वारा अभेद सिद्ध न होकर भेद ही सिद्ध हो रहा है। ऐसा ही अर्थ क्यों लिया जाय? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि}

''महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।। (गी०१३—५)
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।। (गी०१३—६)

इस प्रकार इस स्मृति के द्वारा और ''यस्य पृथिवी शरीरम्'' (बृ०उ०३—७—३) इत्यादि श्रुति के द्वारा ईश्वर शरीरत्वेन उक्त जो चेतनाचेतनात्मक सर्व है। उसको क्षेत्र कहा गया है। उसमें व्याप्त क्षेत्रज्ञ है। अत: इस वाक्य से भेद ही सिद्ध होता है— यह पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।।१५।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''सर्वत्रगमचिन्त्यं च'' (गी०१२—३) इस द्वादश अध्याय के तृतीय श्लोक के द्वारा ही ''सर्व क्षेत्रों का नियामक होने के कारण सर्व क्षेत्रों के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है।'' यह कहा जा चुका है। पुन: उसका कथन ''क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत'' से होने पर पुनरुक्ति दोष होगा। सिद्धान्ती के अनुसार क्या अर्थ है? उसको कह रहे हैं कि क्षेत्र शब्द का अर्थ है = शरीर रूप क्षेत्र। उन तत्तद् शरीरों का जो अधिष्ठाता जो तत्तद् जीव है, वही क्षेत्रज्ञ पद का वाच्य है {इसको स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिका में इस प्रकार से कहा गया है— ''तत्क्षेत्रेति = शरीररूपक्षेत्रेत्यर्थः।'' इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।'' इति पूर्ववाक्येन शरीरवेदितृरूप क्षेत्रज्ञस्योक्तत्वात्। तमपहाय सर्वक्षेत्रज्ञे (ईश्वरे) लक्षणा न युक्तेति भावः।} और उसका माम् = मुझ परमात्मा से अभेद है— इस अर्थ को ही उक्त श्लोक से कहा गया है। अत: उक्त श्लोक को अभेद परक मानना उचित ही है। महाभारत के शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म में कहा गया है कि शरीर रूप क्षेत्र और श्रुति आदि शास्त्रों से प्रतिपाद्य शुभाशुभ कर्म रूप बीज— इन सबको जो योगात्मा= परमात्मा जानता है। उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। प्रकृति के विकारों का द्रष्टा ऐसा जो अगुणात्मक परमात्मा है। उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। गुण युक्त कर्ता को जीव कहते हैं'' इत्यादि स्मृति में क्षेत्रज्ञ शब्द सर्वान्तर्यामिरूपसर्वज्ञपरक होने पर भी, प्रकृते= क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि—इस स्थल पर क्षेत्रज्ञ पद से ईश्वर को लेना असम्भव है और क्षेत्रज्ञ शब्द जीव में सुप्रसिद्ध भी है। ''सर्वज्ञपरत्वेऽपि'' के घटक अपि पद से यह सूचित किया गया है कि गुण से युक्त होकर जीव में कर्तृत्वादि रूप संसार के होने पर भी वही जीव जब गुणातीत हो जाता है तब ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्'' (जै०सू०१—३—९) इस सूत्र से कहा

कर्तारं गुणसंवृतम्।।' इत्यादिस्मृतौ क्षेत्रशब्दस्य सर्वान्तर्यामिसर्वज्ञपरत्वेऽपि प्रकृते तदसम्भवः; जीवे सुप्रसिद्धत्वाच्च। न च शास्त्रस्था वेति न्यायः; तस्य एकतराशास्त्रीयविषयत्वात्। एवमन्यान्यपि वाक्यानि यथासम्भवमैक्ये योज्यानि। तस्मादागम ऐक्ये मानम्।।१६।।

।। इत्यद्वैतसिद्धावहं ब्रह्मास्मीत्याद्यनेकश्रुतिस्मृत्यर्थकथनम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

गया है कि आर्य शास्त्र (यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदैते मोदमाना वर्धन्ते। = जब अन्य ओषधियाँ मुरझा जाती हैं तब ये दीर्घ शूक यव हरे भरे बढ़ते दिखायी देते रहते हैं।) में प्रसिद्धि के बल पर यव पद का अर्थ दीर्घ शूकादि रूप ही लिया जाता है म्लेच्छ प्रसिद्धि के अनुसार प्रियंगु नहीं लिया जाता है, ठीक इसी प्रकार महाभारत शास्त्र में प्रसिद्ध क्षेत्रज्ञ शब्द का अर्थ सर्वज्ञ ही लेना चाहिए न कि जीव।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त न्याय वहाँ लगता है जहाँ पर एक शब्द के दो अर्थ होते हों और उनमें से एक अर्थ आर्य शास्त्रीय हो और दूसरा अर्थ आर्य शास्त्रीय न हो, अर्थात् म्लेच्छादि के द्वारा मान्य हो। ऐसे स्थल पर म्लेच्छादि के द्वारा मान्य अर्थ के निराकरण के लिए उक्त न्याय लगता है। यव शब्द की प्रियंगु में म्लेच्छ प्रसिद्धि का निराकरण कर दीर्घ शूक वाले अन्न में जो आर्यशास्त्र की प्रसिद्धि है, उसको स्वीकार किया गया है क्योंकि आर्यशास्त्र ही धर्म ज्ञान का हेतु है। किन्तु जहाँ पर दोनों अर्थ आर्यशास्त्रीय हो— वहाँ पर उक्त न्याय नहीं लगता है। प्रकृत में जीव और ईश्वर ये दोनों ही क्षेत्रज्ञ पद के अर्थ आर्यशास्त्र में प्रसिद्ध हैं। अतः उक्त न्याय यहाँ पर नहीं लगता है। फलतः उक्त न्याय के बल पर पूर्वपक्षी ने जो कहा था। उसका खण्डन हो गया। इस प्रकार ज्ञान प्रकरण आदि में आये हुए वाक्यों को जैसे सम्भव हो सके उस प्रकार से ऐक्य में समन्वय कर लेना चाहिए। फलतः आगम जीवब्रह्मैक्य में प्रमाण है—यह सूपपन्न है।।१६।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामहं ब्रह्मास्मीत्याद्यनेकश्रुतिस्मृत्यर्थकथनम्:—

१२—जीवब्रह्माभेदानुमानविचारः

एवमनुमानमपि तत्र मानम्। जीवाः, परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मवत्। आत्मत्वं जातिरत्र हेतुः, तथाचाभेदे हेतूच्छित्तिरेव प्रतिकूलतर्क इति—चेन्न; तत्त्वतोऽभेदेऽपि व्यावहारिकभेदेनैव व्यावहारिकजातेरनुच्छेदोपपत्तेः। ज्ञातृत्वादित्यप्यत्र हेतुः, जीवे उपधेये अन्तःकरणोहितवृत्तेस्तस्यासिद्धेरभावात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

एवम् = जैसे आगम आदि जीव ब्रह्म के ऐक्य में प्रमाण हैं वैसे ही अनुमान भी जीवब्रह्मैक्य में प्रमाण है। जैसे— जीवाः परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मवत्।

शङ्का— जीवब्रह्मैक्य साधक अनुमान में आत्मत्व जाति को हेतु बनाने पर सिद्धान्ती मतानुसार आत्मा एक ही होने से उसमें रहने वाले आत्मत्व को जाति ही नहीं माना जा सकेगा। इसको ''जड़त्वहेतुविचारः'' के खण्ड संख्या एक में पूर्वपक्षी के द्वारा कहा जा चुका है। इस प्रकार हेतु का उच्छेद ही इस अनुमान में प्रतिकूल तर्क है। अर्थात् यद्यात्मैक्यं स्यात् तदा आत्मत्वजातिरूपस्य हेतोरसिद्धिः स्यादित्यर्थः। ''आत्मत्वम्'' के स्थान पर ''ननु आत्मत्वम्'' ऐसा पाठान्तर है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तत्त्वतः आत्मा एक होने पर भी जीवात्मा और परमात्मा में तथा जीवात्माओं में व्यावहारिक भेद होने के कारण उसमें आत्मत्व रूप व्यावहारिक जाति मानी जाती है। अतः हेतु का उच्छेद नहीं होगा। जीवब्रह्मैक्य साधक अनुमान में ज्ञातृत्व को भी हेतु बनाया जा सकता है— जीवाः परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, ज्ञातृत्वात्, परमात्मवत्।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मतानुसार आत्मा में ज्ञातृत्व माना नहीं जाता है। अतः इस हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण में रहने वाला ज्ञातृत्व अन्तःकरण उपहित जीव में भी रहेगा, क्योंकि अन्तःकरण का तादात्म्य जीवात्मा में माना जाता है। इसी प्रकार माया उपहित परमेश्वर में भी माया में रहने वाला ज्ञातृत्व रहता है। फलतः पक्ष और दृष्टान्त में हेतु का समन्वय हो जायेगा। इसी प्रकार ''स्वव्यवहारे स्वभिन्नज्ञानानपेक्षत्व'' हेतु के द्वारा भी ऐक्य की सिद्धि की जा सकती है। अनुमान का आकार होगा— जीवाः परमात्मनः तत्त्वतो न भिद्यन्ते, स्वव्यवहारे स्वभिन्नज्ञानानपेक्षत्वात्, परमात्मवत्। सिद्धान्ती के अनुसार पक्ष में हेतु का समन्वय—स्व = जीव (ज्ञाता) को अपने व्यवहार के लिए अपने से भिन्न ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। अतः पक्ष में हेतु गया। पूर्वपक्षी (माध्व) के मत में जीव (ज्ञाता) का व्यवहार जिस नित्य ज्ञान से होता है वह जीव से अभिन्न होने के कारण जीव के व्यवहार के लिए जीव से भिन्न किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। अतः स्व (जीव) अभिन्न नित्य ज्ञान रूप जीव को अपने अबाधित व्यवहार के लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा न होने से स्वव्यवहारे स्वभिन्नज्ञानानपेक्षत्व रूप हेतु पक्ष में चला जायेगा। कहने का भाव यह है कि माध्वमत में नित्य ज्ञान रूप धर्म और नित्य ज्ञान वाला धर्मी (जीव) इन दोनों में भेद न रहने पर भी भेद के प्रतिनिधि रूप विशेष के रहने से उन दोनों में (नित्य ज्ञान और जीव में) धर्मधर्मिभाव स्वीकार किया जाता है। फलतः नित्य ज्ञान से अभिन्न जीव को अपने व्यवहार के लिए जीव से भिन्न ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। इस प्रकार पूर्वपक्षी के मत में पक्ष में हेतु का समन्वय हो जाता है। ऐसे ही दृष्टान्त में हेतु का भी समन्वय हो जायेगा। इसी प्रकार उक्त अनुमान में अबाध्यत्व को भी हेतु बनाया जा सकता है। जैसे जीवाः परमात्मनः तत्त्वतो न भिद्यन्ते, अबाध्यत्वात् परमात्मवत्।'' पूर्वपक्षी के अनुसार विश्व सत्य होने से जड़ में भी अबाध्यत्व रहेगा किन्तु साध्य नहीं रहने

स्वव्यवहारे स्वभिन्नज्ञानानपेक्षत्वं हेतुः। तवापि जीवस्य स्वाभिन्ननित्यज्ञानस्याबाध्यव्यवहारविषयत्वात्। अबाध्यत्वमप्यत्र हेतुः। न च जडे व्यभिचारः; तत्र बाध्यत्वेन हेतोरभावात्, तात्त्विकभेदस्य सर्वत्रासत्त्वेन व्यभिचारानवकाशात्।।१।।

न च— एवं व्यावहारिकभेदव्यतिरेकोऽप्येवमेव साध्यतां जीवपरमात्मनोरिति—वाच्यम्; तत्र प्रत्यक्षविरोधस्यैव बाधकत्वात्, श्रुत्यनुग्रहाच्चाभाससाम्यापादनाप्रयोजकत्वानवकाशात्। अत एव—विमता जीवाश्चैत्रात् तत्त्वतो न भिद्यन्ते, जीवत्वाच्चैत्रवदिति जीवैक्ये, विमता जीवा वस्तुतो ब्रह्मणो न भिद्यन्ते, वस्तुत्वात्, ब्रह्मवदिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

से व्यभिचार दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जड़ में बाध्यत्व का संशय (सिद्धान्ती जड़ में बाध्यत्व मानते हैं और पूर्वपक्षी अबाध्यत्व मानता है, अतः संशय) होने से जड़ में हेतु का निश्चय नहीं हो पायेगा। अभावात् का अर्थ है— अनिश्चयात्। जब जड़ में हेतु का ही निश्चय नहीं तब जड़ में व्यभिचार दोष नहीं दिया जा सकता है। (इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि व्यभिचार का निश्चय जड़ में न होने पर भी जड़ में व्यभिचार का संशय हो ही सकता है। व्यभिचार संशय भी अनुमिति का प्रतिबन्धक होता ही है। इसका उत्तर देते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि) साध्याभावरूप तात्त्विक भेद कहीं पर रहता ही नहीं है। अतः साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्यभिचार कहीं पर दिखाया ही नहीं जा सकता है।।१।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि एवम् = जैसे जीव और ब्रह्म में तात्त्विक भेद का अभाव सिद्ध कर रहे हैं वैसे ही जीव और ब्रह्म के व्यावहारिक भेद का अभाव भी उक्त हेतु और दृष्टान्त के माध्यम से सिद्ध किया जा सकता है। अनुमान का आकार होगा— जीवाः परमात्मनो व्यवहारतोऽपि न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मवत्। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा सिद्धान्ती के ऐक्य अनुमान में अनुमानाभास साम्यता का प्रदर्शन किया गया।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि आस्तिक नास्तिक सभी को यह प्रत्यक्ष है कि ''मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ।'' इस प्रकार सर्वज्ञप्रतियोगिक अल्पज्ञ (जीव) अनुयोगिक भेद का प्रत्यक्ष ही पूर्वपक्षी के अनुमान का बाधक है। अतः उक्त अनुमान के द्वारा जीव ब्रह्मगत व्यावहारिक भेद का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी ने इस अनुमान के द्वारा ऐक्य अनुमान में जो आभास साम्यता का आपादन किया था। वह भी उचित नहीं है, क्योंकि आभाससाम्यता के माध्यम से प्रकृत हेतु में अप्रयोजकत्व का आपादन किया जाता है किन्तु वह हो नहीं सकता है, क्योंकि जीवब्रह्मैक्य बोधक अनुमान अभेद बोधक श्रुतियों से अनुगृहीत हैं। इसलिये ''यदि जीवे परमात्मनस्तत्त्वतो भेदाभावो न भवेत् तर्हि अभेदपरकतत्त्वमस्यादिश्रुतिर्बाध्येत।'' इत्यादि प्रकार के अनेक अनुकूल तर्कों के विद्यमान होने से ऐक्य अनुमान में अप्रयोजकत्व का आपादन नहीं किया जा सकता है। सिद्धान्ती के द्वारा जीवों में एकता सिद्ध करने के लिये अनुमान किया जाता है— मैत्रादयः जीवाः चैत्रात् तत्त्वतो न भिद्यन्ते, जीवत्वात्, चैत्रवत्। इसी प्रकार सिद्धान्ती के द्वारा जीव और ब्रह्म में एकता सिद्ध करने के लिये अनुमान किया जाता है— मैत्रादयः जीवाः वस्तुतो ब्रह्मणः न भिद्यन्ते, वस्तुत्वात्, ब्रह्मवत्। इस अनुमान का खण्डन करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि उन दोनों अनुमानों के साध्य में ''तत्त्वतः'' और ''वस्तुतः'' के स्थान पर ''व्यवहारतोऽपि'' रख देने पर उक्त दोनों अनुमान अनुमानाभास हो जायेंगे। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''अत एव अपास्तम्।'' अत एव = ''नाहं सर्वज्ञः'' और ''मैं चैत्र नहीं हूँ'' इस प्रकार के प्रत्यक्ष रूप बाधक का सद्भाव होने से उक्त दोनों अनुमानों का बाध हो जाता है और आभास साम्यता के माध्यम से अप्रयोजकत्व

ब्रह्मजीवैक्ये च यदनुमानं, तत्र व्यवहारतोऽपि न भिद्यन्त इत्यप्येवं, साध्यतामित्याभाससाम्यम्—अपास्तम्।।२।।

एवं विमतानि शरीराणि, चैत्राधिष्ठितानि, शरीरत्वात्, सम्मतवत्। न च— एवावता न जीवैक्यसिद्धि:, चैत्राधिष्ठितत्वेऽपि अन्याधिष्ठितत्वसम्भवात्, चैत्रमात्राधिष्ठितत्वे तु अन्तर्याम्यधिष्ठितत्वेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यापत्तिरिति—वाच्यम्; चैत्रमात्रसंसार्यधिष्ठितत्वस्य साध्यत्वात्। चैत्रमात्रभोगायतनानीति वा साध्यम्। न च—भोक्तृत्वमन्त:करणविशिष्टस्य, तच्च प्रतिशरीरं भिन्नम्, यच्चैकं शुद्धचैतन्यं तन्न भोक्त्रीति बाध

सत्यानन्दप्रबोधिका

का जो आपादन होता है। उस अप्रयोजकत्व का ऐक्य बोधक श्रुतियों से अनुगृहीत तर्क (यदि मैत्रादि जीव में चैत्रादि जीव का या ब्रह्म का तत्त्वत भेदाभाव नहीं होगा तब तो अभेद परक ''तत्त्वमसि'' इत्यादि श्रुतियों के बाध होने की आपत्ति होगी— इत्याकारक तर्क) के द्वारा निराकरण कर दिया जाता है। अत: पूर्वपक्षी का उक्त कथन खण्डित हो गया।।२।।

एवम् = जीवों का पारस्परिक अभेद और जीव ब्रह्म अभेद के जैसे ही सभी शरीरों में एक जीव सिद्ध करने वाला अनुमान भी दोष से रहित ही है। जैसे— मैत्रादि के शरीर चैत्र से अधिष्ठित हैं, शरीरत्व होने से, जैसे चैत्र शरीर। चैत्र शरीर में हेतु और साध्य है और पक्ष में हेतु है। फलत: पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त प्रकार से अनुमान होने पर भी शरीरगत जीव अधिष्ठितत्त्व मात्र नहीं माना जा सकता है। अर्थात् शरीर केवल जीव से ही अधिष्ठित होता है— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक शरीर जीव और अन्तर्यामी दोनों से अधिष्ठित होते हैं। ऐसा होने पर पक्ष में एक जीव सिद्ध न होकर जीव और अन्तर्यामी दो की सिद्धि होगी। जो कि अनुमान कर्ता को अभीष्ट नहीं है। यदि कहा जाय कि उक्त साध्य का आकार करेंगे— अन्तर्यामिभिन्नत्वे सति चैत्रमात्राधिष्ठितत्त्वम्। ऐसा होने से सभी शरीरों में एक जीव अधिष्ठितत्त्व सिद्ध हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से साध्य बनाने पर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय नहीं हो पायेगा क्योंकि दृष्टान्त भूत जो शरीर है वह केवल जीव से ही अधिष्ठित नहीं होता है अपितु जीव और अन्तर्यामी दोनों से अधिष्ठित होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि उक्त अनुमान में चैत्र मात्र जो संसारी तादृश संसारी से अधिष्ठितत्त्व को साध्य बनायेंगे। ऐसा साध्य लेने पर अन्तर्यामी को लेकर दोष नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि अन्तर्यामी संसारी नहीं है। अथवा चैत्रमात्रभोगायतनत्व को साध्य बनाने पर भी दोष नहीं होगा, क्योंकि अन्तर्यामी शरीर में रहता हुआ भी शरीर का भोक्ता नहीं होता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के ही मतानुसार अन्त: करण विशिष्ट चैतन्य में भोक्तृत्व रहता है। वह अन्त: करण विशिष्ट चैतन्य प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न है और जो एक शुद्ध चैतन्य है। उसे भोक्ता नहीं माना जाता है। अत: सिद्धान्ती के मतानुसार ही एक भोक्ता न होकर अनेक भोक्ता होने से उक्त एक भोक्ता सिद्ध करने वाले अनुमान में बाध दोष होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्त:करण विशिष्ट चैतन्य में भोक्तृत्व होने पर भी वह भोक्तृत्व चैतन्य में भी रहेगा, क्योंकि विशिष्ट में रहने वाला धर्म विशेष्य में भी माना जाता है। इस प्रकार चैतन्य रूप विशेष्य में भोक्तृत्व रहता है। वह चैतन्य रूप विशेष्य सभी शरीरों में एक ही है। अत: बाध दोष नहीं होगा।

शङ्का— एवम् = सभी शरीरों में एक ही जीव रहता है— इसकी सिद्धि उक्त प्रकार के अनुमान से करने

इति–वाच्यम्; भोक्तृत्वस्य विशिष्टवृत्तित्वेऽपि विशेष्यवृत्तित्वानपायात्। न चैवं विमतानि शरीराणि चैत्रमनसैव युक्तानीत्याभाससाम्यम्; मनसोऽप्यैक्ये व्यवस्थायाः सर्वथानुपपत्तेः, श्रुत्यनुग्रहाननुग्रहाभ्यां विशेषाच्च, दृष्टिसृष्टिपक्षे तदभ्युपगमाच्च॥३॥

आत्मा, द्रव्यत्वापरजात्या नाना न, विभुत्वात्, आकाशवत्। न च–प्रतिकल्पमाकाशस्य भेदेन साध्यवैकल्यं परिच्छिन्नत्वेन साधनवैकल्यं चात्मत्वस्य परमाणुत्वादिवदजातित्वेऽपि आत्मभेदसिद्ध्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर, ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि मैत्रादि के शरीर चैत्रीय मन से युक्त है क्योंकि शरीरत्व होने से, जैसे चैत्र का शरीर। इस प्रकार के अनुमानाभास का साम्य सिद्धान्ती के उक्त अनुमान में दिखाया जा सकता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सभी शरीरों में एक ही मन मानने पर व्यवस्था की अनुपपत्ति होगी। जैसे एक के मन के सो जाने पर उसी काल में सभी की सुषुप्ति मानने की आपत्ति होगी। इस प्रकार के प्रतिकूल तर्क से उक्त अनुमानाभास पराहत है जबकि प्रकृत अनुमान प्रतिकूल तर्क से पराहत नहीं है। पूर्वपक्षी के अनुमानाभास वाले अनुमान और सिद्धान्ती के अनुमान में यह भी अन्तर है कि सिद्धान्ती का अनुमान अभेद परक श्रुति से पोषित है और पूर्वपक्षी का उक्त अनुमानाभास किसी श्रुति से पोषित नहीं है। दृष्टिसृष्टि मत के अनुसार सभी शरीरों में एक ही मन माना जाता है और स्वप्न के समान सभी व्यवस्था की उपपत्ति हो जाती है– इसे ''एकजीववादविचार'' में कहा जा चुका है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया अनुमान भी सद् अनुमान ही है। अतः इस सद् अनुमान के द्वारा प्रकृत अनुमान में आभास साम्यता का आपादन किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि अनुमानाभास के द्वारा ही आभास साम्यता का आपादन होता है॥३॥

आत्मा द्रव्यत्वापरजात्या नाना न, विभुत्वात्, आकाशवत्। इस अनुमान के द्वारा आत्मगत ऐक्य सिद्ध होता है। यहाँ पर द्रव्यत्व की अपर = व्याप्य जाति = पृथिवीत्व, जलत्व तेजस्त्वादि। उनमें से पृथिवीत्वादि रूप से आत्मा नाना तो हो नहीं सकता है किन्तु आत्मत्वेन आत्मा नाना हो सकता है। उसी का निषेध इस अनुमान से कर के आत्मगत ऐक्य सिद्धि किया जा रहा है। दृष्टान्त में हेतु है और साध्य भी है, क्योंकि द्रव्यत्व की व्याप्य जाति जो आकाशत्व है, उस आकाशत्वेन आकाश एक ही है। आत्मा के व्यापक होने से पक्ष में हेतु है। फलतः पक्ष में साध्य की सिद्धि होने से आत्मैक्य सिद्ध हो जायेगा– यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि आकाश एक होने से उसमें आकाशत्व जाति नहीं मानी जा सकती है। फलतः द्रव्यत्व की व्याप्य जाति आकाशत्व के न होने से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय नहीं हो पायेगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि कल्प के भेद से आकाश का भेद मानकर अनेक आकाश होने पर उसमें आकाशत्व जाति सिद्ध हो जायेगी। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि इस प्रकार से आकाशत्व जाति सिद्ध करने पर आकाश एक न होकर अनेक होने से उसमें साध्य का समन्वय नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार सिद्धान्ती के अनुसार ब्रह्म को छोड़कर आकाशादि परिच्छिन्न माने जाते हैं। अतः हेतु भी दृष्टान्त में नहीं जायेगा। इस अनुमान में अर्थान्तरता दोष भी है क्योंकि द्रव्यत्व की व्याप्य जाति के द्वारा ही भेद सिद्ध होता है– यह नहीं माना जा सकता है क्योंकि परमाणुओं में परमाणुत्व जाति के माध्यम से भेद नहीं माना जाता है अपितु परमाणु में रहने वाले विशेष के बल से परमाणुओं में भेद माना जाता है। अतः परमाणुओं में

चार्थान्तरमिति—वाच्यम्; आत्मत्वाधिकरणं, द्रव्यत्वापरजात्यैककाले नाना न, समानकालीनमूर्तमात्रसंयुक्तत्वात्, गगनवदित्यत्र तात्पर्यात्। पक्षविशेषणमहिम्ना च नार्थान्तरम्। विमतो भेदः, मिथ्या, एकस्यां दृशि कल्पितो वा, भेदत्वात्, दृश्यत्वाद्वा, चन्द्रभेदवत्, एकस्यां दृशि क्षणिकवादिकल्पितभेदवद्वा। मिथ्यात्वं प्रागुक्तमेव।।४।।

न च कल्पिताकल्पितसाधारणभेदत्वासिद्धिः; भेदे अकल्पितत्वस्यैवासिद्धेः। अत एव—चन्द्रस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्रव्यत्व व्याप्य जाति परमाणुत्व के न रहने पर भी परमाणुओं में भेद माना जाता है। ऐसे ही द्रव्यत्व की व्याप्य जाति आत्मत्व को न मानने पर भी आत्मा में भेद सिद्ध हो जायेगा।

समाधान— उक्त प्रकार से नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उक्त अनुमान का तात्पर्य इस अनुमान में है— आत्मत्व का अधिकरण, द्रव्यत्वव्याप्य जाति से एक काल में नाना नहीं है, समान कालीन जो मूर्त्तमात्र तत्संयुक्तत्व होने से, जैसे आकाश। यहाँ पर पक्ष में ''आत्मत्व'' जाति विशेषण देने से परमाणुओं में वैसी परमाणुत्व जाति को न लेकर विशेष के द्वारा जैसे परमाणुओं में भेद रहता है— उसी प्रकार आत्मत्व को भी वैसी जाति न मानकर आत्मा में भेद मान लिया जाय— ऐसा जो अर्थान्तर दोष दिया था। वह अब नहीं दे सकते हैं, क्योंकि अब आत्मत्व रूप जाति को लेना ही पड़ेगा। इसी को मूल में कहा गया कि ''पक्षविशेषणमहिम्ना च नार्थान्तरम्''। ''एक काले'' पद देने से एक कल्प में एक ही आकाश रहता है। अतः अनेक कल्पों के अनेक आकाश को लेकर उनमें भेद को दिखाकर दृष्टान्त में साध्यवैकल्प दोष नहीं दिया जा सकता है। अब एक ही कल्प के घटाकाश मठाकाश आदि औपाधिक भेद से आकाशत्व जाति को लेकर द्रव्यत्व व्याप्य जाति = आकाशत्व। उस आकाशत्वेन आकाश नाना नहीं है। इस प्रकार दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। औपाधिक भेद = कल्पित भेद जो आकाशत्व जाति के लिये माना गया। उससे आकाशगत जो वास्तविक अभेद है। उससे विरोध न होने से दृष्टान्त में साध्य वैकल्प नहीं होगा। इसी प्रकार स्वसमानकालीन यावन्मूर्तसंयोगित्व को हेतु बनाने से दृष्टान्त में साधन वैकल्प नहीं होगा, क्योंकि आकाश को परिच्छिन्न मानने पर भी आकाश काल में आकाश सर्व मूर्त संयोगी होता ही है। फलतः पक्ष में साध्य के सिद्ध हो जाने से आत्मैक्य सिद्ध हो जाता है। जीवब्रह्मगत भेद के मिथ्या सिद्ध हो जाने पर जीवब्रह्मगत अभेद सिद्ध हो जाता है— इसके लिये अनुमान दे रहे हैं— जीवब्रह्मगत भेद मिथ्या है अथवा एक ही चैतन्य में कल्पित है, भेदत्व होने से अथवा दृश्यत्व होने से, जैसे चन्द्र भेद अथवा जैसे क्षणिकवादी बौद्ध के द्वारा आत्मगत कल्पित भेद। अर्थात् क्षणिकवादी के द्वारा आत्मा क्षणिक और नाना माना जाता है और उन नाना आत्मा में कल्पित भेद माना जाता है। उस कल्पित भेद को दृष्टान्त बनाया गया है। साध्य = मिथ्यात्व का निरूपण किया जा चुका है।।४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पक्ष में जो भेद है वह अकल्पित = व्यावहारिक भेद है और दृष्टान्त में जो भेद है वह कल्पित = प्रातिभासिक भेद है। अतः कल्पित भेद और अकल्पित भेद में एक ही प्रकार का भेदत्व नहीं रहेगा अपितु भिन्न–भिन्न प्रकार का भेदत्व रहेगा। अतः हेतु = भेदत्व से अकल्पित भेद लेंगे तब पक्ष में हेतु जायेगा किन्तु दृष्टान्त में नहीं जायेगा। इसी प्रकार हेतु = भेदत्व से कल्पित भेदत्व लेने पर हेतु दृष्टान्त में जायेगा किन्तु पक्ष में नहीं जायेगा। अतः यह अनुमान दुष्ट है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार अकल्पित भेद होता ही नहीं है। जो व्यावहारिक भेद और प्रातिभासिक भेद होता है। वे दोनों ही कल्पित भेद ही होते हैं। अतः उन दोनों में कल्पित भेदत्व रहेगा। हेतु = भेदत्व से कल्पित भेदत्व को लेकर पक्ष और दृष्टान्त में हेतु का समन्वय हो

कल्पितद्वितीयचन्द्राद् भेदस्य सत्यत्वेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्, मुक्तेः संसाराद् ब्रह्मणो अनृताद् भेदे च व्यभिचार इति—निरस्तम्; न चैवमभेदो मिथ्या अभेदत्वाद् देहात्माभेदवदित्यादि सुसाधम्; शून्यवादापत्तेरुक्तत्वात्। एवं विमता भेदधीः, मिथ्या, भेदधीत्वाच्चन्द्रभेदधीवत्। न च ब्रह्मानृतभेदप्रतीत्यादौ व्यभिचारः; तासामपि पक्षसमत्वात्। आभाससाम्यस्य तात्त्विकत्वे प्रत्येतव्यत्वानुपपत्त्यैव निरासः। अत एव 'विमतं

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाने से पूर्वपक्षी के उक्त कथन का खण्डन हो गया।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्य चन्द्रनिष्ठ द्वितीय कल्पित चन्द्र के भेद में सत्यत्व रहता है न कि मिथ्यात्व। अतः दृष्टान्त में साध्य वैकल्य दोष होगा। इसी प्रकार व्यभिचारदोष भी होगा, क्योंकि संसार से मुक्ति में जो भेद है और अनृत से जो ब्रह्म में भेद है। वह भेद सत्य है। ऐसे भेद में हेतु भेदत्व है किन्तु मिथ्यात्व नहीं है।

समाधान— अत एव निरस्तम् — ऐसा अन्वय है। अत एव = पूर्वपक्षी ने जो भेद दिखाये हैं। वे सभी भेद व्यावहारिक भेद हैं। उन व्यावहारिक भेदों में कल्पितत्व (मिथ्यात्व) के रहने से दृष्टान्त में साध्यवैकल्य नहीं होगा और व्यभिचारदोष भी नहीं होगा।

शङ्का— एवम् = ''भेदो मिथ्या, भेदत्वात्'' इस अनुमान के जैसे ही ''अभेदो मिथ्या, अभेदत्वात्, देहात्माभेदवत्।'' इस अनुमान के द्वारा अभेदगत मिथ्यात्व भी सिद्ध किया जा सकता है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि अभेद = ब्रह्म को भी मिथ्या मान लेने पर शून्यवाद की आपत्ति होगी। इसे पीछे कहा जा चुका है। फलतः ऐसे बाधक तर्क के कारण अभेदगत मिथ्यात्व साधक अनुमान खण्डित हो जायेगा। एवम् = जैसे भेदगत मिथ्यात्व है वैसे ही भेद ज्ञानगत भी मिथ्यात्व है। इसके लिये अनुमान कर रहे हैं— जीवब्रह्म भेद ज्ञान मिथ्या है, भेदज्ञानत्व होने से, जैसे चन्द्र में कल्पित द्वितीय चन्द्र का भेदज्ञान। ब्रह्म और अनृत के भेद ज्ञान में हेतु है किन्तु साध्य = मिथ्यात्व नहीं है। (पूर्वपक्षी ब्रह्म और अनृत के भेद को सत्य मानता है। अतः ब्रह्म और अनृत का भेद ज्ञान भी सत्य होगा— ऐसा पूर्वपक्षी का भाव है)। अतः व्यभिचारदोष होगा। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्म और अनृत का भेद ज्ञान भी पक्ष के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। जो पक्ष के अन्तर्गत होता है। उसमें व्यभिचारदोष का उद्‌भावन नहीं किया जाता है। इस पर पूर्वपक्षी के द्वारा अनुमानाभास का साम्य दिखाने के लिये अनुमान किया जाता है— अभेद धीः मिथ्या, अभेदधीत्वात्, देहात्माभेदधीवत्। शून्यवाद की आपत्ति के कारण जैसे यह अभेद धी पक्षक अनुमान अनुमानाभास है वैसे ही भेद धी पक्षक मिथ्यात्व साधक अनुमान भी अनुमानाभास है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भेद धी पक्षक मिथ्यात्व साधक अनुमान को अनुमानाभास मान कर भेद धी को तात्त्विक मानने पर प्रत्येतव्यत्व = दृश्यत्व की अनुपपत्ति होगी। अर्थात् ''भेदधियः मिथ्यात्वं विना दृश्यत्वमनुपपन्नम्।'' ऐसी अनुपपत्ति के द्वारा भेद धी पक्षक मिथ्यात्व साधक अनुमान में आभास साम्यता का निराकरण हो जायेगा। अत एव = ''विमता भेद धीः मिथ्या'' यह अनुमान निर्दुष्ट होने से ही यह अनुमान भी निर्दुष्ट है— विमतम् = आत्मत्वाधिकरण आत्मा, पारस्परिक तात्त्विक भेद से रहित है। विभुत्व होने से (यहाँ विभुत्व का अर्थ = समानकालीन मूर्त मात्र संयुक्तत्व लेना है। जिसे खण्ड संख्या ४ में कहा जा चुका है।) यदेवम् = जो हेतु वाला है, तत्तथा = वह साध्य वाला है, यद्वत् = जैसे आकाश, तथेदम् = ऐसे ही हेतु वाला पक्ष है, ततस्तथा = अतः पक्ष साध्य वाला है। फलतः इस अनुमान के द्वारा भी आत्मभेदगत मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। इस पर पूर्वपक्षी का

तात्त्विकस्वान्तर्भेदशून्यं महत्त्वतः। यदेवं तत्तथा यद्वत् खं तथेदं ततस्तथा।।' इत्यत्र गगनस्य सावयवत्वेन न साध्यवैकल्यम्; स्वान्तःपदेन स्वावयवातिरिक्तस्योक्तेः।।५।।

एवं संवित्, स्वान्तर्गणिकस्वाभाविकभेदहीना, उपाधिमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वात्, गगनवत्, न च साध्यवैकल्यम्; नैयायिकदिशा दृष्टान्तत्वोक्तेः। न च–इच्छादेरपि घटपटाद्युपाधिभेदेन विभाव्यमानभेदतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

कथन है कि गगन के सावयव होने से दृष्टान्त (गगन) में साध्य वैकल्य होगा, क्योंकि स्वान्त = स्व अवयव है। आकाश के स्व अवयवों में भेद होने से भेद शून्य रूप साध्य नहीं रहेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि स्वान्त पद से स्व अवयव अर्थ नहीं लिया जायेगा अपितु द्रव्यत्व व्याप्य जाति लेंगे और ''भेदशून्यम्'' का अर्थ ''नाना न'' है। अर्थात् साध्य का आकार है– ''द्रव्यत्वव्याप्य–जात्यैककाले नाना न'' (इस पर विशेष विचार लघुचन्द्रिका में देखें)। इस साध्यादि को खण्ड संख्या ४ में स्पष्ट किया जा चुका है।।५।।

इसी प्रकार संवित् स्वानुयोगिक प्रतियोगिक तात्त्विक भेद से रहित है। (अर्थात् पारस्परिक तात्त्विक भेद से रहित है।) उपाधि के विना न भासने वाला जो भेद तादृश भेद वाला है, जैसे आकाश। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती प्रतिकल्प में आकाश भिन्न–भिन्न मानते हैं। अतः आकाश में आकाश का भेद रहने से आकाश में साध्य नहीं जायेगा। अतः दृष्टान्त में साध्य वैकल्य दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यहाँ पर नैयायिक के मत से आकाश को दृष्टान्त बनाया गया है। नैयायिक मत में आकाश एक और नित्य और विभु होने से उसमें भेद न रहने से साध्य का समन्वय हो जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय– घटादि विषयरूप उपाधि के विना संवित् में भेद नहीं होता है। अतः पक्ष में हेतु चला जायेगा। इसी प्रकार घट मठादि उपाधि के विना आकाश में भेद की प्रतीति नहीं होती है। अतः दृष्टान्त में भी हेतु का समन्वय हो जायेगा। फलतः पक्ष में साध्य की सिद्धि होने जाने से संवित् में ऐक्य सिद्ध हो जायेगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि घट की इच्छा पट की इच्छा– इस प्रकार घट पट आदि उपाधियों को लेकर ही इच्छादि में भेद की प्रतीति होती है और उपाधियों के विना इच्छादि में भी भेद की प्रतीति नहीं होती है। अतः इच्छादि में हेतु गया किन्तु इच्छादि में साध्य नहीं है, क्योंकि इच्छादि में स्वाभाविक भेद माना जाता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही अन्तःकरण घटेच्छा – पटेच्छा इत्यादि नाना इच्छाओं को प्राप्त करता है। वह अन्तःकरण एकात्मक ही होता है न कि नाना। अतः इच्छादि में साध्य होने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। आगे भेद गत मिथ्यात्व सिद्धि के माध्यम से अभेद साधक अनुमान दिया जा रहा है – विवादास्पद अव्याप्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्न प्रतियोगिकभेद, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगी, भेदत्व होने से, संयोगवत् प्रतियोगिकभेदवत् = कपिसंयुक्तवृक्ष प्रतियोगिकभेदवत्। (कहने का भाव यह है कि वही भेद पक्ष है जिस भेदीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म अव्याप्य वृत्ति न हो।) जीव का ईश्वर में जो भेद है उस भेद का प्रतियोगितावच्छेदक = जीवत्व। वह अव्याप्य वृत्ति धर्म नहीं है। अतः जीव का ईश्वर में भेद–पक्ष है। अद्वैत मत में जीवत्व ईश्वरत्व अव्याप्य वृत्ति धर्म हैं, क्योंकि ये दोनों अन्तःकरण और माया से अवच्छिन्न चैतन्य प्रदेश में ही रहते हैं न कि सम्पूर्ण चैतन्य प्रदेश को व्याप्त कर के रहते हैं। जबकि माध्व मत में जीवत्व ईश्वरत्व व्याप्य वृत्ति धर्म हैं। अतः माध्व मत के अनुसार ही यह पक्ष दिया

व्यभिचारस्तेष्विति—वाच्यम्; इच्छादीनामेकान्तःकरणपरिणामत्वेन तत्रापि साध्यसत्त्वात्। विमतो अव्याप्यवृत्ति-धर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताको भेदः स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगी, भेदत्वात्, संयुक्तप्रतियोगिकभेदवत्।।६।।

विमतो भेदः, केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगी, पदार्थत्वात्, नित्यद्रव्यवत्। स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे यथा न तुच्छत्वं पारमार्थिकत्वाकारेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे ब्रह्मवत् सद्रूपतोपपत्त्या न यथार्थान्तरं, तत् प्रागुक्तम्। अन्योन्याभावत्वं स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्ति, त्रैकालिकाभाववृत्तित्वे सति अभावत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वाद्, अत्यन्ताभावत्ववदित्यनुमानं पूर्वोक्तसंयुक्तप्रतियोगिकभेदरूपदृष्टान्तसिद्ध्यर्थम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

गया है।) मिथ्यात्व के लक्षण = स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व को साध्य बनाया गया है, भेदत्व हेतु है। कपिसंयुक्तवृक्षप्रतियोगिक भेद को दृष्टान्त बनाया गया है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय इस प्रकार से होगा— ''वृक्षः मूलावच्छेदेन कपिसंयोगवान् न'' इत्याकारक प्रतीति नैयायिक मानता है। अतः ऐसे भेद का प्रतियोगी कपिसंयुक्त वृक्ष है। अतः दृष्टान्त में हेतु गया। उसी वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग होने के कारण शाखावच्छेदेन कपिसंयोगवान् के भेद का अत्यन्ताभाव है। अतः दृष्टान्त में साध्य गया। फलतः पक्ष में साध्य (मिथ्यात्व का जो लक्षण है उस) का समन्वय हो जाने से भेद में मिथ्यात्व सिद्ध होकर अभेदगत तात्त्विकत्व अर्थतः सिद्ध हो जायेगा।।६।।

विवादास्पद भेद (जीवेश्वरभेद) केवलान्वयी जो अत्यन्ताभाव तादृश अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, पदार्थत्व होने से, जैसे नित्य द्रव्य = आकाश। (आकाश अवृत्तिमत् होने से कहीं नहीं रहता है।) जगत् का स्वरूपेण ब्रह्म में अत्यन्ताभाव मानने पर भी जगत् में तुच्छता की आपत्ति कैसे नहीं आयेगी— इसका निरूपण ''द्वितीयमिथ्यात्वविचारः'' के खण्ड संख्या ३० में किया जा चुका है। इसी प्रकार जगत् का पारमार्थिकत्वेन ब्रह्म में अत्यन्ताभाव मानने पर ब्रह्म के जैसे जगत् में सद् रूपता कैसे नहीं आयेगी? अर्थात् जैसे निर्धर्मक ब्रह्म में पारमार्थिकत्व रूप धर्म का अभाव होने पर भी ब्रह्म सत्य माना जाता है वैसे ही जगत् में पारमार्थिकत्व का अभाव होने पर भी जगत् को सत्य मानना पड़ेगा— ऐसा होने पर अर्थान्तरतापत्ति होगी— इसका खण्डन ''प्रथममिथ्यात्वविचारः'' के खण्ड संख्या ६ में किया जा चुका है। अन्योन्याभावत्व स्वसमानाधिकरण जो अत्यन्ताभाव तादृश अत्यन्ताभाव में रहता है, क्योंकि त्रैकालिक अभाव में वृत्तित्व होता हुआ अभावत्व का साक्षाद् व्याप्यत्व होने से, जैसे अत्यन्ताभावत्व। इस अनुमान के द्वारा खण्ड संख्या ६ के अन्तिम में जो भेद पक्षक मिथ्यात्व साधक अनुमान है उसके दृष्टान्त = संयुक्त भेद में साध्य (स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूप मिथ्यात्व) सिद्ध हो जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शुक्ति में किसी को शुक्ति भेद का भ्रम हो गया। अतः शुक्ति में भी काल्पनिक शुक्ति भेद रहता ही है। उस भेदीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक = शुक्तित्व। वह शुक्ति में व्याप्यवृत्तित्वेन रहता है। अतः काल्पनिक शुक्ति भेद = अव्याप्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद हो जाने से पक्ष कोटि में आ गया। उसमें साध्य रहता ही है, क्योंकि वह काल्पनिक शुक्ति भेद जिस शुक्ति में रहता है, उसमें ही शुक्ति भेद का अत्यन्ताभाव भी रहता है। अतः सिद्धसाधनदोष होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि माध्व मत में भ्रम विषयीभूत रजतादि को असत् (अलीक) मानते हैं मिथ्या नहीं मानते हैं। अतः शुक्ति में शुक्तिभेद रहता है— ऐसा पूर्वपक्षी के द्वारा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अलीक रहता है—इस प्रकार से अलीक की सत्ता नहीं मानी जाती है। अतः पूर्वपक्षी माध्व उक्त प्रकार से सिद्धसाधनदोष नहीं दे सकता है। इसी प्रकार अन्यथाख्यातिवादी तार्किक के मत में

न च शुक्तौ शुक्तिभेदस्यारोपितस्य सत्त्वेन सिद्धसाधनम्; असदन्यथाख्यातिवादिनस्तवानङ्गीकृतत्वेन तस्य साध्यत्वात्।।७।।

न च त्रैकालिकत्वे मिथ्यात्वायोगः; मायाचित्सम्बन्धस्य कालत्वेन सर्वकालस्थितेरतद्विरोधित्वात्। न चाव्याप्यवृत्तितया संयोगादिवत् समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनार्थान्तरम्; पक्षविशेषणमहिम्ना अव्याप्यवृत्तित्वस्यासम्भवेन तदयोगात्। अनुसन्धानाद्यव्यवस्थादिकं प्रागेव निराकृतम्। अप्रयोजकत्वाभास—

सत्यानन्दप्रबोधिका

भ्रम स्थल पर भिन्न देश में रहने वाला सत्य रजत दोषादि के कारण शुक्ति में सत्य रजत का सम्बन्ध भासित होता है। अतः तार्किक मत में भी यह नहीं कहा जा सकता है कि शुक्ति में कल्पित शुक्ति भेद रहता है। अतः तार्किकमत में भी वैसा सिद्ध नहीं है अपितु साधनीय है। अतः सिद्धसाधनदोष नहीं दिया जा सकता है।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त अनुमान में पक्ष जो अन्योन्याभावत्व है, उसमें जब हेतु का समन्वय किया जाता है तब उसमें हेतु का ''त्रैकालिकाभाववृत्तित्वे'' को भी समन्वय करना पड़ेगा। यह तभी सम्भव होगा जब अन्योन्याभाव को त्रैकालिक माना जाय किन्तु अन्योन्याभाव को त्रैकालिक मानने पर वह सत्य सिद्ध हो जाने से मिथ्यात्व रूप साध्य (स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व) उसमें नहीं जायेगा। अर्थात् जीव और ईश के भेद को जो आप मिथ्या सिद्ध करना चाह रहे थे, वह मिथ्या सिद्ध न होकर सत्यसिद्ध हो जायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि माया और चैतन्य के सम्बन्ध को काल कहा जाता है। ब्रह्मज्ञान होने पर माया की निवृत्ति होने से माया चित् सम्बन्ध रूप काल भी निवृत्त हो जाता है। अतः सर्व काल स्थित त्रैकालिक भी काल के अन्तः पाती ही है। अतः त्रैकालिक की भी निवृत्ति हो जायेगी। इस प्रकार जिसमें त्रैकालिकत्व है, उसमें मिथ्यात्व मानने में कोई विरोध नहीं है। फलतः उक्त अनुमान के पक्ष में हेतु के समन्वय होने पर भी मिथ्यात्व रूप साध्य के रहने में कोई विरोध नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि खण्ड संख्या ६ के अन्तिम में जो भेद पक्षक अनुमान से पक्ष में साध्य के सिद्ध हो जाने से यह अर्थ निकलेगा कि जिस अधिकरण में भेद रहता है उसी अधिकरण में भेद का अत्यन्ताभाव रहता है। जिसका प्रतियोगी भेद होता है। ऐसा होने पर जैसे वृक्ष में कपिसंयोग है और उसी में कपिसंयोगाभाव सिद्ध होने पर कपिसंयोग मिथ्या सिद्ध नहीं होता अपितु अव्याप्य वृत्ति सिद्ध होता है, वैसे ही भेद मिथ्या सिद्ध न होकर अव्याप्यवृत्ति सिद्ध होगा। इस प्रकार अर्थान्तरतापत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि उक्त अनुमान के पक्ष में जो भेद है। उसका विशेषण ''अव्याप्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताक'' दिया गया है, जिससे अव्याप्यवृत्तिता का वारण किया गया है। अतः भेद में अव्याप्यवृत्तिता को लेकर अर्थान्तरदोष नहीं होगा। आत्मा में भेद न होने पर चैत्र को दुःख होता है और मैत्र को दुःख नहीं होता है— इत्यादि व्यवस्था के भङ्ग की आपत्ति होगी— इसका समाधान औपाधिक भेद को लेकर के ''आत्मभेदे अनुकूलतर्कविचारः'' के खण्ड संख्या—१ में किया जा चुका है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा उद्भावित जो अप्रयोजकत्व आभास साम्य, सत्प्रतिपक्षत्व तथा सोपाधिकत्वादि हैं। उनमें से अप्रयोजकत्व का परिहार ''अनुकूलतर्कविचारः'' में किया जा चुका है। आभाससाम्य का परिहार ''दृश्यत्वादेराभाससाम्यविचारः'' में किया जा चुका है और सत्प्रतिपक्ष का निराकरण ''मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानबाधविचारः'' में किया गया है तथा सोपाधिकत्व का निराकरण ''दृश्यत्वादेः

साम्यसत्प्रतिपक्षोपाध्यादि पूर्वोक्तप्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानवन्निराकरणीयम्। एवमात्मत्वमेकत्वव्याप्यम्, आत्ममात्रवृत्तित्वात्, चैत्रत्ववदित्याद्यपि द्रष्टव्यम्।।८।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ जीवब्रह्मभेदानुमानम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सोपाधिकत्वविचारः'' में किया गया है। अर्थात् प्रपञ्च मित्थात्व अनुमान में पूर्वपक्षी ने जो अप्रयोजकत्व आभास साम्य आदि दोष दिये थे। उनका निराकरण अनुकूलतर्कविचारादि में जिन युक्तियों के द्वारा किया गया है, उन्हीं युक्तियों से यहाँ पर भी अप्रयोजकत्वादि दोषों का निराकरण कर देना चाहिए। एवम् —जैसे पूर्वोक्त अनुमानों के द्वारा ऐक्य सिद्ध होता है वैसे ही ''आत्मत्वमेकत्वव्याप्यम् (यत्र यत्र आत्मत्वं तत्र तत्र एकत्वम्) आत्ममात्रवृत्तित्वात्, चैत्रत्ववत्।'' इस अनुमान के द्वारा भी ऐक्य की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् पक्ष में हेतु है और ''यत्र यत्र चैत्रत्वं तत्र तत्र एकत्वम्''— ऐसी व्याप्ति होने से साध्य दृष्टान्त में चला जायेगा और आत्ममात्रवृत्ति चैत्रत्व है ही। फलतः पक्ष में साध्य सिद्ध हो जाने से आत्मैक्य सूपपन्न है— ऐसा सिद्धान्ती के कथन का भाव है।। ८।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां जीवब्रह्माभेदानुमानम् :—

१३—अंशत्वेनाप्यैक्यसिद्धिविचारः

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रुतौ 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' इति स्मृतौ चांशत्वव्यपदेशादपि जीवब्रह्माभेदसिद्धिः। यद्यपि ब्रह्म प्रति जीवस्यांशत्वं न तावदारम्भकत्वम्; ब्रह्मणोऽनादित्वात्। नापि खण्डत्वम्; अच्छेद्यत्वात्। नापि समुदायित्वम्; समुदायस्य समुदाय्यनन्यत्वेन व्यवहारदशायामपि संसार्यन्यशुद्धब्रह्माभावापातात्। नापि भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वम्; अनङ्गीकारात्। नापि पटं प्रति खण्डस्येव प्रदेशत्वम्; निष्प्रदेशब्रह्म प्रति कल्पनां विना तदयोगात्, तथापि घटाकाशस्य महाकाशं प्रतीव कल्पितप्रदेशत्वरूपमंशत्वं जीवस्यावच्छेदपक्षे सम्भवति। स्वतो निरंशेऽपि औपाधिकांशो यथा युज्यते, तथोक्तं पुरस्तात्।१।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

''पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति''(छा०उ०३–१२–६) {इस श्रुति के ''सर्वा'' के स्थान पर ''विश्वा'' कहा गया है जो कि शाखा भेद के कारण से कहा गया है। पादः = अंश, अस्य = ब्रह्म के, सर्वाभूतानि = सभी जीव — इस प्रकार ब्रह्म का अंश जीव को कहा गया है।} इस श्रुति और ''ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'' (गी०१५–७) इस स्मृति वाक्य के द्वारा ब्रह्म का अंश जीव है— ऐसे कथन से भी जीव ब्रह्म के अभेद की सिद्धि होती है। यद्यपि जैसे आरम्भवाद में तन्तु पट के आरम्भक (जनक) होने के कारण पट के अंश कहलाते हैं वैसे ब्रह्म का अंश जीव को नहीं माना जाता है, क्योंकि आरम्भकत्व रूप अंशत्व सादि के ही प्रति हो सकता है अनादि के प्रति नहीं। प्रकृत में ब्रह्म और जीव दोनों ही अनादि और नित्य होने के कारण कोई भी किसी का आरम्भक नहीं हो सकता है तब जीव को ब्रह्म का आरम्भक कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार स्वर्ण के खण्ड को जैसे स्वर्ण का अंश माना जाता है वैसे ही जीव को ब्रह्म का खण्ड होने से अंश कहा गया है— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अखण्ड ब्रह्म का खण्ड हो ही नहीं सकता है। इसी प्रकार जीव में समुदायित्व रूप अंश भी नहीं माना जा सकता है। अर्थात् जैसे भील समुदाय का प्रत्येक भील समुदायी माना जाता है वैसे ही ब्रह्म समुदाय का समुदायी जीव होने के कारण जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि समुदाय से समुदायी अभिन्न होने के कारण संसार दशा में जब जीव रूप समुदायी रहेगा तब उस जीव रूप समुदायी से भिन्न समुदाय रूप ब्रह्म नहीं रहेगा। जैसे कपाल और घट में भेदाभेद है। अर्थात् कपाल और घट में भेद और अभेद दोनों रहता है— इसलिए घट का अंश कपाल है वैसे ही जीव और ब्रह्म में भेदाभेद है। अतः ब्रह्म का अंश जीव है— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जीव से ब्रह्म का तात्त्विक अभेद ही सिद्धान्त मतानुसार स्वीकार किया जाता है न कि जीव से ब्रह्म का तात्त्विक भेदाभेद। जैसे खण्ड पट को पूर्ण पट का प्रदेश (एक भाग) होने के कारण अंश कहा जाता है वैसे ही ब्रह्म का एक भाग होने से जीव को अंश नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अखण्ड ब्रह्म निष्प्रदेश है। अतः जीव को अंश मानने के लिए निष्प्रदेश ब्रह्म में प्रदेश की कल्पना करने की आपत्ति होगी। अतः उपरोक्त प्रकार से जीव को ब्रह्म का अंश नहीं माना जा सकता है। आगे ''तथापि'' से यह दिखाने जा रहे हैं कि जीव को ब्रह्म का अंश कैसे माना गया है। जैसे घटाकाश में महाकाश की कल्पित प्रदेशता (कल्पित एक भागता) को लेकर अंशत्व का व्यवहार होता है वैसे ही भामतीकार के अवच्छेदवाद के अनुसार जीव को ब्रह्म का अंश मानना सम्भव है। स्वरूप से निरंश ब्रह्म में औपाधिक अंश मानना युक्ति युक्त है— इसे पूर्व में तत्–तत् स्थलों पर स्पष्ट किया जा चुका है।१।।

न तु सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वम्; स्थूलपटं प्रति सूक्ष्मपटस्याप्यंशत्वापत्तेः, वस्त्वेकदेशे मुख्यस्यांशशब्दस्य स्वतो निरंशेऽपि कल्पितैकदेशे प्रयोगस्यार्थान्तरे प्रयोगकल्पनापेक्षयाऽभ्यर्हितत्वात्। 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एकः' इति सूत्रे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य एतमेवं विदित्वा मुनिर्भवति य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यादिभेदव्यपदेशस्य 'ब्रह्म दासा ब्रह्म दाशा ब्रह्मेमे कितवा उते'त्याथर्वणमन्त्रे अभेदव्यपदेशस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म का अंश जीव है— इसका मुख्यार्थ सम्भव नहीं है। अतः इसका गौणार्थ लेना चाहिए। अर्थात् सदृश होता हुआ जो न्यून हो, उसे अंश कहते हैं। अर्थात् ईश्वर के सदृश चेतन होता हुआ सर्वज्ञ ईश्वर की अपेक्षा से अल्पज्ञ जीव न्यून है। अतः ईश्वर का अंश जीव कहा गया है। (ऐसा होने पर जीवब्रह्मैक्य सिद्ध नहीं होगा— यह पूर्वपक्षी का भाव है।)

समाधान— उक्त ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार से अंशत्व को मानने पर ५ मीटर का पट जो १० वर्ष पहले बना था और आज जो १०० मीटर का पट बना है। आज वाले १०० मीटर के पट का अंश पहले से बना ५ मीटर के पट को मानने की आपत्ति होगी, क्योंकि दोनों पटों में श्वेत रूपत्वेन आदि रूप से सादृश्य है और ५ मीटर वाला पट न्यून भी है। सिद्धान्त मतानुसार जो अंश के विषय में कहा गया कि ब्रह्म का कल्पित अंश जीव है। वह उचित है और पूर्वपक्षी के अनुसार जो अंश के विषय में कहा गया वह अनुचित है— इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जो वस्तु जिस देश में है उतने ही देश में से एक देश को अर्थात् एक भाग को मुख्य रूप से अंश कहा जाता है। वह सिद्धान्त पक्ष में उचित है क्योंकि ब्रह्म के निरंश होने पर भी माया के द्वारा ब्रह्म के ही एक कल्पित देश में जीव को मानकर जीव को अंश कहना उचित है जब कि भेदवादी के मत में ब्रह्म से भिन्न देश में रहने वाले जीव में अंशत्व का व्यवहार न्याय संगत नहीं है। पूर्वपक्षी के अनुसार अत्यन्त भेद मानने पर ब्रह्मसूत्र से विरोध होगा— इसको सिद्धान्ती दिखा रहे हैं— ''अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके (ब्र०सू०२–३–४३) अंशः = जीव ईश्वर का कल्पित अंश है, नानाव्यपदेशात् = क्योंकि ''सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः (छा०उ०८–७–१) '' एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति'' (बृ०उ०४–४–२२) ''य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति'' (शत०ब्रा०१४–५–५–३०) इत्यादि श्रुतियों में दोनों में भेद का कथन किया गया है, अन्यथा चापि = और उसी प्रकार अन्यथा = अभेद का भी व्यपदेश है, कारण कि एके = आथर्वण शाखा वाले अर्थात् अथर्ववेदीय ब्रह्म सूक्त में '' ब्रह्म दाशा, ब्रह्म दासा, ब्रह्म इमे कितवाः'' अर्थात् इस मन्त्र के द्वारा दाश = केवट, दास = भृत्य और कितव = जुआरी आदि को ब्रह्म रूप कहकर जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध किया गया है। इसलिए सिद्धान्त मतानुसार जो ब्रह्म का कल्पित अंश जीव माना गया है, वह उचित ही है। पूर्वपक्षी के अनुसार जो अंश का लक्षण किया गया कि—''तत् सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वम्।'' यह कैसा है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि— आत्यन्तिक भेद है गर्भ में जिस अंश के लक्षण में (क्योंकि जहाँ सादृश्य लिया जाता है वहाँ भेद अवश्य रहता है।) एवम् भूत अंश का लक्षण स्वीकार करने पर उक्त ब्रह्मसूत्र के सूत्र से और उक्त श्रुतियों से जिससे भेदाभेद का कथन किया गया है उससे विरोध की आपत्ति होगी। कहीं पर यदि गौणार्थ में अंश का व्यपदेश किया गया है तब उसी को आधार मानकर सर्वत्र गौणार्थ में अंश का व्यपदेश मानने पर अनेक दोषों की आपत्ति होगी। जैसे चैत्र का बल मैत्र के बल तुल्य नहीं है किन्तु मैत्र बल का किञ्चत् अंश = चैत्र बल है। यहाँ अंश शब्द गौणार्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐसे ही ''सिहो माणवकः'' यहाँ पर माणवक में सिंह शब्द गौणार्थ में प्रयोग हुआ, किन्तु

चोदाहृतत्वाच्चोक्तार्थपरिग्रहस्योचितत्वात्। आत्यन्तिकभेदगर्भार्थान्तरस्वीकारे चैतत्सूत्रविरोधापत्तेः, कुत्रचिदन्यत्र प्रयोगदर्शनमात्रेण सर्वत्रैतत्कल्पने बहुविप्लवापत्तेश्च।।२।।

अतएव ननु—जीवस्य शुद्धचैतन्यांशत्वं वा ईश्वरांशत्वं वा पादोऽस्येत्यनया श्रुत्या बोध्यम्, नाद्यः; पादोऽस्य विश्वा भूतानीतिश्रुताविदंशब्देन सहस्रशीर्षत्वादिविशिष्टप्रकृतेश्वरस्य ममैवांश इति स्मृतौ चेश्वरे प्रयुक्तास्मच्छब्देनेश्वरस्यैवोक्तेः। नान्त्यः; त्वन्मते ईश्वरस्याप्युपहितत्वेन घटाकाशं प्रति करकाकाशस्येवेश्वरं प्रति जीवस्यांशत्वायोगात्। न च—ग्रहाकाश एव पुनर्घटेनेवेश्वरोपाधिनाऽवच्छिन्नमेव चैतन्यं पुनर्जीवोपाधिना—वच्छिद्यत इति—वाच्यम्; तथात्वे हि मुक्तस्य शुद्धब्रह्मत्वं न स्यात्, तस्मात्त्वन्मतेऽपि न मुख्यमंशत्वम्, नाप्यौपाधिकं वक्तुं शक्यम्, अतो मदुक्तप्रकार एवादरणीय इति।।३।।

निरस्तम्; अर्थान्तरपरिग्रहे विरोधस्योक्तत्वात्, श्रुतिस्मृतिगतसर्वनाम्ना सहस्रशीर्षत्वाद्युपलक्षित

सत्यानन्दप्रबोधिका

इन प्रयोगों को देखकर सर्वत्र गौणार्थ लेने पर सिंह में भी सिंह शब्द गौणार्थ में प्रयुक्त हुआ है— ऐसे मानने की आपत्ति आयेगी। फलत: अंश का जो मुख्यार्थ है— वस्तु का एक भाग, वहीं लेना चाहिए। वह प्रकृत में ब्रह्म के निरंश होने पर औपाधिक भाग लेकर अंश के मुख्यार्थ की उपपत्ति हो जायेगी— यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''पादोऽस्य विश्वा भूतानि'' (छा०उ०३—१२—६) इस श्रुति के द्वारा जो ब्रह्म का अंश जीव कहा गया है, वह क्या शुद्ध ब्रह्म का अंश जीव है— ऐसा कहा गया है? अथवा मायाविशिष्ट चैतन्य रूप ईश्वर का अंश जीव है— ऐसा कहा गया है? प्रथम पक्ष तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ''पादोऽस्य'' इस श्रुति के घटक ''अस्य'' पद के द्वारा सहस्रशीर्षत्वादि विशिष्ट ईश्वर का ही परामर्श कर के कथन किया गया है न कि शुद्ध ब्रह्म का। इसी प्रकार ''ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:'' (गी०१५—७) इस स्मृति वाक्य घटक ''मम'' शब्द के द्वारा माया विशिष्ट चैतन्य रूप ईश्वर ही कहा गया है। द्वितीय पक्ष भी माना नहीं जा सकता है क्योंकि सिद्धान्ती के मत में शुद्ध ब्रह्म ही माया से उपहित होकर ईश्वर बनता है। अत: शुद्ध ब्रह्म का अंश ईश्वर हो गया। ऐसे अंश रूप ईश्वर का पुन: अंश जीव नहीं हो सकता है। जैसे शुद्ध आकाश का घटाकाश अंश होने पर भी अंश रूप घटाकाश का करक (कमण्डल) आकाश अंश नहीं होता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जैसे महाकाश गृह रूप उपाधि से उपहित होकर गृहाकाश बनता है। अत: वह महाकाश का अंश होता है और पुन: अंश रूप गृहाकाश घट के द्वारा अवच्छिन्न होकर गृहाकाश का अंश घटाकाश बनता है ठीक इसी प्रकार शुद्ध चैतन्य माया से उपहित होकर मायावच्छिन्न चेतन ईश्वर बना, इस शुद्ध ब्रह्म का अंश ईश्वर के होने पर भी इसके पश्चात् मायावच्छिन्न चेतन ही जीव की उपाधिभूत अन्त:करण से अवच्छिन्न होकर जीव रूप अंश बन जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि तथात्वे = जीव को शुद्ध ब्रह्म का अंश न मानकर ईश्वर का अंश मानने पर, जीव मुक्त होने पर शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त न कर के माया विशिष्ट ईश्वर को ही प्राप्त करेगा। इसलिए जीव को शुद्ध ब्रह्म का अंश मानने पर और माया विशिष्ट ईश्वर का अंश मानने पर— दोनों ही पक्षों में दोष होने के कारण जीव ब्रह्म का मुख्य अंश नहीं हो सकता है। अत: माध्व मतानुसार जो कहा गया कि ''तत् सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वम्'' ऐसा जो अंशत्व जीव में है। इसी मत को मानना उचित है।।३।।

समाधान— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। ''अत एव'' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सिद्धान्ती के द्वारा अंश का जो अर्थ लिया गया है उस अर्थ को न मानकर अर्थान्तर = पूर्वपक्षी के

चैतन्यपरामर्शादुक्तदूषणानवकाशाच्च। तस्मात् ''त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' इत्यादिश्रुत्या जीवब्रह्माभेदे प्रमितेऽपि मन्तृमन्तव्यत्वादिभेदव्यपदेशनिर्वाहार्थं काल्पनिकांशत्वस्य श्रुतिस्मृतिव्याहतत्वेन (श्रुतिस्मृतिभ्यामादृतत्त्वेन) तद्बलादप्यभेदोऽवगम्यत इति सिद्धम्।।४।।

।। इत्यद्वैतसिद्धावंशत्वेनाप्यैक्यसिद्धिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वारा अंश का किया गया जो अर्थ है, उसको स्वीकार करने पर श्रुति ब्रह्मसूत्र आदि से विरोध होगा। अतः पूर्वपक्षी कृत अंश का लक्षण मानने योग्य नहीं है। जीव को शुद्ध ब्रह्म का अंश मानने पर ''अस्य'' और ''मम'' पद सहस्रशीर्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य रूप ईश्वर को लेकर जो पूर्वपक्षी ने दोष दिया है। उसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त श्रुति और उक्त स्मृति के ''अस्य'' ''मम'' इन सर्वनाम पदों के द्वारा क्रमसः सहस्रशीर्षत्व उपाधि से उपलक्षित शुद्ध चैतन्य और माया उपाधि से उपलक्षित शुद्ध चैतन्य लिया जाता है। अतः शुद्ध ब्रह्म का अंश जीव को मानने पर उक्त श्रुति– स्मृति से विरोध नहीं होगा। इसलिए ''त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि (गच्छति) त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः'' (अथर्व०१–४–२०) '' सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते।'' (महावाक्योपनिषद्–३) इत्यादि श्रुतियों से जीव ब्रह्म का अभेद प्रमित होने पर भी मन्तृ (मनन करने वाला जीव) और मन्तव्य (ब्रह्म) इस प्रकार से जो भेद व्यवहार होता है। उसके निर्वाह के लिए काल्पनिक अंशांशिभाव को श्रुतियों और स्मृतियों में प्रतिपादन किया गया है। ऐसे काल्पनिक अंशांशिभाव के बल पर भी जीवब्रह्मैक्य ही अवगत होता है– यह सिद्ध हो गया। ''श्रुतिस्मृति व्याहतत्वेन'' के स्थान पर ''श्रुतिस्मृतिभ्यामादृतत्त्वेन'' ऐसा पाठान्तर है।।४।।

–: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामंशत्वेनाप्यैक्यसिद्धिः–

१४– बिम्बप्रतिबिम्बविचारः

तथा जीवब्रह्मणोर्मुखप्रतिमुखवत् बिम्बप्रतिबिम्बरूपत्वादप्यभेदोऽवगन्तव्यः। ननु–दृष्टान्ते नाभेदः सम्प्रतिपन्नः; चैत्रतच्छाये भिन्ने इतिवत् चैत्रतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने इत्येव पार्श्वस्थितेन ग्रहणात्, स्वेनापि स्वकरतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने इति ग्रहणाच्चेति–चेन्न; आपाततो भेदप्रतीतावपि सयुक्तिकप्रत्यक्षेण बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यसिद्ध्या दृष्टान्तत्वोपपत्तेः। यथा लक्षणापरिज्ञाने भेदभ्रमवतोऽपि बहिस्थितश्चैत्रो यत्स्वलक्षणकत्वेन प्रतिपन्नः ततो गृहस्थे तथा भाति तस्मिन् चैत्र एवायमिति धीः, तथा ग्रीवास्थं मुखं यत्स्वलक्षणकं प्रतिपन्नः दर्पणस्थमपि तथेत्यवधार्य तदेवेदं मुखमिति स एवायं कर इति च स्वपरसाधारणप्रतीतिरप्यनुभवसिद्धा।१।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

तथा = पूर्व प्रकरण में जैसे जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव होने पर भी जीव और ब्रह्म में अभेद ही सिद्ध होता है वैसे ही, ब्रह्म और जीव का मुख और प्रतिमुख के समान बिम्ब और प्रतिबिन्ब भाव मानने पर भी जीव और ब्रह्म में अभेद ही अवगत होता है। यहां पर अनुमान का आकार होगा – ब्रह्मजीवौ–अभिन्नौ–बिम्बप्रतिबिम्बरूपत्वात्– मुखप्रतिमुखवत्।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टान्त में साध्य रहता है– इसमें हमारी सम्मति नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्याभाव = भेद ही रहता है। जैसे चैत्र और चैत्र की छाया ये दोनों भिन्न हैं– ऐसा चैत्र के समीप में स्थित मैत्र को दिखायी पड़ता है, वैसे ही चैत्र और चैत्र का प्रतिबिम्ब – ये दोनों भिन्न हैं– ऐसा ही चैत्र के समीप में स्थित मैत्र को दिखायी पड़ता है। अब तक कहा कि समीप में स्थित मैत्र को उक्त प्रकार से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद दिखायी देता है। अब कह रहे हैं कि स्वयं चैत्र को ही अपने हाथ और अपने हाथ के प्रतिबिम्ब में भेद दिखायी देता है। अतः दृष्टान्त में साध्यवैकल्यदोष है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि आपाततः (विना विचार किये) बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद की प्रतीति होने पर भी युक्तिपूर्वक प्रत्यक्ष के द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद की सिद्धि हो जाती है। अतः दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। जैसे मैत्र अपने घर के बाहर स्थित है और चैत्र को प्रथम बार देखता है। थोड़े समय बाद जब मैत्र अपने घर के अन्दर जाता है तो वहां भी चैत्र को देखता है किन्तु उस समय मैत्र को चैत्र के शरीर रूप आवाज आदि लक्षण पर ध्यान न देने से आपाततः गृह स्थित चैत्र और बहिः स्थित चैत्र में भेद भ्रम हो जाता है किन्तु जब मैत्र युक्तिपूर्वक ध्यान से देखता है कि बहिः स्थित चैत्र के शरीरादि का जो लक्षण है वही लक्षण गृह में स्थित चैत्र का ज्ञात हो रहा है तब तस्मिन् = गृह में स्थित चैत्र में ''यह चैत्र ही है'' अर्थात् बहिःस्थ चैत्र ही यह गृहस्थ चैत्र है– इत्याकारण अभेद बुद्धि होती है। ठीक इसी प्रकार चैत्र के पार्श्व स्थित मैत्र जब युक्तिपूर्वक ध्यान से देखता है कि चैत्र के ग्रीवास्थ मुख जिस प्रकार का लक्षण वाला है, वही लक्षण वाला दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब मुख है– ऐसा ज्ञान होने पर, तदेवेदं मुखम् = तद = ग्रीवास्थ चैत्र मुख, एव = ही, इदं मुखम् = दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब मुख है– ऐसी अभेद धी पार्श्व स्थित मैत्र को होती है। (तथैवेदम् के स्थान पर तदेवेदम् – ऐसा पाठान्तर है।) इसी को ''स्वपरसाधारणप्रतितिरनुभवसिद्धा'' के घटक ''परसाधारणप्रतितिरनुभवसिद्धा'' के द्वारा कहा गया। अर्थात् उक्त प्रकार की अभेद धी पार्श्व स्थित मैत्र को अनुभव सिद्ध है। अब आगे ''स्वसाधारणप्रतीतिरनुभवसिद्धा'' को दिखलाते हुये कह रहे हैं कि इसी प्रकार स्वयं चैत्र को ही बिम्बकर ही प्रतिबिम्ब कर है। अर्थात् चैत्र के द्वारा जब युक्तिपूर्वक ध्यान से देखा जाता है कि जो लक्षणवाला बिम्ब हाथ है वही लक्षण वाला प्रतिबिम्ब हाथ है, तब दोनों में अभेद धी स्वयं चैत्र को भी हो जाती है। फलतः दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जाने से साध्यवैकल्यदोष नहीं होगा– यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।१।।

न च—किञ्चित्स्वच्छताम्रादौ मुखे छायामात्रे प्रतीतेऽपि संस्थानविशेषाप्रतीत्या प्रत्यभिज्ञाया असिद्धिरिति—वाच्यम्; सर्वत्राप्रतीतावपि निर्मलदर्पणादावेव तत्सिद्ध्या दृष्टान्तसिद्धेः। ननु—स्वनेत्रगोलकादौ स्वस्याभिज्ञाविरहात् प्रत्यभिज्ञापि कथमिति—चेन्न; दर्पणाहतचक्षूरश्मीनामग्रावच्छेदेन सम्बन्धात् स्वनेत्रगोलकादीनामभिज्ञायाः सन्निहितपूर्वसमय एव सम्भवात्। यत्तु—सूर्यपार्श्वस्थिते प्रतिसूर्ये प्रत्यभिज्ञाविरहाद् (विरहवत्) अत्रापि प्रत्यभिज्ञाविरहः— इति, तन्न; तत्रोपाधेरत्रेवानाकलनेनौपाधिकत्वानिर्णयात्। तथा च

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जहां दर्पण पूर्णरूपेण स्वच्छ है वहां पर जो गीवास्थ बिम्बमुख है वही दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब मुख है— ऐसी प्रत्यभिज्ञा हो जाने पर भी जहां अल्प स्वच्छ ताम्रादि में मुख की छाया मात्र प्रतीत होने पर भी मुख का आकार (नाक—आँखादि) विशेष की प्रतीति नहीं होती है। वहां पर बिम्बमुख ही प्रतिबिम्ब मुख है— इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा नहीं हो पायेगी। ऐसे स्थल पर हेतु के रहने पर भी साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि हेतु और दृष्टान्त में निर्मलस्थ विशेषण जोड़ देंगे। अर्थात् हेतु = निर्मलस्थ बिम्बप्रतिबिम्बरूपत्वात् और दृष्टान्त = निर्मलस्थ मुखप्रतिमुखवत्। ऐसा होने पर उक्त अल्पस्वच्छताम्रादि के बिम्बप्रतिबिम्ब में हेतु और साध्य दोनों के ही न होने से व्यभिचारदोष नहीं होगा और दृष्टान्त में अभेद अवगाहिनी प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि के होने पर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जाने से दृष्टान्त की भी उपपत्ति हो जायेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पहले अभिज्ञा रूप प्रथम ज्ञान होता है। इसके पश्चात् प्रत्यभिज्ञारूप द्वितीय ज्ञान होता है। कोई व्यक्ति दर्पण में अपना मुख देख रहा है। ऐसे स्थल पर पहले दर्पण के विना स्वनेत्रगोलकादि युक्त मुख की अभिज्ञा ही नहीं होगी। तब दर्पण में प्रतिबिम्ब देखने पर अभेद अवगाहिनी प्रत्यभिज्ञारूप द्वितीय ज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त स्थल पर दर्पण से टकराकर वापस लौटी हुई जो चक्षु रश्मियां हैं। वे रश्मियां मुख के अग्र भाग से सम्बन्धित होकर स्वनेत्रगोलकादि विषयक अभिज्ञा रूप प्रथम ज्ञान को उत्पन्न कर देती हैं। इसके अव्यवहित अनन्तर अभेद अवगाहिनी प्रत्यभिज्ञा रूप द्वितीय ज्ञान हो जाता है। (यहां पर सिद्धान्ती ने प्रत्यभिज्ञा के अव्यवहित पूर्व में अभिज्ञा को मानकर समाधान दिया है। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा के अव्यवहित पूर्व में अभिज्ञा होती है— ऐसा नहीं माना जाता है, क्योंकि पहले अभिज्ञा उसके पश्चात् उससे जन्य संस्कार होगा तब जाकर प्रत्यभिज्ञा होती है।)

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि समुद्र में डूबते हुये सूर्य के पार्श्व में स्थित प्रतिसूर्य में अभेद अवगाहिनी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है किन्तु ''इमौ द्वौ सूर्यौ'' इत्याकारक भ्रम ज्ञान होता है। ऐसे ही मुख के बिम्बप्रतिबिम्ब में ''इमौ द्वौ बिम्बप्रतिबिम्बौ'' इत्याकारक भ्रम ज्ञान होता है न कि अभेद अवगाहिनी प्रत्यभिज्ञा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दर्पणस्थ प्रतिमुख स्थल पर दर्पण रूप उपाधि का आकलन जैसे होता है वैसे समुद्र स्थल पर उपाधि जल का ज्ञान न होने से औपधिक प्रतिबिम्ब का निर्णय नहीं हो पाता है। अर्थात् जो प्रतिसूर्य दिखता है। वह जल में प्रतिबिम्बित सूर्य है। इसका निर्णय न होने से ''यह वही सूर्य है।'' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि उपाधि का स्पष्ट ज्ञान अर्थात् उपाधि के निमित्त से यह प्रतिबिम्ब दिखता है— ऐसा ज्ञान और तल्लक्षणकत्वज्ञान =

उपाधिनिबन्धनत्वज्ञानं तल्लक्षणकत्वज्ञानं चाभेदसाक्षात्कारे सामग्री। तस्यां सत्यां दर्पणे मम मुखं लग्नमिति अनुभवाभाव एवानुभवविरुद्धः।।२।।

यत्तु—चैत्रप्रतिबिम्बो दृष्टो न चैत्रः, किन्तु तेनानुमित इति विपरीतानुभवविरोधः—इति, तन्न; वस्तुतोऽभेदे ज्ञातेऽपि उपाध्यवच्छिन्नो दृष्टोऽनवच्छिन्नोऽनुमित इति प्रतीत्यविरोधात् शरद्गङ्गया वर्षर्तुगङ्गानुमानवद्। न च—एवं प्रतिमुखे प्रत्यङ्मुखत्वादिना दृश्यमाने स्वमुखे तद्बुद्धिः स्यात्, बालानां च स्वप्रतिबिम्बे बालान्तरभ्रमो न स्यादिति—वाच्यम्; तयो स्वलक्षणकत्वाज्ञाननिबन्धनत्वाद्। अत एव कदाचित् प्रतिमुखेऽपि मम मुखमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

जिस लक्षण वाला बिम्ब है। उसी लक्षण वाला यह प्रतिबिम्ब है— ऐसा ज्ञान बिम्बप्रतिबिम्ब के अभेद के प्रत्यक्ष में सामग्री है। तस्यां सत्याम् = उक्त दोनों सामग्री के रहने पर ''दर्पण में मेरा मुख सम्बद्ध है।'' ऐसा अभेद अनुभव नहीं होता है — ऐसा कथन अनुभव विरुद्ध है क्योंकि उक्त सामग्री के रहने पर उक्त प्रकार का अभेद अनुभव अवश्य होगा।।२।।

शङ्का— मैत्र दर्पण की तरफ देख रहा है। इतने में पीछे से चैत्र आ रहा है। चैत्र को मैत्र देख नहीं रहा है किन्तु चैत्र के प्रतिबिम्ब को मैत्र दर्पण में देख रहा है। उस चैत्र के प्रतिबिम्ब को देखकर मैत्र कहता है कि चैत्र का प्रतिबिम्ब देख रहा हूँ बिम्ब रूप चैत्र को नहीं। किन्तु मैत्र उस चैत्र प्रतिबिम्ब के द्वारा मैत्र का अनुमान (अयं प्रतिबिम्बः चैत्रबिम्बपूर्वकः, चैत्रलक्षणवत्त्वात्, यन्नैव तन्नैवं यथा घटः) करता है। इस प्रकार अभेद अनुमान के विपरीत जो भेद का अनुभव तादृश भेद अनुभव से विरोध होगा बिम्बप्रतिबिम्ब में अभेद मानने पर।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त स्थल पर वस्तुतः उपाधि अवच्छिन्न प्रतिबिम्ब से उपाधि अनवच्छिन्नबिम्ब के अभेद का ज्ञान रहने पर भी उपाधि अवच्छिन्न प्रतिबिम्ब को तो देख रहा हूं और उपाधि अनवच्छिन्न बिम्ब का अनुमान कर रहा हूं— इस प्रकार की प्रतीति मानने पर अभेदावगाही प्रत्याभिज्ञा से कोई विरोध नहीं है। अर्थात् उक्त अनुमान से बिम्ब मात्र का ज्ञान होता है न कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद है— इसका ज्ञान होता है। बिम्ब मात्र का ज्ञान बिम्बप्रतिबिम्ब अभेद ज्ञान का विरोधी नहीं है— यह कहने का भाव है। जैसे शरत्कालीन गङ्गा के द्वारा वर्षाकालीन गङ्गा का जब अनुमान (इयं वर्षाकालीनजलराशिः, गङ्गा, पूर्वदृष्ट शरदकालीनगङ्गालक्षणवत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः) होता है तो वहां गङ्गा के अभेद मात्र का ज्ञान होता है न कि दोनों गङ्गा भिन्न हैं— इसका ज्ञान होता है।

शङ्का— एवम्— द्रष्टा को बिम्बप्रतिबिम्ब में अभेद ज्ञान रहता है— ऐसा मानने पर, जब चैत्र पूर्व दिशा की ओर मुख कर के दर्पण देख रहा है तब दर्पण में चैत्र का प्रतिबिम्ब पश्चिमाभिमुख दिखायी पड़ता है। ऐसे अवसर पर बिम्बप्रतिबिम्ब अभिन्न होने से चैत्र को यह भान होना चाहिये कि मैं पश्चिमाभिमुख हूं और बालकों को जो अपने प्रतिबिम्ब में दूसरे बालक का भम्र होता है। वह भी नहीं होना चाहिय, क्योंकि बिम्बप्रतिबिम्ब अभिन्न हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यङ्मुखादि बुद्धि भ्रम और बालकों को स्वप्रतिबिम्ब में जो बालान्तर का भ्रम होता है। उसका कारण यह है कि इन स्थलों पर अभेदावगाही बुद्धि के प्रति जो स्वलक्षणकत्व ज्ञान की सामग्री को कहा गया है खण्ड—२ में। वह सामग्री यहां न होने से उक्त स्थलों पर अभेदावगाही प्रत्यभिज्ञा न होकर भेदभ्रम होता है। अत एव = बिम्बप्रतिबिम्ब में अभेद ज्ञान के प्रति स्वलक्षणकत्व ज्ञान सामग्री होने से स्वलक्षणकत्व ज्ञान दशा में प्रतिमुख में भी ''मम मुखम्'' इत्याकारक

बुद्धिव्यपदेशौ। न चायं व्यवहारो भेदज्ञानपूर्वकत्वेन मार्गे स्वपदव्यां स्वपदव्यवहारवद् गौणः; स्वलक्षणकत्वज्ञानदशायां भेदज्ञानस्यासत्कल्पत्वात्।।३।।

ननु—अविवाद स्वात् भेदसाक्षात्कारे, अन्यथा त्वयापि कस्य भ्रमत्वमुच्यते? न च भेदं भेदकं च साक्षात्कुर्वन् अभेदं साक्षात्कुर्वाणो दृष्ट इति—चेत्, श्वैत्यव्याप्यशङ्खत्वसाक्षात्कारे पीतसाक्षात्कारवद् उपाधिमाहात्म्यादभेदं साक्षात्कुर्वाणो भेदं साक्षात्करोतीत्यङ्गीक्रियते; अनुभवस्य दुरपह्नवत्वात्। न चैवमुपादानस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

बुद्धि और ''मम मुखम्'' ऐसा शब्दात्मक व्यवहार हो जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रतिमुख में ''मम मुखम्'' ऐसा व्यवहार भेद ज्ञानपूर्वक होने से गौणार्थक है। जैसे मार्ग में चलता हुआ चैत्र स्वकीय पद चिन्ह में ''यह मेरा पैर है'' ऐसा व्यवहार जो भेद ज्ञानपूर्वक करता है, उस व्यवहार को गौणार्थक ही माना जाता है, क्योंकि पदचिह्न और पैर अभिन्न नहीं होते हैं।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वलक्षणकत्व ज्ञान रूप सामग्री के रहने पर अभेद ज्ञान ही होता है। अभेद ज्ञान होने पर भेद ज्ञान और भेद ज्ञान निमित्तक गौण व्यवहार की कल्पना करना ही अनुचित है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अपने बिम्बरूप मुख से दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब में जो भेद है। उस भेद साक्षात्कार में विवाद नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में तो माना ही जाता है किन्तु सिद्धान्ती को भी मानना पड़ता है। अन्यथा = भेद साक्षात्कार अर्थात् भेद ज्ञान न मानने पर सिद्धान्ती के द्वारा किसमें भ्रमत्व की सिद्धि की जायेगी। अर्थात् भेद ज्ञान होने पर ही उसमें भ्रमत्व है— यह कहा जा सकता है। भेद = बिम्बप्रतिबिम्ब का भेद और भेदक = उपाधि का साक्षात्कार करता हुआ पुरुष अभेद को साक्षात्कार करता हुआ नहीं देखा जाता है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''यत्र यत्र शङ्खत्वं तत्र तत्र श्वेतत्वम्'' ऐसी व्याप्ति होने से श्वेतत्व व्याप्य जो शङ्खत्व। तादृश शङ्खत्व का साक्षात्कार होते समय शङ्खगतपीत का साक्षात्कार भी माना जाता है। अर्थात् पीतरोग रूप उपाधि के बल से शङ्खगत श्वेत का ज्ञान रहने पर भी शङ्खगत पीत का भ्रम ज्ञान जैसे हो जाता है, वैसे ही बिम्बप्रतिबिम्ब स्थल पर अभेद ज्ञान के रहते हुये भी उपाधि (दर्पण) के महात्म्य से बिम्ब प्रतिबिम्ब में भेद का प्रत्यक्ष होता है— ऐसा सिद्धान्त मत में निर्दोष अनुभव अङ्गीकार किया जाता है। निर्दोष अनुभव का कोई भी अर्थात् पूर्वपक्षी भी अपलाप नहीं कर सकता है।

शङ्का— एवम् = बिम्बप्रतिबिम्ब स्थल पर प्रमात्मक अभेद ज्ञान रहता है—ऐसा मानने पर भेद भ्रम को जो उपादान= अभेद का अज्ञान है, उस का अभेद प्रमा के द्वारा नाश हो जाने पर उपादान के अभाव में भेद भ्रम ही नहीं हो पायेगा। अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्ब में कभी भी भेद भ्रम नहीं हो पायेगा।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि भेद भ्रम निवृत्ति के प्रति अभेद के अज्ञान की निवृत्ति ही एक मात्र कारण नहीं है अपितु अभेद के अज्ञान की निवृत्ति मुख्य कारण है और उसका सहकारी कारण उपाधि की निवृत्ति है। अतः अभेदाज्ञान और उपाधि — इन दोनों की निवृत्ति होने पर भेद भ्रम की निवृत्ति होती है। उक्त स्थल पर अभेद ज्ञान से अभेद अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी उपाधि की निवृत्ति न होने से भेद भ्रम होगा।

शङ्का— एवम् = बिम्बप्रतिबिम्ब स्थल पर उपाधि की निवृत्ति के विना अभेद ज्ञान से अभेदाज्ञान की निवृत्ति होने पर भी भ्रम की निवृत्ति न मानने पर न्याय मत से विरोध होगा— इसको पूर्वपक्षी दिखाते हुये

ऐक्याज्ञानस्य ऐक्यज्ञानेन निवृत्तेः भ्रमानुपपत्तिः, तन्निवर्तने उपाधिविरहस्यापि सहकारित्वात्। न च– एवं तज्ज्ञाने सति तत्र जानामीत्यननुभवेन तस्य स्वप्रागभावं प्रतीवाज्ञानं प्रत्यप्यन्यानपेक्षस्यैव निवर्तकत्वमिति–वाच्यम्; न जानामीति व्यवहारप्रयोजकाज्ञानांशनिवर्तनेऽपि भ्रमस्यानुभूयमानत्वेन तदुपानांशस्य निवृत्तौ जीवन्मुक्तौ प्रारब्धकर्मण इवोपाधेरेव प्रतिबन्धकतया तद्विरहापेक्षाया आवश्यकत्वात्। एतेन–भेदभ्रमस्यास्य मूलाविद्योपादानकत्वे व्यावहारिकत्वापत्तिः, अज्ञानानुपादानकत्वे अपसिद्धान्तः, बिम्बप्रतिबिम्बभेदस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

कह रहा है कि जहां घट ज्ञान होता है वहां ''घट को मैं नहीं जानता हूं।'' ऐसा अनुभव नहीं होता है – इससे यह सिद्ध होता है कि घट ज्ञान आदि अन्य किसी की सहायता के विना ही अपने प्रागभाव का निवर्तक होता है ठीक ऐसे ही बिम्बप्रतिबिम्ब का अभेद ज्ञान दर्पणादि उपाधि की निवृत्ति की अपेक्षा न करता हुआ बिम्बप्रतिबिम्ब के अभेद अज्ञान को निवृत्त कर देने से बिम्बप्रतिबिम्ब में कभी भी भेद भ्रम नहीं होना चाहिए।

समाधान – उक्त ठीक नहीं है, क्योंकि ''न जानामि'' इत्याकारक जो व्यवहार है। उसका हेतु = अज्ञान का अंश = अज्ञान की आवरण शक्ति है। इस अज्ञान की आवरण शक्ति का ज्ञान से नाश होने पर भी बाधितानुवृत्ति स्थल पर भ्रम दिखायी पड़ता है। अतः यहां पर भ्रम का उपादान अंश (अज्ञान की विक्षेप शक्ति) माना जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि जब ज्ञान हुआ तब अज्ञान की आवरण शक्ति का ही क्यों नाश हुआ? अज्ञान की विक्षेप शक्ति का नाश क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर देते हुये कह रहे हैं कि – ''तदुपादानांशस्य निवृत्तौ उपाधेः प्रतिबन्धकतया''– ऐसा अन्वय है। अर्थात् अज्ञान के विक्षेप शक्ति की निवृत्ति में उपाधि प्रतिबन्धक होने से उपाधि के अभाव की अपेक्षा होती है। (कहने का भाव यह है कि ज्ञान से अज्ञान के निवृत्त होने के साथ–साथ यदि उपाधि भी निवृत्त हो गयी है तब भ्रम नहीं रहेगा। यदि उपाधि रह गयी है तब उपाधि रूप प्रतिबन्धक के कारण अज्ञान की विक्षेप शक्ति का नाश नहीं होगा और तब भ्रम भी रहेगा। अतः भ्रम के नाश के लिये अज्ञान के नाश के साथ–साथ उपाधि का अभाव भी आवश्यक है।) इसको स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि जैसे ब्रह्म ज्ञान के द्वारा ब्रह्म अज्ञान के आवरण शक्ति का नाश हो जाने पर भी ब्रह्म अज्ञान के विक्षेप शक्ति का नाश प्रारब्ध कर्म रूप जो उपाधि है। उस उपाधि रूप प्रतिबन्धक के रहने से नहीं होता है। अतः जीवन्मुक्त पुरुष को भी उपाधि के रहने से व्यवहार काल में भेद भ्रम अर्थात् संसार में नानात्व का प्रतीत्याभास बना रहता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि बिम्बप्रतिबिम्ब में जो भेद भ्रम है। उसका उपादानकारण मूलाविद्या को मानने पर उक्त भेद भ्रम को घटादि के समान व्यावहारिक मानना पड़ेगा क्योंकि मूलाविद्याजन्य पदार्थ को व्यावहारिक और आगन्तुक चाकचिक्यादि दोष सहकृत अज्ञान से जन्य पदार्थ को प्रातिभासिक माना जाता है और उक्त भेदभ्रम के प्रति अज्ञान को उपादान कारण न मानने पर अपसिद्धान्तापत्ती होगी, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार सम्पूर्ण मिथ्या प्रपञ्च अज्ञान का कार्य माना जाता है। दूसरा दोष यह भी होगा कि बिम्बप्रतिबिम्ब भेद को अज्ञान का कार्य न मानने पर उक्त भेद को सत्य मानने की आपत्ति होगी।

समाधान – एतेन निरस्तम् – ऐसा अन्वय है। एतेन– के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि बिम्बप्रतिबिम्ब भेद अज्ञानोपादानक होने पर भी अभेद ज्ञान से अज्ञान की आवरण शक्ति का नाश होने पर भी अज्ञान की विक्षेप शक्ति का नाश उपाधि रूप प्रतिबन्धक के कारण न होने से भेद भ्रम की उपपत्ति हो जायेगी। पूर्वपक्षी ने जो कहा कि अज्ञानोपादानक भेद भ्रम को मानने पर उक्त भेद को व्यावहारिक मानने

सत्यत्वापत्तिश्चेति—निरस्तम्: उक्तन्यायेनोपपत्तेर्व्यावहारिकत्वेऽप्यनुपपत्त्यभावाच्च।।४।।

तयोरैक्ये अनुमानमपि प्रमाणम्। अत्र (तत्र) यद्यप्यत्यन्तसादृश्यं सव्येतरकरादौ व्यभिचारि; तथापि प्रतिबिम्बो बिम्बाभिन्नः तद्गतासाधारणधर्मवत्त्वात्, तद्विरुद्धधर्मानधिकरणत्वात्, बिम्बाजनकाजन्यत्वाच्च। न च द्वितीयहेतोरसिद्धिः; प्रत्यङ्मुखत्वादिविरुद्धधर्मस्य उपाधिकृतत्वेन स्वाभाविकविरुद्धधर्मानधिकरणत्वस्य सत्त्वात्। न च बिम्बानन्तरजाते प्रतिबिम्बे तृतीयहेतोरसिद्धिः; ऐक्यवादिनं प्रति बिम्बानन्तरत्वस्यैवासिद्धेः।।५।।

ननु— पृथक्कार्यानुरोधेन परिवेषेन्द्रचापच्छायाप्रतिसूर्यादाविवात्रापि पृथक्कारणं कल्पनीयम्, प्रतिबिम्बमपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

की आपत्ति होगी— इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त भेद को व्यावहारिक मानने पर भी कोई आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि व्यावहारिक को भी हम मिथ्या ही मानते हैं।।४।।

बिम्ब और प्रतिबिम्ब के ऐक्य में अनुमान भी प्रमाण है। यद्यपि ''बिम्बप्रतिबिम्बौ अभिन्नौ, अत्यन्त सादृश्यवत्त्वात्'' इस प्रकार कृत अनुमान का हेतु सव्य (वाम) और इतर (दक्षिण) करादि में व्यभिचरित है, क्योंकि दोनों करों में अत्यन्त सादृश्य होने पर भी भेद ही रहता है अभेद नहीं तथापि बिम्बप्रतिबिम्ब के ऐक्य में अनुमानान्तर सम्भव है। जैसे— प्रतिबिम्ब बिम्ब से अभिन्न है, बिम्बगत असाधारण धर्म वाला होने से, अथवा बिम्बगत धर्म (गोरादि) के विरुद्ध धर्म (कालादि) का अधिकरण न होने से अथवा बिम्ब का जो अजनक तादृश अजनक से अजन्य होने से। इस पर पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि द्वितीय हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि बिम्ब में पूर्वाभिमुखत्व, उसका विरुद्ध धर्म = पश्चिमाभिमुखत्व, उसका अधिकरण ही प्रतिबिम्ब है न कि अनधिकरण। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि बिम्बगत पूर्वाभिमुखत्व के विरुद्ध पश्चिमाभिमुखत्व जो प्रतिबिम्ब में देखने को आता है। वह पश्चिमाभिमुखत्वादि धर्म उपाधि (दर्पण) कृत है न कि बिम्बरूपमुख का स्वाभाविक धर्म है। अत: बिम्बगत स्वाभाविकधर्म से विरुद्ध धर्म की अनधिकरणता कहने पर स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा। इसी प्रकार पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि बिम्ब की उत्पत्ति के अनन्तर उत्पन्न होने वाले प्रतिबिम्ब में तृतीय हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि बिम्ब का अजनक = उपाधि (दर्पण)। उससे जन्य ही है प्रतिबिम्ब न कि अजन्य। (यहां पर पूर्वपक्षी उपाधि से जन्य प्रतिबिम्ब इसलिये मान रहा है कि —''उपाधिसत्त्वे प्रतिबिम्बसत्त्वम्, तदभावे तदभाव:'' ऐसा अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है।) इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि बिम्बप्रतिबिम्ब में अभेद मानने वाले सिद्धान्त मत में बिम्ब के अनन्तर प्रतिबिम्ब — ऐसा कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि अनन्तर शब्द का प्रयोग भिन्न —भिन्न दो पदार्थों के होने पर होता है। जैसे राम के अनन्तर श्याम। पूर्वपक्षी ने जो उपाधि के साथ प्रतिबिम्ब का अन्वयव्यतिरेक दिखाया। वह अन्वय व्यतिरेक उपाधि का मुख के साथ सम्बन्ध की उत्पत्ति में ही उपक्षीण हो जाने के कारण प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का साधक नहीं माना जाता है।।५।।

शङ्का— पृथक्कार्यानुरोधेन अत्रापि पृथक्कारणं कल्पनीयम् — ऐसा अन्वय है। पूर्वपक्षी तृतीय हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष देते हुये कह रहा है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब रूप पृथक्—पृथक कार्य के अनुरोध से उन कार्यों का पृथक्—पृथक् कारण मानना चाहिये। (अर्थात् बिम्ब का कारण अलग है और प्रतिबिम्ब का कारण अलग है। ऐसा होने पर बिम्ब के जनक से जन्य प्रतिबिम्ब के न होने से पक्ष में हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा।) इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे परिवेष (चन्द्र के

हि छायाविशेषः; न हि भेरीघातादिक्लृप्तहेत्वभावाद् ध्वनावुपरतेऽपि श्रूयमाणः प्रतिध्वनिर्न शब्दान्तरमिति—चेन्न; प्रतिबिम्बस्य छायाविरोधिन्यालोकेऽपि सम्भवेन छायाविशेषत्वासिद्धेः। प्रतिध्वनेस्तु भिन्नकालत्वेन तद्भेदस्य प्रकृतेऽनुपयोगाद्, कार्यपार्थक्यसिद्ध्युत्तरकालकल्प्यकारणभेदस्य प्रथमं वक्तुमशक्यत्वात्, क्लृप्तहेत्वभावेन कार्यस्यैव भावाच्च, प्रत्यक्षस्य भेदाभेदयोः समत्वात्, युक्त्या अभेद एव प्राबल्याच्च। अत एवोक्तं विवरणे— 'दर्पणादौ न मुखव्यक्त्यन्तरमस्तिः तज्जनकशून्यत्वात्, शशशिरसि विषाणवदिति। एवमभेदधिय

सत्यानन्दप्रबोधिका

चारों तरफ जो कभी—कभी गोलाकार प्रकाश देखा जाता है। उसको परिवेष कहते हैं — ऐसे परिवेष) की जल में छाया, इन्द्रचाप= इन्द्र धनुष की जल में छाया और सूर्य की जल में छाया— इन सभी स्थलों पर छाया रूप कार्य का कारण उपाधि (जलादि) और बिम्ब (परिवेष— इन्द्र धनुष और सूर्य) रूप कार्य का कारण ईश्वरादि पृथक्—पृथक् हैं। प्रकृत में प्रतिबिम्ब भी बिम्ब की छाया विशेष ही है। अतः बिम्ब के कारण से भिन्न ही कारण प्रतिबिम्ब का मानना चाहिए। (पहले परिवेषादि बिम्ब का कारण ईश्वर को लेकर दृष्टान्त कहा गया। अब बिम्ब का कारण लौकिक पदार्थ को लेकर जन साधारण दृष्टान्त कह रहे हैं कि) ध्वनि को बिम्ब माना जाता है और प्रतिध्वनि को प्रतिबिम्ब माना जाता है। बिम्ब रूप ध्वनि का कारण जो भेरी पर दण्डादि का घात है। भेरी पर दण्डादि घात के उपरत हो जाने पर भी ध्वनि रूप शब्द से भिन्न प्रतिध्वनि रूप शब्दान्तर रहता है। उस प्रतिध्वनि रूप शब्दान्तर का कारण पर्वत गुफा आदि होता है। फलितार्थ यह हुआ कि बिम्ब के कारण से प्रतिबिम्ब जन्य न होने से पक्ष में हेतु नहीं जायेगा।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिबिम्ब और छाया एक ही पदार्थ नहीं हैं अपितु भिन्न—भिन्न पदार्थ हैं, क्योंकि जहां आलोक है वहां छाया नहीं रहती है किन्तु वहां पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। अतः छाया को प्रतिबिम्ब मानकर परिवेषादि के माध्यम से दिया गया दोष खण्डित हो गया। इसी प्रकार प्रतिध्वनि का दृष्टान्त जो दिया गया वह भी उचित नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे ध्वनि से भिन्न काल में प्रतिध्वनि रहती है क्योंकि ध्वनि के न रहने पर भी प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है। अर्थात् प्रथम क्षण में ध्वनि उत्पन्न हुयी, द्वितीय क्षण में पर्वतादि से टकराती है और तृतीय क्षण में नष्ट हो गयी। इसी तृतीय क्षण में प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है, किन्तु बिम्ब से भिन्न काल में प्रतिबिम्ब नहीं रहता है। अतः ध्वनि और प्रतिध्वनि के भेद के माध्यम से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद नहीं सिद्ध किया जा सकता है। पृथक्—पृथक कार्य सिद्ध हो जाने पर उनका पृथक्—पृथक् कारण होगा— ऐसी कल्पना की जाती है किन्तु प्रकृत में बिम्ब और प्रतिबिम्ब पृथक्—पृथक् हैं— यही सिद्ध ही नहीं हुआ, तब ध्वनि—प्रतिध्वनि दृष्टान्त के द्वारा पहले से ही बिम्ब और प्रतिबिम्ब का कारण पृथक्—पृथक् होगा—ऐसी कल्पना कैसे की जा सकती है। इसको स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि कारण भेद के प्रति जो कलृप्त हेतु = कार्य भेद है। उस कार्य भेद रूप हेतु का ही अभाव होने से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में ऐक्य की सिद्धि रूप कार्य ही सिद्ध हो जायेगा। यद्यपि बिम्ब और प्रतिबिम्ब का प्रत्यक्ष भेद वादी और अभेद वादी दोनों ही पक्षों में समान है तथापि युक्ति से अभेद वादी का पक्ष प्रबल है। इसे खण्ड संख्या एक में स्पष्ट किया जा चुका है। अत एव = युक्ति के द्वारा अभेद पक्ष का ही प्राबल्य होने से विवरण में कहा गया है— दर्पणादि में — मुख से भिन्न व्यक्ति नहीं है (अर्थात् बिम्ब प्रतिबिम्ब एक ही हैं) व्यक्त्यन्तरजनक शून्यत्व होने से, जैसे शशशिरविषाण। (हेतु के तत् पद से व्यक्त्यन्तर का परामर्श कर लेना चाहिये) विवरण के उक्त कथन से अभेद बुद्धि का ही प्राबल्य कहा गया है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि अभेद धी हो ही नहीं सकती

उपपादितत्वाद् अस्याः प्राबल्यम्। व्यक्त्यन्तरहेत्वभावात् सैव नास्तीत्यपास्तं प्राक्।।६।।

नच—छायादाविव कारणभेदस्य कल्प्यत्वेन भेदबुद्धिः सोपपत्तिका तथा क्लृप्तद्रव्यानन्तरर्भावे तमोवद् द्रव्यान्तरतैवेति—वाच्यम्; अन्योन्याश्रयापत्तेः। भेदसोपपत्तिकत्वे द्रव्यान्तरत्वकारणान्तरत्वयोः कल्पनं, तस्मिंश्च सोपपत्तिकत्वमिति। अतएव 'नोपरक्तं न वारिस्थ'मिति स्मार्तव्यवहारो मुख्यः, न तु (यथा) चित्रितः सिहः यथा दारुमयी योषा, यथा चर्ममयो मृग इत्यादिवद्गौणः। न च—त्वत्पक्षेऽपि वारिस्थशब्दो न मुख्यः वारिणि

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''तज्जनकशून्यत्व'' रूप हेतु आदि के द्वारा उसका उपपादन इसी खण्ड में सिद्धान्ती के द्वारा कर दिया गया है। अतः पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि दण्डादि की छाया के हेतु भूत जो दण्डादि हैं। उन दण्डादि का जो कारण वृक्षादि हैं। उनसे भिन्न ही कारण छाया का है। इसी प्रकार घट रूप बिम्ब का जो प्रतिबिम्ब उसका कारण जो दर्पण है। वह दर्पण घट का कारणीभूत मृतिका से भिन्न ही है। फलतः बिम्ब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब में भेद बुद्धि को मानना ही युक्ति युक्त है न कि अभेद बुद्धि को। अतः कलृप्त द्रव्यों में अर्न्तभाव न होने के कारण तम को जैसे द्रव्यान्तर माना जाता है वैसे ही प्रतिबिम्ब को भी बिम्ब में अन्तर्भाव न होने से बिम्ब से पृथक् ही मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के कथन को स्वीकार करने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद में सोपपत्तिकत्व सिद्ध हो जाने पर प्रतिबिम्ब में द्रव्यान्तरत्व और कारणान्तरत्व की सिद्धि होगी और प्रतिबिम्बगत द्रव्यान्तरत्व और कारणान्तरकत्व सिद्ध हो जाने पर सोपपत्तिकत्व की सिद्धि होगी। इसको संक्षेप से इस प्रकार कहा जा सकता है कि कारणान्तरत्व और द्रव्यान्तरत्व को हेतु बनाकर बिम्ब प्रतिबिम्ब में भेद की सिद्धि करनी होगी— यह अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि है। अनुमिति के प्रति हेतु का ज्ञान कारण होता है। अतः कारणान्तरत्व और द्रव्यान्तरत्व की सिद्धि होने पर तब भेद सोपपत्तिक सिद्ध होगा— यह अन्योन्याश्रय की दूसरी कोटी होगी। अत एव = भेद बुद्धि सोपपत्तिक न होने से और अभेद बुद्धि सोपपत्तिक होने से ही, स्मृतिकार ने यह जो कहा है कि —

नेक्षेदुद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन।
नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसोगतम्।। (मनु० स्मृति ४—३७)

(अर्थात् उदय होते हुये सूर्य, नास्तं यन्तं = अस्त को जाते हुये सूर्य, ग्रहण लगे हुये सूर्य, जल में प्रतिबिम्बित सूर्य और मध्यानकालीन सूर्य का दर्शन नहीं करना चाहिये)। बिम्बप्रतिबिम्ब में अभेद होने के कारण ही जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब में सूर्यपद का प्रयोग (व्यवहार) वारिस्थमादित्यम्'' ऐसा जो किया गया है। वह व्यवहार मुख्य है, वैसा गौण नहीं जैसा कि चित्रित रेखाओं के लिये गौण रूप से कह दिया जाता है— चित्रितः सिहः। इसी प्रकार काष्ठ निर्मित स्त्री मूर्ति के लिये गौण रूप से कह दिया जाता है— दारुमयी योषा। ऐसे ही चर्म निर्मित मृग के लिये गौण रूप से कह दिया जाता है— चर्ममयो मृगः।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्तमतानुसार भी सूर्य में वारिस्थ शब्द का प्रयोग मुख्य नहीं हो सकता है। (क्योंकि सूर्य में आकाशस्थ शब्द का प्रयोग ही आप के अनुसार भी मुख्य होगा)। गगनस्थ सूर्य से भिन्न कोई सूर्य तो जल में हो नहीं सकता है। जिसमें वारिस्थ शब्द का मुख्य प्रयोग होगा। अतः सूर्य में वारिस्थ शब्द को गौणार्थक ही मानना होगा।

समाधान— यद्यपि वारिस्थ (वारि में प्रतिबिम्ब सूर्य) बिम्ब भूत सूर्य से भिन्न नहीं है अपितु अभिन्न ही

सूर्यान्तराभावाद्, गगनस्थस्य वारिस्थत्वायोगादिति— वाच्यम्; वारिस्थत्वेनोपस्थिताशेषवारिस्थसूर्यनिषेधात्।।७।।

ननु वारिस्थत्वेन सूर्य एवोपस्थितः तयोरभेदो न प्रत्यक्षसिद्धः नापि युक्तः; न्यूनाधिकपरिमाणवत्त्वचल—त्वोपाधिसंयुक्तत्वासंयुक्तत्वत्वगादिग्राह्यत्वाग्राह्यत्वप्रत्यङ्मुखत्वाप्रत्यङ्मुखत्वादिना कस्तूरीबिम्बप्रतिबिम्बयोः सौरभासौरभादिना च भेदसिद्धेरिति—चेन्न; न्यूनपरिमाणादिना सौरभादिना च उपाधिगतस्य भेदः साधनीयः। तथा च उपाधिगतत्वस्य बिम्बे कल्पितत्वेन पक्षहेत्वोरसिद्धेः, कल्पितहेत्वादिना तत्समानसत्ताक—साध्यसिद्धावविवादाच्च।।८।।

नापि—'यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतदाततम्। छाया यथा पुंसदृशी पुमधीना च दृश्यते। एवमेवात्मकाः

सत्यानन्दप्रबोधिका

है तथापि उस अभिन्न सूर्य में वारिस्थित्व आरोपित है। आरोपित उस वारिस्थित्व से युक्त सभी सूर्य के दर्शन का निषेध उक्त स्मृति के द्वारा किया गया है। अतः उक्त स्मृति से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद सिद्ध नहीं होता है।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि वारिस्थत्वेन सूर्य ही उपस्थित होता है। ''सूर्य एव'' यहां एव से कहा गया कि गगनस्थ सूर्य (बिम्ब) उपस्थित नहीं होता है। वारिस्थ सूर्य और गगनस्थ सूर्य का अभेद तो प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है और उन दोनों में अभेद होना युक्तियुक्त भी नहीं है, क्योंकि गगनस्थ सूर्य का अधिक परिमाण और वारिस्थ सूर्य का न्यून परिमाण होता है। गगनस्थ सूर्य में अचलत्व है और वारिस्थ सूर्य में चलत्व है। गगनस्थ सूर्य में जलादि उपाधि से असंयुक्तत्व है और वारिस्थ सूर्य में जलादि उपाधि से संयुक्तत्व है। वारिस्थ सूर्य त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य है और गगनस्थ सूर्य त्वगिन्द्रिय से अग्राह्य है। उदय होता हुआ गगनस्थ सूर्य पूर्वाभिमुख है और वारिस्थ सूर्य पश्चिमाभिमुख है। इन सभी हेतुओं से वारिस्थ सूर्य और गगनस्थ सूर्य में भेद की सिद्धि होती है। आगे बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद सिद्ध करने के लिये दूसरी युक्ति पूर्वपक्षी दे रहा है— लोक में देखा गया है कि कस्तूरी रूप बिम्ब में सुगन्धि रहती है और कस्तूरी के प्रतिबिम्ब में सुगन्धि नहीं रहती है। फलतः कस्तूरी के बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद ही सिद्ध होता है। ऐसे ही सर्वत्र बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद ही मानना चाहिए— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि न्यूनाधिक परिमाणादि से और सौरभासौरभ से बिम्ब और जलादि उपाधियों में ही भेद सिद्ध होता है बिम्ब प्रतिबिम्ब में नहीं। पूर्वपक्षी ने जो अनुमान किया था— उपाधिगतप्रतिबिम्बः, बिम्बाद् भिद्यते, बिम्बापेक्षयान्यूनपरिमाणवत्वात् सौरभरहितत्वात् वा। इसमें दोष देते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि बिम्ब से पृथक् उपाधिगत प्रतिबिम्ब नामक कोई वस्तु ही नहीं है। अतः पक्ष ख पुष्प तुल्य हो जाने से आश्रयासिद्धि दोष होगा। इसी प्रकार बिम्ब से पृथक् उपाधिगत प्रतिबिम्ब नामक कोई वस्तु न होने से उसमें परिमाण आदि मानना सम्भव न होने से हेतु भी ख पुष्प के समान हो जाने से हेतु का स्वरूप ही असिद्ध हो जायेगा। यदि पूर्वपक्षी कल्पित हेतु के द्वारा कल्पित पक्ष में साध्य (बिम्ब का कल्पित भेद) सिद्ध करना चाह रहा है तब हमें कोई आपत्ति नहीं है। ''कस्तूरीबिम्बप्रतिबिम्बयोः'' के स्थान पर ''कस्तूरीतत्प्रतिबिम्बयोः'' ऐसा पाठान्तर है।।८।।

शङ्का— यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतदाततम्।
छाया यथा पुंसदृशी पुमधीना च दृश्यते।।
एवमेवात्मकाः सर्वे ब्रह्माद्या परमात्मनः।।

(जैसे पुरुष में यह छाया है। इसी प्रकार से इस परमात्मा में जगत् व्याप्त है। छाया जैसे पुरुष के सदृश

सर्वं ब्रह्माद्याः परमात्मनः।' इति श्रुत्या भेद इति—वाच्यम्; कल्पितभेदमात्रेण सादृश्योपपत्तेः तात्त्विकत्वे श्रुतितात्पर्याभावात्, ऐक्यप्रतिपादकानेकश्रुतिविरोधाच्च। ननु—तत्स्वलक्षणकस्यैव दर्पणस्थत्वेनारोपिततया तद्रूपादियुक्तस्येव तद्गन्धादियुक्तस्यापि दर्पणस्थत्वेन प्रतीतिः स्यादिति—चेन्न; तत्स्वलक्षणकत्वेनारोपितत्वेऽपि यावत्स्वलक्षणकत्वेनारोपितत्वानङ्गीकारेण गन्धादिप्रतीत्यापादनस्याशक्यत्वात्।।९।।

ननु—एवं दर्पणे मुखस्याभावे उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन मुखप्रतिमुखयोरवदातत्वश्यामत्ववत् जीवब्रह्मणोः संसारित्वासंसारित्वादिव्यवस्था कथमिति—चेत्, नः आरोपितेनादर्शस्थत्वेन विशिष्टे प्रतिबिम्बे तद्धर्मस्य मालिन्यादेः सम्भवात्। न च—उपाधिस्थत्वस्यापि आरोप्यत्वेन कथं मालिन्याश्रयतावच्छेदकत्वम्? एकविशिष्टे

सत्यानन्दप्रबोधिका

और पुरुष के अधीन देखी जाती है, ठीक वैसे ही सभी ब्रह्मादि परमात्मा के आत्मकाः = सदृश और अधीन हैं।) ऐसा पूर्वपक्षी श्रुति का अर्थ लेकर के कह रहा है कि ''पुंसदृशी'' और ''पुमधीना'' और यथा — तथा (तथा का अध्याहार अन्वय के लिए होता है।) से बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा कहा गया है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति के द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब में सादृश्यादि कहा गया है। वह अभेद पक्ष में भी कल्पित भेद को लेकर उपपन्न हो जायेगा। उसके लिए तात्त्विक भेद मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। फलतः भेदगत तात्त्विकत्व के बोधन में उक्त श्रुति का तात्पर्य नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह है कि भेदगत तात्त्विकत्व मानने पर ऐक्य प्रतिपादन अनेक श्रुतियों से विरोध होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती बिम्ब से पृथक् प्रतिबिम्ब को नहीं मानते हैं। अतः बिम्ब में ही प्रतिबिम्ब मात्र आरोपित होने के कारण जैसे बिम्ब का स्वलक्षणक = अपने श्वेतादिरूप से युक्त होकर ही दर्पणस्थत्वेन = प्रतिबिम्बत्वेन प्रतीति होती है वैसे ही बिम्ब का भी स्वलक्षणक = अपने सौरभादि से युक्त होकर ही प्रतिबिम्बत्वेन प्रतीति होनी चाहिये।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि बिम्ब के जितने लक्षण हैं, उनमें से कुछ लक्षण वाले बिम्ब में प्रतिबिम्बत्व का आरोप होने पर भी बिम्ब के सभी लक्षणों से युक्त में प्रतिबिम्बत्व का आरोप हमारे द्वारा स्वीकार न किये जाने से प्रतिबिम्ब में गन्धादि प्रतीति का आपादन नहीं किया जा सकता है।।९।।

शङ्का— एवम्= उक्त प्रकार से दर्पण में बिम्ब मुख से भिन्न प्रतिबिम्ब मुख न मानने पर, बिम्ब श्वेत है और प्रतिबिम्ब मलिन क्यों है? इसके समाधान में सिद्धान्ती कहते हैं कि उपाधि प्रतिबिम्ब पक्षपाति होने से अर्थात् उपाधि के गुण प्रतिबिम्ब में ही आते हैं बिम्ब में नहीं। इसलिये बिम्ब श्वेत है किन्तु उपाधि के गुण (श्याम) के कारण प्रतिबिम्ब मलिन है। ठीक इसी प्रकार उपाधि प्रतिबिम्ब की ही पक्षपाति होने से बिम्ब भूत ब्रह्म में संसारित्वाभाव और अन्तःकरण रूप उपाधि में प्रतिबिम्ब भूत जीव में संसारित्व की व्यवस्था की जाती है, किन्तु यह व्यवस्था बिम्ब और प्रतिबिम्ब को भिन्न मानने पर बनती है। सिद्धान्ती बिम्ब और प्रतिबिम्ब में जब अभेद मान रहे हैं तब सिद्धान्त मतानुसार यह व्यवस्था कैसे बन सकती है? अर्थात् नहीं बन पायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि बिम्ब में दर्पणस्थत्व आरोपित है। उस आरोपित दर्पणस्थत्व से विशिष्ट प्रतिबिम्ब में उपाधिभूत दर्पणादि का धर्म मलिनतादि रहेगी और दर्पणस्थत्व से रहित बिम्ब में शुद्धतादि रह जायेगी।

इतरारोपाभावादिति—वाच्यम्; आरोपपूर्वप्रतीतधर्मविशिष्टस्यैवारोप्याश्रयत्वात् न तु तस्य सत्यत्वमपीति परप्रक्रियानिबन्धनदोषानवकाशात्। न च—प्रतिमुखमेव दर्पणस्थं न तु मुखमिति प्रतिबिम्बदर्पणस्थत्वानुभवेन कथं प्रतिबिम्बत्वस्य तत्स्थत्वगर्भतेति—वाच्यम्; अविद्योपहितस्याविद्याश्रयत्ववत् दर्पणोपहितस्य दर्पणाश्रितत्वसम्भवात्।१०।।

एतेन—मालिन्यस्थानीयस्य संसारस्य विशिष्टवृत्तित्वात् शुद्धाश्रितमोक्षसामानाधिकरण्यायोग इति—निरस्तम्, संसारस्तावदुपहितवृत्तिः; तथाचोपधेयांशमादाय सामानाधिकरण्यसंभवात्। तथा च वृक्षस्थकपिसंयोगाधारता

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— आरोपित आदर्शस्थत्व विशिष्ट= आरोपित मालिन्य का आश्रय है— ऐसा मानने पर आरोपित मालिन्य आश्रयता का अवच्छेदक = आरोपित आदर्शस्थत्व, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता है, क्योंकि जहां शुक्ति में रजतत्व का आरोप होता है, वहां आरोपित रजतत्व की आश्रयता का अवच्छेदक शुक्तित्व होता है जो आरोपित रजतत्व की अपेक्षा से अधिक सत्ता वाला होता है। जब तक प्रकृत में आरोपित जो मालिन्य उसकी आश्रयता का अवच्छेदक भी आरोपित आदर्शस्थत्व ही है। आश्रयता का अवच्छेदक आरोपित न होने से ही एक आरोपित धर्म विशिष्ट में दूसरे का आरोप नहीं माना जाता है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नियम यह है कि आरोप्याश्रयतावच्छेदक को आरोप्य की अपेक्षा से पूर्व में प्रतीत होना चाहिये न कि आरोप्याश्रयतावच्छेदक को अनारोपित (सत्य) होना चाहिये, क्योंकि स्वप्न में जब शुक्ति में रजत का भ्रम होता है तब रजतत्व भी आरोपित और उसकी आश्रयता का अवच्छेदक शुक्तित्व भी आरोपित है। इसलिये अधिष्ठान को सत्य होने की आवश्यकता है न कि आश्रयता के अवच्छेदक को। प्रकृत में मालिन्य के आरोप के पहले ही मालिन्याश्रयतावच्छेदक दर्पणस्थत्व की प्रतीति होती है। अतः पूर्वपक्षी ने जो आश्रयतावच्छेदक को अनारोपित मानकर दोष दिया था, उसका खण्डन हो गया।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्त मतानुसार बिम्ब ही दर्पण में दिखता है न कि बिम्ब से भिन्न कोई दर्पण में दिखता है। अतः बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब नामक कोई वस्तु नहीं मानी जा सकती है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि अनुभव तो यह होता है कि प्रतिबिम्ब ही दर्पण में दिखता है न कि बिम्ब। अतः इस अनुभव के बल पर बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब नामक वस्तु मानना पड़ेगा। अतः सिद्धान्ती का जो कथन था कि तत्स्थत्वगर्भता= आरोपित दर्पणस्थत्व से विशिष्ट बिम्ब को ही प्रतिबिम्ब कहा जाता है। उसका खण्डन हो गया।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि विशेषण कार्यान्वयी होने पर भी उपाधि कार्यानन्वयी होने से जैसे अविद्या उपहित चेतन ही अविद्या का आश्रय बन जाता है वैसे ही दर्पण उपहित बिम्ब में दर्पणाश्रितत्व (प्रतिबिम्बत्व) बन जायेगा।१०।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टान्तगत मालिन्य के जैसे दार्ष्टान्तगत संसार रूप बन्धन विशिष्ट चैतन्य में और मोक्ष शुद्ध चैतन्य में मानने पर बन्ध और मोक्ष के वैयाधिकरण्य की आपत्ति होगी।

समाधान— एतेन निरस्तम् — ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि संसाररूप बन्ध उपहित चैतन्य में ही माना जाता है। अतः उपधेय अंश (उपाधि से उपलक्षित शुद्ध चैतन्य) को लेकर बन्ध और मोक्ष में सामानाधिकरण्य बन जायेगा। फलतः वृक्ष के अग्रभाग से अवच्छिन्न वृक्ष में जैसे कपिसंयोग की आधारता होती है वैसे ही दर्पण सम्बन्ध से अवच्छिन्न मुख (बिम्ब) में मालिन्य की

अग्रेणेव मुखे मालिन्यं दर्पणसम्बन्धेनावच्छिद्यते। एतावानेव विशेषः—वृक्षे संयोगस्तु साहजिकः, मुखे (तु) औपाधिकं मालिन्यम्। तेनोपहिते उपाध्यवच्छिन्न एव मुखे मालिन्यधीः। एतेन— दर्पणमालिन्यस्य मुखनिष्ठत्वे संसारस्यापि शुद्धनिष्ठतापत्तिः, वृक्षः संयुक्त इतिवत् मुखं मलिनमिति प्रतीत्यापत्तिः, मुखं न मलिनम्, किन्तु प्रतिमुखमित्यनुभवविरोधापत्तिश्चेति—निरस्तम्।११।।

ननु— कस्तूर्यादिप्रतिबिम्बस्य स्वलक्षणाननुगमेन कथं बिम्बैक्यम्? न च तदाकारतामात्रेण तत्त्वं, तर्हि छायाप्रतिमुद्राप्रतिमादीनामपि तत्त्वं स्यात्, प्रत्यङ्मुखत्वादेर्भेदकस्यात्रापि सत्त्वाच्च। न च प्रत्यङ्मुखत्वधीर्भ्रान्ता; प्रतिबिम्बं बिम्बाभिमुखं नेति कदाप्यननुभवादिति—चेन्न; दर्पणादिप्रतिबिम्बे स्वलक्षणानुगमेन बिम्बैक्ये व्यवस्थिते

सत्यानन्दप्रबोधिका

आधारता होती है। इन दोनों में इतना अन्तर है कि वृक्ष में कपिसंयोग साहजिक = अनौपाधिक अर्थात् व्यवहारिक है और मुख में मालिन्य औपाधिक है। इस लिये दर्पणादि से उपहित उपधेय मुख (बिम्ब) में उपाध्यवच्छिन्ने= उपाधि अवच्छेदेन मालिन्य धी होती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि दर्पणमालिन्य को बिम्बभूत मुख में मानने पर संसार रूप बन्धन भी बिम्बभूत शुद्ध चैतन्य में मानने की आपत्ति होगी और ''वृक्षः कपिसयोगी'' इत्याकारक जैसे प्रतीति होती है वैसे ही ''मुखं मलिनम्'' इत्याकारक भी प्रतीति होनी चाहिए। ''मुखं मलिनम्'' ऐसी प्रतीति मानने पर ''मुखं न मलिनं किन्तु प्रतिमुखम्'' इत्याकारक अनुभव से विरोध की आपत्ति होगी।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन = मुखं मलिनम्— इत्याकारक प्रतीति में हमें इष्टापत्ति होने से पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त हो गया। अर्थात् दर्पण सम्बन्ध से विशिष्ट मुख में मलिनता मानी जाती है। इसको लेकर ''मुखं मलिनम्'' ऐसी प्रतीति होती है जो कि हमें इष्ट ही है।। पूर्वपक्षी के द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद मानकर दिखाया गया अनुभव भ्रमात्मक है क्योंकि बिम्ब प्रतिबिम्ब में भेद होता ही नहीं है—इसे पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि शुद्ध बिम्ब में मलिनता जैसे नहीं है वैसे ही शुद्ध चैतन्य में भी संसार नहीं रहेगा, अपितु उपाधि से उपहित चैतन्य में संसार रहेगा।११।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि कस्तूरी (बिम्ब) के जितने लक्षण (गन्ध—रूप—रस आदि धर्म) वे सभी प्रतिबिम्ब में अनुगत नहीं होते हैं। अतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद नहीं माना जा सकता है। बिम्ब के यत् किञ्चित् धर्म के प्रतिबिम्ब में रहने मात्र से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद मानना उचित नहीं है, क्योंकि यत् किञ्चित् धर्म को लेकर अभेद मानने पर पुरुष और उसकी छाया, मुद्रा और प्रतिमुद्रा तथा पुरुष और उसकी प्रतिमा इत्यादि स्थलों पर यत् किञ्चित् धर्म का अनुगम मिल जाने से अभेद मानने की आपत्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त स्थलों पर पूर्वाभिमुखत्व और पश्चिमाभिमुखत्व आदि विरुद्ध धर्मों का योग होने से अभेद नहीं हो सकता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि वैसे ही बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भी उक्त विरुद्ध धर्मों का योग होने से अभेद नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब स्थल पर पूर्वाभिमुखत्वादि धी भ्रान्तिरूपा है तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्बाभिमुख नहीं है— ऐसा कभी भी अनुभव नहीं होता है अपितु प्रतिबिम्ब बिम्बाभिमुख है—ऐसा ही अनुभव सबको होता है। अतः इस अनुभव को भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दर्पणादिगत प्रतिबिम्ब में बिम्ब के स्वलक्षण (आंख—कान—नाक आदि जैसा है उस) के आधार पर ऐक्य के व्यवस्थित हो जाने पर प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्न प्रतिबिम्ब में अर्थात् सभी प्रतिबिम्बों में अपने—अपने बिम्ब के साथ ऐक्य की कल्पना अर्थात् अनुमिति हो जाती है। (यहां

प्रतिबिम्बत्वावच्छेदेनैव तत्कल्पनात् छायादौ स्वलक्षणकत्वस्य कुत्राप्यदर्शनेन साम्याभावात्। नापि प्रत्यङ्मुखत्वादि भेदकम्; मलिनत्ववदुपाधिकृतत्वात्। अत एव जपाकुसुमे रक्तताप्रतीतिवत् तद्धीः न भ्रान्ता। दर्पणाहतं चक्षुः प्रत्यङ्मुखं भवति, तस्य च स्वाभिमुखतया ग्रहणसामर्थ्याच्चान्याभिमुखस्यापि मुखादेस्तथाग्रहणोपपत्तेश्च। तदुक्तं—

'दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननम्। व्याप्नुवन्त्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम्'।।१२।।

न च परावृत्यं स्वमुखस्यैव ग्रहणे पार्श्वस्थस्य मुखद्वयप्रतीत्ययोगः, स्वमुखस्यैवेति नियमासिद्धेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनुमान का आकार होगा— प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्नप्रतिबिम्बः, बिम्बाभिन्नः, बिम्बलक्षणानुगत्वात्, दर्पणप्रतिबिम्बवत्), पूर्वपक्षी ने जो छायादि कहा। उन स्थलों पर स्वलक्षण अनुगम नहीं देखा जाता है। अतः उक्त स्थलों पर अभेद नहीं माना जा सकता है। बिम्बप्रतिबिम्ब स्थल पर पूर्वाभिमुखत्वादि को भेदक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जैसे मलिनत्व आदि धर्म औपाधिक होते हैं वैसे ही पूर्वाभिमुखत्वादि धर्म भी औपाधिक ही होते हैं। अत एव = प्रत्यङ्मुखत्वादि धर्म औपाधिक होने पर भी जपाकुसुम का सम्बन्ध होने पर जैसे स्फटिक में रक्तता की प्रतीति भ्रान्ति रूप होती है, वैसे ही पूर्वाभिमुखत्वादि की प्रतीति भ्रान्तिरूप नहीं होती है, क्योंकि सामने के दर्पण से टकराकर चक्षु की रश्मियां प्रत्यङ्मुख हो जाती हैं। चक्षुगत सामर्थ्य है कि वह अपने सम्मुख स्थित पदार्थ का ही ग्रहण करती है। इसलिये चक्षु जब दर्पण से टकराकर उल्टी दिशा में घूम गयी तब मुख को भी उल्टा ही देखेगी। अर्थात् अन्य के अभिमुख जो मुखादि तादृश मुखादि का स्वाभिमुखतया ग्रहण करती है। अतः उल्टा देखना भी प्रमा ज्ञान है। कहने का भाव यह है चक्षु जैसे अपने सम्मुख घट को देखती है, वह घट ज्ञान प्रमा होता है। वैसे दर्पण से टकराकर जब चक्षु उल्टा देखेगी तब उसके सम्मुख जो मुख होगा उसका ज्ञान भी प्रमा ही होगा। (तद्धीर्नभ्रान्ता—के स्थान पर ''तद्धीर्भ्रान्ता'' ऐसा पाठान्तर है) जैसा कि कहा गया है —

दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्त्य स्वमाननम्।
व्याप्नुवन्त्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम्।। (बृह०वा०)

(अर्थात् दर्पण से टकराकर चक्षु रश्मियां लौटकर स्वमुख के प्रति व्याप्त होती हुई आभिमुख्येन विपरीत मुख को दिखलाती हैं।)।।१२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि नेत्र की रश्मियाँ दर्पण से टकराकर स्वमुख का ही ग्रहण करती हैं तो समीप में खड़े व्यक्ति को दर्पण में जो दो मुख (एक अपना मुख और दूसरा समीप में खड़े व्यक्ति का मुख) दिखायी पड़ता है। वह सम्भव नहीं हो पायेगा, क्योंकि उस व्यक्ति को अपना ही मुख दिखायी पड़ेगा दूसरे का नहीं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि नेत्र की राशियाँ दर्पण से टकराकर जब वापस लौटती हैं तब केवल अपने ही मुख को देखती हैं— ऐसा नियम हम नहीं मानते हैं अपितु दर्पण उपाधि के सन्निहित जो भी दृश्य पदार्थ होता है, स्वाभिमुख्येन सबका ग्रहण करती हैं।

शङ्का— यदि दर्पण उपाधि का केवल इतना ही कार्य है कि नेत्र की रश्मियों को लौटा देना तब तो जहाँ सामने एक दर्पण है वहाँ जैसे वापस हुयी रश्मियों से एक ही मुख दिखायी पड़ता है वैसे ही जहाँ अनेक दर्पण होंगे वहाँ भी अनेक दर्पणों से टकराकर वापस हुयी नेत्र की रश्मियों के द्वारा ग्रीवास्थ एक मुख ही दिखायी देना चाहिए न कि अनेक मुख। जब कि अनेक मुख दिखायी पड़ते हैं। अतः सिद्धान्ती की प्रक्रिया असङ्गत है।

उपाधिसन्निहितमात्रस्यैव तथा ग्रहणात्। न च एवं दर्पणादेरभिघातकतामात्रेण उपक्षीणतया दर्पणैक्य इव दर्पणभेदेऽप्यनेकमुखप्रतीतिर्न स्यादिति–वाच्यम्; अभिघातकानेकत्वेन चक्षुषोऽनेकाग्रसम्पत्त्या प्रत्यग्रं स्वाभिघातकावच्छेदकमुखग्राहकतया दृष्टान्तवैषम्यात्। न च मणिदर्पणकृपाणादिषु विरुद्धरूपानेकमुखप्रतीतिः कथमेवं युज्यत इति–वाच्यम्, अन्वयव्यतिरेकसिद्धोपाधिप्राबल्यनिबन्धनत्वादिति गृहाण। न च चक्षुःपरिवृत्तिप्रक्रिया ब्रह्मप्रतिबिम्बे जीवे न सम्भवतीति– वाच्यम्; चाक्षुषप्रतिबिम्बमात्रविषयतयैवास्या उपपादितत्वात्।१३।।

नच विरलावयवस्य जलस्य नेत्राभिघातकत्वे जलान्तर्गतशिलाद्यग्रहणप्रसङ्गः, सर्वावच्छेदेनाभिघाता–

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु की रश्मियों को लौटाने वाले अनेक होने के कारण नाना किरण पुञ्जरूप जो चक्षु रश्मियों के नाना अवयव उन नाना अवयवों के नाना दर्पणों से प्रतिहन्यमान होने पर प्रत्येक अवयव के रूप से अपने–अपने अवयव का अवघातक = एक–एक दर्पण रूप अवच्छेदक से अभिहत होकर एक–एक मुख का ग्राहक हो जाती है। इस प्रकार अनेक दर्पणों में अनेक मुख दिखायी देना असम्भव नहीं है। अतः एक दर्पण का दृष्टान्त उचित नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे दृष्टान्त स्थल पर सभी चक्षु रश्मियों के अवयव एक ही दर्पण से टकराकर एक ही मुख को दिखायेंगे जब दार्ष्टान्त में नाना रश्मियों के नाना अवयव नाना दर्पण से टकराकर के नाना मुख को दिखलायेगा।

शङ्का– एवम् = दर्पण का कार्य केवल नेत्र रश्मियों को लौटाना मात्र है– ऐसा मानने पर, भिन्न–भिन्न आकार वाली मणि दर्पण और कृपाणादि उपाधियों के सम्मुख रहने पर जो अनेक विरुद्ध आकार के अनेक मुख दिखायी देते हैं। वे सिद्धान्त मतानुसार उपपन्न नहीं हो पायेंगे, क्योंकि सभी रश्मियाँ तत्तद् उपाधियों से टकराकर एक ही प्रकार के ग्रीवास्थ मुख का ही ग्रहण करेंगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''परस्परविरुद्धाकारमण्यादिनां सत्त्वे परस्परविरुद्धाकारानेकमुखप्रतीतिसत्त्वम्। तदभावे तदभावः।। इस अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध जो उपाधियों का प्राबल्य अर्थात् वर्तुल वक्र आदि की प्रतीति का कारण कृपाणादि उपाधियां ही हैं। अतः जिस उपाधि से चक्षु की रश्मियों के अवयव टकरायेंगे वैसे ही मुख दिखायी देगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि दर्पण से टकराकर चक्षु रश्मियां मुख को देखती हैं। उसका विषय प्रतिबिम्ब होता है किन्तु ब्रह्मप्रतिबिम्ब रूप जीव में यह प्रक्रिया सम्भव ही नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तो चक्षु आदि का विषय ही नहीं है। अतः किसी से टकराकर चक्षु रश्मियां ब्रह्म को देखती हैं। उसका विषय जीव होता है–ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है।

समाधान– चक्षु का विषय ब्रह्म न होने से उक्त प्रक्रिया ब्रह्म के प्रतिबिम्ब जीव में नहीं लगेगी, क्योंकि जो चक्षु के रश्मियों के परावर्तन की प्रक्रिया है वह चाक्षुष प्रतिबिम्ब स्थल पर ही लगती है न कि सभी प्रतिबिम्ब स्थलों पर। इस दृष्टि से उक्त प्रक्रिया का उपपादन किया गया है।१३।।

शङ्का– जहाँ प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है वहां नेत्र की रश्मियाँ दर्पणादि उपाधि से टकराकर वापस मुख को ग्रहण करती हैं– ऐसा मानने पर विरल अवयव वाला जो जल रूप उपाधि है। वहाँ पर भी स्वमुख का प्रतिबिम्ब आदि दिखायी पड़ता है। ऐसे स्थल पर भी नेत्र की रश्मियाँ जल से टकराकर वापस मुख को ही ग्रहण करेंगी, यही स्वीकार करना पडेगा किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर नेत्र की रश्मियाँ जल के अन्दर प्रवेश कर शिलादि को ग्रहण नहीं कर पायेगी।

भावेनान्तरेऽपि चक्षुषः प्रवेशसम्भवात्। न च—एवं बहुदूरव्यवहितोर्ध्वभागसूर्यादिग्रहणे पृष्ठभागस्थस्य व्यवहितस्यापि ग्रहणापत्तिरिति—वाच्यम्, चक्षुषो गमनागमनाभ्यां विशेषात्। नहि दूरस्थसूर्यग्रहणं वदता पृष्ठकुड्यादिकं भित्त्वा चक्षुर्गच्छतीत्युक्तं भवति। न च—एवं शिलाभिहतमपि चक्षुः परावृत्य मुखं गृह्णात्विति—वाच्यम् तवापि प्रतिबिम्बं तत्रोत्पद्यतामित्यापत्तेः अस्वच्छतया परिहारस्यास्माकमपि समत्वात्। तव स्वच्छ एव उत्पद्यते; मम तत एव चक्षुः परावर्तते इत्यङ्गीकारात्।।१४।।

न चैवं प्रतिबिम्बदर्शनेनापि बिम्बदर्शनजन्यसुखपुण्यादिप्रसङ्गः, यत्र तद्दर्शनमात्रजन्यता सामान्यतः

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विरल अवयव वाला जल होने से नेत्र की रश्मियों के सम्पूर्ण अवयवों को वापस नहीं लौटा पाता है अपितु कुछ ही अवयवों को लौटाता है। जो अवयव लौटते हैं वे मुख को विषय करते हैं और जो अवयव जल के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं वे शिलादि को विषय करते हैं।

शङ्का— एवम् — नेत्र रश्मियों का अभिघातक दर्पणादि उपाधियों को मानने पर, दर्पण से टकराकर वापस लौटी हुयी नेत्र रश्मियां बहुत दूर गगन में असंख्य परमाणु से व्यवहित सूर्य को ग्रहण करेंगी तब तो दर्शक के पृष्ठ भाग और पृष्ठभाग में स्थित पदार्थों को भी ग्रहण कर लेने की आपत्ति होगी। कहने का भाव यह है कि चैत्र दर्पण के सामने खड़ा है। उस दर्पण से टकराकर नेत्र की रश्मि चैत्र के पृष्ठ भाग की ओर सुदूर स्थित सूर्य को देखती है— ऐसा मानने पर चैत्र के पृष्ठ भाग और पृष्ठ भाग में स्थित पदार्थों को भी देखने की आपत्ति होगी क्योंकि नेत्र रश्मि जब वापस सूर्य को देखने जायेगी तब दर्पण और सूर्य मध्य में जो स्वपृष्ठभागादि हैं, उन सबको देखने की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दर्पण से टकराकर नेत्र की रश्मियाँ वापस जाती हैं। कहाँ तक जाती हैं? इसका उत्तर यह है कि जहाँ कोई व्यवधान नहीं होता है वहाँ तक जाती हैं और जहाँ व्यवधान होता है वहाँ नहीं जाती हैं। इस नियम के कारण ही वापस लौटी हुयी रश्मियाँ सूर्य को विषय करती हैं और शरीर का व्यवधान होने से शरीर के पृष्ठ भाग और पृष्ठ भाग में स्थित पदार्थों को विषय नहीं करती हैं। इसको ही स्पष्ट करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वापस लौटी हुयी रश्मियाँ जब सूर्य को ग्रहण करने जाती हैं तब व्यवधान करने वाले पृष्ठ दिवालादि का भेदन करके जाती हैं— ऐसा हमने कहीं भी नहीं कहा है।

शङ्का— एवम् = दर्पण से टकराकर नेत्र रश्मियाँ वापस मुख को देखती हैं— ऐसा मानने पर, अस्वच्छ शिला से टकराकर नेत्र रश्मियां वापस मुख को क्यों नहीं देखती हैं?

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद मानने वाले के मतानुसार शिला में प्रतिबिम्ब क्यों नहीं दिखायी पड़ता है? इसके उत्तर में यदि कहो कि शिला में अस्वच्छता है तब हम भी कहेंगे कि शिला में अस्वच्छता होने के कारण उससे टकराकर नेत्र की रश्मियाँ वापस मुख को नहीं देखती हैं। अर्थात् जिसमें स्वच्छता रहेगी उससे ही टकराकर नेत्र रश्मियाँ वापस मुख को देखेंगी— यह हमारे कथन का तात्पर्य है। अतः शिलादि को लेकर दोष नहीं दिया जा सकता है। ''बहुदूरव्यवहित'' के स्थान पर ''बहुयोजनव्यवहित'' ऐसा पाठान्तर है। ''दूरस्थसूर्यग्रहणम्'' के स्थान पर ''दूरस्थसूर्ये ग्रहणम्'' ऐसा पाठान्तर है।।१४।।

शङ्का— एवम्— बिम्ब प्रतिबिम्ब में अभेद मानने पर, चन्द्रबिम्ब दर्शन से जो सुखादि का भान होता है वैसा ही चन्द्र प्रतिबिम्ब दर्शन से भी सुखादि का भान होना चाहिए। ऐसे ही देवविग्रह दर्शन से जो पुण्य

तत्रेष्टापत्तेः यत्र चोपाधिविनिर्मुक्तज्ञानत्वेन विशिष्य जन्यता, तत्रापादकाभावात्। न चैवं सूर्यकस्यापि सूर्यवद् दुर्दर्शत्वापत्तिः, गोलके सूर्यतेजः साम्मुख्यस्य दुर्दर्शताप्रयोजकस्य सूर्यकग्रहणकालेऽभावात्। न च स्वच्छदर्पण इव किञ्चित्स्वच्छताम्रादौ मुखसंस्थानविशेषप्रतीत्यापातः; उपाधिगतात्यन्तस्वच्छताव्यतिरेकप्रयोजकमालिन्यादेरेव तत्र प्रतिबन्धकत्वाद्, अन्यथा तवापि तादृक्संस्थानविशेषवत् प्रतिबिम्बं तत्र कथं नोत्पद्यत इत्यस्य दुष्परिहरत्वापत्तेः।।१५।।

ननु–अवच्छेदपक्षे द्विगुणीकृत्य वृत्त्यसम्भवेऽपि प्रतिबिम्बपक्षे तत्सम्भवेनान्तर्यामित्वमिति स्ववचनविरोधः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

मिलता है वैसे ही देवविग्रह के प्रतिबिम्ब से भी पुण्य मिलना चाहिए।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ पर बिम्ब प्रतिबिम्ब का विशेष उल्लेख नहीं किया गया है। केवल सामान्य रूप से दर्शन से सुख पुण्य आदि की प्राप्ति कही गयी है वहाँ पर प्रतिबिम्ब दर्शन से भी पुण्य लाभादि हो ही सकता है। इसमें हमें इष्टापत्ति है। (जैसे भगवद् दर्शन से पुण्य मिलता है। यहाँ पर भगवद्शब्द से भगवद् बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों ही हैं। ऐसे स्थल पर प्रतिबिम्ब से भी पुण्य मिलता ही है)। जहाँ उपाधि से रहित बिम्ब के ज्ञान से पुण्य की प्राप्ति कही गयी है, वहाँ पर प्रतिबिम्ब दर्शन से पुण्य प्राप्ति का प्रसङ्ग ही नहीं उठता है। अर्थात् आपादक = प्रतिबिम्ब दर्शन। इस आपादक के अभाव से पुण्यादि का आपादन नहीं किया जा सकता है। जैसे शुद्ध ब्रह्म रूप बिम्ब के ही ज्ञान से मोक्ष मिलता है। यहाँ पर प्रतिबिम्बरूप सोपाधिक ब्रह्म के ज्ञान से मोक्षादि के प्राप्ति का प्रसङ्ग ही नहीं आता है। अतः ऐसे स्थल पर प्रतिबिम्ब को लेकर दोष का आपादन नहीं किया जा सकता है।

शङ्का– एवम्– बिम्ब प्रतिबिम्ब में अभेद मानने पर, जैसे बिम्ब भूत मध्याह्न का सूर्य देखना कठिन होता है वैसे ही प्रतिबिम्बभूत सूर्य को भी देखना कठिन होना चाहिए।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जब नेत्र घटादि को देखता है तब पहले प्रकाश दिखायी पड़ता है और पुनः प्रकाश में स्थित घट दिखायी पड़ता है। किन्तु यही प्रकाश जब नेत्र के गोलक में पड़ता है तब घटादि को देखना कठिन हो जाता है। जैसे प्रकाश में घट है किन्तु टार्च की लाइट नेत्र गोलक में लगने लगती है तब घट को देखना कठिन हो जाता है। अतः दूर्दर्श का हेतु = नेत्र गोलक में तेज प्रकाश का साम्मुख्य। सूर्य बिम्ब चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय यह हेतु रहता है। अतः सूर्य बिम्ब का चाक्षुषप्रत्यक्ष दुर्दर्श (कठिन) होता है किन्तु सूर्यप्रतिबिम्ब के चाक्षुषप्रत्यक्ष के समय उक्त हेतु नहीं रहता है। अतः सूर्यप्रतिबिम्ब का चाक्षुष प्रत्यक्ष कठिन नहीं होता है।

शङ्का– स्वच्छ दर्पण के जैसे किञ्चित् स्वच्छ ताम्रादि स्थल पर भी नेत्र की रश्मियाँ टकराकर वापस लौटती ही हैं। अतः ऐसे स्थल पर भी मुखमण्डलस्थ नेत्रादि की भी विशेष रूप से प्रतीति की आपत्ति होगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दर्पणादि उपाधिगत जो अत्यन्त स्वच्छता है तादृश स्वच्छता के अभाव का प्रयोजक जो ताम्रादिगत मलिनतादि है। वह ताम्रादिगत मलिनतादि ही मुखमण्डलस्थ नेत्र–नाक–रेखोपरेखा आदि विशेष की प्रतीति में प्रतिबन्धक होती है। इसलिये मुखसंस्थानविशेष की प्रतीति नहीं हो पाती है। अन्यथा = ताम्रादिगत मलिनता आदि को उक्त प्रतीति में प्रतिबन्धक न मानने पर पूर्वपक्षी के मत में भी ताम्रादिगत मुख संस्थान विशेष के प्रतिबिम्ब की प्रतीति क्यों नहीं होती है? इसका उत्तर पूर्वपक्षी भी नहीं दे पायेगा।।१५।।

शङ्का– अवच्छेदवाद से बिम्बप्रतिबिम्बवाद श्रेष्ठ क्यों है? इसको स्पष्ट करते हुये श्री विवरणकार ने कहा

उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वमित्युक्त्योगश्चेति—चेन्न; सर्वोपाध्यवच्छिन्नत्वैकदेशोपाध्यवच्छिन्नत्वा—भ्यामुपाधिकल्पितभेदेन च स्वोक्त्यविरोधोपपत्तेः। अतएव दर्पणे न मुखमित्येव उपाधिसंसृष्टतया निषिध्यते, नतु 'नेदं रूप्यम्'इतिवत् नैतन्मुखमिति स्वरूपेण। ननु—नात्र मुखच्छायास्तीत्यननुभवेन प्रत्युतैतावन्तं कालम् अत्र प्रतिसूर्य आसीदितिवत् प्रतिमुखमासीदित्येवानुभवेन ''प्रतिबिम्बमिवादर्शः'' इत्यादिस्मृत्या च प्रतिमुखे दर्पणस्थत्वस्याप्यबाध एव, नहि भूमौ मेघो नेत्येतावता मेघच्छायापि तत्र बाधितेति—चेन्न, मुखप्रतिमुखयोरेक—

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि अवच्छेदकवाद स्वीकार करने पर एक ही अन्तःकरण में जीव और अन्तर्यामी की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि एक ही व्यक्ति (अवच्छिन्नचेतन) का वर्तमान में दो रूप से एकत्र रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि घटावच्छिन्न आकाश और घटानवच्छिन्न आकाश इस दो रूप से वर्तमान में एकत्र रहना सम्भव नहीं है। बिम्बप्रतिबिम्ब वाद में एक ही अन्तःकरण में दो चेतन की वृत्ति सम्भव हो जायेगी। अर्थात् जीव और अन्तर्यामी की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि जलगत जहाँ बिम्बाकाश है वहीं पर प्रतिबिम्बाकाश भी रहता है। अतः प्रकृत में भी एक ही अन्तःकरण में जहाँ बिम्बभूत चैतन्य रहेगा वहीं पर प्रतिबिम्बभूत चैतन्य की भी सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् एक ही अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब अभिमानी के रूप में जीव की और बिम्बत्व अभिमानी के रूप से अन्तर्यामी की सिद्धि हो जायेगी। (जिसमें बिम्बत्व अभिमान नहीं है। उस बिम्ब से शुद्ध चैतन्य लिया जाता है) श्री विवरणकार के ''द्विगुणीकृत्यवृत्ति'' के कथन से यह स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब भिन्न—भिन्न हैं। अतः जब सिद्धान्ती बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद मानेंगे तब श्री विवरणकार के उक्त कथन से विरोध होगा और उपाधि बिम्ब पक्षपाती नहीं होती है अपितु प्रतिबिम्ब पक्षपाती होती है— ऐसे बिम्ब प्रतिबिम्ब के भेद बोधक वचन से भी विरोध होगा, क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद मानने पर ही कहा जा सकता है कि उपाधि प्रतिबिम्ब पक्षपाती है बिम्ब पक्षपाती नहीं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक जीववाद के अनुसार बिम्बीभूत अन्तर्यामी सर्वजीव उपाधि से अवच्छिन्न है। अर्थात् सर्व उपाधियों में अहं करने वाला होता है और प्रतिबिम्बभूत जीव एक—एक उपाधि से अवच्छिन्न है। अर्थात् एक—एक उपाधि में अहं करने वाला है। अतः द्विगुणीकृत्यवृत्ति बन जायेगी। (जैसे भिन्न—भिन्न जनपद के भिन्न—भिन्न शासक होते हैं और सभी जनपदों का एक मुख्य शासक होता है। इस प्रकार एक ही जनपद के एक ही काल में दो शासक बन जाते हैं।) आगे एक जीव वाद के अनुसार बोल रहे हैं कि अन्तर्यामी और जीव में उपाधि भेद से कल्पित भेद मानने के कारण एक चैतन्य का दो रूप से वर्तमान रहना शरीर में बन जायेगा। अतः श्री विवरणकार के कथन से कोई विरोध नहीं होगा। अतएव = बिम्ब से अभिन्न रूप से प्रतिबिम्ब के सत्य होने से ही, बाध काल में प्रतिबिम्ब का ''नैतन्मुखम्'' इस प्रकार से स्वरूपेण बाध नहीं होता है किन्तु मुख में दर्पणस्थत्व का ही बाध होता है। यदि प्रतिबिम्ब सत्य नहीं होता तो प्रतिबिम्ब का स्वरूपेण ही बाध होना चाहिए था। जैसे ''नेदं रजतम्'' के द्वारा रजत का स्वरूपेण बाध होता है।

शङ्का— ''नात्र मुखच्छायाऽस्ति'' के स्थान पर ''नात्र मुखच्छाया आसीत्'' ऐसा पाठान्तर उचित है, क्योंकि आगे के दृष्टान्त में दो बार आसीत् पद आया हुआ है। पूर्वपक्षी का कथन है कि ''दर्पणादि में मुख की छाया नहीं है'' इत्याकारक अनुभव नहीं होता है अपितु ''इतने काल तब जलादि में प्रतिसूर्य था'' के समान ''दर्पणादि में प्रतिमुख था'' इत्याकारक अनुभव होता है — ऐसे अनुभव से और ''दर्पण में प्रतिबिम्ब के जैसे'' इस स्मृति से यह सिद्ध होता है कि ''नात्र मुखम्'' इस निषेध के द्वारा दर्पण में मुख

स्वलक्षणकत्वेनैक्यव्यवस्थित्या मुखस्यैव तत्स्थत्वनिषेधेन प्रतिमुखस्य तत्सत्त्वनिषेधसम्भवात्। मेघच्छायाप्रतिसूर्यादीनां च न तथेति न मेघादिनिषेधेन छायादिनिषेधः। स्मृतिस्तु प्रातीतिकार्थमादाय दृष्टान्तपरा।१६।।

न च—एवं प्रतिबिम्बाद् बिम्बानुमानोच्छेदः साध्याविशेषादिति—वाच्यम्; उपाधिकल्पितभेदेन विशेषोपपत्तेः। एतेन—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'इत्यनेन उद्यत्प्रतिबिम्बदर्शनस्यापि निषेधः स्यात्, वारिस्थसूर्यदर्शननिषेधेना—काशस्थसूर्यदर्शनस्यापि निषेधश्च स्यात्, प्रतिबिम्बदर्शनेनैव दृष्ट्वा स्नायादिति शास्त्रार्थोऽप्यनुष्ठितः

सत्यानन्दप्रबोधिका

का निषेध होने पर भी प्रतिमुख में दर्पणस्थत्व का भी बाध नही होता है। जैसे ''भूमि में मेघ नहीं है'' इस प्रकार भूमि में मेघ का निषेध होने पर भी भूमि में मेघ की छाया का निषेध नहीं होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मुख और प्रतिमुख इन दोनों में एक स्वलक्षणकत्व होने से जब ऐक्य की सिद्धि हो गयी तब मुखगत दर्पणस्थत्व निषेध से ही प्रतिमुखगत दर्पणस्थत्व का निषेध होना सम्भव हो जायेगा किन्तु पूर्वपक्षी ने जो दृष्टान्त दिया— मेघ और मेघछाया, सूर्य और सूर्य छाया इत्यादि। इनमें एक स्वलक्षणकत्व नहीं होने से ऐक्य की सिद्धि नहीं हो पाती है। अतः ''नात्र भूमौ मेघः'' इस प्रकार से भूमि में मेघ का निषेध होने पर भी मेघ छाया का निषेध नहीं होता है। उक्त स्मृति वाक्य के द्वारा प्रातीतिक प्रतिबिम्ब को दृष्टान्त बनाकर कथन किया गया है। अर्थात् सिद्धान्त मत में बिम्ब से भिन्न बिम्ब समान सत्ताक प्रतिबिम्ब नहीं माना जाता है किन्तु बिम्ब से भिन्न प्रातीतिक प्रतिबिम्ब माना जाता है। ऐसे प्रातीतिक प्रतिबिम्ब को दृष्टान्त के रूप से उक्त स्मृति वाक्य से कहा गया है।१६।।

शङ्का— एवम् = बिम्बप्रतिबिम्ब को अभिन्न मानने पर, अयं प्रतिबिम्बः, बिम्बपूर्वकः, प्रतिबिम्बत्वात्, सम्प्रतिपन्नप्रतिबिम्बवत्। यहाँ हेतु और साध्य एक हो जायेंगे, क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब अभिन्न हैं। अतः इस अनुमान के द्वारा बिम्ब का अनुमान नहीं हो पायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि हेतु और साध्य में उपाधि के द्वारा जो कल्पित भेद है। उस भेद को लेकर हेतु और साध्य में भेद होने से साध्याविशेष की आपत्ति नहीं होगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद मानने पर ''नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'' (खण्ड संख्या ७ में देखें) इस निषेध वाक्य के द्वारा जैसे बिम्बभूतसूर्य के दर्शन का निषेध किया है वैसे ही प्रतिबिम्ब भूत सूर्य के दर्शन का भी निषेध भी मानना पड़ेगा और वारिस्थ सूर्य के दर्शन के निषेध से गगनस्थ सूर्य दर्शन का भी निषेध मानना पड़ेगा। इसी प्रकार विना बिम्ब के दर्शन किये ही प्रतिबिम्ब का दर्शन कर के स्नान कर लेने से ''दृष्ट्वा स्नायात्'' यह विधि वाक्य भी चरितार्थ हो जायेगा।

समाधान — एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन = उपाधिकल्पितभेदेन विशेषोपपत्या, निरस्तम्। अर्थात् बिम्ब और प्रतिबिम्ब में उपाधि से कल्पित भेद को लेकर शास्त्रीय व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगा। अर्थात् जहाँ बिम्ब को लेने को कहा गया है वहाँ बिम्ब ही लिया जायेगा और जहाँ प्रतिबिम्ब को लेने को कहा गया है वहाँ प्रतिबिम्ब ही लिया जायेगा क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में कल्पित भेद हम भी मानते हैं। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा दिया गया अव्यस्थादि का दोष खण्डित हो गया।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि कल्पित भेद को लेकर शास्त्र की व्यवस्था मानेंगे तब तो अनौदुम्बर में औदुम्बर कल्पित है। अतः औदुम्बर का कल्पित भेद अनौदुम्बर में रहेगा। अतः जो कार्य औदुम्बर से होता है वही कार्य अनौदुम्बर से भी हो जाना चाहिए— इस भाव से पूर्वपक्षी कह रहा है कि दर्पणस्थत्वेन ज्ञात सूर्य यदि बिम्ब सूर्य से अभिन्न है किन्तु उन दोनों में कल्पित भेद है। कल्पित भेद होने से तत्तद् को लेकर शास्त्रादि

स्यादिति—निरस्तम्; कल्पितभेदादेव शास्त्रीयव्यवस्थोपपत्तेः। न च—औदुम्बरतया ज्ञातेनानौदुम्बरेण औदुम्बरो यूपो भवतीति शास्त्रार्थसिद्धिप्रसङ्गः, आत्मतया ज्ञात देहश्रवणादिनात्मा श्रोतव्य इति शास्त्रार्थसिद्धिप्रसङ्गःश्चेति—वाच्यम्; प्रमया उपपत्तौ सम्भवन्त्यां भ्रमेण तदुपपादानस्यायुक्तत्वात्।।१७।।

ननु—अनादेर्जीवस्य नोपाध्यधीनं प्रतिबिम्बत्वम्, किन्तु तदधीनत्वे सति तत्सदृशत्वम्, तच्च भेदव्याप्तमिति विरुद्धो हेतुः। उक्तंहि सूत्रकृता—'अत एवोपमा सूर्यकादिवत्'इति— चेन्न; उपाध्यधीनत्वं हि उपाधौ सत्येव सत्त्वम्। तच्च नानादित्वविरोधि; अनादि (उपाधिना) जीवस्यापि तत्सम्भवात्। अत एव प्रतिबिम्बपदस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

की उपपत्ति होती है तब तो औदुम्बरत्वेन ज्ञात अनौदुम्बर भी औदुम्बर से अभिन्न हो जायेगा (केवल उन दोनों में कल्पित भेद रहेगा) तब तो शास्त्र में जहाँ औदुम्बर से यूप बनाने को कहा गया है वहाँ औदुम्बरत्वेन ज्ञात अनौदुम्बर से भी यूप बनाने की आपत्ति होगी। इसी प्रकार आत्मत्वेन ज्ञात जो शरीर है। उस शरीर को भी आत्मा से अभिन्न मानकर शरीर के श्रवणादि से ''आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' (बृ०उ० २—४—५) इस विधि वाक्य के अर्थ की उपपत्ति हो जायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिस औदुम्बर में औदुम्बरत्वेन प्रमा ज्ञान है। उसके द्वारा जब शास्त्रार्थ की उपपत्ति होना सम्भव है तब वस्तुतः जो औदुम्बर नहीं है किन्तु जिसमें औदुम्बरत्वेन भ्रम ज्ञान है। उस अनौदुम्बर के द्वारा शास्त्रार्थ का उपपादन करना अनुचित है। दूसरी बात यह है कि औदुम्बरत्व विशिष्ट व्यावहारिक औदुम्बर जैसे मिलना सम्भव है वैसे ही वारिस्थत्व विशिष्ट व्यावहारिक सूर्य मिलना सम्भव नहीं होने से प्रातीतिक सूर्य को ग्रहण कर शास्त्रार्थ उपपत्ति करना पड़ता है। ऐसे ही आत्मत्वेन ज्ञात आत्मा के प्रमा ज्ञान को लेकर ही आत्मा के श्रवणादि विधि की उपपत्ति होगी न कि शरीरादि में आत्मा के भ्रम ज्ञान को लेकर।।१७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जीव जब अनादि है तब जीव रूप प्रतिबिम्ब को सादि उपाधि (अन्तःकरण) के अधीन नहीं माना जा सकता है। अतः ''जीवो ब्राह्मणो न भिद्यते प्रतिबिम्बत्वात्।'' इस अनुमान का हेतु पक्ष में नहीं जाने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा। अतः पक्ष में ले जाने के लिये प्रतिबिम्बत्व हेतु का अर्थ करना होगा— बिम्बाधिनत्वे सति बिम्बसदृशत्वम्। ऐसे अर्थ में सूत्रकार की भी सम्मति है— ''अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्'' (ब्र०सू० ३—२—१८) अतः ''बिम्बाधिनत्वे सति बिम्बसदृशत्व'' हेतु भेद सापेक्ष होने के कारण अभेद रूप साध्य का साधक न हो कर के साध्याभाव = भेद का साधक होने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास हो जायेगा। ''अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्'' का अर्थ पूर्वपक्षी के अनुसार और सिद्धान्ती के अनुसार क्या होगा? इसको स्पष्ट करते हुये लघुचन्द्रिका में कहा गया है— अत एव— जीवेश्वरयोर्भेदादेव। उपमा—बहवः सूर्यका यद्वत् सूर्यस्य दृशा जले। एवमेवात्मकाः लोके परमात्मसदृशाः मताः।। इत्यादि वाक्यं सूर्यतत्प्रतिबिम्बयोरिवेशजीवयोर्भेद इति बोधयति— इति पराभिमतोऽर्थः। मन्मते तु ''अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'' इत्यादि सूत्रेणाद्वितीयात्मबोधनादेव उपमा ''यथा ह्येको ज्योतिरात्मा'' इत्यादि श्रुतिः सूर्यतत्प्रतिबिम्बयोरिव ब्रह्मजीवयोर्मिथ्याभेदं बोधयतीत्यर्थः।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब उपाधि के अधीन होता है—इसका अर्थ है कि उपाधि के रहने पर प्रतिबिम्ब रहता है। अर्थात् जब तक उपाधि रहती है तब तक रहता है। ऐसा अर्थ अनादित्व का विरोधी नहीं होता है, क्योंकि अनादि उपाधि में अनादिकाल से प्रतिबिम्ब रूप जीव रहता है—ऐसा मानना सम्भव है। ''अनादि जीवस्यापि'' के स्थान पर ''अनाद्युपाधिना जीवस्यापि'' ऐसा पाठान्तर है। पाठान्तर में सादि अन्तःकरण को जीव की उपाधि न मानकर अनादि अज्ञान को जीव की उपाधि माना गया

भेदसादृश्यार्थकत्वमादाय विरुद्धत्वोक्तिर्हेतावयुक्ता।

तदेवं प्रतिबिम्बस्य बिम्बेनैक्ये व्यवस्थिते।
ब्रह्मैक्यं जीवजातस्य सिद्धं तत्प्रतिबिम्बनात्।।१८।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनैक्यसिद्धिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। किन्तु उपाधि के अधीनत्व का उक्त अर्थ लेने पर दोनों ही पाठों के अर्थ से पूर्वपक्षी की शङ्का का निराकरण हो जायेगा। अतएव = अनादि जीव में भी तादृश उपाधि अधीनत्व सम्भव होने से, प्रतिबिम्ब का अर्थ भेद घटित सादृश्यार्थक को लेकर हेतु में विरुद्ध हेत्वाभास की आपत्ति नहीं दी जा सकती है —

तदेवं प्रतिबिम्बस्य बिम्बेनैक्ये व्यवस्थिते।
ब्रह्मैक्यं जीवजातस्य सिद्धं तत्प्रतिबिम्बनात्।।

(अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से बिम्ब के साथ प्रतिबिम्ब का अभेद सिद्ध हो जाने पर जीव समुदाय का ब्रह्म से अभेद सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है)।।१८।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनैक्यसिद्धिः—

१५–जीवाणुत्वविचारः

ननु–अणुत्वाज्जीवस्य कथं व्यापकादीश्वरादभेद इति–चेन्न; 'नित्यः सर्वगतः' 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यादिश्रुत्या जीवो नाणुः, प्रत्यक्षगुणाश्रयत्वात्, प्रत्यक्षत्वाच्च, घटवत्, आत्मत्वादभूतत्वाच्चेश्वरव– दित्याद्यनुमानैश्च जीवानणुत्वसिद्धेः, विपक्षे च देहव्यापिसुखज्ञानाद्यनुपलम्भापत्तिर्बाधिका। न च–''अणुर्ह्येष आत्मा यं वा एते सिनीतः पुण्यं च पापं च'' ''बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते'' इति श्रुत्या जीवोऽणुरिति–वाच्यम्; व्यापकत्वप्रतिपादकबहुश्रुतिविरोधेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– जीवाः व्यापकपरमात्मनस्तत्त्वतो भिद्यन्ते, अणुत्वात्, परमाणुवत्– इस अनुमान का आश्रय लेकर तथा ''एषोऽणुरात्मा'' (मु०उ०३–१–९) इत्यादि श्रुतियों को मन में रखकर पूर्वपक्षी कह रहा हैं कि जीव का व्यापक परिमाण वाले ईश्वर से अभेद नहीं हो सकता है क्योंकि जीव अणु परिमाण वाला होता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पक्ष में हेतु नहीं है, क्योंकि ''नित्यः सर्वगतः'' (गी०२–२४) इत्यादि स्मृति से अथवा ''नित्यः'' (क०उ०२–२–१३) ''सर्वगतः'' (श्वे०उ०३–२१) और ''स वा एष महानज आत्मा'' (बृ०उ०४–४–२२) इत्यादि श्रुतियों से और जीव अणु नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष जो गुण तादृश गुणाश्रयत्व होने से अथवा प्रत्यक्षत्व होने से, जैसे घट। (पक्ष में हेतु ले जाते समय प्रत्यक्ष गुण से सुखादि लेंगे और दृष्टान्त में हेतु ले जाते समय प्रत्यक्ष गुण से रूपादि लेंगे।) जीव अणु नहीं है, आत्मत्व होने से, अभूतत्व होने से, जैसे परमात्मा। (अभूतत्व हेतु के घटक भूत शब्द से पञ्चभूत लेने पर हेतु पक्ष में चला जायेगा क्योंकि पञ्चभूतों में जीव नहीं है और दृष्टान्त में भी चला जायेगा, क्योंकि परमात्मा भी पञ्चभूतों में नहीं आता है। न्यायादि में पञ्चभूतों में से पृथ्वी आदि चार भूतों के परमाणु माने जाते हैं और उनका अणु परिमाण माना जाता है। अथवा ''अभूतत्व'' के स्थान पर ''अनुभूतत्व'' पाठ लेने पर जिसका प्रत्यक्ष होता है। उसका अणुपरिमाण नहीं होता है– इस नियम के अनुसार पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी।) इत्यादि अनुमानों के द्वारा जीव में अणुत्व की सिद्धि नहीं होती है। उक्त अनुमानों में विपक्ष बाधक तर्क भी है। जैसे– जीवो यद्यणुः स्यात्, तर्हि देहव्यापिसुखाद्युपलम्भो न स्यात्।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के उक्त अनुमानों का साध्य पक्ष में बाधित होने से उक्त हेतु बाधित हेत्वाभास दोष से ग्रस्त है। पक्ष में साध्य किस प्रमाण से बाधित है? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''अणुर्ह्येष आत्मा यं वा एते सिनीतः पुण्यं च पापं च'' (अर्थात् यह आत्मा अणु है और यह पुण्य तथा पाप से बधा हुआ होता है।) ''बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।'' (श्वे०उ०५–९) (अर्थात् बाल के अग्रभाग को सौ भाग में विभक्त किये जाने पर उनमें से पुनः एक भाग को सौ भाग में विभक्त किया जाय। इस प्रकार सौ बार विभक्त किये जाने पर अन्त में जो एक भाग शेष रहता है। जीव को उसी के बराबर समझना चाहिए। वह परमार्थ रूप से अन्त रहित होता है।) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जीवगत अणुत्व का बोधन होता है। अतः पक्ष में साध्य बाधित है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा के व्यापकत्व के प्रतिपादक अनेक श्रुतियाँ हैं। जबकि आत्मा में अणु बतलाने वाली श्रुतियाँ कुछ ही हैं। अतः अनेक श्रुति वाक्यों के विरोध से बचने के लिए अणु बोधक श्रुति वाक्यों में आये हुए अणु शब्द का अर्थ सूक्ष्म या दुर्विज्ञेय करना उचित है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अणु बोधक श्रुतियों के अर्थ को न बदल कर व्यापकत्व बोधक श्रुतियों के अर्थ को

दुर्विज्ञेयत्वपरत्वात्, देहव्यापिगुणोपलम्भस्यान्यथयितुमशक्यत्वात्। एतेन—जीवो न व्यापकः, उत्क्रान्तिमत्त्वात्, गतिमत्त्वात्, क्रियावत्त्वाच्च, खगशरीरवत्, विपक्षे हेतूच्छित्त्यापत्तिर्बाधिकेति—निरस्तम्; हेत्वसिद्धेः।।१।।

न च— 'सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्यामुं लोकमधिगच्छति अमुष्मादिमं लोकमागच्छति' इत्यादिभिः श्रुतिभिः 'तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।' इत्यादिस्मृतिभिश्च हेतुसिद्धिरिति—वाच्यम्, उत्क्रमणादीनां बुद्धिगतानां तदुपहिते श्रुत्या प्रतिपादनात्। न च—'नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति। ते अशुभमनुभूयार्वतन्ते' इत्यादौ श्रुतौ सुखदुःखाद्यनुभवसामानाधिकरण्यस्य गतावुक्तेः कथं तस्या बुद्धिगतत्वमिति वाच्यम्, आत्मनि सुखदुःखाद्यनुभवस्यापि बुद्ध्युपाधिकत्वेन तत्सामानाधिकरणस्य गतौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही क्यों नहीं बदल दिया जाय? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि देहव्यापि सुख दुःखादि गुणों की जो उपलब्धि होती है। वह जीवगत व्यापकत्व के विना उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः जीवगत व्यापकत्व के होने से पूर्वपक्षी पूर्वोक्त अनुमानों में बाध दोष नहीं दे सकता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा जीवगत अणुत्व सिद्ध करने के लिए अनुमान किया जाता है कि जीव व्यापक नहीं है, उत्कान्तिमत् होने से, गतिमत् होने से, क्रियावत्त्व होने से, जैसे पक्षी का शरीर। इन अनुमानों में विपक्ष बाधक तर्क भी है— यदि जीव को व्यापक माना जाता है तब श्रुतियों के द्वारा जीवगत जो गतिमत्त्वादि कहे गये हैं जो कि इस अनुमान में हेतु है। उनका उच्छेद हो जायेगा।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन = व्यापकत्वप्रतिपादक अनेक श्रुतियों से विरोध होने के कारण और देहव्यापि सुखादि के उपलब्धि होने के कारण पूर्वपक्षी के द्वारा कथित गतिमत्त्वादि हेतु पक्ष में न रहने से स्वरूपासिद्धि दोष से ग्रस्त हो गये।।१।।

शङ्का— ''सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्यामुं लोकमधिगच्छति, अमुष्मादिमं लोकमागच्छति'' (वह इस शरीर से उत्क्रमण कर परलोक को जाता है और परलोक से इस लोक को आता है) इत्यादि श्रुतियों से और ''तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।'' (गी०८—२५) (दक्षिणायन मार्ग से गया हुआ सकाम कर्मी स्वर्गलोक में मिलने वाले कर्म फल को प्राप्त कर अर्थात् उनको भोगकर पुनः वापस आ जाता है।) इत्यादि स्मृति के बल से पक्ष में हेतु रहेगा। अतः स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीव की उपाधि जो अन्तःकरण है। उसमें उत्क्रमणादि रहता है। उस उपाधि से उपहित जो चेतन है। उसमें गौण रूप से उत्क्रमणादि का कथन श्रुतियों के द्वारा कहा गया है, क्योंकि जब तक अज्ञान रहता है तब तक अन्तःकरण का तादात्म्य चेतन के साथ बना रहता है।

शङ्का— ''नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।'' (मु०उ०१—२—१०) (अज्ञान से मोहित पुरुष स्वर्ग के उच्चतम स्थान में अपने कर्म फलों का अनुभव कर के अवशिष्ट कर्मानुसार इस मनुष्य लोक या इससे निकृष्ट (तिर्यगादि) लोक में प्रवेश करते हैं।) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सुखादि का जो अनुभव कर्त्ता (जीव) है उसी की ही गति आदि कही गयी है न कि अन्तःकरण की। अतः अन्तः करण में गति आदि नहीं मानी जा सकती है। जीव में गति आदि मानने पर पक्ष में हेतु की सिद्धि होने से स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा— यह पूर्वपक्षी का आशय है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा में सुख दुःखादि का अनुभव भी अन्तःकरण रूप उपाधि के कारण ही है। अतः सुखदुःखादि का अनुभव जिस अन्तःकरण में है। उसी अन्तःकरण में गति आदि के रहने से सामानाधिकरण की उपपत्ति हो जायेगी और अन्तःकरण जीव की उपाधि होने से उसका

स्वाभाविकत्वासाधकत्वात्। ननु—'स एनान् ब्रह्म गमयति' इत्यादिश्रुतौ 'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' इत्यादिस्मृतौ च गतेर्मुक्तिसामानाधिकरण्योक्तेः कथमसिद्धिरिति—चेन्न; अव्यापकस्यैवाव्यापकं प्रत्येव गमनम्। ब्रह्म च व्यापकं तत्प्रति गमनासम्भवेन गमनपदस्य उपाधिकृतभेदराहित्यपरतया गतिमुक्तिसामाना— धिकरण्याप्रतिपादकत्वात्।।२।।

ननु—'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति'इत्यात्मनिष्ठत्वश्रुतेर्नासिद्धिः, अन्यथा मोक्षादिकमपि बुद्धेरेव स्यात्, नापि श्रुतेर्बुद्ध्युपाधिकगत्यादिविषयत्वं सम्भवति, 'तद्यथा अनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याति'इति स्वाभाविकगत्याश्रयशकटदृष्टान्तोक्तेरिति—चेन्न; एष

सत्यानन्दप्रबोधिका

औपाधिक भान जीव में भी उपपन्न हो जायेगा। अतः इस श्रुति के द्वारा जीवगत स्वाभाविक गति आदि की सिद्धि नहीं की जा सकती है।

शङ्का— ''स एनान् ब्रह्म गमयति'' (छा०उ०४—१५—६) (सः = अमानव पुरुष, एनान् = उपासकों को, ब्रह्म लोक प्राप्त कराता है।) इत्यादि श्रुति में और ''तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।'' (गी०८—२४) (उस उत्तरायण मार्ग में अर्थात् उपर्युक्त देवताओं के अधिकार में मर कर गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म की उपासना में तत्पर हुए पुरुष क्रम से ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।) इत्यादि स्मृति में गति और मुक्ति का सामानाधिकरण्य होने से जब मुक्ति जीव की है तब गति भी जीव की ही माननी होगी। अतः जीव में गति की असिद्धि नहीं कही जा सकती है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि परिच्छिन्न पदार्थ की ही परिच्छिन्न देश में आना जाना सम्भव होता है। प्रकृत में ब्रह्म व्यापक होने से सर्वत्र है। अतः उसके प्रति गमन सम्भव ही नहीं है। अतः गमन पद का अर्थ होगा कि— अब तक जो उपाधि को लेकर जीव और ब्रह्म में भेद था। अब वह समाप्त हो गया। यही ब्रह्म को प्राप्त करने का अर्थ होगा। अतः उक्त श्रुति और स्मृति को गति और मुक्ति के समानाधिकरण्य का बोधक नहीं माना जा सकता है।।२।।

शङ्का— ''तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति'' (बृ०उ०४—४—२) (उस समय इस हृदय का बाहर जाने वाला मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है। उस समय यह आत्मा बाहर निकल जाता है।) इस आत्मनिष्ठ गति बोधक श्रुति से जीव में ही गति कही गयी है न कि अन्तः करण उपाधि में। अतः जीव में गति की असिद्धि नहीं कही जा सकती है। अन्यथा = गति को जीव निष्ठ न मानकर बुद्धिनिष्ठ मानने पर, जीव को मोक्ष की प्राप्ति न होकर बुद्धि को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है— ऐसा मानने का प्रसङ्ग आयेगा, क्योंकि बुद्धि ही ब्रह्मलोकादि जायेगी। दूसरी बात यह है कि उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा बुद्धि आदि उपाधिगत गति आदि का प्रतिपादन सम्भव भी नहीं है, क्योंकि ''तद् यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायाद् एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना—अन्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैतद् ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति। '' (बृ०उ०४—३—३५) (लोक में जैसे बहुत बोझ से भरा हुआ छकड़ा चलते समय शब्द करता हुआ चलता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा स्वयं प्रकाश परमात्मा से प्रकाशित होकर शब्द करता हुआ जाता है जबकि यह ऊर्ध्वश्वास लेता हुआ लिङ्ग उपाधिक मर्म स्थानों को छोड़ने लगता है।) इस श्रुति के द्वारा स्वाभाविक गति के आश्रयीभूत छकड़ा का दृष्टान्त देकर जीव में स्वाभाविक गति कही गयी है न कि औपाधिक गति।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''तेन प्रद्योतेन— एष आत्मा निष्क्रामति।'' (बृ०उ०४—४—२)

इति बुद्ध्युपहितस्यैव परामर्शेन शुद्धात्मनिष्ठत्वस्य गतावनुक्तेः, मोक्षे तु बुद्ध्युपरमेण तन्निष्ठत्वस्यासम्भाविततया वैषम्यात्, सर्वसाम्यस्य दृष्टान्ततायामप्रयोजकत्वात्, तद्बलेन स्वाभाविकत्वपर्यन्तत्वस्यासिद्धेः।।३।।

न च—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति'इत्यादिश्रुतौ प्राणाख्यबुद्धिगतितः प्रागेव जीवे गत्युक्तेः कथं बुद्धिगत्याऽन्यथासिद्धिरिति—वाच्यम्; प्राणाख्यांशेन क्रियाशक्तिशालिना पश्चाद्गतावप्यंशान्तरेण प्रथममुत्क्रमणसम्भवात्। एतेन—'मन उदक्रामन्मीलित इवाश्नन् पिबन्नास्ते वा' इत्यादिश्रुतौ मन उत्क्रमणेऽपि आत्मनस्तदभावश्रवणाच्च कथं तद्गत्यैव गतिमत्त्वमिति—निरस्तम्; उपहितस्योपाधिनिबन्धनगतिमत्त्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस श्रुति वाक्य के घटक ''एषः'' पद से अन्तःकरण उपहित आत्मा का ही परामर्श किया गया है, क्योंकि उक्त स्थल पर नेत्रादि इन्द्रियाँ पहले लिङ्गात्मा में लय कही गयी हैं। उसी लिङ्गात्मा को ''एषः'' पद से परामर्श कर के गति कही गयी है। अतः उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा शुद्ध आत्मा में गति नहीं कही गयी है। मोक्ष में बुद्धि रहती नहीं है। अतः मोक्ष बुद्धि निष्ठ है— इसकी सम्भावना ही नहीं है। अतः गति और मोक्ष में वैषम्य अर्थात् विरोध होने से सामानाधिकरण्य सम्भव ही नहीं है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में सर्वसाम्य नहीं माना जाता है। अन्यथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में भेद ही नहीं रहेगा। इसलिए यत्किञ्चित् साम्य को लेकर दृष्टान्त दिया जाता है। प्रकृत में छकड़े का दृष्टान्त इसलिए दिया गया कि जैसे छकड़ा अधिक भार से युक्त होने पर शब्द करता है, वैसे ही अत्यधिक वासनाओं से युक्त जीव शब्द करने लगता है। अतः छकड़े के दृष्टान्त के बल पर जीवगत स्वाभाविक गति आदि की सिद्धि नहीं हो सकती है।।३।।

शङ्का— ''तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति'' (बृ०उ०४—४—२) (जीव के निकलते ही प्राण भी निकल जाता है और प्राण के निकलने पर सभी इन्द्रियाँ निकल जाती हैं।) इस प्रकार इस श्रुति में प्राण शब्द से कथित जो अन्तःकरण उपाधि है। उसके निकलने से पहले ही जीव के निकलने को कहा गया है। अतः अन्तःकरण में गति दिखाकर जीवगत गति को अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि पहले जीव की गति कही गयी, उसके पश्चात् अन्तःकरण की गति कही गयी और उसके पश्चात् इन्द्रियों की गति कही गयी है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि जीव के अन्तः करण में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति रहती है। उनमें से पहले ज्ञान शक्ति का उत्क्रमण होता है। उसके पश्चात् क्रियाशक्ति का उत्क्रमण होता है। इस प्रकार उक्त श्रुति के द्वारा अन्तः करण में ही गति कही गयी है न कि जीव में।

शङ्का— ''मन उदक्रामन्मीलित इवाश्नन् पिबन्नास्ते वा'' इस श्रुति के द्वारा कहा गया कि इस शरीर से मन का उत्क्रमण होने पर भी आत्मा का उत्क्रमण नहीं हुआ अपितु आत्मा इस शरीर में खाता—पीता रहा। अतः मन की गति के द्वारा आत्मा को गति वाला कैसे कहा जा सकता है?

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि उपाधि की गति के कारण उपाधि विशिष्ट आत्मा में गति होने पर भी अनुपहित (शुद्ध चैतन्य) में गति नहीं होती है।

शङ्का— ''तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'' (मु०उ०३—२—८) (ऐसे ही तत्त्वज्ञानी नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।) इस श्रुति के द्वारा कहा गया कि नाम और रूप के विमोक्ष के पश्चात् भी आत्मा में गति कही गयी है। अतः आत्मा में गति को औपाधिक कैसे माना जा सकता है?

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि परमपुरुष से व्यापक ब्रह्म कहा गया है, वह सर्वत्र

बुद्ध्यनुपहितस्य तदभावाविरोधात्। न च—तथा 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादिश्रुतौ नामरूपविमोक्षानन्तरमपि गतिश्रवणात् कथं सा औपाधिकीति—वाच्यम्; परमपुरुषस्य सर्वत्र सन्निहितत्वेन तं प्रति गमनासम्भवेन उपैतीत्यस्यापि पूर्ववदर्थान्तरपरत्वात्। अतएव ''परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः स तत्र पर्येति''इत्यादिश्रुतिरपि न गत्यर्था।।४।।

ननु—बुद्धिगतेन गत्यादिना किं तदवच्छिन्नात्मनि गत्यादि जायते? उत बुद्धिगतमेवारोप्यते? उतोपचर्यते। नाद्यः; घटगत्या तदवच्छिन्ने नभसि गत्यन्तरादर्शनात्। अन्यथा यतो घटस्य बुद्धेर्वा गतिः तत्राकाशस्यात्मनो वा सच्छिद्रत्वं स्यात्। अन्यत्र द्विगुणीकृत्य वृत्तिश्च स्यात्। न च—प्रतिबिम्बपक्षे नोक्तदोष इति—वाच्यम्; तस्य वस्त्वन्तरत्वमते उक्तदोषाभावेऽपि दर्पणाहता दृष्टिः परावृत्य स्वमुखं गृह्णातीति त्वन्मते उपाधिगत्या बिम्बे

सत्यानन्दप्रबोधिका

विराजमान है। अतः उसकी प्राप्ति के लिए गति की आवश्यकता ही नहीं है। अतः श्रुति वाक्य घटक ''उपैति'' पद को गत्यर्थक न लेकर उपाधिकृत भेद राहित्य परक लेना चाहिए। जिसे खण्ड संख्या २ के अन्तिम में कहा जा चुका है। अत एव = गति का अर्थ उपाधिकृत भेद राहित्य होने से ही पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति।'' (छा०उ०८—१२—३) (अर्थात् परम ज्योति को प्राप्त कर निज रूप से अभिसम्पन्न हो जाता है। वह उत्तम पुरुष है। वह विचरण करता है।) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा गति कही गयी है— इसका खण्डन हो गया, क्योंकि गति का अर्थ उपाधिकृत भेद राहित्य है।।४।।

शङ्का— सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या ४ में जो कहा कि ''उपहितस्योपाधिनिबन्धनगतिमत्त्वे बुद्ध्यनुपहितस्य तदभावाविरोधात्।'' अर्थात् बुद्धिगत गति के द्वारा बुद्धि उपहित आत्मा में सिद्धान्ती जो गति कह रहे हैं। उसका अर्थ क्या यह है कि बुद्धि में रहने वाली जो गति रूप क्रिया है। उस बुद्धिगत गतिक्रिया के द्वारा बुद्धि अवच्छिन्न आत्मा में बुद्धि गत गतिक्रिया से भिन्न दूसरी गतिक्रिया उत्पन्न होती है? अथवा बुद्धि में रहने वाली जो गति क्रिया है। उसका आरोप बुद्धि अवच्छिन्न आत्मा में होता है? अथवा बुद्धि में रहने वाली गति क्रिया का बुद्धि अवच्छिन्न आत्मा में गौण प्रयोग मात्र होता है? प्रथम पक्ष मानना उचित नहीं है, क्योंकि घट रूप उपाधि की गति के द्वारा घटावच्छिन्न आकाश में गत्यन्तर (घटगतगति से भिन्न गति) देखी नहीं जाती है। अन्यथा = घट गत गति से घटावच्छिन्न आकाश में गति मानने पर, जिस देश से घट चला जायेगा। उस देश से आकाश भी चला जायेगा तब उस देश को नभ से रहित मानने की आपत्ति आयेगी और जिस देश में आकाश जायेगा वहाँ दो आकाश हो जाना चाहिए। इसी प्रकार जिस देश से बुद्धि चली जायेगी उस देश से बुद्धि अवच्छिन्न आत्मा भी चला जायेगा तब उस देश में आत्मा रहेगा ही नहीं और जिस देश में आत्मा जायेगा। उस देश में दो आत्मा के उपलब्धि की आपत्ति होगी। जो कि आकाश को व्यापक मानने और आत्मा को व्यापक मानने वाले के मतानुसार अनिष्टापत्ति होगी। यदि कहा जाय कि बिम्बप्रतिबिम्बवाद में उक्त दोष नहीं आयेगा, क्योंकि प्रतिबिम्ब के दूसरे देश में जाने पर भी बिम्ब वहीं रहता है। अतः सच्छिद्रत्वापत्ति और द्विगुणीकृत्य वृत्ति की आपत्ति नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जिन लोगों के मत में बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब वस्तु मानी जाती है। उनके मतानुसार उक्त दोष नहीं होगा किन्तु सिद्धान्त मतानुसार दर्पण से टकराकर नेत्र रश्मि के द्वारा गृहीत बिम्ब को ही प्रतिबिम्ब माना जाता है। अतः जब उपाधि (दर्पण) में गति होगी तब जैसे बिम्ब में गति नहीं होगी वैसे ही बिम्ब से अभिन्न प्रतिबिम्ब में भी गति नहीं हो पायेगी। प्रतिबिम्ब में गति की उपपत्ति न होने पर प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त के

न गतिरिति प्रतिबिम्बेऽप्यस्याऽयोगात्। नान्त्यौ; कर्तुरवच्छिन्नस्यैतदात्मप्रदेशस्य न भोगायतनलोकप्राप्तिः किन्तु गतया बुद्ध्याऽवच्छिन्नस्य प्रदेशान्तरस्यैवेति स्वीकारे कृतहान्यादिप्रसङ्गात् कर्तुर्भोक्तुश्चावच्छिन्नस्य भिन्नत्वाद् अभिन्ने वाऽनवच्छिन्ने कर्तृत्वाद्यभावादिति—चेत्।।५।।

न, उपाधिगत्या उपहिते गतिप्रयोग औपचारिक एव। न चैवं कृतहान्याद्यापत्तिः; यद्बुद्ध्यवच्छिन्नेन येनैवात्मना यत् कृतं तदवच्छिन्नेन तेनैव भोजनात्। नह्यात्मनो निरवयवस्य प्रदेशोऽस्ति। यत्तु अवच्छिन्नस्य कर्तुर्भोक्तुर्भेद इत्युक्तं, तन्नः अवच्छेद्यात्मनोऽवच्छेदकबुद्धेश्चैक्येऽवच्छिन्ने भेदस्य वक्तुमशक्यत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सहारे उक्त सच्छिद्रत्वापत्ति आदि दोषों का निराकरण नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इस पृथ्वी लोक में जो बुद्धि अवच्छिन्न चैतन्य कर्ता है वह जब स्वर्ग लोक में जायेगा तब वहाँ केवल बुद्धि उपाधि ही जायेगी चैतन्य नहीं जायेगा क्योंकि उपाधि में ही गति मानी जा रही है। अतः स्वर्ग लोक में बुद्धि के जाने पर वहाँ बुद्धि से अवच्छिन्न चैतन्य दूसरा होगा। फलतः जो यहाँ भू लोक में कर्ता था उसी को ही देवादि शरीर धारण कर कर्म फल भोगने का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। अतः कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष होगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि इस लोक में जो बुद्धि से उपलक्षित चैतन्य है, वही चैतन्य स्वर्ग लोक में भी बुद्धि से उपलक्षित है। अतः एक ही चैतन्य होने से कृतहानादि दोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उपलक्षित जो शुद्ध चैतन्य है। उसमें कर्ता—भोक्ता आदि माना ही नहीं जाता है। अतः उपलक्षित चैतन्य के माध्यम से कृतहानादि दोषों का निराकरण नहीं किया जा सकता है।।५।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि तृतीय पक्ष को स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है। अर्थात् बुद्धिगत गति का ही बुद्धि उपहित चैतन्य में गौण प्रयोग होता है। ऐसा स्वीकार करने पर कृतहानादि दोष नहीं होगा, क्योंकि जिस बुद्धि अवच्छिन्न चैतन्य ने इस भू लोक में कर्म को किया था। उसी बुद्धि अवच्छिन्न चैतन्य ने स्वर्ग लोक में कर्म फल को भोगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि भू देश में जो आत्मा है उससे भिन्न स्वर्ग देश में आत्मा होगी। अतः कृतहानादि दोष होगा। ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि निरवयव आत्मा में कोई प्रदेश आदि होता ही नहीं है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि बुद्धि अवच्छिन्न कर्ता जो भू लोक में है और बुद्धि अवच्छिन्न भोक्ता जो स्वर्ग लोक में है। वे दोनों भिन्न—भिन्न होने से कृतहानादि दोष होगा। वह भी उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ पर भू लोक और स्वर्ग लोक दोनों ही देशों में अवच्छेदक बुद्धि रूप उपाधि एक ही है और उस बुद्धि उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य भी एक ही है भिन्न नहीं है, क्योंकि निरवयव व्यापक चैतन्य सर्वत्र एक ही होता है।

शङ्का— आत्मत्व अणुनिष्ठ है, द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य जातित्व होने से जैसे पृथिवीत्व। पक्ष में हेतु का समन्वय = द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति = आत्मत्व, अतः उक्त जातित्व आत्मत्व रूप पक्ष में रहेगा। इसी प्रकार दृष्टान्त में हेतु का समन्वय होगा— द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति = पृथिवीत्व। अतः उक्त जातित्व पृथिवीत्व में रहने से दृष्टान्त में हेतु का समन्वय हो जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—पृथिवी के परमाणु में पृथिवीत्व जाति होने से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। फलतः पक्ष में साध्य सिद्ध होने से आत्मा को अणु मानना चाहिए— यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त अनुमान से भी आत्मा में अणुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि उक्त अनुमान का हेतु सोपाधिक है। कौन उपाधि है? इसको कह रहे हैं कि— व्यापक अवृत्तित्व उपाधि है। दृष्टान्त में साध्य

नचात्मत्वमणुनिष्ठं द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वात् पृथिवीत्ववदित्यनुमानम्; व्यापकावृत्तित्वस्योपाधित्वात्, स्पर्शादिसामानाधिकरण्यस्याप्येवं साधनप्रसङ्गाच्च।।६।।

जीवो न व्यापकः, भूतेतरत्वे सति परत्वासमवायिकारणानाधारत्वे सत्यसर्वज्ञत्वात् शब्देतरानित्यविशेषगुणा—

सत्यानन्दप्रबोधिका

है और उपाधि भी है, क्योंकि पृथिवीत्व व्यापक द्रव्य में नहीं रहता है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में चला गया। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि आत्मत्व व्यापक में रहता है। फलतः व्याप्यत्वासिद्धिदोष से ग्रस्त होने से हेतु दुष्ट सिद्ध हो गया। दूसरा दोष देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित पक्ष हेतु और दृष्टान्त के द्वारा स्पर्शादि सामानाधिकरण्य भी आत्मत्व में सिद्ध किया जा सकता है। जैसे— आत्मत्वं स्पर्शसमानाधिकरणम्, द्रव्यत्वसाक्षाद् व्याप्यजातित्वात्, पृथिवीत्ववत्। जैसे यह अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है वैसे ही देह व्यापिसुखादि के प्रत्यक्ष से आत्मत्व में अणुनिष्ठत्व भी बाधित है। ''भोजनात्'' के स्थान पर ''भोगजननात्'' ऐसा पाठान्तर है।।६।।

पूर्वपक्षी के द्वारा जीवगत अणुत्व सिद्ध करने के लिए कुछ इस प्रकार से अनुमान किये जाते हैं— जीव व्यापक नहीं है, भूतेतरत्व विशिष्ट परत्व असमवायिकारणानाधारत्व विशिष्ट असर्वज्ञत्व होने से, अथवा—शब्द भिन्न अनित्य विशेष गुणाश्रयत्व होने से, अथवा— संस्काराश्रयत्व होने से, जैसे कट (चटाई)। {परत्व दो प्रकार का होता है। प्रथम—दैशिक परत्व और द्वितीय—कालिक परत्व। इस परत्व का असमवायिकारण = दिशा का वस्तु के साथ संयोग और काल का वस्तु के साथ संयोग। प्रथम हेतु में भूतेतरत्व विशेषण आकाश में व्यभिचारदोष वारण के लिए दिया गया है, क्योंकि ''परत्वासमवायिकारणानाधारत्व विशिष्ट असर्वज्ञत्व आकाश में रहेगा, क्योंकि परत्व का असमवायिकारण = घटादि से दिशा का संयोग और घटादि से काल का संयोग। इन दोनों संयोगों का आधार दिशा—कालादि होंगे और अनाधार आकाश होगा और असर्वज्ञत्व भी आकाश में है। अतः भूतेतरत्व कहने से आकाश भूत होने से उसमें हेतु नहीं जायेगा। अनाधारत्व न कहने से अर्थात् भूतेतरत्व विशिष्ट परत्वासमवायिकारणानाधारत्व विशिष्ट असर्वज्ञत्व को हेतु बनाने पर दिशा और काल भूत से इतर हैं और असर्वज्ञ भी हैं। परत्व के असमवायिकारण = दिशा का वस्तु के साथ संयोग और काल के साथ वस्तु का संयोग। इन संयोग का आधार दिशा और काल होते ही हैं। अतः काल और दिशा में हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। अनाधारत्व विशेषण देने पर परत्वासमवायिकारण जो कालादि संयोग उस का अनाधार कालादि के न होने से हेतु कालादि में नहीं जायेगा। इसी प्रकार असर्वज्ञत्व न कहने पर ईश्वर में हेतु चले जाने से व्यभिचार दोष होगा, क्योंकि ईश्वर भूत से इतर है और परत्व के असमवायिकारण = वस्तु के साथ काल तथा दिशा के संयोग का अनाधार भी है। असर्वज्ञत्व कहने से ईश्वर में हेतु नहीं जाने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। इसी प्रकार द्वितीय हेतु में शब्देतरत्व नहीं कहने से अनित्य विशेष गुण से शब्द को लेंगे। उसका आश्रय आकाश होगा। इस प्रकार आकाश में हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। अतः शब्देतरत्व कहा गया। अनित्य पद न देने से शब्द इतर नित्य ज्ञानादि विशेष गुणों का आश्रय ईश्वर भी होने से ईश्वर में हेतु चले जाने से व्यभिचारदोष होगा। अतः अनित्य विशेषण दिया गया है। विशेष शब्द न कहने पर शब्देतर अनित्य सामान्य गुण (संयोगादि) का आश्रय दिशा— कालादि भी होने से हेतु चला जायेगा किन्तु साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। अतः विशेष विशेषण दिया गया। दृष्टान्त कट में प्रथम हेतु का समन्वय— भूतेतरत्व विशिष्ट परत्वासमवायिकारण के अधिकरण का अभाव लेंगे। कट में

श्रयत्वात् संस्काराश्रयत्वाच्च घटवदित्यत्रानात्मत्वमुपाधिः, अनित्यविशेषगुणसंस्कारादीनामुपाधिवृत्तित्वेनासिद्धिश्च। एवं महत्त्वस्यापि सुसाधनत्वं च।।७।।

जीवः, अणुः, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाश्रयत्वात्, मनोवत् इत्यत्र मध्यमपरिमाणवत्त्वेन मनसो दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः, जडत्वस्योपाधित्वाच्च। सर्वत्र चात्र व्यापिसुखज्ञानाद्युपलम्भः प्रतिकूलतर्कः, एकस्याणोरेकदा व्यवहितदेशद्वयावच्छेदासम्भवेन 'पादे मे सुखं शिरसि वेदना' इत्यादियुगपदनुभवविरोधश्च। नच गुणिनः अणुत्वेऽपि गुणव्याप्त्या व्यापिसुखज्ञानानुमानाविरोधः गुणिव्यतिरेकणगुणस्यासम्भावितत्वात्। अन्यथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

भूतेतरत्व नहीं है। अतः विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव कट में मिल जायेगा और कट असर्वज्ञ है ही।} इस अनुमान का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त हेतुओं में अनात्मत्व उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है और पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है। अतः सोपाधिक हेतु होने से उक्त सभी हेतु दुष्ट सिद्ध हो गये। सिद्धान्त मतानुसार असर्वज्ञत्व = अल्पज्ञत्व, इच्छादि विशेष गुण और संस्कारादि को उपाधि = अन्तः करण का धर्म माना जाता है न कि आत्मा का। अतः उक्त अल्पज्ञत्व—इच्छादि का अभाव आत्मा में होने से पक्ष में हेतु नहीं जायेगा। अतः स्वरूपासिद्धि दोष भी उक्त हेतुओं में है। इसलिए उक्त हेतुओं के द्वारा आत्मा में व्यापकत्व के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। एवम् = जैसे व्याप्यत्वासिद्धि दोष और स्वरूपासिद्धि दोष हैं वैसे ही, पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अनुमानों में सिद्धान्ती के द्वारा पूर्वोक्त आत्मा में व्यापकत्व सिद्ध करने वाले अनुमानों के द्वारा सत्प्रतिपक्षता भी देना सुगम है। अर्थात् पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान सत्प्रतिपक्ष दोष से भी ग्रस्त हैं।।७।।

जीव अणु है, ज्ञान का असमवायिकारण जो आत्ममनसंयोग तादृश संयोग का आश्रयत्व होने से, जैसे मन। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जो दृष्टान्त मन को बनाया गया है। उसका परिमाण सिद्धान्तमतानुसार मध्यम परिमाण माना जाता है न कि अणु परिमाण। अतः सिद्धान्त मतानुसार दृष्टान्त में साध्य का समन्वय नहीं हो पायेगा। हेतु में जड़त्व उपाधि भी है क्योंकि दृष्टान्त में पूर्वपक्षी के मतानुसार साध्य है और उपाधि भी है। अतः साध्य व्यापकत्व उपाधि में मिल गया और पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है। अतः साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में मिल गया। अतः सोपाधिक हेतु होने से स्व साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। दूसरी बात यह भी है कि पूर्वपक्षी के द्वारा जीवगत अणुत्व साधक सभी अनुमान ''यदि जीवोऽणुः स्यात् तर्हि शरीरव्यापिसुखादिनामुपलब्धिर्न स्यात्'' इस प्रतिकूल तर्क के द्वारा पराहत हैं। इसी प्रकार जीव को अणु मानने पर एक काल में अनेक व्यवहित देशों से जीव का सम्बन्ध हो नहीं सकता है, तब ''पैर में सुख है और शिर में वेदना है।'' इत्यादि रूप युगपद् जो अनुभव है। उस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध होने के कारण जीवगत अणुत्व साधक अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने से बाधित हेत्वाभास हैं— यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जीवगत अणुत्व मानने पर एक साथ व्यवहित देश द्वय के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी अणु जीव का जो गुण सुखादि ज्ञान, उसके व्यापक होने से उस व्यापक ज्ञान का एक साथ व्यवहित देश द्वय के साथ सम्बन्ध रहने के कारण उक्त सुख के अनुभव (पादे मे सुखं शिरसि वेदना—इस अनुभव) के साथ विरोध नहीं होगा। ''व्यापिसुखज्ञानानुमानाविरोधः'' के स्थान पर ''व्यापिसुखज्ञानानुभवाविरोधः'' ऐसा पाठान्तर है। ''व्यापिसुखज्ञानानुमान— अविरोधः'' के स्थान पर ''व्यापिसुखज्ञानानुमान—विरोधः'' ऐसा भी पाठान्तर है किन्तु सरलाटीका के अनुसार ''अविरोधः'' पाठ है।

घटव्यतिरेकेणापि घटरूपं स्यात्। प्रदीपादन्यत्र दृश्यमानापि प्रभा न दीपगुणः, किन्तु अनुद्भूतस्पर्शं द्रव्यान्तरम्।।८।।

न च जातिसमवायादेर्धर्मितोऽन्यत्र वर्तमानत्वदत्रापि गुणस्य बुद्धेरन्यत्रोपलम्भः स्यात् इति—वाच्यम्; जातिसमवायादिवदत्रापि तर्हि व्यापकत्वप्रसङ्गात्, धर्मिणो विहायापि स्थितौ तस्य नियामकाभावात्। न च कारणनियमान्नियमः, तर्ह्यव्यवहितसमवायिकारणनियमादेव नियमे अणुमात्रदेशता दुर्वारैव। न च—वह्नेरौष्ण्यं बहिर्नोपलभ्येत, समीपवृत्त्यनुद्भूतरूपतेजसस्तदित्युच्यमाने वह्नेरौष्ण्यं न सिध्येदिति—वाच्यम्; बाधके सति

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो कि उचित लगता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि गुणी द्रव्य के विना गुण का रहना सम्भव नहीं है। अन्यथा = गुणी के विना भी गुण को मानने पर घट के विना भी घट के रूप की उपलब्धि होने की आपत्ति होगी। (दूसरा दोष यह भी यहाँ पर है कि न्यायादि मतानुसार गुण में गुण माना नहीं जाता है। अतः सुखादि ज्ञान रूप गुण में व्यापकत्व रूप महत्त्व परिमाण रूप गुण रह नहीं सकता है।) गुणी से व्यतिरिक्त गुण के रहने में और गुण में व्यापकत्व रहने में जो प्रदीप का दृष्टान्त दिया जाता है कि छोटे से प्रदीप से व्यापक प्रभा रूप गुण देखा जाता है और वह प्रभा रूप गुण प्रदीप से व्यतिरिक्त भी होता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रदीप से अन्यत्र दृश्यमान जो प्रभा है वह प्रदीप का गुण नहीं है अपितु तेजोमय प्रदीप से निकली हुयी तैजस रश्मियाँ है जो तैजस पदार्थ है और उनमें अनुद्भूत स्पर्श होता है। अर्थात् प्रदीप की जो प्रभा है वह तैजस द्रव्य से उत्पन्न तैजस द्रव्यान्तर हैं न कि गुण। अतः प्रदीप की प्रभा को दृष्टान्त बनाकर गुणी से व्यतिरिक्त गुण और गुण में व्यापकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है— यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।।८।।

शङ्का— जैसे जाति—समवायादि घटादि धर्मी से अन्यत्र उपलब्ध होते हैं वैसे ही अणु आत्मा से अन्यत्र ज्ञान रूप गुण का भी उपलम्भ हो जायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि जाति और समवाय के समान आत्मा के गुण में व्यापकत्व का प्रसङ्ग आयेगा। यदि कहो कि हमें इष्टापत्ति है तो ऐसा कह नहीं सकते हैं, क्योंकि जो व्यापक होता है वह नित्य होता है। अतः जीवात्मा गत सुख दुःखादि को नित्य मानने की आपत्ति होगी। अतः ज्ञान को व्यापक न मानकर अणु मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अणु आत्मा को छोड़कर अन्यत्र गुण (ज्ञान) के रहने पर चैत्र मैत्रादि के आत्मा में ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे सभी ज्ञान देवदत्त में पहुँच जाय तब वह ज्ञान किस—किस का है—इसका कोई नियामक नहीं होगा। यदि कहो कि तत्तत् शरीर के सम्बन्ध को ज्ञान का नियामक मानेंगे तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तत्तत् शरीर के सम्बन्ध की अपेक्षा समवायिकारण मानने में लाघव है। जब समवायिकारण मानेंगे तब ज्ञान अपने समवायिकारण आत्मा से अन्यत्र रह नहीं पायेगा। ऐसा होने पर जैसे आत्मा अणु होगा वैसे ही ज्ञान को भी अणु मानने की आपत्ति बनी रहेगी।

शङ्का— गुणी से व्यतिरिक्त गुण को न मानने पर वह्नि का गुण औष्ण्य भी बाहर (अन्यत्र) उपलब्ध नहीं होना चाहिए। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि वह्नि से अन्यत्र उपलभ्यमान औष्ण्य वह्नि का नहीं है अपितु समीपवर्ती जो अनुद्भूत रूप वाला तेज है। उस तेज का औष्ण्य है। ऐसा मानने पर मूलभूत वह्नि गत औष्ण्य ही सिद्ध नहीं हो पायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी गुण गुणी से अन्यत्र नहीं रह सकता है— यही वह्नि के समीपवर्ति देश पर वह्नि की उष्णता मानने में बाधक है— ऐसे बाधक के रहने पर वह्नि के समीप

सविधे तेजोऽन्तरकल्पनेऽपि दृश्यमानवह्नावनुभूयमानौष्णस्पर्शे बाधकाभावेन तस्मिंस्तेजोन्तरीयत्वकल्पन—स्याशक्यत्वात्। एतेन—केतक्यादौ परितो गन्धानुभवाद् गुणानां गुणिनैरपेक्ष्यम्। नच तत्र केतक्यवयवानां परितः प्रसरतां ते गन्धाः, तर्हि द्रव्यक्षयप्रसङ्गात्। न चावयवान्तरप्रवेशात्तदक्षयः; स्फटिककरण्डिकास्थकस्तूर्यादौ अवयवान्तरप्रवेशकल्पने मानाभावात् इति—निरस्तम्; समवायिनैरपेक्ष्ये कार्यस्य निराश्रयत्वापत्तौ तत्प्रत्यासत्तिनि—बन्धनकारणान्तरस्याप्युच्छेदे कार्यत्वहानेरेव तत्र कल्पनायां मानत्वात्।।९।।

यत्तु—नित्यः सर्वगतः स्थाणुरित्यत्र 'नित्ये सर्वगते विष्णावणुर्जीवो व्यवस्थितः।' इति स्मृत्यन्तरानुसारात् सर्वगतस्थः अणुश्चेति विग्रहः इति—तन्न; 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'स वा एष महानज आत्मा' इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

में वह्नि से भिन्न दूसरे तेज की कल्पना होने पर भी दृश्यमान मूलभूत वह्नि में अनुभूयमान उष्ण स्पर्श में कोई बाधक न होने से मूलभूत वह्नि में अनुभूयमान उष्ण स्पर्श को मूलभूत वह्नि से भिन्न दूसरे तेज का सम्बन्धी मानना सम्भव नहीं है। अतः मूलभूत वह्नि में उष्णता रहेगी ही।

शङ्का— गुणी से व्यतिरिक्त गुण रहता है— इसको केतकी आदि स्थल पर चारो तरफ दूर तक गन्ध के अनुभव के बल पर माना जा सकता है। यदि कहा जाय कि केतकी आदि स्थल पर दूर तक केतकी के अवयव फैलते हैं। उन अवयवों के वे गन्ध होते हैं। ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि तब तो केतकी का ही नाश हो जायेगा। यदि कहों कि केतकी नाश इसलिए नहीं होता है कि केतकी के जो अवयव हट जाते हैं। उनके स्थान पर अवयवान्तर का प्रवेश हो जाता है। अतः केतकी का नाश नहीं होता है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्फटिक के पेटी में रखी हुयी कस्तूरी— केतकी आदि में अवयवान्तर के प्रवेश में प्रमाण का अभाव है। अतः केतकी का दृष्टान्त गुणी से व्यतिरिक्त गुण मानने में उचित है। ''अवयवान्तरप्रवेशकल्पने'' के स्थान पर ''अवयवान्तरानुप्रवेशकल्पने'' ऐसा पाठान्तर है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि समवायिकारण (केतकी) को छोड़कर कार्य (गन्ध) को अन्यत्र मानने पर उस गन्ध का आश्रय तो कोई दूसरा फूलादि हो नहीं सकता है। अतः वह निराश्रित होकर के ही अन्यत्र रहता है— ऐसा मानने का प्रसङ्ग आयेगा जो कि सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में तत् = गन्ध का समवायिकारण = केतकी उसके प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) के कारण कारणान्तर = केतकी के अवयवान्तर को भी गन्ध का आश्रय न मानने पर गन्ध का कोई आश्रय न होने से गन्ध को केतकी का कार्य ही नहीं माना जा सकेगा। इसी प्रमाण के बल पर केतकी आदि स्थल पर केतकी के अवयवान्तर को गन्ध के आश्रय के रूप से कल्पना की जाती है। फलतः केतकी के अवयव ही उक्त स्थल पर चारों तरफ फैलते हैं और उस अवयव के ही आश्रित गन्ध रहती है। इसलिए इस केतकी के दृष्टान्त के बल पर गुणी से व्यतिरिक्त गुण होता है— यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है।।९।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''नित्यः सर्वगतः स्थाणुः (गी०२—२४) इस स्मृति वाक्य का ''नित्ये सर्वगते विष्णावणुर्जीवो व्यवस्थितः।'' (अर्थात् नित्य और सर्वगत (व्यापक) विष्णु में अणु जीव स्थित है।) इस स्मृत्यन्तर के अनुसार ''सर्वगतस्थः अणुश्च'' ऐसा विग्रह करना चाहिए। अतः उक्त गीता वाक्य का अर्थ होगा कि जीव सर्वगत ईश्वर में स्थित है और अणु है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'' (गौड़०का.३—३) ''स वा एष महानज आत्मा'' (बृ०उ०४—४—२५) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ''सर्वगतः स्थाणुः'' ऐसा ही पाठ लेना उचित है। पूर्वपक्षी के अनुसार ''अणुः'' ऐसा पदच्छेद करने पर उक्त श्रुतियों से विरोध होगा। इसी

श्रुत्यनुसार्यर्थस्यैवोचितत्वाद् अणुरिति पदच्छेदे तद्विरोधापत्तेः। यत्तु—क्रमेण नानादेहसंबन्धादणोरेव सर्वगतत्वोक्तिः—इति, तन्न; अशेषवाचिसर्वशब्दसङ्कोचे मानाभावात्। यदपि प्रत्यक्षत्वादिनैवाव्यापकत्वं साधनीयमित्युक्तं, तन्नः, प्रतिकूलतर्कस्योक्तत्वाद् व्यापकत्वसाधने तस्यैवानुकूलत्वेनाप्रयोजकत्वाभावाच्च। ननु—आत्मनो व्यापकत्वे 'सर्वाणि शरीराणि सर्वस्यैव भोगायतनानि स्युः,(तथा हि) सर्वशरीरेन्द्रियादीनां सर्वदा सर्वात्मसंयुक्तत्वात्, कर्मणामपि साधारणदेहादिकृतत्वेनासाधारण्यायोगाद्, अहन्त्वारोपादेरपि नियामकमूलसम्बन्धादेरभावेन नैयत्यायोगादिति—चेन्नः तवापीश्वरस्य व्यापकत्वेन सर्वशरीराणां

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रकार पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि आत्मा के अणु होने पर भी अणु आत्मा का भिन्न—भिन्न जन्मों में क्रमशः नाना शरीरों से सम्बन्ध होने से अणु आत्मा में सर्वगतत्व कह दिया गया है। ऐसा कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्व शब्द सम्पूर्ण अर्थ का वाचक होता है। अतः सर्व शब्द का ''क्रमशः एक—एक में'' ऐसा संकुचित अर्थ करना उचित नहीं है।

शङ्का— खण्ड संख्या १ में सिद्धान्ती ने कहा था— जीवो नाणुः, प्रत्यक्षत्वात्, घटवत्। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रत्यक्षत्व हेतु अनुकूल तर्क से रहित है और साध्याभाव का साधक— जीवो न व्यापकः प्रत्यक्षत्वात्, घटवत्— ऐसा अनुमान होने से विरुद्ध हेत्वाभास दोष से ग्रस्त है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीवगत अव्यापकत्व साधन में प्रतिकूल तर्क (यदि जीवोऽणुः स्यात् तर्हि शरीरव्यापिसुखाद्युपलम्भो न स्यात्) खण्ड संख्या १ में कहा जा चुका है। पूर्वपक्षी के अनुमान के लिए कथित प्रतिकूल तर्क आत्मगत व्यापकत्व साधन के अनुकूल भी है। अतः सिद्धान्ती के अनुमान में अप्रयोजकत्व की शङ्का नहीं की जा सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा जीवगत व्यापकत्व साधक अनुमान में प्रतिकूल तर्क दिया जा रहा है— जीव को यदि व्यापक मानेंगे तब सर्व शरीर सर्व जीवों के भोगायतन बन जायेंगे, क्योंकि सर्व शरीर सर्व इन्द्रियादि के साथ व्यापक सर्व जीवों का सम्बन्ध सर्वदा बना रहेगा। जितने भी शुभाशुभ कर्म होंगे वह सर्वात्मसम्बन्धी देह के द्वारा होने से सर्व साधारण ही होंगे। अतः प्रत्येक जीव के स्व—स्व असाधारण कर्म की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''जिस शरीर में जिस जीव की अहन्ता आरोपित है वह शरीर उस जीव का भोगायतन होगा और उस शरीर से कृत कर्म उस जीव का असाधारण कर्म होगा।'' इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त नियम को नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तत्तद् शरीर में तत्तद् अहन्ता के आरोप का नियामक कोई मूल सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् इस शरीर में इस ही अहन्ता का आरोप होगा— इसका नियामक कोई सम्बन्ध न होने से उक्त नियम को नहीं माना जा सकता है— यह पूर्वपक्षी के कथन का भाव है। फलतः ऐसे प्रतिकूल तर्क से जीवगत व्यापकत्व साधक अनुमान पराहत हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मतानुसार भी ईश्वर व्यापक माना जाता है। अतः सर्व शरीरों से ईश्वर का सर्वदा सम्बन्ध होने से सर्व शरीर ईश्वर के भोगायतन होंगे— ऐसी आपत्ति पूर्वपक्षी के मत में भी आयेगी। इस आपत्ति के वारण के लिए यदि पूर्वपक्षी कहता है कि जो शरीर जिस अणु जीव के अदृष्ट से जनित है वह शरीर उस अणु जीव का भोगायतन होगा। ईश्वर के अदृष्ट से कोई शरीर बना नहीं है। अतः कोई भी शरीर ईश्वर का भोगायतन नहीं होगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि जो शरीर जिस व्यापक जीव के अदृष्ट से बना है। वह शरीर उस व्यापक जीव का भोगायतन होगा— ऐसी व्यवस्था सिद्धान्त मतानुसार भी हो जायेगी। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यह कर्म (अदृष्ट) इस

तद्भोगजनकत्वापत्तेः समानत्वात्। न च तददृष्टाजन्यत्वात्तत्संयुक्तत्वेऽपि न तत्र भोगजननं, तर्हीहापि समम्। नच कर्मणामेव कथमसाधारण्यम्? पूर्वतत्कर्मजन्यत्वात्। एवमनादितैव। अन्यथा ईशात्मनि तवाप्यगतेः।।१०।।

चैत्रभोगजनकाङ्कुरादेः तददृष्टजन्यत्वात्। आत्मसमवेतस्य चादृष्टस्य साक्षादङ्कुरासम्बन्धाद् आत्मद्वारकसम्बन्धस्य वाच्यतायामात्मनो विभुत्वम्। न च—चैत्र भोगाहेतोरप्यङ्कुरादेरात्मद्वाराऽदृष्टसम्बन्धेऽपि तदजन्यत्वेन तस्यातन्त्रत्वमिति—वाच्यम्; जनकादृष्टनिरूपितात्मद्वारकसन्निकर्षस्यातिप्रसङ्गाभावेन तन्त्रत्वात्, जनकता तु अदृष्टस्य फलैकोन्नेया। एवमेवोपपत्तौ प्रतियोग्यभाववाच्यवाचकज्ञानज्ञेयादाविवादृष्टकार्ययोरपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीव का ही है दूसरे जीव का नहीं— इसका निर्धारण कैसे होगा? इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्व पूर्व अदृष्ट से उत्तर—उत्तर अदृष्ट उत्पन्न हुआ करते हैं— इस प्रकार से तत्तद् अदृष्ट से तत्तद् जीव के तत्तद् शरीर भोगायतन बन जायेंगे। ऐसी अदृष्ट परम्परा अनादि है। अन्यथा = उक्त प्रकार से व्यापक जीव में भोगायतन की व्यवस्था न मानने पर पूर्वपक्षी के मत मे भी व्यापक ईश्वर के विषय में पूर्वोक्त दोषों की आपत्ति होगी। फलतः सिद्धान्ती के कथनानुसार जो व्यवस्था है। उसे मानना ही उचित है।।१०।।

चैत्र के भोग का जनक = अङ्कुरादि = भोग्यवस्तु हिमाचलस्थ चैत्र के अदृष्ट से जनित होने से हरिद्वारस्थ अङ्कुर (भोग्य वस्तु) के साथ हिमाचलस्थ चैत्र में समवेत अदृष्ट के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। अतः यहाँ पर आत्मद्वारक सम्बन्ध {स्वाश्रयात्मसंयोगित्व अर्थात् स्व = अदृष्ट, उसका आश्रय = व्यापक आत्मा, उससे संयोगी = हरिद्वारस्थ अङ्कुर (भोग्यवस्तु)} ही कहना होगा। अर्थात् हिमाचलस्थ आत्मसमवेत अदृष्ट के साथ हरिद्वारस्थ अङ्कुर का सम्बन्ध व्यापक आत्मा के माध्यम से ही बनता है। अतः ऐसे सम्बन्ध की उपपत्ति के लिए आत्मा को अवश्य व्यापक मानना पड़ेगा।

शङ्का— सिद्धान्ती ने जो कहा कि जो अदृष्ट जिस आत्मा में समवेत है। उस आत्मा के साथ जिस भोग्य वस्तु का सम्बन्ध है। वह भोग्य वस्तु उस अदृष्ट से जन्य मानी जायेगी किन्तु ऐसा मानने पर चैत्र का अदृष्ट जो चैत्र की आत्मा में समवेत है। उस आत्मा का संयोग चैत्र का जो भोग्य पदार्थ नहीं है। उसके साथ भी रहने के कारण वह भोग्य पदार्थ भी चैत्र के अदृष्ट से जन्य है— ऐसा मानना चाहिए जबकि वह चैत्र के अदृष्ट से जन्य नहीं है। अतः उक्त आत्मद्वारक सम्बन्ध को भोग्य वस्तु का नियामक नहीं माना जा सकता है। इसलिए ''यद् स्वाश्रयात्मसंयोगित्वं तत्तदीयभोगजनकत्वम्।'' ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है। ''अदृष्टसम्बन्धेऽपि'' के स्थान पर ''अदृष्टासम्बन्धेऽपि'' ऐसा पाठान्तर है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चैत्र भोग्य वस्तु का जनक जो अदृष्ट, उस अदृष्ट से निरूपित उक्त आत्मद्वारक सम्बन्ध को भोग्य वस्तु का नियामक मानने पर पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अतिप्रसङ्ग नहीं होगा, क्योंकि जो चैत्र भोग्य नहीं है। उस भोग्य वस्तु का जनक चैत्र का अदृष्ट नहीं होगा। अर्थात् उस भोग्य वस्तु का उस भोग्य वस्तु के जनक अदृष्ट के साथ आत्मद्वारक सम्बन्ध नहीं होगा, क्योंकि वह अदृष्ट उस भोग्य वस्तु का जनक ही नहीं है। किस भोग्य वस्तु की जनकता चैत्रीय अदृष्ट में है। यह तो भोग रूप फल के द्वारा अनुमेय होती है। यहाँ अनुमान का आकार होगा— अमुकभोग्यं चैत्रादृष्टजन्यं चैत्रभोगजनकत्वात्। एवम् = इस प्रकार आत्मद्वारक सम्बन्ध के द्वारा अदृष्ट का भोग्य वस्तु के साथ सम्बन्ध की उपपत्ति हो जाने पर जैसे प्रतियोगी और अभाव में स्वरूप सम्बन्ध, वाच्य और वाचक में स्वरूप सम्बन्ध तथा ज्ञान और ज्ञेय में विषयिता सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है वैसे अदृष्ट और अदृष्ट के कार्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध मानने में कोई प्रमाण नहीं है किन्तु उक्त आत्मद्वारक परम्परा सम्बन्ध

सम्बन्धान्तरस्वीकारे मानाभावः। यत्तु कारीर्यदृष्टस्य वृष्ट्या सह तदुद्देशेन विहितक्रियाजन्यत्वादिरूपः सम्बन्धोऽस्तीत्युक्तं, तन्नः तत्रापि यजमानात्मद्वारकसंयुक्तसमवायस्यैव जलक्षरणादिप्रयोजकत्वात्। एतच्च सर्वं पररीत्योक्तम्। स्वमते च व्यवस्था प्रागुक्तैव।११।।

तथाच 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' इति श्रुतौ बुद्धिगुणेनाराग्रमात्रत्वोक्तेः स्वाभाविकमेव विभुत्वम्। न चात्रात्मगुणेनाराग्रमात्रत्वं बुद्धेर्गुणेन चावरत्वामिति व्युत्क्रमयोजनाः ''तद्यथाणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्तः। एवमेवास्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याप्तः अणुर्ह्येवैष पुरुषः'' इति श्रुत्यनुसारादिति—वाच्यम्; व्यापकत्वबोधकानेकश्रुतिविरोधेन बुद्धेर्गुणेनेत्येतदनुसारेण चास्या एव औपाधिकाणुत्वपरत्वात्, पुरुषस्येति

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही मानना उचित है।

शङ्का— ''कारीर्या वृष्टिकामो यजेत'' इस वाक्य से विहित जो कारीरी इष्टि है। उससे उत्पन्न अदृष्ट होता है और उस अदृष्ट से जन्य वृष्टि रूप फल होता है। यहाँ पर अदृष्ट का वृष्टि रूप फल के साथ साक्षात् सम्बन्ध (स्वोद्देश्यक क्रिया जन्यत्व) होता है, न कि परम्परा सम्बन्ध। अतः पूर्वोक्त प्रकार से आत्मद्वारक परम्परा सम्बन्ध मानना उचित नहीं है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वृष्टि रूप फल के साथ यजमान आत्मद्वारक सम्बन्ध अर्थात् स्वाश्रयात्मसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध ही अदृष्ट के साथ होता है। अर्थात् स्व = अदृष्ट, उसका आश्रय = यजमान आत्मा, उससे संयुक्त = जल, उसमें समवाय = जल क्षरण रूप क्रिया (वृष्टि)। इस प्रकार यहाँ भी आत्मद्वारक सम्बन्ध ही बनता है न कि साक्षात् सम्बन्ध। अब आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि आत्मद्वारक सम्बन्ध को मानकर समाधान हमने न्यायमत के अनुसार दिया है। स्व मत के अनुसार समाधान खण्ड संख्या १० के अन्तिम में कहा जा चुका है। अर्थात् देह और आत्मा में संयोग सम्बन्ध नहीं होता है अपितु कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध होता है। वह कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध भी कर्ममूलक है। कर्म भी पूर्वकर्ममूलक है। अनादित्व होने से यहाँ अनवस्था आदि दोष नहीं होता है। इस प्रकार स्व मत में व्यवस्था की उपपत्ति हो जाती है।११।।

फलतः ''बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपिदृष्टः'' (श्वे०उ०५—८) इस श्रुति में कहा गया कि वह आत्मा बुद्धि के गुण संकल्पादि से युक्त तथा शरीर के गुण जरा मृत्यु आदि युक्त होने के कारण आरा के अग्र के समान अणु होता है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा में अणुत्व औपाधिक है और विभुत्व स्वाभाविक है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त श्रुति में आत्मगुण का अन्वय आराग्र मात्र के साथ है और बुद्धि गुण का अन्वय अवरत्व के साथ है। अर्थात् ''आत्मगुणेनाराग्रमात्रः, बुद्धेर्गुणेन चावरः'' ऐसा अन्वय उक्त श्लोक में है। (पूर्वपक्षी के अनुसार ''अवरः'' का अर्थ है— नास्ति वरो (महान्) यतः सः तथा = अवरः = अपरिच्छिन्न इति यावत्। अर्थात् विभु।) इस प्रकार यथासंख्य अन्वय न कर के व्युत्क्रम अन्वय करना चाहिए। क्यों ऐसा अन्वय करना चाहिए? इसके समाधान में कह रहे हैं कि ''जैसे अणुरूप नेत्र का प्रकाश व्यापक होता है वैसे ही इस अणु रूप पुरुष (आत्मा) का प्रकाश (ज्ञान) व्यापक होता है। और यह पुरुष अणु ही है।'' इस श्रुति के अनुसार उक्त श्रुति का व्युत्क्रम से अन्वय किया गया है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि आत्मगत व्यापकत्व बोधक अनेक श्रुतियों से विरोध होने से और ''बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन'' इस श्रुति का सिद्धान्तमतानुसार जैसा अर्थ किया गया है। उसके अनुसार

षष्ठ्या राहोः शिर इत्यादिवदुपचरितार्थत्वाच्च। तथा च न व्युत्क्रमेणान्वयः। तस्मादणुत्वं नात्मभेदकम्॥ इति।१२॥

॥ अद्वैतसिद्धौ आत्मनोऽणुत्वभङ्गः॥

स्थितानि ग्रन्थेषु प्रकटमुपदिष्टानि गुरुभिर्गुणो वा दोषो वा न मम परवाक्यानि वदतः।
परं त्वस्मिन्नस्ति श्रमफलमिदं यन्निजधिया श्रुतीनां युक्तीनामकलि गुरुवाचां च विषयः।१३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती–विरचितायामद्वैतसिद्धावात्मनिरूपणं नाम द्वितीयः परिच्छिेदः॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

''तद्यथाणुनश्चक्षुषः'' यह श्रुति औपाधिक अणुत्व की बोधिका मानी जायेगी न कि स्वाभाविक। इस पर प्रश्न होता है कि आत्मा (पुरुष) और ज्ञान तो सिद्धान्त मतानुसार एक ही है क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है तब ''पुरुषस्य प्रकाशः'' ऐसा भेद परक उल्लेख क्यों किया गया है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जैसे ''राहोः शिरः'' यहाँ पर औपचारिक भेद माना जाता है वैसे ही ''पुरुषस्य प्रकाशः'' में औपचारिक भेद कहा गया है। वस्तुतः तो अभेद ही है। तथा च = उक्त प्रकार से आत्मा में स्वाभाविक अणुत्व नहीं है अपितु औपाधिक अणुत्व है– ऐसा सिद्ध हो जाने से व्युत्क्रम से जो अन्वय किया गया था। वह उचित नहीं है। अतः ''जीवः ईश्वराद् भिन्नः, अणुत्वात्''– इस अनुमान से जीव और ईश्वर में भेद सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि यह अनुमान स्वरूपासिद्धि आदि अनेक दोषों से ग्रस्त होने के कारण स्वसाध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है।१२॥

–: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामात्मनोऽणुत्वभङ्गः –

आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस ग्रन्थ में जो कुछ हमने कहा है वह नवीन नहीं है अपितु वेदान्त ग्रन्थों में पहले से ही विद्यमान है और हमारे से पहले ही अद्वैत सिद्धान्त के आचार्यों द्वारा कहा गया है। उनकों हमने केवल संकलित किया है– इस आशय को श्लोक में कह रहे हैं– वेदान्त आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से स्थित गुरुजनों के द्वारा स्पष्ट रूप से उपदिष्ट एवम्भूत परकीय वाक्यों का अनुवाद मात्र हमने किया है। इसमें मेरा कोई गुण या दोष नहीं है। किन्तु इस ग्रन्थ में किये गये श्रम का फल इतना अवश्य है कि मैंने अपनी बुद्धि के द्वारा श्रुतियों युक्तियों और गुरु वाक्यों के गूढ़ार्थ विषय को संकलित कर दिया है। इस प्रकार द्वितीय परिच्छेद के समाप्ति पर मङ्गलाचरण किया गया है।१३॥

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं वादरायणम्। सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिशिष्यस्वामिविशुद्धानन्दगिरि–कृतायामद्वैतसिद्धिटीकायां सत्यानन्दप्रबोधिकायामात्मनिरूपणं नाम द्वितीयः परिच्छेदः॥

ok

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

(तृतीयः परिच्छेदः)

१—मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वविचारः

तदेवमैकात्म्ये व्यवस्थिते तत्साक्षात्काराय श्रवणमङ्गि, मनननिदिध्यासने तदङ्गतया मुमुक्षुभिरनुष्ठेये। तदुक्तं विवरणे—'श्रवणमङ्गि, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्, मनननिदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणसंस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते' इति फलोपकार्यङ्गे। ननु—श्रवणं तावद्विचाररूपं शाब्दज्ञाने न करणम्, वेदेन धर्म इव ब्रह्मणि प्रमीयमाणे विचारस्यानुमानादौ तर्कस्येव शब्दरूपे तज्ज्ञानरूपे वा करणे इतिकर्तव्यतामात्रत्वादिति—चेन्न; शब्दशक्तितात्पर्यावधारणं तावद् विचारः। अवधृततात्पर्यकश्च

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृता
सत्यानन्दप्रबोधिका
ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ममाद्यदेवो वटमूलवासी कृपाविशेषात्कृतसंन्निधानः। ओङ्काररूपामुपदिश्य विद्यामाविद्यकध्वान्तमपाकरोतु।।

पूर्वोक्त प्रकार से जीवब्रह्मैक्य सुव्यवस्थित हो जाने पर उस ऐक्य के साक्षात्कार के लिए अङ्गीभूत (प्रधानभूत) श्रवण का और प्रधान के अङ्गभूत मनन तथा निदिध्यासन का अनुष्ठान मुमुक्षुओं को सतत करना चाहिए। जैसा कि विवरण में कहा गया है— श्रवण अङ्गी है, क्योंकि जीवब्रह्मैक्य अवगम के प्रति प्रमाण (प्रधानभूत श्रवण) साक्षात् कारण होता है। मनन और निदिध्यासन ये दोनों श्रवणभूत अङ्गी के अङ्ग होते हैं, क्योंकि मनन के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य मात्र विषयक संस्कार उत्पन्न किया जाता है और निदिध्यासन के द्वारा विपरीत भावना से शून्य ब्रह्मात्मैक्याकार परोक्षवृत्ति को एकाकार रूप से दृढ़ किया जाता है। ऐसी दृढ़ परोक्षवृत्ति में ब्रह्म साक्षात्कार के प्रति हेतुता आ जाती है। अर्थात् विपरीत भावनादि सभी दोषों से रहित उक्त दृढ़ परोक्ष वृत्ति काल में श्रवण के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार हो जाता है। अतः श्रवण से उत्पन्न होने वाला जो फल (ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार) उसका उपकारक (सहकारी कारण) होने के कारण मनन तथा निदिध्यासन को श्रवण का अङ्ग कहा जाता है। {ब्रह्मानुभवहेतुताम्— के घटक ब्रह्मानुभव से ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार नहीं लेना है क्योंकि ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार श्रवण रूप अङ्गी का फल है न कि अङ्गभूत निदिध्यासन का फल। अतः ब्रह्मानुभव से विपरीत भावना आदि दोष से शून्य ब्रह्मात्मैक्याकार परोक्ष वृत्ति लेना है।}

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि विचार रूप श्रवण को शाब्द ज्ञान (अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति) में कारण नहीं माना जाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए पूर्वमीमांसा दर्शन के अनुसार दृष्टान्त देते हुए कह रहे हैं कि जैसे वेद वाक्य रूप करण के द्वारा जहाँ धर्म का परोक्ष ज्ञान होता है वहाँ पर वेद विचार इतिकर्तव्यता मात्र होता है ठीक वैसे ही अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति स्थल पर विधि वाक्य (आत्मा वारे द्रष्टव्यः) को श्रवण कर जो किं भावयेत्, केन भावयेत् कथं भावयेत्— ऐसी जो जिज्ञासा होती है। उसका क्रमानुसार उत्तर यह है कि अपरोक्ष ब्रह्मानुभूतिं भावयेत्, शब्देन शब्दज्ञानेन वा भावयेत्, विचारपूर्वकं भावयेत्। यहाँ पर करण शब्द या शब्द ज्ञान है और विचार तो इतिकर्तव्यता रूप है। इसको स्पष्ट करने के लिए पुनः न्याय मतानुसार दृष्टान्त दे रहे हैं कि

शब्दः करणमिति विचारस्य करणकोटिप्रवेशेनेतिकर्तव्यतात्वाभावाद् अङ्गित्वनिर्णयात्। तदुक्तं विद्यासागरेण—अनुमितौ लिङ्गज्ञानवत्तात्पर्यविशिष्टशब्दज्ञानं करणम्, अतस्तात्पर्यावधारणरूपविचारस्याङ्गित्वम् १ ॥

न च—आकाङ्क्षादिसहितशब्दज्ञानस्यैव करणत्वसम्भवे तात्पर्यभ्रमनिरासोपक्षीणतयोक्ततात्पर्यज्ञानस्य करणकोटिप्रवेशे मननादेरपि तत्कोटिप्रवेशः स्यादिति—युक्तम्; एवं ह्याकाङ्क्षादिधियोऽपि निराकाङ्क्षत्वादिभ्रमनि—

सत्यानन्दप्रबोधिका

जैसे अनुमिति के करण अनुमान (लिङ्ग या लिङ्ग ज्ञान) को करण माना जाता है और तर्क जो व्यापार रूप है। उसे इति कर्तव्यता रूप माना जाता है। {सर्वत्र व्यापार जो करण का सहायक होता है। उस व्यापार को ही इतिकर्तव्यता रूप माना जाता है। प्रकृत में ब्रह्मात्मैक्यावबोध के प्रति करण शब्द या शब्द ज्ञान है और व्यापार = विचार रूप श्रवण है। अत: विचार रूप श्रवण इतिकर्तव्यता रूप ही माना जायेगा।}

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि विचार का अर्थ होता है— प्रमा जनन अनुकूल शक्ति रूप तात्पर्य। अर्थात् शब्द में रहने वाली जो प्रमा जनन अनुकूल शक्ति उसी शक्ति को यहाँ तात्पर्य शब्द से कहा गया है। उस तात्पर्य— रूपाशक्ति के निश्चय को विचार = श्रवण कहते हैं। केवल शब्द ब्रह्मापरोक्षानुभूति के प्रति करण नहीं होता है किन्तु जिस शब्द का प्रमा जननानुकूलशक्ति रूप तात्पर्य निश्चित (अवधृत) हो चुका है। वही शब्द करण होता है। अत: करण कोटि में विशेषण विधया विचार रूप श्रवण भी प्रविष्ट हो गया। अत: श्रवण को इति कर्तव्यता रूप नहीं माना जा सकता है अपितु इतिकर्तव्यता रूप अङ्ग कोटि में विशेषण विधया विचार रूप श्रवण भी प्रविष्ट हो गया। अत: श्रवण को इतिकर्तव्यता रूप नहीं माना जा सकता है अपितु इतिकर्तव्यता रूप अंग का अङ्गी माना जाता है। प्रश्न होता है कि केवल शब्द को करण मानने में लाघव है और विचार विशिष्ट शब्द को करण मानने में गौरव होगा। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि ऐसा गौरव न्यायादि में स्वीकार है। जैसा कि आचार्य श्रीविद्यासागर ने कहा है कि जैसे अनुमिति में लिङ्ग विशिष्ट ज्ञान करण होता है वैसे ही शाब्द ज्ञान में शब्द शक्ति तात्पर्य अवधारण विशिष्ट ज्ञान करण होता है। अत: शब्द शक्ति तात्पर्य अवधारण रूप जो विचार (श्रवण) है। उसमें अङ्गित्व सूपपन्न है।१ ॥

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि आकाङ्क्षा— योग्यता सन्निधि विशिष्ट शब्द ज्ञान में ही शाब्दबोध के प्रति करणत्व जब सम्भव है तब तात्पर्यज्ञान रूप विचार जो कि तात्पर्य भ्रम की निवृत्ति करने में ही उपक्षीण हो जाता है। शाब्द बोध को उत्पन्न करने में उसकी उपयोगिता न रह जाने से शाब्द बोध की उत्पत्ति में तात्पर्य अवधारण अन्यथासिद्ध है। ऐसे तात्पर्य ज्ञान रूप विचार को करण कोटि में प्रवेश करना व्यर्थ है। तात्पर्य ज्ञान रूप विचार (श्रवण) को हठात् करण कोटि में प्रवेश करने पर जैसे श्रवण विशिष्ट शब्द ज्ञान शाब्द बोध के प्रति करण मान रहे हो वैसे ही श्रवण मनन निदिध्यासन से विशिष्ट शब्द ज्ञान को शाब्द ज्ञान के प्रति करण मान लो।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि (एवम्=) तात्पर्य ज्ञान को करण कोटि में प्रवेश न मानने पर आकाङ्क्षादि भी करण कोटि में प्रवेश नहीं हो पायेंगे क्योंकि जैसे तात्पर्य ज्ञान तात्पर्यभ्रम के निरास मात्र में गतार्थ हो जाता है वैसे ही आकाङ्क्षादि भी निराकाङ्क्षादि भ्रम के निरास मात्र में गतार्थ हो जायेंगे।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि तात्पर्य ज्ञान को शाब्द ज्ञान के प्रति करण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे— तात्पर्य ज्ञान होने पर शाब्द ज्ञान होगा और शाब्द ज्ञान होने पर तात्पर्य ज्ञान होगा।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि हमें मान्य है किन्तु द्वितीय कोटि हमें मान्य नहीं है, क्योंकि शाब्द बोध के पश्चात् तात्पर्य ज्ञान होता है— ऐसा हम नहीं मानते हैं किन्तु सामान्यत: अर्थात् तात्पर्य निश्चय कालीन आपातरूपेण पदार्थत्व रूप से पदार्थ अवगम से तात्पर्य ज्ञान

रासकत्वमात्रेणोपयोगापत्तौ आकाङ्क्षादिकमपि करणकोटिप्रविष्टं न स्यात्। न चान्योन्याश्रयः; सामान्यतोऽर्थावगमनेन तात्पर्यग्रहसम्भवात्। अन्यथा नानार्थादौ विनिगमनादिकं च न स्यात्। तथा च सर्वत्र तात्पर्यज्ञानस्याजनकत्वेऽपि यत्र तात्पर्यसंशयविपर्ययोत्तरं शाब्दधीः, तत्र तात्पर्यज्ञानस्य हेतुता ग्राह्या संशयविपर्ययोत्तरप्रत्यक्षे विशेषदर्शनस्येव। अत एव न विवरणविरोधोऽपि।।२।।

ननु— तात्पर्यज्ञानस्य करणकोटिप्रवेशे वेदेऽपि तात्पर्यभ्रमसम्भवाद् बाह्यागमेऽपि तात्पर्यप्रमासम्भवात् शाब्दज्ञानकरणस्य दुष्टत्वादुष्टत्वव्यवस्था न स्यात् इति—चेन्न; वेदे कदाचित् कस्यचित् कुत्रचित्तात्पर्यभ्रमेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो जाता है। उसके पश्चात् शाब्द बोध होता है। (कहने का भाव यह है कि पर्यवसित वाक्यार्थ ज्ञान = पर्यवसित शाब्द के पूर्व में भिन्न—भिन्न पदार्थों को विषय करने वाला एक आपात वाक्यार्थ ज्ञान (शाब्द ज्ञान) होता है। वही आपात ज्ञान तात्पर्य ज्ञान का हेतु होता है, पर्यवसित वाक्यार्थ ज्ञान (पर्यवसित शाब्द ज्ञान) तात्पर्य ज्ञान का हेतु नहीं होता है। ऐसे तात्पर्य ज्ञान से पर्यवसित वाक्यार्थ ज्ञान (पर्यवसित शाब्द ज्ञान) उत्पन्न होता है।) अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। अन्यथा = पर्यवसित वाक्यार्थ ज्ञान (पर्यवसित शाब्द ज्ञान) के प्रति तात्पर्य ज्ञान को कारण न मानने पर जहाँ पर एक शब्द (सैन्धव) के नाना अर्थ (घोड़ा और लवण) हैं। वहाँ पर जब शाब्द बोध के पूर्व में तात्पर्य ज्ञान नहीं रहेगा तब सैन्धव का अश्व अर्थ लिया जाय या लवण अर्थ लिया जाय— इसका अवधारण नहीं हो पायेगा। ऐसा होने पर शाब्द बोध ही नहीं हो पायेगा। इस पर प्रश्न होता है कि श्री विवरणकार ने तात्पर्य ज्ञान को शाब्द बोध के प्रति करण नहीं माना है अपितु तात्पर्यावधारणात्मक श्रवण को शाब्द ज्ञान के प्रति करण माना है। अतः तात्पर्य ज्ञान को शाब्द बोध के प्रति करण मानने पर विवरण से विरोध होगा? इस का समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि तात्पर्य ज्ञान शाब्द बोध के प्रति हेतु नहीं होता है— इस विवरण के कथन का आशय यह है कि सर्वत्र तात्पर्य ज्ञान शाब्द बोध के प्रति हेतु नहीं होता है किन्तु जहाँ पर तात्पर्य के संशय या तात्पर्य के भ्रम के बाद शाब्द ज्ञान होता है। वहाँ पर ही शाब्द ज्ञान के प्रति तात्पर्य ज्ञान कारण होता है। जैसे संशय के पश्चात् होने वाले प्रत्यक्ष में और विपर्यय के पश्चात् होने वाले प्रत्यक्ष में विशेष दर्शन हेतु होता है। अर्थात् जहाँ शुक्ति को देखकर शुक्ति है या रजत है— ऐसा संशय होता है अथवा यह रजत है— ऐसा भ्रम होता है। इसके पश्चात् यह शुक्ति है— ऐसा निश्चयात्मक प्रत्यक्ष होता है। ऐसे प्रत्यक्ष से पहले विशेष दर्शन (नील पृष्ठादि का दर्शन) हेतु होता है और जहाँ संशयादि नहीं होता है। वहाँ विशेष दर्शन को हेतु नहीं माना जाता है अपितु इन्द्रिय सन्निकर्षादि को ही हेतु माना जाता है। अतः विवरण से विरोध नहीं है।।२।।

शङ्का— तात्पर्य भ्रम की निवृत्ति के लिए तात्पर्य ज्ञान को करण कोटि में मानकर तात्पर्य अवधारण विशिष्ट शब्द को शाब्द ज्ञान का करण मानने पर अद्वैतियों को अद्वैत में तात्पर्य का अवधारण होता है। वह तात्पर्य अवधारण माध्व की दृष्टि से भ्रम मात्र है, वैसे ही माध्व को द्वैत में तात्पर्य का अवधारण होता है। वह अवधारण अद्वैती की दृष्टि से भ्रम मात्र है। ऐसे तात्पर्य भ्रम से विशिष्ट वेद रूप शब्द जिसको की सिद्धान्ती करण मान रहे हैं। वह वेद दुष्ट हो जायेगा, जबकि वेद दुष्ट नहीं है। इसी प्रकार बाह्य आगम में जो नास्तिको को तात्पर्य का अवधारण होता है। वह अवधारण नास्तिकों की दृष्टि से प्रमा है। उस तात्पर्य प्रमा से विशिष्ट बाह्य आगम रूप करण अदुष्ट हो जायेगा। जबकि वह दुष्ट है। इस प्रकार से शाब्द ज्ञान का जो करण = वेद और बाह्य आगम— इनमें से कौन दुष्ट है और कौन अदुष्ट है— इसकी व्यवस्था नहीं बन पायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वेद में किसी काल में किसी पुरुष को किसी विषय में

निर्दुष्टत्वेन यथार्थतात्पर्यमस्त्येव, परागमे तु पौरुषेयतया प्रतारणादिमत्पुरुषप्रणीततया दुष्टत्वेन न तथेति दुष्टत्वादुष्टत्वव्यवस्थासम्भवात्। तात्पर्यांशस्यावघातादेरिव यागे शब्दे सन्निपत्योपकारकतया करणकोटिप्रविष्टत्वेनाङ्गित्वम्। न च दृष्टान्ते करणद्रव्यशेषत्वात् तथा, सर्वसाम्यस्य दृष्टान्तत्वाप्रयोजकत्वात्। ननु—सन्निपत्योपकारकत्वेऽपि न फलोपकारकमनननिदिध्यासनरूपाङ्गं प्रति शेषिता, अन्यथा प्रयाजादिकं प्रत्यवघातादिः शेषी स्यादिति—चेत्।।३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

तात्पर्य भ्रम होने पर भी वेद अपौरुषेय होने के कारण निर्दुष्ट है। अतः वेद में यथार्थ तात्पर्य ही निश्चित है और बाह्य आगम पौरुषेय होते हैं। अतः द्वेष आदि की भावना से ग्रस्त पुरुष के द्वारा भी निर्मित हो सकते हैं। अतः वे दुष्ट होते हैं। इसलिए उनमें यथार्थ तात्पर्य निश्चित नहीं होता है। इस प्रकार से बाह्य आगम और वेद में दुष्टत्वादुष्टत्व की व्यवस्था बन जायेगी। अब तक करणतावच्छेदक घटकत्वेन श्रवण का अङ्गित्व कहा गया। आगे करण के प्रति सन्निपत्य अङ्गत्वेन भी श्रवण का अङ्गित्व है— इसे दिखलाते हुए कह रहे हैं कि जैसे याग का करणीभूत जो व्रीहि आदि हैं। उसका सन्निपत्य उपकारक = अवघात आदि होने के कारण अवघात आदि को भी करण कोटि में प्रविष्ट माना जाता है। अर्थात् अवघात को भी करण माना जाता है। (कहने का भाव यह है कि याग का करण = द्रव्य और देवता होते हैं। इन द्रव्य और देवता का दूर (आरात्) से जो उपकारक अङ्ग होते हैं। उनको आरात्— उपकारक अङ्ग कहा जाता है। जैसे दर्शपूर्णमास में प्रयाजादि किन्तु द्रव्य और देवता के स्वरूप का उपकार करने वाले अवघात—प्रोक्षण—पेषण—मंत्रादि सन्निपत्य उपकारक अङ्ग माने जाते हैं। यहाँ पर याग का करण जैसे द्रव्य और देवता होते हैं वैसे ही उनके स्वरूप के उपकारक (सन्निपत्य उपकारक) अवघातादि को भी याग का करण माना जाता है।) ऐसे ही शाब्दज्ञान का करण जो शब्द या शब्द ज्ञान होता है। उसके स्वरूप के उपकारक तात्पर्य ज्ञान को सन्निपत्य उपकारक अङ्ग माना जाता है। फलतः शाब्द ज्ञान के प्रति जैसे शब्द या शब्द ज्ञान करण होता है वैसे ही शब्द और शब्द ज्ञान के स्वरूप के उपकारक तात्पर्य ज्ञान को भी करण माना जाता है। अर्थात् अङ्गी = अङ्गविशिष्ट। जब अङ्गी (व्रीहि आदि) याग का करण होगा तब उस अङ्गी मे विशेषण विधया प्रविष्ट अङ्ग (अवघातादि) भी करण होते हैं। ऐसे ही शब्द ज्ञान (अङ्गी) करण होगा तब उसमें विशेषण विधया प्रविष्ट अङ्ग = तात्पर्य अवधारण भी करण होगा। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टान्त में याग का करण द्रव्यादि (व्रीहि आदि) हैं। उस द्रव्यादि का सन्निपत्य उपकारक अवघातादि होते हैं। अतः द्रव्यादि का शेष अवघातादि होने से अवघातादि द्रव्यादि के जैसे याग के करण कोटि में प्रविष्ट हो जाते हैं। किन्तु दार्ष्टान्त में तात्पर्य अवधारण करणीभूत किसी द्रव्य का शेष नहीं है अपितु शब्द या शब्द ज्ञान रूप करण का शेष है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में सर्वथा साम्य नहीं होता है। अन्यथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में भेद ही सिद्ध नहीं होगा। अतः करण में जो विशेषण विधया प्रविष्ट होता है वह भी करण माना जाता है— यह समानता दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य नहीं दिखाया जा सकता है।

शङ्का— तात्पर्य अवधारण (श्रवण) को शब्द रूप करण का सन्निपत्य उपकारक मान लेने पर भी करण (श्रवण विशिष्ट शब्द) के द्वारा फल (अपरोक्षानुभूति) को उत्पन्न करने में उपकारक (सहायक) जो मनन निदिध्यासन हैं। उनका अङ्गी तात्पर्य अवधारण रूप श्रवण को नहीं माना जा सकता है। अन्यथा = सन्निपत्य उपकारक को फल उपकारक के प्रति अङ्गी मानने पर फल उपकारक जो प्रयाजादि हैं। उन प्रयाजादि के प्रति अवघातादि में अङ्गिता मानने की आपत्ति होगी।।३।।

न, विशिष्टयागप्रविष्टतया शेषित्वे इष्टापत्तेः, असाधारण्येन शेषिता तु असाधारणफलोपकारकत्वे स्यात्, असम्भावनाविशेषनिवृत्तिरूपासाधारणोपकारजनकत्वात् सापि श्रवणस्य सम्भावितैव। अत एवोक्तं चित्सुखाचार्यैः—'करणीभूतशब्दगतातिशयहेतुत्वाद् श्रवणस्य करणत्वेनाङ्गित्वम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु सहकारिभूतचित्तगतातिशयहेतुत्वाद् फलोपकार्यङ्गता'इति। न च— एवं सोमयागसहकारिभूतदीक्षणीयाद्यङ्गस्य तद्गतातिशयहेत्वभिषवग्रहणादिकं प्रत्यङ्गत्वप्रसङ्ग इति—वाच्यम्; पूर्ववदुक्तोत्तरत्वात्। तदुक्तं तत्त्वशुद्धौ—

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि व्रीहि विशिष्ट याग = अङ्गी है और प्रयाजादि अङ्ग हैं। व्रीहि में सन्निपत्य उपकारक के रूप से अवघात अङ्ग बनता है। अतः अङ्ग के रूप से व्रीहि अङ्गी में अवघात प्रविष्ट हो गया। अतः जैसे व्रीहि विशिष्ट याग अङ्गी है और प्रयाजादि अङ्ग हैं वैसे ही व्रीहि में प्रविष्ट अवघात भी अङ्गी होगा और प्रयाजादि अङ्ग होंगे। यदि व्रीहि में प्रविष्ट अवघात अर्थात् व्रीहि का उपकारक अवघात नहीं माना जाता है। तब अवघातत्वेन अवघात को अङ्गी होने की आपत्ति तभी उठायी जा सकती है। यदि उस रूप से अवघात असाधारण फल = विशेष फल = स्वर्गादि विशेष फल का उपकारक होता। किन्तु ऐसा है नहीं। अतः अवघात में प्रयाजादि की अङ्गिता की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। प्रकृत में तात्पर्य निश्चय के पूर्व में मुमुक्ष को ब्रह्मात्मैक्य में वेदान्त का तात्पर्य असम्भव है— ऐसी भावना जो होती है। उसकी निवृत्ति श्रवण से होती है। इस प्रकार श्रवण = असाधारण फल = विशेष फल (ब्रह्मात्मैक्य में वेदान्त तात्पर्य के असम्भावना की निवृत्ति) का जनक अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य में वेदान्त तात्पर्य के अवधारण का जनक होता है। अतः श्रवण अङ्गी होता है और उसका अङ्ग मनन और निदिध्यासन विपरीतादि भावना की निवृत्ति करते हुए बनते हैं। इसलिए श्री चित्सुखाचार्य ने ''तत्त्वप्रदीपिका'' के तृतीय परिच्छेद में कहा है कि—करणीभूत जो शब्द तद्गत अतिशय (ब्रह्मात्मैक्य में वेदान्त तात्पर्य के असम्भावना की निवृत्ति) का हेतुत्व होने से श्रवणगत करणत्वेन अङ्गित्व है और मनन तथा निदिध्यासन तो सहकारिभूत जो चित्तगत अतिशय (विपरीतादि भावना की निवृत्ति) का हेतुत्व होने से फलोपकारी अङ्गता है। अर्थात् अङ्ग दो प्रकार का होता है। १. स्वरूप उपकारक २. फल उपकारक। जैसे व्रीहि याग का स्वरूप उपकारक अङ्ग है, क्योंकि व्रीहि के विना याग का स्वरूप ही नहीं बन पायेगा और प्रयाजादि फल उपकारक अङ्ग हैं, क्योंकि प्रयाजादि के विना भी याग हो सकता है किन्तु फल नहीं मिल सकता है। ऐसे ही मनन निदिध्यासन के विना भी श्रवण हो सकता हैं किन्तु मनन निदिध्यासन के विना श्रवण का फल नहीं मिल सकता है। अतः मनन निदिध्यासन में फलोपकारी अङ्गता है। यहाँ पर यह ध्यान देना चाहिए कि असम्भावना का अर्थ होता है संशय। श्रवण से ब्रह्मात्मैक्य में वेदान्त तात्पर्य के असम्भावना (प्रमाणगत संशय) की निवृत्ति होती हैं और असम्भावना (प्रमेय गत संशय) की निवृत्ति मनन से होती है इसलिए मनन को भी असम्भावना का निवर्त्तक कहा जाता है।

शङ्का— एवम् = करणगत अतिशय के आधायक पदार्थ को अङ्गी मानने पर सोम याग का सहकारी भूत जो दीक्षणीयादि इष्टि रूप अङ्ग हैं। उस दीक्षणीयादि इष्टि में सोमयाग के करणीभूत सोमयाग अतिशय का आधायक जो ''सोममभिषुणोति'' इस वाक्य से कथित अभिषव ग्रहण है। इस प्रकार सोमयाग के करणीभूत सोम गत अतिशय का आधायक = अभिषव ग्रहण। उस अभिषव ग्रहण के प्रति अङ्गत्व का प्रसङ्ग आयेगा। अर्थात् अभिषव ग्रहण = अङ्गी और दीक्षणीयादि इष्टि = अङ्ग है— ऐसा मानने की आपत्ति होगी। जबकि दीक्षणीयादि इष्टि अङ्गी और अभिषव ग्रहण अङ्ग माना जाता है।

'करणीभूतशब्दधर्मशक्तितात्पर्यविषयत्वात् श्रवणस्य करणान्तर्भावेनाङ्गित्वम्' इति।।४।।

न च–शब्देनापरोक्षज्ञप्तौ अप्रतिरुद्धापरोक्षज्ञप्तौ चोत्पाद्यायां मननिदिध्यासनयोरिव परोक्षज्ञप्तावप्रतिरुद्धपरोक्षज्ञप्तौ चोत्पाद्यायां श्रवणस्याप्यपेक्षिततया त्रयाणामपि फलोपकार्यङ्गत्वमेवेति कथं परस्पराङ्गाङ्गिभाव इति–वाच्यम्; मननिदिध्यासने फले जनयितव्ये शब्दस्य सहकारिणं सम्पादयतः श्रवणं

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से जैसे अवघात करण कोटि में जब प्रविष्ट माना गया तब वह प्रयाजादि का अङ्गी बन जाता है वैसे ही अभिषव को करणकोटि में प्रविष्ट मानेंगे तब उस रूप से अभिषव दीक्षणीयादि इष्टि का अङ्गी बन जायेगा। अन्यथा नहीं। इसको स्पष्ट करते हुए तत्त्वशुद्धिकार ने कहा है कि– करणीभूत जो शब्द तादृश शब्द धर्म जो शक्ति तादृश शक्ति तात्पर्य विषयत्व वाला श्रवण के होने से करण कोटि में श्रवण प्रविष्ट हो जाता है। अतः श्रवण को अङ्गी माना जाता है।।४।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि शब्द से अपरोक्ष ज्ञान या प्रतिबन्धाभाव विशिष्ट अपरोक्ष ज्ञान के उत्पादन में शब्द को मनन और निदिध्यासन इन दोनों की जैसे अपेक्षा होती है, वैसे ही शब्द से परोक्ष ज्ञान या प्रतिबन्धाभाव से विशिष्ट परोक्ष ज्ञान के उत्पादन में शब्द को श्रवण की अपेक्षा होती है। इस प्रकार श्रवण मनन और निदिध्यासन इन तीनों में समान रूप से जब फलोपकार्यङ्गत्व है तब इनमें परस्पर अङ्ग–अङ्गिभाव नहीं माना जा सकता है। अर्थात् किसी को प्रधान और किसी को अप्रधान नहीं माना जा सकता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मनन तथा निदिध्यासन फल की उत्पत्ति में शब्द के सहाकारी मात्र होते हैं और श्रवण फल की उत्पत्ति में शब्दगत जनन योग्यता का सम्पादन करता है। यही दोनों में अन्तर होने के कारण श्रवण अङ्गी और मनन निदिध्यासन अङ्ग होते हैं। (कहने का भाव यह है कि मनन निदिध्यासन चित्र की एकाग्रता आदि को बनाता है। उस चित्र की एकाग्रता आदि की सहायता से श्रवण के द्वारा शब्द से अपरोक्ष ज्ञान रूप फल उत्पन्न होता है। इस प्रकार मनन निदिध्यासन फल की उत्पत्ति में साक्षात्कारण नहीं है किन्तु सहायक कारण हैं। अतः अङ्ग हैं। श्रवण शब्द का स्वरूप उपकारक (सन्निपत्य उपकारक) होने से अङ्गी हो जायेगा।} जहाँ पर ऐसा अन्तर नहीं होता है वहाँ पर अङ्गाङ्गिभाव न मानकर समान रूप से सबमें अङ्गत्व ही माना जाता है। जैसे दर्शपूर्णमास में जो पाँच प्रयाज हैं। वे पाँचों प्रयाज समान रूप से मुख्य याग के द्वारा फल को उत्पन्न करने में सहायक होने के कारण समान रूप से पाँचों प्रयाजों में अङ्गता आती है न कि परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होता है।

शङ्का– समान रूप से फलोपकारिता होने पर अङ्ग– अङ्गिभाव मानने पर दोष होगा– इस आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तिम अधिकरण में कहा गया है कि ''जो वृष्टि की कामना वाला है और जो अन्नादि की कामना वाला है तथा जो स्वर्ग की कामना वाला है। वह सौभर नामक साम का गायन करे। इस साम के ऋषि सोभरि है। इसलिए इसे सौभर साम कहा जाता है।'' {साम के पाँच या सात भाग माने जाते हैं– (१) हिङ्कार (२) प्रस्ताव (३) उद्गीथ (४) ओङ्कार (५) प्रतिहार (६) उपद्रव (७) निधन। निधन का अर्थ होता है– समाप्ति। अर्थात् प्रत्येक साम प्रस्ताव से प्रारम्भ होकर निधन पर समाप्त होता है। इसलिए} वृष्टि की कामनावाले पुरुष के लिए सौभर साम की समाप्ति (निधन) हीष् पद से करे, अन्नाद्य की कामना वाले पुरुष के लिए सौभर की समाप्ति (निधन) ऊर्ग्

तु तस्य जनकतामेवेति विशेषात्। यत्र च नैवं, तत्र तुल्यवदङ्गतैव। एतेन—''यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत, हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्याद् ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय ऊ इति स्वर्गकामाय'' इति श्रुतानां वृष्ट्यादिफलाय सौभरेतिकर्तव्यतानिधनगतहीषादीनां श्रवणमननादिवत् परस्परमङ्गाङ्गिभावप्रसङ्ग इति—निरस्तम्; करणस्वरूपसंपादकत्वसहकारिसंपादकत्वरूपतत्प्रयोजकस्यात्रैव तत्राभावात्।।५।।

नच—एवं करणापूर्वोत्पत्तौ यागार्थस्यावघातादेः परमापूर्वोत्पत्तौ तदर्थः प्रयाजादिः शेषः स्यादिति—वाच्यम्, एकफल उभयोर्यागार्थत्वाभावेन विशेषात्। ननु—क्लृप्तं परोक्षज्ञानं लोके शब्दस्य फलम्। तथा च

सत्यानन्दप्रबोधिका

पद से करे, स्वर्ग की कामना वाले पुरुष के लिए सौभर साम की समाप्ति ऊ पद से करे। यह सौभर साम सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। इस प्रकार से वृष्टि आदि काम के लिए श्रुत जो सौभर सामगत इति कर्तव्यता है। उसके सम्पादन के लिए निधन संज्ञक भाग में जो हीष्— आदि का विधान है। उन हीषादि में भी श्रवणादि के जैसे अङ्गाङ्गिभाव भाव मानने की आपत्ति होगी। अर्थात् फलानुकूला जो सौभर गत योग्यता है। उसके जनक जो निधनगत हींष्— ऊर्क्— ऊ इनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव बन जाना चाहिए, क्योंकि हींष् आदि तीनों में ही समान रूपेण फलोपकारिता है— ऐसा पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि दार्ष्टान्त स्थल पर श्रवण में करण स्वरूप सम्पादकत्व और मनन निदिध्यासन में करण सहकारि सम्पादकत्व परस्पर अङ्गाङ्गिभाव का प्रयोजकत्व जैसे है वैसे दृष्टान्त स्थल पर हीष्—ऊर्क्—ऊ— इनमें कोई करण स्वरूप सम्पादक है और कोई करण सहकारि सम्पादक है— ऐसा परस्पर अङ्गाङ्गिभाव का प्रयोजकत्व नहीं है। अतः इनमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव न मानकर समान रूप से सबमें अङ्गता ही मानी जाती है।।५।।

शङ्का— एवम् = करण के स्वरूप के उपकारक को अङ्गी और करण के सहकारी उपकारक को अङ्ग मानने पर करण (याग) से जन्य जो उत्पत्ति अपूर्व उसकी उत्पत्ति में अवघातादि करण स्वरूप के उपकारक होते हैं क्योंकि याग रूप करण के दो स्वरूप माने जाते हैं— द्रव्य और देवता। द्रव्य स्वरूप का उपकारक अवघातादि होता है, क्योंकि धान को कूटकर चावल बनाया जाता है और पुनः चावल से पुरोडास बनता है। अतः करण के स्वरूप का उपकारक होने से अवघातादि अङ्गी होंगे। इसी प्रकार याग रूप करण से परमापूर्व की उत्पत्ति में प्रयाजादि याग रूप करण के सहकारी होते हैं। अतः प्रयाजादि को अङ्ग मानना पड़ेगा। अर्थात् करणापूर्व उत्पत्ति में यागार्थ अवघातादि जो हैं। उनका शेष प्रयाजादि हो जायेंगे क्योंकि अवघातादि और प्रयाजादि का पर्यवसान परमापूर्व में ही होता है। जैसे शब्द रूप करण के स्वरूप उपकारक श्रवण को अङ्गी और सहकारी उपकारक मनन निदिध्यासन को अङ्ग मानते हैं, क्योंकि श्रवण और मनन निदिध्यासन का पर्यवसान अपरोक्षानुभूति में ही होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ एक ही फल होता है वहाँ करण के स्वरूप उपकारक को अङ्गी और करण के सहकारी उपकारक को अङ्ग माना जाता है। दार्ष्टान्त में ब्रह्म साक्षात्कार रूप एक ही फल है। उसके करण शब्द के स्वरूप उपकारक श्रवण को अङ्गी और सहकारी उपकारक मनन निदिध्यासन को अङ्ग माना जाता है किन्तु दृष्टान्त में ऐसा नहीं है, क्योंकि अवघातादि उत्पत्यपूर्व रूप फल के उद्देश्य से याग रूप करण के स्वरूप का उपकारक होता है और प्रयाजादि परमापूर्व रूप फल के उद्देश्य से याग रूप करण के सहकारी होते हैं। इस प्रकार भिन्न—भिन्न फल के उद्देश्य से प्रयुक्त होने से अवघातादि और प्रयाजादि में अङ्गाङ्गिभाव नहीं माना जा सकता है।

शब्दातिशयाधायकस्य श्रवणस्य साक्षात्कारफलजनकाङ्गित्वं कथमिति—चेत्, साक्षात्त्वं न जातिः नवा इन्द्रियजन्यत्वादिकं नियामकं किन्तु विषयगताज्ञाननिवर्तकत्वमेवापरोक्षत्वे प्रयोजकम्। तच्चाज्ञाननिवर्तकत्वं विषयपर्यन्तत्वेन। तच्चात्मपर्यन्तत्वादत्रास्त्येवेति नादृष्टकल्पना॥६॥

इदं च प्रकरणबलादपि सिद्धमस्याङ्गित्वम्; श्रवणस्य फलसम्बन्धेन प्राधान्यसिद्धावितिकर्तव्यताकाङ्क्षायाः सम्भवात्। ननु—यद्यपि चित्तैकाग्र्यस्य सूक्ष्मवस्तुज्ञानहेतुत्वं दृष्टमस्तिः तथापि मननं न चित्तैकाग्र्यहेतुः युक्त्यनुसन्धानरूपमननस्यायुक्तत्वशङ्कानिवर्तकताया एव दृष्टत्वेन चित्तैकाग्र्यहेतुत्वकल्पने सति दृष्टहान्यापत्तेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता नहीं है अपितु परोक्ष ज्ञान ही होता है। इस आशय से कह रहा है कि लोक में देखा जाता है कि शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है। तब शब्द रूप करण के उपकारक श्रवण में साक्षात्कार रूप फल की जनकता रूप अङ्गित्व कैसे माना जा सकता है?

समाधान— साक्षात्व धर्म को जाति रूप नहीं माना जाता है, क्योंकि प्रमात्व के साथ साङ्कर की आपत्ति होगी। इन्द्रिय जन्यत्व को साक्षात् का लक्षण मानने पर ईश्वर प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होगी। इसलिए विषयगत अज्ञान निवर्तकत्व को ही अपरोक्षत्व माना जाता है। अज्ञान निवर्तकत्व विषय पर्यन्त होता है। विषयपर्यन्तत्व तो आत्मपर्यन्त होता है। ऐसा विषय संसृष्ट अज्ञान निवर्तकत्व शब्द जन्य ज्ञान में भी है, क्योंकि आत्मविषयक शब्द श्रवण के द्वारा उत्पादित ज्ञान भी आत्मविषयक अज्ञान का निवर्तक माना जाता है। अतः इसको भी साक्षात्कार कहा ही जा सकता है। अतः श्रवण में साक्षात्कार रूप फल की जनकता कोई नवीन कल्पना नहीं है॥६॥

अब उभयाकांक्षात्मक प्रकरण प्रमाण के बल पर श्रवण में अङ्गित्व और मनन निदिध्यासन में अङ्गत्व दिखलाते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ०उ०२—४—६) यहाँ पर आत्म साक्षात्कार फल है। इसके साधन (करण) के रूप से श्रवण कहा गया। करण का सम्पादन कैसे करें? इसके लिए मनन और निदिध्यासन कहे गये हैं। अर्थात् मनन निदिध्यासन से जब चित्तगत विक्षेपादि निवृत्त हो जाते हैं तब शुद्ध चित्त से श्रवण करने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। इसी को मूल में कहा गया कि प्रकरण प्रमाण के बल से अर्थात् मनन निदिध्यासन रूप इतिकर्तव्यता को श्रवण के प्रति जो आकांक्षा— "कथं श्रवणेन आत्मसाक्षात्कारः कर्तव्यः" है। इसके उत्तर में "मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" ऐसा कहे जाने से सिद्ध होता है कि मनन निदिध्यासन अङ्ग हैं और श्रवण अङ्गी है, क्योंकि करण के सहायक उपकारक को अङ्ग ही माना जाता है। इस प्रकार श्रवण को मनन निदिध्यासन की आकांक्षा है— यह दिखाया गया। आगे मनन निदिध्यासन को श्रवण की आकांक्षा कैसे है? इसके लिए कह रहे हैं कि श्रवण पहले अङ्गी हो तो उसे अङ्ग की आवश्यकता होगी। अब श्रवण अङ्गी कैसे? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि श्रवण आत्म साक्षात्कार रूप फल से सम्बन्ध है। अतः वह अङ्गी होगा और अङ्गी होने पर इति कर्तव्यता की आकांक्षा की पूर्ती के लिए मननादि अङ्ग की आवश्यकता होगी। जैसे दर्शपूर्णमास याग अङ्गी है क्योंकि उसका फल (स्वर्ग) से सम्बन्ध है। अर्थात् उसका साधन है। किन्तु प्रयाजादि का किसी फल से सम्बन्ध नहीं है। अतः इनको अपनी सार्थकता के लिए अङ्गी की आवश्यकता होती है। इस प्रकार उभयाकांक्षा रूप प्रकरण के बल पर अङ्गाङ्गिभाव माना जाता है।

शङ्का— (पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती यह जो कह रहे हैं कि मनन चित्तगत एकाग्रता सम्पादन के द्वारा असम्भावनादि दोषों को निवृत्त करता हुआ आत्मसाक्षात्कार में परम्परया हेतु बनता है और

मननविधेरपूर्वविधित्वापाताच्च। 'मतिर्यावदयुक्तता' इति स्मृतिविरोधाच्चेति—चेन्न; तादृक्छङ्कायां सत्यां नानाकोटौ चित्तविक्षेपस्य तस्याश्चनिवृत्तौ युक्तत्वेनावधारणविषयकोटौ चित्तप्रवणतायास्तावत्पर्यन्तत्वस्य दृष्टत्वेन दृष्टहान्यपूर्वविधिस्मृतिविरोधाभावाद् निदिध्यासनस्य तु विपरीतभावनानिवर्तकता सकलसिद्धा। ननु—तन्निवृत्तेः न ज्ञानहेतुता दृष्टा रूप्यसंस्कारानुवृत्तावपि शुक्तिसाक्षात्कारदर्शनादिति—चेत्; 'इयं शुक्तिः' इति ज्ञानानन्तरं तद्रजततया ज्ञातमिति स्मृतेर्ज्ञानगोचरसंस्कारसत्त्वेऽपि तद्रजतमित्यस्मरणेन विपरीतसंस्कारनिवृत्तेस्तत्रापि सत्त्वात्।।७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

निदिध्यासन विपरीत भावना को निवृत्त करता हुआ चित्तगत एकाग्रता की दृढ़ता के द्वारा आत्मसाक्षात्कार का परम्परया हेतु बनता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) यद्यपि लोक में देखा जाता है कि चित्त की एकाग्रता सूक्ष्म वस्तु के ज्ञान में हेतु बनती है तथापि मनन चित्तगत एकाग्रता का हेतु नहीं होता है, क्योंकि युक्ति पूर्वक अनुसन्धान रूप मनन ब्रह्मात्मैक्य में अयुक्तत्व शङ्का का निवर्तक ही देखा जाता है। अर्थात् अयुक्तत्त्व शङ्का निवर्तकत्व ही मनन का दृष्ट फल है। ऐसा होने पर भी यदि मनन को चित्तगत एकाग्रता का हेतु माना जायेगा तब दृष्ट (अयुक्तत्त्व शङ्का निवर्तकत्व रूप दृष्ट फल) की हानि होगी और अदृष्ट की कल्पनापत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि मनन का फल = चित्तगत एकाग्रता। वह प्रमाणान्तर से अप्राप्त होने के कारण मनन विधि को अपूर्व विधि मानना पड़ेगा। इसी प्रकार ''मतिर्यावादयुक्तता'' इत्यादि स्मृति से विरोध होगा, क्योंकि इस स्मृति में कहा गया कि ''मति (मनन) तब तक करना चाहिए जब तक अयुक्तत्त्व की शङ्का निवृत्त न हो जाय।'' अतः इस स्मृति से यह सिद्ध होता है कि अयुक्तता की शङ्का मात्र की निवृत्ति ही मनन से होती है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अयुक्तत्व की शङ्का के विद्यमान होने पर चित्त नाना कोटियों में विभक्त होने से विक्षेप युक्त रहता है किन्तु मनन के द्वारा अयुक्तत्व की शङ्का के निवृत्त हो जाने पर युक्तत्व अवधारण विषयक एक मात्र कोटि में चित्त के स्थिर हो जाने पर अर्थात् चित्त में एकाग्रता आ जाने पर चित्त में ब्रह्मात्मैक्य बोध रूप फल की जनकता देखी जाती है। अतः दृष्ट की हानि— अदृष्ट की कल्पना— अपूर्वविधि तथा स्मृति विरोध की आपत्ति नहीं आयेगी। निदिध्यासन में तो विपरीत भावना (विपरीत संस्कार) की निवर्तकता सर्व सम्मत ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि निदिध्यासन से विपरीत संस्कार की निवृत्ति होती है— यह सर्व सम्मत होने पर भी विपरीत संस्कार की निवृत्ति को ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शुक्ति के साक्षात्कार के पश्चात् भी ''एतावन्तं कालं रजतमभात्'' ऐसा रजत विषयक संस्कार की अनुवृत्ति देखी जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि विपरीत संस्कार की निवृत्ति के न होने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि ''इयं शुक्तिः'' इत्याकारक ज्ञान के पश्चात् ''तद् रजतया ज्ञातम्'' इत्याकारक स्मृति से ज्ञान विषयक संस्कार का सत्त्व सिद्ध होने पर भी ''तद् रजतम्'' इस प्रकार से स्मरण न होने से यह सिद्ध हो जाता है कि शुक्ति साक्षात्कार के पश्चात् विपरीत संस्कारों की अनुवृत्ति नहीं होती है। कहने का भाव यह है कि शुक्ति साक्षात्कार के अनन्तर रजत का संस्कार चलता नहीं रहता है अपितु रजत के ज्ञान का संस्कार चलता रहता है, क्योंकि शुक्ति ज्ञान के अनन्तर ''वह रजत'' ऐसी स्मृति नहीं होती है अपितु यह स्मृति होती है कि इस शुक्ति का रजत रूप से मुझे इसके पहले ज्ञान हुआ था। अतः भ्रम निवृत्ति स्थल पर विपरीत संस्कारों की निवृत्ति ही मानी जायेगी। अतः विपरीत संस्कारों के रहने पर भी शुक्ति का साक्षात्कार देखा जाता है—ऐसा जो पूर्वपक्षी का कथन था— उसका खण्डन हो गया।।७।।

ननु—शब्दसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेन 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इत्यादिवाक्येन निदिध्यासनस्य फलसम्बन्धात् प्रकरणेन च श्रवणादिकं निदिध्यासने सन्निपत्याङ्गमिति—चेन्न; निदिध्यासनपदस्य बर्हिर्देवसदनमित्यादाविव साक्षात्काररूपफलसम्बन्धे न शक्तिरिति शब्दसामर्थ्याभावात्। वाक्येऽपि योग्यताबलाच्छ्रवणमेवाध्याह्रियते। तथा च तत्र ततः श्रवणाद्ध्यायमानो निष्कलं ब्रह्म पश्यतीत्यनुकूलार्थस्यैव पर्यवसानात्। तस्माद् ''द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इति दर्शनेनाव्यवहितपाठरूपसन्निधानात् श्रवणस्य दर्शनेन साक्षादन्वयादङ्गित्वम्।।८।।

किञ्च निदिध्यासनरूपभावनाप्रकर्षजन्यत्वे साक्षात्कारस्य कामिनीसाक्षात्कारवद् अप्रमात्वापातः। न च

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— अब पूर्वपक्षी निदिध्यासन को अङ्गी और श्रवण मनन को अङ्ग सिद्ध करते हुए कह रहा है कि शब्द सामर्थ्य रूप जो लिङ्ग है। उसके द्वारा निदिध्यासन में ब्रह्मात्मैक्य बोध रूप फल की जनकता सिद्ध होती है, क्योंकि ''ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'' (मु०उ०३—१—८) (ततस्तु = निदिध्यासन के अनन्तर, ध्यान करने वाला पुरुष निरवयव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है।) इस वाक्य से निदिध्यासन का आत्मसाक्षात्कार रूप फल से सम्बन्ध सिद्ध होता है। अतः निदिध्यासन अङ्गी होगा। ''कथं निदिध्यासनेन अङ्गिना साक्षात्कारः कर्तव्यः'' इस आकांक्षा के बल से अर्थात् प्रकरण प्रमाण के बल से निदिध्यासन के स्वरूप उपकारक होने से श्रवणादि निदिध्यासन के अङ्ग होंगे।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द सामर्थ से पद सामर्थ्य लेने पर ''बर्हिर्देवसदनं दामि'' इस मन्त्र के घटक ''दामि'' पद की जैसे कुश काटने में पद सामर्थ्य मानी जाती है वैसे निदिध्यासन पद की आत्मसाक्षात्कार रूप फल के साथ निदिध्यासन का सम्बन्ध है— इसको बतलाने में सामर्थ्य नहीं मानी जाती है, क्योंकि यदि निदिध्यासन रूप भावना के प्रकर्ष से आत्मसाक्षात्कार माना जायेगा तब वह कामिनी साक्षात्कार के समान ही अप्रमात्मक हो जायेगा। अतः शब्द सामर्थ्य से पद सामर्थ्य नहीं लिया जा सकता है। यदि शब्द सामर्थ्य से वाक्य सामर्थ्य लेते हैं तब तो श्रवण में भी साक्षात्कार करने की योग्यता होने से उस योग्यता के बल पर ''ततस्तु तम्'' इत्यादि में ''ततः'' इस पद से ''श्रवणतः'' ऐसा लिया जा सकता है। अथवा श्रवण का अध्याहार कर लिया जायेगा। तब उक्त श्रुति का अर्थ होगा कि ''श्रवण से ध्यान करता हुआ निष्कल ब्रह्म को देखता है।'' इस प्रकार से श्रवण अङ्गी है— इस अर्थ के अनुकूल अर्थ की सिद्धि हो जायेगी। तस्मात् = ''ततस्तु तं पश्यते'' इस वाक्य से भी श्रवण अङ्गी सिद्ध हो जाने से ''द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' इस प्रकार दर्शन से अव्यवहित पाठ रूप सन्निधान से श्रवण का दर्शन के साथ साक्षात् अन्वय होने से श्रवण में अङ्गित्व और मनन निदिध्यासन में अङ्गत्व सिद्ध होता है।।८।।

किञ्च निदिध्यासन रूप भावना प्रकर्ष से जन्य आत्मसाक्षात्कार को मानने पर आत्मसाक्षात्कार में अप्रमात्व की आपत्ति होगी। जैसे कामिनी के भावना प्रकर्ष से होने वाला कामिनी साक्षात्कार में अप्रमात्व माना जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त प्रकार से निदिध्यासन से जन्य आत्मसाक्षात्कार में अप्रमात्व की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि निदिध्यासन के साक्षात्कार जनकता में ''ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'' (मु०उ०३—१—८) यह निर्दोष श्रुति वाक्य प्रमाण है। अतः उसमें प्रमात्व ही माना जायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तर्हि = मूल प्रमाण (वेदान्त वाक्य) ही आत्मसाक्षात्कार में साक्षात् करण (अङ्गी) रहे। तद् = वेदान्त वाक्य का आश्रय कर के अर्थात् परम्परया वेदान्त वाक्य से

मूलप्रमाणदार्ढ्यात् प्रमात्वं, तर्हि तदेव साक्षात्करणमस्तु? किं तदुपजीविनान्येन एतेन— निदिध्यासनसहकृतमनसः करणत्वमपि—निरस्तम्।।९।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अन्य निदिध्यासन को आत्मसाक्षात्कार का करण मानने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार निदिध्यासन सहकृत मन को आत्मसाक्षात्कार का करण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उपजीव्य वेदान्त वाक्य अर्थात् वेदान्त श्रवण में ही करणत्व सम्भव है। अर्थात् वेदान्त वाक्य का आश्रय कर के ही पूर्वपक्षी निदिध्यासन सहकृत मन में आत्मसाक्षात्कार की करणता सिद्ध कर रहा है। इसकी अपेक्षा तो वेदान्त वाक्य में ही आत्मसाक्षात्कार की करणता मान लेना न्याय सङ्गत है— यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।।९।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वम् :—

२— श्रवणादिवाक्यस्य नियमविधित्वविचारः

तच्च श्रवणादिकं विषयावगमं प्रत्यन्वयव्यतिरेकसिद्धोपाय इति तद्विधेर्नापूर्वविधित्वम्, किन्तु नियमविधित्वमेव। ननु—अत्र श्रवणस्यापरोक्षफलं प्रति साधनत्वम्, तच्चान्यतो नावगतमित्यपूर्वविधित्वमिति—चेन्न; गान्धर्वशास्त्रविचारे षड्जादिसाक्षात्कारे हेतुताया दृष्टत्वात्। न च—एतावता शास्त्रविचारः सर्वत्रार्थसाक्षात्कारहेतुरिति न सिद्धम्, धर्मशास्त्रविचारे व्यभिचारादिति—वाच्यम्; अपरोक्षार्थकशास्त्रविचारत्वेन साक्षात्कारजनकतायास्तद्दर्शनबलेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

{अपौरुषेय वाक्य रूप वेद के पाँच भाग होते हैं— विधि—मन्त्र—नामधेय—निषेध और अर्थवाद। विधि तीन प्रकार की होती है— प्रथम—प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ के विधायक विधि को अपूर्वविधि कहा जाता है। यह चार प्रकार की होती है— उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, प्रयोग विधि और अधिकार विधि। द्वितीय— नाना साधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तौ— अप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। अर्थात् नाना साधनों से साध्य क्रिया में एक साधन की प्राप्ति होने पर अप्राप्त अपर साधन की प्रापक विधि को नियम विधि कहा जाता है। तृतीय— उभयोश्च युगपत्प्रातौ—इतर व्यावृत्ति परो विधिः परिसंख्याविधिः। अर्थात् दोनों विधानों के एक साथ प्राप्त होने पर एक की निवारक विधि को परिसंख्या विधि कहा जाता है।} ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' (बृ०उ० २—४—५) इस श्रवणादि विधायक वाक्य में कौन विधि है? इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि श्रवण आदि विषय अवगम के प्रति हेतु हैं— यह अर्थ अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध है। जैसे श्रवणादि सत्त्वे विषयावगमसत्त्वम्। तदभावे तदभावः। इसलिए श्रवणादि विधि को प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ का बोधक अपूर्व विधि नहीं माना जा सकता है। अतः ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' इसको नियम विधि ही मानना उचित है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' इस श्रुति में श्रवण को आत्मसाक्षात्कार के प्रति साधनत्व कहा गया है। उक्त साधनत्व शब्देतर प्रमाण से अवगत नहीं है। अतः उक्त श्रुति वाक्य में अपूर्व विधि मानना चाहिए न कि नियम विधि।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवण में साक्षात्कार की साधनता यदि केवल शब्द प्रमाण से ही सिद्ध होती तब तो श्रवण में अपूर्व विधि मानी जा सकती थी किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि श्रवण में साक्षात्कार की साधनता शब्देतर प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। जैसे षड्जादि स्वरों के प्रतिपादक गन्धर्व शास्त्र के विधिवत श्रवण में षड्जादि के साक्षात्कार की साधनता प्रत्यक्ष सिद्ध है।

शङ्का— एतावता = गन्धर्व शास्त्र के श्रवण में षड्जादि साक्षात्कार की साधनता प्रत्यक्ष सिद्ध होने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता है कि शास्त्र का श्रवण सर्वत्र साक्षात्कार का साधन होता है— यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। अर्थात् जहाँ जहाँ शास्त्र का श्रवण होता है वहाँ वहाँ शास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थ के साक्षात्कार का जनक श्रवण होता है— यह प्रत्यक्ष सिद्ध है— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि धर्मशास्त्र के श्रवण में हेतु है किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि धर्मशास्त्र का श्रवण तो होता है किन्तु धर्मशास्त्र के श्रवण से धर्म का साक्षात्कार नहीं होता है, क्योंकि धर्म को अतीन्द्रिय पदार्थ माना जाता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि हमारा कथन यह है कि जहाँ जहाँ अपरोक्षार्थक शास्त्र का श्रवण होता है वहाँ वहाँ शास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थ के साक्षात्कार का जनक श्रवण होता है— यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। ऐसा नियम होने से धर्मशास्त्र के श्रवण में व्यभिचार दोष नहीं होगा, क्योंकि धर्मशास्त्र अपरोक्षार्थक शास्त्र नहीं माना जाता है। इस नियम के लिए गन्धर्वशास्त्र श्रवण में षड्जादि स्वर के साक्षात्कार की जो

सिद्धेः। आत्मा च षड्जादिवदपरोक्षः न धर्मादिः।१ ।।

नच—अपरोक्षे विचारवैयर्थ्यम्, नहि यद्यदपरोक्षं तत्तद्विचार्यत इति नियम इति—वाच्यम्; अपरोक्षे विचार्यत्वनियमाभाववदविचार्यत्वनियमोऽपि नास्ति। षड्जादावपरोक्षेऽपि विचार्यत्वदर्शनात् तद्वदेव साफल्यसम्भवाच्च। सन्दिग्धत्वसप्रयोजनत्वयोरेव सर्वत्र विचार्यत्वे प्रयोजकत्वात्। एतेन—विचार्यशास्त्रार्थस्य साक्षात्कारयोग्यस्य साक्षात्कारे स हेतुरिति न युज्यते, कालान्तरे साक्षात्करिष्यमाणत्वेन तद्योग्ये विचार्यशास्त्रार्थे स्वर्गनिध्यादौ विचारेण तदभावादिति—निरस्तम्; निध्यादिसाक्षात्कारे तदसन्निकर्षादजातेऽपि विचारस्य तद्धेतुता न गच्छति। तत्र (विचारस्य) विचार इन्द्रियसहकारित्वेन तद्विलम्बेन विलम्बात्, प्रकृते तु शाब्दत्वात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

हेतुता है जो कि प्रत्यक्ष सिद्ध है। वह दृष्टान्त बन जायेगा। दार्ष्टान्त मे षड्जादि के जैसे आत्मा का भी साक्षात्कार होता है। वह आत्मा का साक्षात्कार अन्वय व्यतिरेक से भी सिद्ध होने से शब्देतर प्रमाण से अधिगत है। अतः श्रवण में अपूर्व विधि न मानकर नियम विधि मानना ही उचित है।१ ।।

शङ्का— यदि आत्मा अपरोक्ष है तब आत्मविषयक शास्त्र का श्रवण करना व्यर्थ होगा, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो जो विषय अपरोक्ष है उस उस विषय का श्रवण अवश्य करना ही होगा, क्योंकि घटादि में व्यभिचार दोष होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे अपरोक्ष वस्तु में विचार्यत्व का नियम नहीं है वैसे ही अपरोक्षवस्तु में अविचार्यत्व का भी नियम नहीं है (क्योंकि षड्जादि साक्षात्कार में व्यभिचार दोष होगा।) अतः षड्जादि के अपरोक्ष होने पर भी जैसे षड्जादि में विचार्यत्व और विचार साफल्य देखा जाता है वैसे ही आत्मा का अपरोक्ष होने पर आत्मा में विचार्यत्व और विचार साफल्य सम्भव है। ''यत्र यत्र विचार्यत्वं तत्र तत्र सन्दिग्धत्वं सप्रयोजकत्वं च'' ऐसी व्याप्ति जो है। वह आत्मविषयक विचार में भी है। (इसका उल्लेख भामति के प्रारम्भ में भी है।)

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अपरोक्ष के योग्य जो विषय। तद् विषयक शास्त्र के श्रवण में जो विचार्यार्थ के साक्षात्कार की हेतुता कहीं गयी है— वह उचित नहीं है, क्योंकि कालान्तर में अपरोक्ष होने वाले स्वर्ग और निधि भी अपरोक्ष योग्य पदार्थ हैं। अतः स्वर्गादि विषयक शास्त्र को भी अपरोक्ष योग्यार्थक शास्त्र कहा ही जा सकता है किन्तु स्वर्गादि प्रतिपादक शास्त्रों के श्रवण करने पर भी स्वर्गादि का साक्षात्कार नहीं होता है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि स्वर्ग—निधि आदि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष के न होने से निधि—स्वर्गादि का साक्षात्कार न होने पर भी श्रवणनिष्ठ साक्षात्कार हेतुता दूर नहीं होती है। निधि स्वर्गादि विषयक शास्त्र का श्रवण करने पर भी स्वर्गादि के साक्षात्कार में इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप जो सहकारी है। उस सहकारी के विलम्ब से स्वर्गादि साक्षात्कार में विलम्ब होता है किन्तु प्रकृत में अर्थात् आत्म साक्षात्कार के शाब्दत्व होने से इन्द्रिय सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं होती है। अतः अपरोक्ष आत्मविषयक शास्त्र के श्रवण में अपरोक्ष योग्य जो आत्मा। उसके साक्षात्कार रूप कार्य के प्रति हेतुता रहेगी। फलतः ''यो योऽपरोक्षयोग्यार्थकशास्त्रश्रवणः स स शास्त्रप्रतिपाद्यार्थसाक्षात्कारजनकः'' ऐसी व्याप्ति में कोई दोष न होने से श्रवण में आत्मसाक्षात्कार की हेतुता मानने में कोई दोष नहीं है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि आत्मसाक्षात्कार रूप कार्य से विजातीय कार्य = षड्जादि साक्षात्कार रूप कार्य है और वेदान्त विचार से विजातीय विचार षड्जादि विचार है। ऐसे षड्जादि

साक्षात्कारस्य न तदपेक्षा; अपरोक्षयोग्यार्थसाक्षात्कारत्वेन कार्यत्वस्य तादृशार्थकशास्त्रविचारत्वेन साधनत्वस्य सत्त्वात्। एतेन—प्रकृतकार्यविजातीयकार्ये प्रकृतविचारविजातीयविचारस्य हेतुताक्लृप्तिमात्रेण तस्यापूर्वविधित्वत्यागे अपूर्वविधिमात्रोच्छेदापात इति—निरस्तम्।।२।।

ननु—पाक्षिकप्राप्तौ नियमः, सा च साधनान्तरप्राप्तौ, नच रूपादिरहितात्मज्ञाने तत्प्राप्तिरस्तीति—चेन्न; निर्विशेषात्मनि मानान्तराप्राप्तावपि आत्मनि सामान्यतस्तत्प्राप्तिरस्तीति नियमसम्भवात्। यथाऽपूर्वीयेषु व्रीहिविशेषेषु नखविदलनादेरप्राप्तावपि व्रीहिसामान्ये तत्प्राप्त्या व्रीहीनवहन्तीति नियमविधिः। ननु— व्रीहीनवहन्तीन्यत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

विचार में हेतुता अन्वय व्यतिरेक से प्राप्त है। इतने मात्र से वेदान्त श्रवण विधि में अपूर्व विधित्व का अभाव मानने पर अपूर्व विधि मात्र का उच्छेद हो जायेगा, क्योंकि ''यजेत स्वर्गकामः'' इत्यादि स्थलों पर भी अपूर्व विधि नहीं माना जा सकेगा क्योंकि स्वर्ग और याग में स्वर्गत्वेन और यागत्वेन कार्यकारणभाव प्रमाणान्तर से अधिगत न होने पर भी उनसे विजातीय घट और दण्ड में घटत्वेन और दण्डत्वेन कार्यकारणभाव प्रमाणान्तर से अधिगत है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अपरोक्षयोग्यार्थक साक्षात्कारत्वेन कार्यता और अपरोक्षयोग्यार्थक शास्त्रश्रवणत्वेन कारणता मानने से कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार और षड्जादि साक्षात्कार स्थल पर विजातीयता होने पर भी व्याप्ति का समन्वय होता है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि नियम विधि वहाँ मानी जाती है जहाँ जिस पक्ष से प्राप्ति है। उससे भिन्न पक्ष से भी प्राप्ति है। प्रकृत में आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति वेदान्त श्रवण से है। इससे भिन्न प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति ही नहीं है, क्योंकि उद्भूत रूप और महत् परिमाण होने पर ही साक्षात्कार होता है किन्तु आत्मा में तो रूप रहता ही नहीं है। फलतः पक्षान्तर में प्राप्ति न होने से श्रवण विधि को अपूर्व विधि ही मानना चाहिए न कि नियम विधि।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि निर्विशेष आत्मा का ज्ञान वेदान्त श्रवण से इतर प्रमाण से प्राप्त न होने पर भी सविशेष आत्मा का सामान्यतः ज्ञान नैयायिकादि मतानुसार अनुमानादि प्रमाणों से प्राप्त है। निर्विशेष और सविशेष आत्मा का तादात्म्य होने के कारण आत्मज्ञान की नैयायिकादि मतानुसार पक्षान्तर में प्राप्ति होने से श्रवण में नियम विधि माना ही जा सकता है। जैसे ''व्रीहीनवहन्ति'' इस स्थल पर व्रीहि शब्द से प्रोक्षणादि संस्कारों से युक्त यज्ञीय विशेष व्रीहि ली जाती है। ऐसे संस्कारों से युक्त विशेष व्रीहि के उद्देश्य से यद्यपि कहीं भी नखविदलनादि का विधान प्राप्त नहीं होता है अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण से नखविदलनादि की प्राप्ति प्रोक्षणादि से रहित सामान्य व्रीहि में ही है तथापि विशेष व्रीहि और सामान्य व्रीहि में तादात्म्य होने के कारण अवघात की पाक्षिकी प्राप्ति मानकर 'व्रीहीनवहन्ति'' में नियम विधि मानी जाती है।

शङ्का— ''व्रीहीनवहन्ति'' इस स्थल पर व्रीहि शब्द अपूर्वीय द्रव्य का बोधक है न कि व्रीहित्वेन व्रीहि मात्र का बोधक है। अन्यथा व्रीहित्वेन व्रीहि मात्र का बोधक व्रीहि शब्द को मानने पर ''व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा'' इस श्रुति के द्वारा व्रीहि न मिलने पर यव से भी पुराडाश बनाकर हवन करने का विधान किया गया है किन्तु यव में तुष विमोचन के विना पुराडाश नहीं बन सकता है किन्तु यव में अवघात के द्वारा तुष विमोचन करने का विधान किसी भी श्रुति के द्वारा नहीं किया गया है। इसलिए ऐसी अवस्था में क्या करें? इसलिए कहा गया कि ''व्रीहीनवहन्ति'' इस श्रुति के द्वारा ही यव में अवघात का विधान मानना पड़ेगा। वह नहीं हो पायेगा, क्योंकि व्रीहि का अर्थ यदि व्रीहित्वेन व्रीहि करते है तब व्रीहि पद से व्रीहि में ही अवघात प्राप्त होगा यव में अवघात प्राप्त नहीं हो पायेगा। यदि व्रीहि पद का अर्थ करें कि जिन द्रव्यों से अपूर्व पैदा होता

व्रीहिपदमपूर्वीयद्रव्यपरं नतु व्रीहिमात्रपरम्, अन्यथा यवेष्ववघात औपदेशिको न स्यात्, नीवारेषु च व्रीहित्वाभावेनातिदिष्टोऽपि बाध्येतेति नवमे स्थापितत्वेनापूर्वीयद्रव्य एव नखविदलनादिप्राप्तिर्वक्तव्या। अन्यथा वैतुष्यमात्रे अवघातनियमे द्रव्यार्जने याजनाद्युपायनियमवत् तस्य पुरुषार्थत्वप्रसङ्गेन लौकिकेष्वपि व्रीहिषु दलने प्रत्यवेयादिति—चेत्।।३।।

न; नियम्यमानावघातस्यापूर्वीयद्रव्यमात्रविषयत्वेऽपि सामान्यविषयकप्राप्त्यैव नियमोपपत्तौ विशेषविषयप्राप्तेरनपेक्षितत्वात्। नच—निर्विशेषसविशेषरूपविशिष्टद्वयानुगते विशेषाभावादिद्वारा वेदान्तवेद्ये

सत्यानन्दप्रबोधिका

है उन अपूर्वीय द्रव्य में अवघात करें तब ''व्रीहीनवहन्ति'' इस श्रुति से यव में अवघात वैध होगा। इसी प्रकार व्रीहि न मिलने पर विकृति याग नीवार से किया जाता है। यहाँ पर शङ्का होती है कि नीवार का अवघात करें या न करें? इसका समाधान करते हुए पूर्वमीमांसा के नवम अध्याय के द्वितीय पाद के द्वादश अधिकरण के चालीस सूत्र के द्वारा प्रकृतियाग में व्रीहि में जो अवघात का विधान किया गया है। उसका अतिदेश निवार में भी किया गया है। किन्तु प्रकृति याग में आये हुए व्रीहि पद का व्रीहित्वेन व्रीहि अर्थ यदि करते हैं तब तो वह अतिदेश बाधित हो जायेगा, क्योंकि नीवार में तो व्रीहित्व ही नहीं है। जिससे उसे व्रीहि मानकर अवघात किया जाय। यदि व्रीहि शब्द का अर्थ अपूर्वीय द्रव्य करते हैं तब उक्त अतिदेश का बाध नहीं होगा, क्योंकि अपूर्वीय द्रव्य जैसे व्रीहि है वैसे ही नीवार भी है। फलतः व्रीहि शब्द से अपूर्वीय द्रव्य लेना होगा और उस अपूर्वीय द्रव्य में ही नख विदलनादि की प्राप्ति माननी होगी। अन्यथा = व्रीहि शब्द का अर्थ अपूर्वीय द्रव्य न लेकर व्रीहित्वेन व्रीहि मात्र लेने पर, अवघात का प्रयोजन क्या है? केवल छिलका निकालना (तुष विमोचन) है? अथवा अपूर्व पैदा करना है? प्रथम पक्ष में वह अवघात क्रतु के लिए न होकर के पुरुषार्थ हो जायेगा। जैसे ''याजनाध्ययनाभ्यां च द्विजो द्रव्यमुपार्जयेत'' इस स्तुति के द्वारा कथित ब्राह्मण के द्वारा यजन अध्यापन से जो प्रतिग्रह होता है। वह अपूर्व उत्पत्ति के लिए नहीं होता है अपितु द्रव्यार्जन के लिए होता है। अतः उसे पुरुषार्थ माना जाता है। द्वितीय पक्ष अर्थात् अपूर्व के लिए अवघात मानने पर तब तो लोक में भी जहाँ वैतुष्य के उद्‌देश्य से अवघात किया जाता है वहाँ भी अवघात नियम विधि लागू हो जाने से लोक में यदि कोई अवघात से वितुषी करण न कर के नख विदलनादि से करता है तब तो उससे प्रत्यवाय होना चाहिए, क्योंकि उसने नियम विधि का पालन नहीं किया है। अर्थात् जैसे क्रत्वर्थ अङ्गों में वैगुण्य आ जाने से याग में भी विगुणता आ जाती है वैसे ही पुरुषार्थ अङ्गों का व्यत्यय हो जाने पर अर्थात् अवघात न कर के नख विदलनादि कर देने पर पुरुष को प्रत्यवाय की प्राप्ति होगी। जैसे ब्राह्मण यजन— अध्यापन से द्रव्य का उपार्जन न कर के जब व्यापारादि से द्रव्य का उपार्जन करता है तब उसे प्रत्यवाय की प्राप्ति होती है।।३।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नियम्यमान अवघात का विषय अपूर्वीय द्रव्य मात्र के होने पर भी अर्थात् नियम्यमान अवघात केवल अपूर्वीय व्रीहि में होता है— ऐसा स्वीकार करने पर भी सामान्य (लौकिक) व्रीहि में जो नख विदलनादि की प्राप्ति है। उसके बल पर नियम विधि की उपपत्ति हो जाती है। क्योंकि दोनों (अपूर्वीय व्रीहि और सामान्य व्रीहि) में तादात्म्य होता है। अतः नियम विधि की उपपत्ति के लिए विशेष विषय = अपूर्वीय व्रीहि में नख विदलनादि की प्राप्ति दिखलाना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार ''व्रीहीनवहन्ति'' में व्रीहि शब्द का अर्थ अपूर्वीय द्रव्य स्वीकार कर लेने से पूर्वपक्षी ने जो व्रीहि शब्द का व्रीहित्वेन व्रीहि मात्र को लेकर दोष दिया था। उसका खण्डन हो गया।

चिन्मात्रे न मानान्तरप्राप्तिरिति—वाच्यम्; उभयानुगते सविशेषतया प्रमेयतायां मानान्तरप्राप्तेः सत्त्वात्। सजातीये प्राप्त्यापि यत्र सजातीयान्तरे नियमसम्भवः; तदा किमु वाच्यमेकस्मिन्नेवात्मनि अवस्थाविशेषेण मानान्तरप्राप्त्या विशेषान्तरे नियम इति। न च—एवं विशेषान्तरे प्राप्त्या विशेषान्तरनियमे वैयधिकरण्यमिति—वाच्यम्; व्यक्तिसामानाधिकरण्याभावेऽपि अनन्यगत्या सामान्यधर्ममादाय सामानाधिकरण्याङ्गीकारात्।।४।।

ननु—अत्रान्यैव गतिरस्ति अपूर्वीयव्रीहिषु नियमादृष्टाजनकस्यापि दलनस्य प्राप्तिरस्ति। नहि यत्र तेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— वेदान्त श्रवण के द्वारा जो साक्षात्कार होता है वह क्या सविशेष का होता है? अथवा निर्विशेष का? इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सविशेष सविशेषत्व धर्म से विशिष्ट है और निर्विशेष निर्विशेषत्व धर्म से विशिष्ट है। सिद्धान्त मतानुसार श्रवण के द्वारा विशिष्ट का साक्षात्कार माना नहीं जाता है। अपितु ब्रह्म में कोई विशेष नहीं है— इस अवान्तर अर्थ को व्यापार के रूप से बोधन के माध्यम से उक्त द्वय (सविशेष और निर्विशेष) में अनुस्यूत जो चैतन्य मात्र है। उसका ही साक्षात्कार श्रवण से माना जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर चैतन्य मात्र का साक्षात्कार वेदान्त श्रवण से इतर प्रमाण के द्वारा प्राप्त ही नहीं है। अतः श्रवण में अपूर्वविधि मानना ही उचित है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के कथनानुसार उभय अनुगत जो चैतन्य मात्र है वह सविशेष से तादात्म्यपन्न होता है और निर्विशेष से अत्यन्ताभिन्न होता है। अतः मानान्तर से चिन्मात्र से तादात्म्यापन्न सविशेष की प्राप्ति होने से नियम विधि मानने में कोई बाधा नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जब अपूर्वीय व्रीहि का सजातीय सामान्य व्रीहि गत नख विदलनादि की प्राप्ति को लेकर अपूर्वीय व्रीहि में नियम विधि मान लिया जाता है तब सविशेष रूप से एक ही आत्मा में मानान्तर से साक्षात्कार की प्राप्ति होने से निर्विशेष आत्मा का साक्षात्कार जो श्रवण से होता है। उस श्रवण में नियम विधि के मानने से कोई दोष नहीं होगा।

शङ्का— पूर्वोक्त प्रकार से श्रवण में नियम विधि मानने पर वैयधिकरण्य की आपत्ति आयेगी। जैसे सविशेष आत्मा में मानान्तर की प्राप्ति और चिन्मात्र में नियम विधि मानी जा रही है। फलतः जिसमें प्राप्ति है उसमें ही नियम विधि नहीं मानी जा रही है। अतः वैयधिकरण्य की आपत्ति होगी। इसी प्रकार व्रीहि स्थल पर भी सामान्य व्रीहि में नख विदलनादि की प्राप्ति और अपूर्वीय व्रीहि में नियम विधि मानने पर वैयधिकरण्य की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सविशेषत्वेन आत्मा व्यक्ति के साथ चिन्मात्रत्वेन आत्मा व्यक्ति सामानाधिकरण्य न होने पर भी अगत्या आत्मत्व धर्म को लेकर सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि सविशेष आत्मा और निर्विशेष आत्मा में आत्मत्व रूप सामान्य धर्म रहता ही है। अर्थात् जिस आत्मत्व धर्म वाले सविशेष आत्मा की मानान्तर से प्राप्ति है। उसी आत्मत्व वाले निर्विशेष आत्मा के श्रवण में नियम विधि मानी जा रही है। अतः सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार व्रीहित्व धर्म को लेकर अपूर्वीय व्रीहि और सामान्य व्रीहि में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी। अतः व्रीहि अवघात में नियम विधि मानी जा सकती है— यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।।४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि व्रीहि स्थल पर सिद्धान्ती ने जो व्रीहित्व धर्म को लेकर सामानाधिकरण्य दिखाया। वह उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ पर व्रीहित्व धर्म को लिए विना ही सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जाती है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अपूर्वीय व्रीहि में नियमादृष्ट के अजनक दलन

वैतुष्यसम्पादनं तत्र तत्प्राप्तिः किन्तु शक्तत्वेन प्रसक्तिमात्रमिति—चेन्न; एवं तद्योग्यत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः। तच्च तज्जातीयेऽन्वयी नतु तत्र, तथा च वैयधिकरण्यतादवस्थ्यम्। प्रकृते च सविशेषनिर्विशेषरूपदशाद्वयानुगतैकात्मविषयतया वैयधिकरण्यशङ्कानवकाशश्च।।५।।

तत्त्वकौमुदीकृतस्तु—'यथा मन्त्रार्थज्ञानस्य कल्पसूत्रात्मीयग्रहणकवाक्यादिनापि प्राप्तत्वेन पक्षे अप्राप्तमन्त्रसाध्यत्वं नियम्यते मन्त्रैरेव स्मृतिः साध्येति तथा वेदान्तमूलस्त्रीशूद्रसाधारणस्मृतिपुराणादिप्राप्त्या पक्षे अप्राप्तवेदान्तश्रवणादिपरिपूणार्थो नियमः। 'तस्मात् न ब्राह्मणोऽवैदिकमधीयीत' इति श्रुतेः 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इत्यादिस्मृतेश्चेति—आहुः।।६।।

न च—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'इत्यादिस्मृतिविरोधः अविचारितेन उपबृंहणायोगादिति—वाच्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

की प्राप्ति है, क्योंकि जहाँ पर नख विदलन से वैतुष्य का सम्पादन है वहाँ पर ही नख विदलन की प्राप्ति होती है— ऐसा नख विदलन की प्राप्ति का अर्थ नहीं होता है अपितु अपूर्वीय व्रीहि के वैतुष्य सम्पादन में नख विदलनादि समर्थ होने के कारण अपूर्वीय व्रीहि में नख विदलन की प्राप्ति मानी जाती है। अतः अपूर्वीय व्रीहि में ही सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी। जबकि निर्विशेष आत्मा में मानान्तर की प्रसक्ति नहीं है। अतः वैयधिकरण्य की आपत्ति बनी रहेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के कथनानुसार साधनान्तर में कार्य सम्पादन योग्यता ही पर्यवसितार्थ है। तादृश योग्यत्व नियम्यमान पदार्थ जातीये = अपूर्वीय व्रीहि जातीये = लौकिक व्रीहि में ही अन्वयी है न कि अपूर्वीय व्रीहि में। अर्थात् किसी साधन में कार्य सम्पादन योग्यता तभी मानी जा सकती है यदि कभी उस साधन से उस कार्य का सम्पादन हुआ हो। नख विदलनादि साधन से अपूर्वीय व्रीहि का वितुषीकरण का सम्पादन कभी भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उसका सम्पादन तो हमेशा अवघात से ही होता है। अतः लौकिक व्रीहि में ही नखविदलन से वैतुष्य सम्पादन योग्यता माननी पड़ेगी। फलतः नख विदलनादि की प्राप्ति लौकिक व्रीहि में और नियम विधि अपूर्वीय व्रीहि में होने से पूर्वपक्षी के अनुसार ही वैयधिकरण्य है। सिद्धान्त मतानुसार सविशेष निर्विशेष रूप दशा द्वय में अनुगत जो एक आत्मा है। उस आत्मा को लेकर मानान्तर से प्राप्ति और नियमन का सामानाधिकरण्य पूर्वोक्त प्रकार से निश्चित होने से वैयधिकरण्य की शङ्का का अवकाश ही नहीं है।।५।।

तत्त्वकौमुदीकार ने श्रवण में नियम विधि को इस प्रकार से समन्वय किया है कि जैसे यागादि में मन्त्र से प्रतिपादित जो अर्थ है। उन अर्थों के ज्ञान की प्राप्ति मन्त्र मूलक कल्प सूत्रादि वाक्यों से होने से पक्ष में मन्त्र से जो उक्त अर्थों की अप्राप्ति हो रही है। उसकी प्राप्ति मन्त्र से नियमित किया जाता है कि मन्त्र के द्वारा ही उक्त अर्थों का स्मरण करना चाहिए। ठीक इसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार वेदान्त मूलक स्त्री शूद्र साधारण स्मृति पुराणादि से प्राप्त होने से पक्ष में वेदान्त श्रवण की अप्राप्ति हो रही है। उसकी प्राप्ति के लिए नियम किया गया कि वेदान्त श्रवण के द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। इस नियम विधि को ध्यान में रखते हुए ही श्रुति ने कहा है कि ''तस्मात् न ब्राह्मणोऽवैदिकमधीयीत'' और स्मृति में कहा गया कि ''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः।''।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त प्रकार से आत्मसाक्षात्कार के लिए प्राप्त श्रुति मूलक जो इतिहासादि हैं। उस की व्यावृत्ति करने के लिए वेदान्त श्रवण में नियम विधि मानने पर ''इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'' इत्यादि स्मृति के साथ विरोध होगा, क्योंकि उनके विचार के विना तो वेदों का उप बृंहण

वेदान्ततात्पर्यनिर्णयाय तद्विचारापेक्षायामपि ब्रह्मज्ञाने तद्विचारापेक्षाविरहात्। न च—कर्मविषयकस्मृतिभिः कर्मज्ञानस्येव ब्रह्मविषयाद् भारतादेरितिहासादपि साक्षाद्ब्रह्मज्ञानस्योदयाद् ब्रह्मज्ञानेऽपि तदपेक्षेति—वाच्यम्; उभयत्रापि स्मृत्यादेः स्वातन्त्र्येणाप्रमाणतया श्रुतितात्पर्यनिर्णायकत्वात्। अत एवोक्तं—'वेदं समुपबृंहयेत्'इति, नतु वेदार्थं जानीयादिति। यत्तु—'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इत्यादिकं श्रुतिमूलप्रमाणाभिप्रायकम्—इति, तन्न; पञ्चमीप्रतीतहेतुत्वस्य साक्षात् सम्भवे पारम्पर्यकल्पनायोगात्।।७।।

न च—विप्रकीर्णनानाशाखार्थसङ्ग्रहादिरूपेणेतिहासादिना तत्त्वनिश्चयदर्शनात् सति च तस्मिन् विविदिषाद्वारा

सत्यानन्दप्रबोधिका

(विस्तार करना) सम्भव ही नहीं होगा।)

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्त तात्पर्य के निर्णय के लिए इतिहासादि की अपेक्षा होने पर भी ब्रह्म साक्षात्कार के उद्‌देश्य से इतिहासादि की अपेक्षा नहीं होती है। वह तो वेदान्त विचार से ही होता है।

शङ्का— कर्म विषयक स्मृति से जैसे कर्म का ज्ञान होता है वैसे ही ब्रह्म विषयक महाभारतादि इतिहास से भी साक्षाद् ब्रह्म ज्ञान हो जाने से ब्रह्म ज्ञान में भी महाभारतादि की अपेक्षा माननी चाहिए।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि कर्म और ब्रह्म दोनों के ज्ञान में इतिहासादि का स्वतन्त्र (श्रुति निरपेक्ष) प्रामाण्य नहीं माना जाता है। अर्थात् श्रुति से निरपेक्ष होकर केवल स्मृति का विचार करने से अप्रामाण्य शङ्का से शून्य ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए स्मृति को केवल श्रुति तात्पर्य निर्णायक ही मानना चाहिए न कि ब्रह्म साक्षात्कार में प्रमाण। अत एव = स्मृति पुराणादि केवल मात्र श्रुति तात्पर्य का निर्णायक होने से (अप्रामाण्य शङ्काशून्यश्रुत्यर्थ ज्ञान का जनक न होने से) ही कहा गया कि ''वेद का इतिहास पुराण से विस्तार करें।'' न कि ''इतिहास पुराण से वेदार्थ का साक्षात्कार करें।'' पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः'' इत्यादि जो कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि श्रुति है मूल जिसका ऐसे इतिहासादि प्रमाणों के द्वारा आत्मा का श्रवण करना चाहिए। अतः स्मृति वाक्यों का निराकरण होता ही नहीं है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''श्रुतिवाक्येभ्यः'' इस पद में आयी हुयी जो पञ्चमी, उसका साक्षात् हेतुत्व अर्थ का अन्वय सम्भव है। अर्थात् श्रुति वाक्य से साक्षात् हेतु अर्थक पञ्चमी का अन्वय करने में कोई बाधक नहीं है तब श्रुति है मूल जिसका ऐसे इतिहास आदि से हेतुत्व बोधक पञ्चमी का परम्परया अन्वय करना अनुचित है।।७।।

शङ्का— वेद की भिन्न—भिन्न शाखाओं में फैले हुए जो भिन्न—भिन्न अर्थ (विषय) हैं। उन सभी विषयों का संग्रह इतिहास पुराण आदि में किया गया है। इस प्रकार वेद का ही विषय इतिहास पुराणादि में होने से इतिहास पुराणादि के द्वारा भी तत्त्वनिश्चय होता है। (सिद्धान्ती का यह जो कथन है कि इतिहासादि केवल ब्रह्म के जानने की इच्छा को उत्पन्न करता हुआ तत्त्व निर्णय रूप प्रयोजन के लिए अन्तःकरण को शुद्ध कर देता है और उसके पश्चात् वेदान्त श्रवण से ब्रह्म साक्षात्कार होगा— ऐसा सिद्धान्ती का जो मत है। उसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) इतिहास आदि से तत्त्वनिश्चय होता है— ऐसा सिद्ध हो जाने पर विविदिषा द्वारा तत्त्वनिश्चय के लिए अन्तःकरण गत शुद्धि के सम्पादन में इतिहासादि की अपेक्षा होती है— ऐसा मानना उचित नहीं है। (यदि कहा जाय कि इतिहासादि के द्वारा ब्रह्म ज्ञान तो हो जायेगा किन्तु अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान नहीं होगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि) इतिहासादि से जन्य जो ब्रह्म ज्ञान है। उस का विषय जो ब्रह्म है। वह तो अपरोक्ष है। अतः उक्त ज्ञान भी अपरोक्षात्मक ही होगा। (यदि कहा जाय

तदर्थाया अन्तःकरणशुद्धेरनपेक्षितत्वाद् आपरोक्ष्यस्य विषयस्वभावादेव सिद्ध्या। वेदजन्यब्रह्मज्ञाने इतिहासजन्यादधिकस्यापरोक्ष्यस्याननुभवेन तस्य नियमादृष्टासाध्यत्वात् ज्ञानस्य च स्वप्रागभावनिवर्तन इव अज्ञाननिवर्तने अदृष्टनिरपेक्षत्वाद् अन्यस्य च नियमादृष्टसाध्यस्याभावात् न नियमविधिरिति—वाच्यम्।।८।।

'तमेतं वेदानुवचनेन'इत्यादिश्रुतिबलाद् यज्ञादिजन्यादृष्टस्य नियमादृष्टस्य च विविदिषाद्वारकान्तःकरणशुद्धेरेव सर्वादृष्टसाध्यायाः सम्भवेन ज्ञानस्वरूपोपकारितया तत्साध्याज्ञाननिवृत्तौ तदपेक्षत्वाच्च विद्यायुक्ततदयुक्तकर्मजन्य—फलगतचिराचिरस्वरूपातिशयवत् नियमादृष्टजन्यसाक्षात्कारे तदजन्यतत्त्वनिश्चयापेक्षयातिश—

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि इतिहासादि से ब्रह्म ज्ञान होने पर भी वह ज्ञान अपरोक्ष इसलिए नहीं हो सकता है, क्योंकि अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान को नियमादृष्ट की अपेक्षा होती है। इतिहासादि का श्रवण करने से नियम विधि (वेदान्त से ही श्रवण करना चाहिए— ऐसे नियम विधि) का पालन न होने के कारण उस श्रवण से नियमादृष्ट उत्पन्न नहीं होगा। नियमादृष्ट के विना अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान भी नहीं हो पायेगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि) वेद जन्य ब्रह्म ज्ञान और इतिहासादि जन्य ब्रह्म ज्ञान के स्वरूप में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता है। अतः ब्रह्म ज्ञान को नियमादृष्ट से जन्य मानना उचित नहीं है। {यदि कहा जाय कि वेद जन्य ब्रह्म ज्ञान और इतिहासादि जन्य ब्रह्म ज्ञान के स्वरूप में अन्तर न होने पर भी उनके कार्यों में अन्तर होता है, क्योंकि वेद जन्य ब्रह्म ज्ञान के साथ नियमादृष्ट रहता है। अतः नियमादृष्ट से युक्त ब्रह्म ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति करता है और इतिहास जन्य ब्रह्म ज्ञान के साथ नियमादृष्ट नहीं रहता है। अतः नियमादृष्ट से रहित ब्रह्म ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति नहीं करता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि उनके कार्यों में अन्तर नहीं होता है, क्योंकि} ज्ञान जैसे अपने प्रागभाव की निवृत्ति में नियमादृष्ट की अपेक्षा नहीं रखता है वैसे ही ब्रह्म ज्ञान भी अज्ञान निवृत्ति में नियमादृष्ट की अपेक्षा नहीं रखता है। अन्यस्य = विविदिषा के माध्यम से होने वाली अन्तःकरण की शुद्धि से भिन्न और कोई तो नियमादृष्ट का फल नहीं है और अन्तःकरण की शुद्धि की तत्त्वनिश्चय में उपयोगिता नहीं है। इसे ''अन्तःकरणशुद्धेरनपेक्षितत्वात्'' से कहा जा चुका है। अतः नियमादृष्ट की कोई उपयोगिता न होने से श्रवण में नियम विधि नहीं मानी जा सकती है।।८।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'' (बृ०उ०४—४—२२) इत्यादि श्रुतियों के बल पर यज्ञादि जन्य अदृष्ट और नियमादृष्ट का प्रतिबन्धक जो पापादि उसकी निवृत्ति के द्वारा सर्वादृष्ट साध्य विविदिषा जनन पूर्वक अन्तःकरण की शुद्धि रूप फल ही सम्भव होने से वह नियमादृष्ट ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में उपकारक होता है। ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में उपकारक होने से फलतः ब्रह्म ज्ञान से साध्य ब्रह्म के अज्ञान निवृत्ति में भी नियमादृष्ट की उपयोगिता मानी ही जायेगी, क्योंकि जो वृक्ष का उपकारक होगा, वह वृक्ष में लगे फल का भी परम्परया उपकारक होगा ही। नियमादृष्ट जन्य ब्रह्म ज्ञान में और नियमादृष्ट अजन्य ब्रह्म ज्ञान में अन्तर होता है— इसे स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे उपासना से रहित कर्म से जनित फल में विलम्बोत्पत्तिकत्व और उपासना सहित कर्म से जनित फल में अविलम्बोत्पत्तिकत्व रूप अतिशय श्रुति के द्वारा कहा गया है— ''यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।'' (छा०उ० १—१—१०) (जो कोई उपासना श्रद्धा और योग से युक्त होकर जिस कर्म को करता है। उसका वही कर्म अन्य की अपेक्षा प्रवलतर होता है।) ठीक इसी प्रकार नियमादृष्ट से जन्य ब्रह्म ज्ञान में नियमादृष्ट से अजन्य ब्रह्म ज्ञान की अपेक्षा कुछ अतिशय की कल्पना आवश्यक होती है। अर्थात् नियमादृष्ट से जन्य ब्रह्म का ज्ञान

यकल्पनस्यावश्यकत्वाच्च नियमविधित्वसम्भवात्। तस्मात्—

नियमादृष्टसाध्यस्य व्यावर्त्यस्यापि सम्भवात्। श्रवणादेर्नियमनं सर्वथैवोपपद्यते।। इति।

अतएव शूद्रप्रणीतात्मप्रबन्धादिप्राप्तिनिमित्तकाप्राप्तांशपूरणार्थो नियमविधिरित्याचार्यान्तरोक्तिरपि व्याख्याता।।९।।

।। इति विवरणोक्तनियमोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपरोक्ष होता है और नियमादृष्ट से अजन्य ब्रह्म का ज्ञान परोक्ष होता है— यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है। इस प्रकार नियमादृष्ट आवश्यक होने से श्रवण में नियमविधि मानना उचित ही है।

नियमादृष्टसाध्यस्य व्यावर्त्यस्यापि सम्भवात्। श्रवणादेर्नियमनं सर्वथैवोपपद्यते।।

{अर्थात् नियमादृष्ट से साध्य = विविदिषा द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि और नियमादृष्ट से व्यावर्त्य = इतिहासादि का श्रवण जब सम्भव है तब श्रवणादि में नियमविधि सर्वथा ही उपपन्न हो जाती है।} अत एव = श्रवणादि में नियमविधि सर्वथा उपपन्न हो जाने से ही— जब कोई जिज्ञासु आत्मज्ञान के लिए शूद्र प्रणीत आत्मप्रबन्धनादि के श्रवण के लिए प्रवृत्त होता है तब वेदान्त श्रवण अप्राप्त हो जाता है। उस अप्राप्त अंश की पूर्ति के लिए श्रवण में नियमविधि मानी गयी है— इस प्रकार से श्रवण में नियमविधि का वर्णन करने वाले अन्य आचार्यों का मत भी सूपपन्न हो गया।।९।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां विवरणोक्तनियमोपपत्तिः —

३— श्रवणादेर्विधेयत्वोपपत्तिः विचारः

ननु—किमिदं श्रवणं नाम? शक्तितात्पर्यावधारणं वा, तद्विशिष्टशब्दावधारणं वा, तात्पर्यप्रमापकलिङ्गावधारणं वा, आगमाचार्योपदेशजज्ञानं वा। नाद्यः; अवाच्ये ब्रह्मणि शक्त्यसम्भवात्। तात्पर्यमपि न तावदापातधीजन्यस्य विचारनिवर्त्यस्य संशयस्य धर्मिणिः; तस्य प्रागेव निश्चितत्वेन तन्निश्चयार्थं तात्पर्यनिश्चयसाधनस्य विचारस्य वैयर्थ्यात्, अन्यथा विचारानन्तरमपि संशयादिप्रसङ्गात्। नापि संशयधर्मिगतप्रकारविशेषे तद्विशिष्टे तदुपलिक्षते वा; अखण्डार्थताहानेः, अवधारणरस्य ज्ञानत्वेन विधेयत्वस्य त्वयानङ्गीकारात्।।१।।

अतएव न द्वितीयादि। नापि गुरुमुखाद्वेदान्तानां ब्रह्मणि संयोजनं श्रवणम्; तस्याद्यपक्षानतिरेकात्। नापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' (बृ०उ० २—४—५) इस श्रुति के घटक ''श्रोतव्यः'' पद से बोधित श्रवण से सिद्धान्ती को क्या अभिप्रेत है? (१) — क्या शब्द के शक्ति रूप तात्पर्य के अवधारण (ज्ञान) को श्रवण कहते हैं? अथवा (२) शब्द के शक्ति रूप तात्पर्य से विशिष्ट शब्द के अवधारण को श्रवण कहते हैं? अथवा (३) — तात्पर्य के प्रमापक जो लिङ्ग हैं। उन लिङ्गों के अवधारण को श्रवण कहते हैं? अथवा (४) आगम और आचार्य के उपदेश से जन्य जो ज्ञान। उस ज्ञान को श्रवण कहते है? प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वेदान्त का शुद्ध ब्रह्म में तात्पर्य सिद्धान्ती मानते हैं परन्तु उस शुद्ध ब्रह्म में किसी शब्द की शक्ति तो हो नहीं सकती है, क्योंकि शब्द का जो वाच्यार्थ होता है। उसी वाच्यार्थ को बोधन कराने की शक्ति शब्द में रहती है किन्तु सिद्धान्ती किसी शब्द का वाच्य ब्रह्म को मानते नहीं है। अतः शुद्ध ब्रह्म में शब्द की शक्ति सम्भव नहीं है। अतः शुद्ध ब्रह्म में वेदान्त शब्दों के शक्ति से विशिष्ट तात्पर्य के अवधारण को श्रवण नहीं कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि आपातधी से जन्य और श्रवण से निवर्त्य जो संशय (ब्रह्म सत्य है अथवा असत्य है—इस प्रकार का संशय) उसका धर्मी जो ब्रह्म है, उसमें तात्पर्यरूपशक्ति का भी विधान नहीं किया जा सकता है। अर्थात् ब्रह्म में सत्यत्व या असत्यत्व का निश्चय जब तक नहीं हुआ है, तत्कालीन जो चेतनत्व मात्रेण ब्रह्म वह आपातधी से जन्य श्रवण से निवर्त्य जो संशय उसका धर्मी होगा। उसमें वेदान्तशब्दों की शक्ति है— ऐसा मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म उक्त संशय का धर्मी ही नहीं बन सकता है, क्योंकि चेतनत्व मात्रेण ब्रह्म का निश्चय संशय के पहले से ही विद्यमान है। जब संशय नहीं होगा तब संशय का धर्मी ब्रह्म नहीं होगा तब ब्रह्म में चिन्मात्रत्व के निश्चय के लिए साधन जो शक्तिरूपतात्पर्य = श्रवण उसको मानना व्यर्थ होगा। अन्यथा = निश्चय रहने पर भी संशय मान कर विचार = श्रवण की सार्थकता स्वीकार करने पर विचार के अनन्तर जब संशय निवृत्त हो गया है तब भी संशय मानने की आपत्ति आयेगी। संशय (ब्रह्म सत्य है अथवा असत्य है? — इत्याकारक संशय) का धर्मी जो ब्रह्म। उसमें जो विशेष प्रकार (सत्यत्व—ज्ञानत्व—अनन्तत्व) उसमें भी तात्पर्य रूप शक्ति नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सत्यत्वादि से विशिष्ट ब्रह्म या सत्यत्वादि से उपलक्षित ब्रह्म में शक्ति मानने पर ब्रह्म में सप्रकारता आ जाने से अखण्डार्थत्व की हानि होगी। अवधारण ज्ञानरूप होता है। ज्ञान वस्तु तन्त्र है पुरुष तन्त्र नहीं है। अतः तात्पर्य अवधारणरूप श्रवण में विधेयत्व सिद्धान्ती के द्वारा भी अङ्गीकार नहीं किया जा सकता है।।१।।

अत एव = ज्ञान में विधि स्वीकार न किये जाने से ही ज्ञानघटित द्वितीय और तृतीय तथा चतुर्थ पक्ष भी नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार गुरुमुख से वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय को भी श्रवण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार से श्रवण का जो लक्षण है वह प्रथम पक्ष से अतिरिक्त नहीं है।

वाक्यविशेषप्रयोगरूपवादकथा श्रवणम्; तत्र श्रवणपदाप्रयोगात्। अत एव मननिदिध्यासनयोरपि न विधिः, तयोरपि ज्ञानानतिरेकादिति—चेन्न; आद्यपक्षस्यैव क्षोदक्षमत्वात्। न च तत्र शब्दशक्त्यसम्भवो दोषः; शुद्धे शक्त्यसम्भवेऽपि विशिष्टशक्तेस्तद्बोधोपयोगिन्या अवधारणीयायाः सम्भवात्। तात्पर्यस्यापि संशयधर्मिणो निश्चितत्वेन तत्रासम्भवेऽपि संशयकोट्युपलक्षिते निर्विशेषे सम्भवेन विचारावैयर्थ्यात्। न चाखण्डार्थताहानिः; स्वरूपमात्रोपलक्षकतया अखण्डार्थताया उपपादितत्वात्। न चावधारणस्य ज्ञानरूपतया अविधेयता; तस्य तर्कत्वेन ज्ञानविजातीयचेतोवृत्त्यन्तरत्वात्, सुरेश्वराचार्यैः 'श्रवणादिक्रिया तावत् कर्तव्येह प्रयत्नतः' इति श्रवणादौ क्रियापदप्रयोगात्। एवमेव मननिदिध्यासनयोरपि विधेयत्वमुन्नेयम्।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थात् संयोजन (समन्वय) का अर्थ ही होता है कि सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में शक्ति है— इसका जो ज्ञान है। उसको श्रवण कहा जायेगा। किन्तु ज्ञान में विधेयत्व माना नहीं जाता है। वाक्य विशेष का प्रयोग रूप जो वाद कथा है। उसको श्रवण कहते हैं — ऐसा लक्षण भी उचित नहीं है, क्योंकि उक्तविध वाद कथा को श्रवण के रूप से नही माना जाता है अपितु वाद कथा के रूप से ही माना जाता है। अत एव = ज्ञान में विधि स्वीकार न किये जाने से ही मनन और निदिध्यासन में भी विधि नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि मनन और निदिध्यासन दोनों ही ज्ञान से अतिरिक्त नहीं माने जाते हैं।

समाधान — पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम पक्ष स्वीकार कर के पूर्वपक्षी के सम्पूर्ण दोषों का निराकरण किया जा सकता है। जैसे पूर्वपक्षी ने कहा था कि अवाच्य शुद्ध ब्रह्म में शब्दशक्ति सम्भव नहीं है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में शब्दशक्ति सम्भव न होने पर भी विशिष्ट ब्रह्म में शब्दशक्ति तो मानी ही जाती है। विशिष्ट ब्रह्म में रहने वाली शब्दशक्ति शुद्ध ब्रह्म बोध के उपयोगी हो ही सकती हैं, क्योंकि विशिष्ट का विशेष्य भाग ही तो शुद्ध ब्रह्म है। संशय (ब्रह्म सत्य है अथवा असत्य है? — इत्याकारक संशय) का धर्मी जो ब्रह्म है। उस ब्रह्म का चेतनत्वेन निश्चय होने से उसका तात्पर्य = विचार = श्रवण करना सम्भव न होने पर भी संशय कोटि से उपलक्षित जो निर्विशेष ब्रह्म है। उसका विचार (श्रवण) करना सम्भव होने से श्रवण में व्यर्थतापत्ति नहीं आयेगी। संशयकोटि से उपलक्षित निर्विशेष ब्रह्म को लेने से अखण्डार्थ की हानि भी नहीं होगी, क्योंकि स्वरूपमात्र उपलक्षकत्वेन अखण्डार्थता का प्रतिपादन ''प्रत्यक्षस्य भाविबाधविचारः'' के खण्ड संख्या ४ में प्रतिपादन किया जा चुका है। अवधारण ज्ञानरूप होने से उसमें विधेयता नहीं मानी जा सकती है— ऐसा कहना भी उचित नहीं हैं, क्योंकि तात्पर्य अवधारण = श्रवण तर्कत्वेन (वेदान्त वाक्य यदि शुद्ध में तात्पर्य वाला नहीं होता तब तो शुद्ध ब्रह्म में जो षड विधतात्पर्यलिङ्ग हैं। उससे युक्त वेदान्त वाक्य नहीं होता— ऐसे तर्क को श्रवण कहते हैं। अतः श्रवण तर्कत्वेन) ज्ञानरूप वृत्ति से विजातीय (भिन्न प्रकार की) मन की वृत्ति है। अतः श्रवण ज्ञान रूप नहीं है। अतः श्रवण को विधय माना जा सकता है। श्रवण के विधेय होने से ही श्री सुरेश्वराचार्य जी ने श्रवणादि के लिए क्रिया पद का प्रयोग किया है—

> श्रवणादिक्रिया तावत् कर्तव्येह प्रयत्नतः ।
> यावद् यथोक्तं विज्ञानमाविर्भवति भास्वरम्।। (बृह०वार्तिक)

(आत्मविषयक श्रवणादि रूपक्रिया प्रत्यनपूर्वक करना चाहिए। ऐसा करने से निर्मल विज्ञान का प्रागट्य हो जाता है।) इसी प्रकार ज्ञानरूपवृत्ति से विजातीय वृत्ति रूप मनन और निदिध्यासन होने से मनन और निदिध्यासन में भी विधेयता मानना सम्भव है।।२।।

न च—तात्पर्यरूपे विषये उपक्रमादिरूपे च प्रमाणे सति जायमानस्य तस्य ज्ञानबहिर्भावानुपपत्तिः तद्बहिर्भूतवाग्धेनूपासनादौ प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वादर्शनादिति—वाच्यम्; मन्मते लिङ्गस्य प्रामाण्यानभ्युपगमेन सति प्रमाण इत्यस्यैवाभावात्, उपक्रमादेः प्रमाणत्वपक्षे तत्पूर्वकालीनत्वेनास्य प्रमाणे सतीत्येतदंशासिद्धेः। तस्मात् श्रवणादेरधीरूपतया मनोव्यापारत्वेन विधेयत्वोपपत्तिः। सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकयोर्विस्तरः। यच्चानुवादित्वादिवर्णनं वाचस्पत्ये, तत् प्रस्थानान्तरत्वान्न विधित्वोक्तिविरोधि।।३।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ श्रवणादेर्विधेयत्वोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— तात्पर्य अवधारण का विषय जो तात्पर्य उसके वास्तव में रहने से तात्पर्य अवधारण उत्पन्न होता है। अतः तात्पर्य अवधारण को पुरुष तन्त्र न मानकर वस्तुतन्त्र मानना होगा। इसलिए तात्पर्य अवधारण को क्रिया नहीं मान सकते हैं अपितु ज्ञान ही मानना होगा। इसी प्रकार षड्विधतात्पर्यलिङ्ग रूप प्रमाण से उत्पन्न होने के कारण तात्पर्य अवधारण को प्रमा ज्ञान ही कहना होगा, क्योंकि प्रमाण से प्रमा ज्ञान ही उत्पन्न होता है। फलतः विषय के अधीन और प्रमाण के अधीन उत्पन्न होने के कारण तात्पर्यावधारणरूपश्रवण को ज्ञान ही मानना पड़ेगा। ज्ञान मानने पर श्रवण में विधेयत्व की अनुपपत्ति होगी। यदि ज्ञान से बर्हिभूत श्रवण को मानेंगे तब तो श्रवण की विषय के अधीन और प्रमाण के अधीन उत्पत्ति नहीं माननी पड़ेगी अपितु पुरुष के अधीन उत्पत्ति मानने का प्रसङ्ग आयेगा। जैसे ज्ञान से बर्हिभूत वाग् में धेनु की उपासना जो है। वह पुरुष के अधीन मानी जाती है न कि विषय के अधीन मानी जाती है और न ही प्रमाण की अधीन मानी जाती है। पुरुष के अधीन श्रवण मानने पर जिस किसी के श्रवण की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मत में व्याप्यत्वेन ज्ञायमान उपक्रमादिलिङ्गों को प्रमाण रूप से नहीं स्वीकार किया जाता है अपितु व्याप्तिज्ञान जन्य संस्कार और पक्षधर्मता ज्ञान को ही अनुमिति का करण (प्रमाण) माना जाता है। इसलिए प्रमाण के होने पर तात्पर्य अवधारण रूप श्रवण उत्पन्न होता है— ऐसा कहा नहीं जा सकता है। उपक्रमादि को प्रमाण मान लेने पर भी उपक्रमादि लिङ्ग रूप हेतु के द्वारा जो तात्पर्य की अनुमिति होती है। उस अनुमिति से पूर्व तात्पर्य अवधारण होता है, क्योंकि खण्ड संख्या २ में तात्पर्य अवधारण को तर्क कहा गया है। तर्क के पश्चात् अनुमिति होती है। यहाँ पर अनुमान का आकार होगा— वेदान्तवाक्यं शुद्धे तात्पर्यवत्, उपक्रमादिलिङ्गयुक्तत्वात्। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अनुमिति के पूर्व में जो तर्करूपश्रवण होता है। वह प्रमाण नहीं है। अतः ''प्रमाणे सति'' ऐसा कथन असङ्गत है। इस प्रकार श्रवणादि ज्ञान रूप सिद्ध न होने पर मनोव्यापार रूप क्रिया सिद्ध हो जाने से श्रवणादि में विधेयत्व की उपपत्ति हो जायेगी। इस पर विस्तार से विचार सिद्धान्तबिन्दु और कल्पलतिका में किया जा चुका है। ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' (बृ०उ०२—४—५) इत्यादि वाक्यों को भामतिकार ने विधि वाक्य न मानकर अर्थवाद वाक्य माना है। श्रवण में विधि मानने पर भामतिकार के कथन से विरोध होगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हमने विवरणप्रस्थान के अनुसार श्रवण में विधि मानी है। अतः भामती प्रस्थान से विरोध नहीं होगा, क्योंकि वह दूसरा प्रस्थान है। इसलिए विवरण के अनुसार श्रवण में विधि मानने पर किसी भी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता है।।३।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां श्रवणादेर्विधेयत्वोपपत्तिः—

४– श्रवणविधेर्विवरणोक्तविचारविधायकत्वविचारः

एवं विचारविधायकश्रवणविधिरेव जिज्ञासासूत्रमूलम्। न च–विचारविधौ श्रवणसाध्यापरोक्षज्ञानाधीनाया अपरोक्षज्ञानकामनाया अधिकारिविशेषणत्वाङ्गीकारेण अन्योन्याश्रयापात इति–वाच्यम्; अधीतवेदस्य विदितपदपदार्थसङ्गतिकस्यापततो जायमानपरोक्षज्ञानाधीनापरोक्षज्ञानकामनाया अधिकारिविशेषणत्वे–नोक्तान्योन्याश्रयानवतारात्।१।।

न च–जिज्ञासासूत्रोक्तो विचारस्तत्त्वनिर्णायकन्यायानुसन्धानरूपः, अन्यथा न्यायग्रथनात्मकशास्त्रारम्भसिद्धये तत्कर्त्तव्यतोक्त्ययुक्तेः, इतरस्य वेदेतिकर्तव्यतात्वानुपपत्तेश्च, श्रवणं च नोक्तन्यायानुसन्धानरूपं मननाभेदप्रसङ्गात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वोक्त प्रकार से विचार (श्रवण = तर्क) का विधायक ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' (बृ०उ०२–४–५) इस श्रुति से प्रतिपादित जो श्रवण विधि है। उस श्रवण विधि को ही ''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' (ब्र०सू०१–१–१) सूत्र का मूल माना जाता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि श्रवण विधि मानने पर श्रवण से साध्य जो अपरोक्ष ज्ञान तादृश अपरोक्ष ज्ञान के अधीन जो अपरोक्ष ज्ञान विषयिणी कामना ऐसी कामना को अधिकारी का विशेषण माना जाता है। अतः अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे– अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि– पहले अपरोक्ष ज्ञान की कामना होनी चाहिए तब वेदान्त विचार का अधिकारी होगा तब वेदान्त विचार में प्रवृत्त होगा और तब वेदान्त विचार से अपरोक्ष ज्ञान होगा। अन्योन्याश्रय की द्वितीय कोटि– अपरोक्ष ज्ञान की कामना का विशेषण = अपरोक्ष ज्ञान के होने से, उस कामना को कामना से पूर्व श्रवण साध्य अपरोक्ष ज्ञान की अपेक्षा है, क्योंकि विशिष्ट बुद्धि में विशेषण के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्योन्याश्रय की द्वितीय कोटि हमें मान्य नहीं है, क्योंकि जिसने वेद का अध्ययन कर लिया है और जिसको पद पदार्थ का शक्ति ग्रह है। ऐसे पुरुष को आपाततः जायमान = श्रवणादि के विना ही जायमान जो परोक्ष ज्ञान है। उस परोक्ष ज्ञान से अपरोक्ष ज्ञान की कामना उत्पन्न हो जायेगी। वही कामना अधिकारी का विशेषण बन जायेगा। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा।१।।

शङ्का– जिज्ञासा सूत्र में जिस विचार की कर्तव्यता को बतलाया गया है। वह विचार वेदान्त विचार रूप श्रवण नहीं है किन्तु तत्त्व निर्णायक न्याय (युक्ति) का अनुसन्धान (चिन्तन) रूप विचार = मनन है। अन्यथा = जिज्ञासा सूत्र में कथित विचार से युक्ति अनुसन्धान रूप विचार (मनन) को न मानकर श्रवणात्मक विचार मानने पर न्याय ग्रथनात्मक जो ब्रह्म सूत्र शास्त्र है। तादृश शास्त्र के आरम्भ की सिद्धि के लिए जो विचार कर्तव्यता की उक्ति है– वह असङ्गत हो जायेगी, क्योंकि तत्त्वनिर्णायक न्याय अनुसन्धान रूप विचार से इतर लौकिक विचार में वेदीय इति कर्तव्यतात्व नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह है कि तत्त्वनिर्णायक न्याय अनुसन्धान को श्रवण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वही मनन का भी स्वरूप है। अतः श्रवण और मनन में अभेद की आपत्ति होगी। इसलिए श्रवण विधि मूल है और जिज्ञासा सूत्र श्रवण विधि मूलक है। अर्थात् दोनों में मूलमूलिभाव सम्बन्ध है– ऐसा नहीं माना जा सकता है अपितु जिज्ञासा सूत्र का मूल मनन विधि है– ऐसा मानना चाहिए।१।।

समाधान– उक्त ठीक नहीं है, क्योंकि जिज्ञासा सूत्र का विषय = तत्त्वनिर्णायक न्याय अनुसन्धान रूप विचार और श्रवणविधि का विषय = शब्द तात्पर्य अवधारण है। अतः दोनों का विषय भिन्न–भिन्न हो जाने से दोनों में यद्यपि मूलमूलिभाव नहीं बन पायेगा तो भी श्रवण विधि का साक्षात् विषय जो शक्ति तात्पर्य

अतो न श्रवणविधिजिज्ञासासूत्रयोर्मूलमूलिभाव इति—वाच्यम्; जिज्ञासासूत्रस्य श्रवणविधिसमानविषयकतया मूलमूलिभावाभावेऽपि श्रवणविधिविषयशक्तितात्पर्यावधारणात्मकश्रवणाक्षिप्तोपक्रमोपसंहारा-दितात्पर्यलिङ्गविचारमादाय समानविषयत्वसम्भवेन तदुपपत्तेः। मननं तु श्रुतस्यार्थस्य युक्तिभिश्चिन्तनमिति न तदभेदोऽपि; अर्थाक्षिप्तविचारस्येतिकर्तव्यतात्वेऽपि तात्पर्यावधारणरूपे श्रवणे उक्तस्याङ्गित्वस्यानपायात्।।२।।

यत्तु—युक्तिभिरनुचिन्तनं नाम यदि श्रवणनिश्चितस्य तात्पर्यस्य तद्विषयस्य वा स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं वा, संस्कारदार्ढ्यफलकं श्रवणसमानाकारमभिज्ञान्तरं वा तर्हि तस्यावश्यकश्रवणावृत्त्यैव सिद्धेः मननविधिवैयर्थ्यं, त्रिविधस्यापि तस्य श्रवणानन्तर्गतयुक्त्यनपेक्षत्वेन ''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः'' इति स्मृतिविरोधश्च, 'श्रवणं यावदज्ञानं मतिर्यावदयुक्तता' इति मननस्य श्रवणानिवर्तितायुक्तत्व—

सत्यानन्दप्रबोधिका

अवधारणात्मक श्रवण है। उस श्रवण से आक्षिप्त (षड्विधतात्पर्यलिङ्गनिर्णायकतर्क विना श्रवणविधिविषयशक्तितात्पर्यावधारणमनुपपन्नम्— इत्याकारक अर्थापत्ति से) जो उपक्रम उपसंहारादि तात्पर्य लिङ्ग निर्णायक तर्क है और जिज्ञासा सूत्र का विषय तो उपक्रम उपसंहारादि तात्पर्य लिङ्ग निर्णायक तर्क ही है। अतः श्रवणविधि और जिज्ञासा सूत्र का विषय एक हो जाने से श्रवणविधि और जिज्ञासा सूत्र में मूलमूलिभाव की उपपत्ति हो जायेगी। प्रश्न होता है कि तात्पर्य लिङ्ग निर्णायक तर्क को ही मनन कहा जाता है। अतः जिज्ञासा सूत्र का मूल मनन विधि ही क्यों न मानी जाय? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि तात्पर्य लिङ्ग निर्णायक तर्क रूप मनन नहीं होता है अपितु श्रवण के द्वारा बोधित तात्पर्यार्थ का अनुकूल युक्तियों से चिन्तन को मनन कहा जाता है। अतः तात्पर्य लिङ्ग निर्णायक तर्क का मनन से अभेद (अर्थात् मनन का लक्षण) नहीं कहा जा सकता है। ''षड्विधतात्पर्यलिङ्गनिर्णायक तर्क विना श्रवणविधिविषयशक्तितात्पर्यावधारणमनुपपन्नम्'' इत्याकारक अर्थापत्ति से आक्षिप्त जो षड्विधितात्पर्यलिङ्गनिर्णायक तर्क (विचार) है उसके इतिकर्तव्यतात्वेऽपि = अङ्ग होने पर भी जो तात्पर्य अवधारण रूप श्रवण को अङ्गी ''मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वविचारः'' के खण्ड संख्या १ में कहा गया है। उसका खण्डन नहीं होता है। अतः श्रवण अङ्गी और मननादि अङ्ग ही माने जायेंगे।।२।।

शङ्का— सिद्धान्ती ने मनन का अर्थ जो युक्तियों से अनुचिन्तन कहा है। उसका क्या अर्थ है? (१) श्रवण से निश्चित जो तात्पर्य उसके स्मरण को युक्तियों से अनुचिन्तन रूप मनन कहा जाता है? अथवा (२) श्रवण से निश्चित जो तात्पर्य। उस तात्पर्य के विषय के स्मरण को युक्तियों से अनुचिन्तन रूप मनन कहा जाता है? अथवा (२) श्रवण के द्वारा जिस तात्पर्य की अभिज्ञा हुयी है। उसी तात्पर्य की पुनः जो प्रत्यभिज्ञा है। उस को युक्तियों से अनुचिन्तन रूप मनन कहा जाता है? अथवा (३) संस्कारों को दृढ़ता प्रदान करने वाला श्रवण समानाकार ज्ञानान्तर को युक्तियों से अनुचिन्तन रूप मनन कहा जाता है? इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त तीनों रूपों में से कोई भी रूप ले, वह तो आवश्यक जो श्रवण है। उसकी आवृत्ति से ही सिद्ध हो जायेगा। अतः श्रवण से पृथक् मनन विधि मानना व्यर्थ होगा। उक्त तीनों प्रकार के मनन को श्रवण अन्तर्गत जो युक्तियाँ नहीं हैं। उन युक्तियों की अपेक्षा ही नहीं है। अर्थात् उक्त तीनों प्रकार का मनन श्रवण में अन्तर्गत युक्तियों की ही अपेक्षा करता है। इसलिए ''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः'' इस स्मृति से जो श्रवण और मनन दोनों का विधान किया गया है। इससे विरोध होगा, क्योंकि श्रवण गत युक्ति ही मनन होने से श्रवण और मनन अभिन्न हो जायेंगे। इसी प्रकार ''जब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है तब तक श्रवण करना चाहिए और जब तक अयुक्तत्व की शङ्का की निवृत्ति

शङ्कानिवर्तकत्वप्रतिपादकस्मृतिविरोधश्च इति, तन्न; अनुचिन्तनस्य श्रुतार्थविषयकयुक्तायुक्तत्वादि–संशयनिवर्तकयुक्त्यनुसन्धानरूपत्वेन विवक्षिततया त्वदुक्तदोषानवकाशात्।३।।

न च एवं युक्तायुक्तत्वसंशयादेः संशयपूर्वपक्षसिद्धान्तैर्मीमांसाशास्त्रे ग्रथितात् संशयादिनिवर्तकात् न्यायजातादन्येनानिवृत्तेः तादृशन्यायग्रथनात्मकमीमांसाशास्त्रारम्भोपयुक्तविचारकर्तव्यतां प्रतिपादयदाद्यसूत्रं मननविधिमूलमेव स्यात् नतु श्रवणविधिमूलमिति–वाच्यम्; तात्पर्यविषययुक्तायुक्तत्वादिसंशया–दिनिवर्तकविचारापेक्षया तात्पर्यनिर्णायकश्रवणाक्षिप्तलिङ्गविचारस्याभ्यर्हिततया तदाक्षेपकश्रवणविधिमूलत्वस्यैव वक्तुं उचितत्वात्, युक्तायुक्तत्वविचारस्यानुषङ्गिकत्वाच्च।४।।

यद्वा–समन्वयाध्यायोक्ततात्पर्यनिश्चायकोपक्रमादियुक्त्यनुसन्धानं श्रवणं द्वितीयाध्यायोक्तार्थासत्त्वशङ्का–निवर्तकयुक्त्यनुसन्धानं मननम्। ननु–एवं विवरणोक्तिविरोधः यौक्तिकासम्भावनाविपरीतभावनानिरासितर्काणां

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होती है तब तक मनन करना चाहिए।'' इस स्मृति के द्वारा जो कहा गया कि श्रवण से अनिवर्तित अयुक्तत्व शङ्का का निवर्तक मनन होता है। अर्थात् श्रवण तथा मनन दोनों को पृथक् कहा गया है। अतः यहाँ पर भी श्रवण और मनन अभिन्न हो जाने पर विरोध होगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि युक्तियों के द्वारा अनुचिन्तन का अर्थ जो पूर्वपक्षी ने किया है। उसको हम नहीं मानते हैं। अपितु युक्तियों के द्वारा अनुचिन्तन का अर्थ ऐसा है– श्रवण के द्वारा निश्चित जो अर्थ। उस अर्थ विषयक जो युक्तत्व–अयुक्त का संशय। उस संशय निवर्तक जो युक्तियाँ। उन युक्तियों के द्वारा जो अनुचिन्तन है। उसको मनन कहते हैं। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित कोई भी दोष नहीं होगा।।३।।

शङ्का– एवम् = मनन का उक्त प्रकार से अर्थ करने पर युक्तत्वायुक्तत्व विषयक जो संशय है उसकी, उत्तर मीमांसा शास्त्र में ग्रथित जो संशयादि निवर्तक जो संशय–पूर्वपक्ष– सिद्धान्तपक्षात्मक आदि न्याय समुदाय है। उस न्याय समुदाय से अन्य से निवृत्ति नहीं हो सकती है। (अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि उक्त संशय का निवर्तक न्याय समुदाय रूप उत्तर मीमांसा शास्त्र मननात्मक है।) इसलिए न्याय ग्रथनात्मक उत्तर मीमांसा शास्त्र के आरम्भ में उपयुक्त जो विचार कर्तव्यता है। अर्थात् शास्त्र अधीन विचार की प्रवृत्ति के प्रति हेतु = विचार कर्तव्यता का ज्ञान। उस ज्ञान का विषय जो विचार कर्तव्यता उसका प्रतिपादन करता हुआ ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' इस प्रथम सूत्र को मनन विधि मूलक ही मानना होगा न कि श्रवणविधि मूलक।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तात्पर्य विषयक युक्तत्व–अयुक्तत्वादि का जो संशय है। उसका निवर्तक जो विचार (मनन) की अपेक्षा से श्रवण से आक्षिप्त (अर्थापत्ति का आकार खण्ड संख्या २ में है) जो उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्य लिङ्ग विचार (यह विचार श्रवण और मनन दोनों से भिन्न है) अभ्यर्हित (प्रथमोपादेय) है। ऐसे विचार का आक्षेपक श्रवणविधि है। अतः श्रवणविधि मूलक ही ''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' यह प्रथम सूत्र मानना उचित है। श्रुतार्थ विषयक युक्तायुक्तत्वविचार (मनन) तो केवल आनुषङ्गिक है। अर्थात् श्रवण ही मूल = अङ्गी है मनन तो केवल सहायक अङ्ग मात्र है।।४।।

पीछे श्रीविवरणकार के मतानुसार श्रवण और मनन का स्वरूप कहा गया था और अब श्रीसुरेश्वराचार्य और श्रीविद्यारण्य स्वामी के अनुसार श्रवण और मनन का जो स्वरूप है। उसे कहा जा रहा है– अथवा ब्रह्मसूत्र के प्रथम समन्वयाध्याय में प्रतिपादित तात्पर्य निश्चायक उपक्रमादि युक्तियों का अनुसन्धान को श्रवण कहते हैं और ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अविरोधाध्याय में प्रतिपादित अर्थ अर्थात् श्रवण से निश्चित जो अर्थ उसके असत्त्व = अप्रामाण्य की जो शङ्का उसकी निवर्तक जो युक्तियाँ हैं। उनका अनुसन्धान (चिन्तन) मनन

प्रथमज्ञानान्तर्भूतत्वाद् इत्यादिना अर्थोपपत्तीनामपि श्रवणान्तर्गतिमुक्त्वा ''ब्रह्मात्मत्वपरिभावनाप्रचयनिमित्ततदेकाग्र–वृत्त्ययोग्यत्वमसम्भावना विपरीतभावना तु शरीराध्याससंस्कारप्रचयः इत्यादिना असम्भावनानिवर्तकस्य मननस्यार्थनिश्चयानन्तरभाविभावनाप्रचयहेतुचित्तैकाग्र्यहेतुताया एवोक्तत्वादिति–चेन्न; भिन्नप्रस्थानतया विवरणविरोधस्याकिञ्चित्करत्वात्। न च जिज्ञासासूत्रस्यांशे मननविधिमूलत्वापातः;

सत्यानन्दप्रबोधिका

कहते हैं। {कहने का भाव यह है कि उपपत्ति दो प्रकार की होती है। एक शब्द उपपत्ति और दूसरी अर्थ उपपत्ति। शब्द रूप उपपत्ति ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय में वर्णित है। जैसे आकाश–प्राण–भूमा आदि शब्दों का तात्पर्य ब्रह्म में है। इसका निर्णायक षड्विध तात्पर्य लिङ्ग रूप युक्ति (उपपत्ति) का अनुसन्धान प्रथम अध्याय में है। इसे श्रवण कहा गया। अर्थ रूप उपपत्ति = तात्पर्यार्थ का युक्ति से चिन्तन द्वितीय अध्याय में है। इसे मनन कहा गया है। इस प्रकार श्रवण और मनन में भेद सिद्ध होता है और प्रथम अध्याय का प्रथम सूत्र श्रवण विधि मूलक भी सिद्ध होता है।}

शङ्का– एवम्– श्रवण और मनन का उक्त प्रकार का स्वरूप मानने पर श्रीविवरणकार के कथन से विरोध होगा, क्योंकि विवरण में कहा गया है कि ''यौक्तिकासम्भावनाविपरीतभावनानिरासितर्काणां प्रथमज्ञानान्तर्भूतत्वात्।'' (अर्थात्–युक्ति से होने वाली असम्भावना (मैं ब्रह्म नहीं हो सकता) विपरीत भावना (मैं शरीर हूँ।) इसका निरासि = निवर्तक जो तर्क प्रथम ज्ञान (श्रवण) में अन्तर्भूत है।) इस कथन के द्वारा अर्थ उपपत्ति भी श्रवण के अन्तर्गत कही गयी है। (अर्थात् वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने शब्द उपपत्ति को ही श्रवण कहा और उससे पृथक् अर्थ उपपत्ति को मनन कहा। जबकि श्रीविवरणकार के अनुसार शब्द उपपत्ति और अर्थ उपपत्ति दोनों ही श्रवण के अन्तर्गत हैं। अतः विवरण से विरोध है– यह पूर्वपक्षी का भाव है।) और श्रवण से पृथक् जो मनन है। उसका कार्य क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए विवरण में कहा है– ''ब्रह्मात्मत्वपरिभावनाप्रचयनिमित्ततदेकाग्रवृत्त्ययोग्यत्वमसम्भावना'' (अर्थात् ब्रह्मात्म परिभावना का जो समूह उससे जनित जो ब्रह्मात्माकार ऐकाग्रवृत्ति की अयोग्यता = असम्भावना) और ''विपरीत भावना तु शरीराध्यास संस्कार प्रजयः'' (अर्थात् शरीराध्यास जन्य संस्कार का जो समूह है। उसको विपरीत भावना कहा गया है।) इत्यादि के द्वारा असम्भावना निवर्तक मनन में अर्थ निश्चय के अनन्तर भावि जो भावना (ब्रह्मात्मत्व की भावना अर्थात् ''अहं ब्रह्मास्मि'' ऐसी भावना) के समूह के प्रति हेतु जो चित्त एकाग्र वृत्ति है। उसकी हेतुता कही गयी है। अर्थात् उक्त हेतुता मनन में है– ऐसा विवरण में कहा गया है। अर्थात् श्री सुरेश्वराचार्य के अनुसार अर्थ उपपत्ति को मनन कहा गया जबकि श्रीविवरणकार के अनुसार अर्थ उपपत्ति भी श्रवण में ही है और उक्त चित्त ऐकाग्र वृत्ति के प्रति जो हेतु है वह मनन है। अतः श्रीविवरणकार के कथन से विरोध है।

समाधान – उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विवरण प्रस्थान और वार्तिक प्रस्थान भिन्न–भिन्न होने के कारण विवरण से विरोध को दोष प्रद नहीं माना जाता हैं, क्योंकि यदि दोनों प्रस्थानों में कुछ भी भिन्नता नहीं मानी जायेगी, तब तो दोनों प्रस्थानों को भिन्न–भिन्न कहा ही नहीं जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि वस्तुतः उनमें विरोध भी नहीं है, क्योंकि जो पूर्वपक्षी ने कहा कि प्रथम ज्ञान = श्रवण में मनन अन्तर्भुक्त है, इसलिए विरोध है। वहाँ प्रथम ज्ञान के उपर तत्त्वदीपन टीका में कहा गया है –प्रथम–ज्ञाने = प्रथमज्ञानसाधने। ऐसा कथन होने से विरोध नहीं होगा क्योंकि मनन को श्रवण का साधन कहा है न कि दोनों में अभेद कहा है।

समन्वयोक्तविचारस्याभ्यर्हिततया श्रवणविधिमूलत्वस्यैव वक्तव्यत्वोपपत्तेः।।५।।

ननु—'मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः'इति स्मृतिगतोपपत्तिशब्दस्य मतिर्यावदयुक्ततेति स्मृतिस्थायुक्तशब्दस्य च श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य इति श्रुतिशब्दस्येव सामान्यपरत्वाहानेन 'आदौ यच्छ्रद्धया सिद्धं पश्चान्न्यायेन साधितम्।' इति न्यायेन युक्त्यनपेक्षश्रद्धामात्रेण प्रतिवाक्यमयमस्य वाक्यस्यार्थ इति गुरुमुखाद्वेदार्थग्रहणं श्रवणं पश्चात् न्यायानुसन्धानं मननमिति भेदसम्भवे युक्तिष्वेव श्रवणमननभेदकथनायोग इति—चेन्न; वाक्यार्थग्रहणस्य प्रमारूपतया अविधेयत्वस्योक्तत्वात्।।६।।

ननु—उक्तस्य वाक्यार्थग्रहणस्य श्रवणादित्रयानन्तर्भावे चतुर्थस्यापि मुमुक्ष्वनुष्ठेयत्वापात इति—चेन्न;

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— द्वितीय अध्याय को मननात्मक मानने पर मनन कर्तव्यता अंश में प्रथम सूत्र को मनन विधि मूलक मानना होगा, क्योंकि प्रथम सूत्र को अध्याय चतुष्टय विषयक विचार की कर्तव्यता का बोधक माना जाता है। अतः जब अध्याय चतुष्टय विषयक विचार की कर्तव्यता का बोधक होगा तब अध्याय चतुष्टय अन्तःपाती द्वितीय अध्याय विषयक विचार की कर्तव्यता का भी बोधक होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि द्वितीय अध्याय के विचार की अपेक्षा प्रथम समन्वयाध्याय उक्त विचार अभ्यर्हित (प्रथम उपादेय) होने से प्रथम सूत्र को श्रवण विधि मूलक ही मानना युक्ति युक्त है।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''गन्तव्यश्चोपपत्तिभिः'' इस वाक्य में आया हुआ उपपत्ति शब्द सामान्यार्थ (शब्द उपपत्ति और अर्थ उपपत्ति) का समर्पक होता है। इसी प्रकार ''मतियावदयुक्तता'' इस वाक्य में आया हुआ अयुक्तता शब्द सामान्यार्थ (शब्द की अयुक्तता और अर्थ की अयुक्तता) का समर्पक होता है। जैसे ''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः'' इस वाक्य में आया हुआ श्रुति शब्द सामान्यार्थ (सभी श्रुति वाक्यों को न कि किसी एक श्रुति वाक्य) को कहता है। तब केवल शब्द युक्ति (शब्द उपपत्ति) और अर्थ युक्ति (अर्थ उपपत्ति) में भेद मानकर श्रवण और मनन की सिद्धि करना उचित नहीं है। अपितु शब्द उपपत्ति तथा अर्थ उपपत्ति दोनों को ही मनन कहना चाहिए। इसी प्रकार शब्द अयुक्तता और अर्थ अयुक्तता दोनों को ही मनना कहना चाहिए। इस पर प्रश्न होगा कि आप के कथनानुसार श्रवण और मनन का पृथक्—पृथक् स्वरूप कैसा होगा? इसका उत्तर—उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''आदौ यच्छ्रद्धया सिद्धं पश्चान्न्यायेन साधितम्'' इस न्याय के अनुसार श्री गुरुदेव के मुखारविन्द से युक्ति अनपेक्ष केवल श्रद्धा मात्र से ''इस वाक्य का यह अर्थ है'' इस प्रकार प्रत्येक श्रुति वाक्य के अर्थ का ग्रहण करना ही श्रवण कहलाता है और श्रवण के पश्चात् उस अर्थ का न्यायपूर्वक अनुसन्धान मनन कहलाता है। इस प्रकार श्रवण और मनन में भेद सम्भव हो जायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने जो कहा कि ''गुरुमुखाद्वेदार्थग्रहणं श्रवणम्'' किन्तु ऐसा श्रवण का लक्षण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वेदार्थ ग्रहण प्रमाज्ञान रूप होने के कारण विधेय नहीं हो सकता है। ज्ञान विधेय नहीं होता है — इसे पूर्वपक्षी ने स्वयं ही ''श्रवणादि विधेयत्वोपपत्तिविचारः'' के खण्ड संख्या १ में कहा है। यदि कहा जाय कि उक्त श्रवण के लक्षण की उपपन्नता के लिए श्रवण का विधान ही मत मानों तो ऐसा कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि ''श्रोतव्यः'' इस श्रुति से श्रवण का विधान किया गया है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित लक्षण अयुक्त है।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि श्रीगुरुमुख से जो वेदार्थ ग्रहण है। उसको प्रमात्मक ज्ञान मानकर विधेयत्व की अनुपपत्ति के कारण श्रवण—मनन—निदिध्यासन में अन्तर्भाव न करने पर मुमुक्षु को श्रवणादि के जैसे श्रवणादि त्रय से भिन्न चतुर्थ (उक्त वेदार्थ ग्रहण) के भी अनुष्ठेयत्व (विधेयत्व) की आपत्ति होगी,

तस्य ज्ञानरूपतया अनुष्ठानानर्हत्वात्, श्रद्धामात्रात् स्वत एव जातत्वेनापुंतन्त्रत्वाच्च। न चैवं केवलं गुरुमुखात्तदर्थं श्रुतवति श्रुतमनेनेति प्रयोगानुपपत्तिः; विधेयत्वान्यथानुपपत्त्या अर्थान्तरत्वे स्थिते अस्य प्रयोगस्य गौणतादिना कथञ्चिदुपपादनीयत्वात्। अत एव स्मृतिगतोपपत्त्ययुक्ततापदयोर्न सामान्यपरता। न च–प्रमाणभूतश्रुतितात्पर्ये निश्चिते अर्थसत्त्वार्थमुपपत्त्यपेक्षायोगेन मननस्यार्थासत्त्वरूपाप्रामाण्यशङ्कानिवर्तकत्वे वक्तव्ये निश्चितप्रामाण्यस्य पुंसो मननाभावप्रसङ्ग इति–वाच्यम्: तादृशं प्रति तदभावस्येष्टत्वात्, कृष्णले अतिदेशप्राप्तस्यावघातस्य द्वारबाधेन बाधदर्शनात्। तस्मात्तात्पर्यावधारणं श्रवणम्। तच्च लिङ्गविचाराधीनमिति विचारकर्तव्यतापरमाद्यसूत्रं श्रवणविधिमूलकं नतु मननविधिमूलकमिति सिद्धं जिज्ञासासूत्रस्य श्रवणविधिमात्रमूलकत्वम्।।७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

क्योंकि श्रीगुरुमुख से वेदार्थ ग्रहण उभयवादी सम्मत है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वेदार्थ ग्रहण प्रमात्मक ज्ञान रूप होने के कारण अनुष्ठान (विधेय) के योग्य नहीं हो सकता है और उक्त वेदार्थ ग्रहण श्रद्धा मात्र से स्वतः ही उत्पन्न होता है। अतः पुरुष अधीन न होने के कारण अर्थात् पुरुष प्रयत्न साध्य न होने के कारण उसमें अनुष्ठेयत्व नहीं माना जा सकता है।

शङ्का– एवम् = श्रद्धा मात्र से स्वतः उत्पन्न होने के कारण उक्त वेदार्थ ग्रहण को श्रवण न मानने पर केवल (युक्ति के विना) श्रीगुरुमुख से वेदार्थ को सुनने वाला जो पुरुष है। उस पुरुष में ''श्रुतमनेनन'' अर्थात् इस पुरुष के द्वारा वेदार्थ श्रवण किया गया है– इस प्रकार के प्रयोग की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवण को ज्ञान से भिन्न न मानने पर श्रवण में विधेयत्व की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। यहाँ अर्थापत्ति का आकार होगा– श्रवणस्य ज्ञानभिन्नत्वं विना विधेयत्वमनुपपन्नम्। इस अर्थापत्ति के द्वारा जब श्रवण ज्ञान से भिन्न सिद्ध हो गया तब उक्त पुरुष में ''श्रुतमनेन'' इत्याकारक प्रयोग की उपपत्ति गौणता के द्वारा कर लेनी चाहिए। ''गौणतादि'' के आदि पद से लक्षणा का ग्रहण कर लेना चाहिए। अर्थात् लक्षणा के द्वारा उक्त प्रयोग की उपपत्ति हो जायेगी। अतएव = श्रवण का लक्षण श्रीगुरुमुख से श्रद्धापूर्वक वेदार्थ ग्रहण मानना सम्भव न होने से ही उक्त स्मृतियों में आये हुए ''उपपत्ति'' और ''अयुक्तता'' पदों को सामान्यार्थक नहीं माना जा सकता है।

शङ्का– श्रवण के द्वारा ही प्रमाणभूत जो श्रुति उसका किस अर्थ में तात्पर्य है– यह जब निश्चित हो गया तब अर्थ में प्रामाण्य निश्चय के लिए किसी युक्ति की अपेक्षा न होने से मनन में अर्थासत्त्व रूप अप्रामाण्य शङ्का की निवर्तकता ही माननी पड़ेगी। किन्तु निश्चित है प्रामाण्य जिसको ऐसा जो पुरुष उस पुरुष के प्रति मनन के अभाव का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उसको अर्थासत्त्व रूप अप्रामाण्य की शङ्का ही नहीं है।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि श्रवण के द्वारा ही जिस पुरुष को प्रामाण्य का निश्चय हो गया है। ऐसे पुरुष के प्रति मननाभाव इष्ट ही है। जैसे वैतुष्य के लिए अवघात करना होता है किन्तु कृष्णल चरु (सुवर्ण कणों) में वैतुष्य बाधित है। अतः वैतुष्यरूप द्वार के बाधित होने से अवघात भी बाधित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अर्थ में प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए मनन की आवश्यकता होती है किन्तु जिस पुरुष को अर्थ का निश्चय श्रवण से ही हो चुका है, उसको पुनः प्रामाण्य का निश्चय रूप द्वार के बाधित हो जाने से मनन का भी बाध हो जाता है। इसलिए शक्तिरूप तात्पर्य अवधारण ही श्रवण है। ऐसा जो श्रवण है वह शब्द उपपत्ति रूपविचार के अधीन है। अतः विचार की कर्तव्यता का बोधक आद्यसूत्र श्रवणविधिमूलक ही है न कि मनन विधि मूलक। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' सूत्र श्रवण विधि मात्र मूलक है।।७।।

–: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां जिज्ञासासूत्रस्य श्रवणविधिमूलत्वोपपत्ति :–

५—विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वविचारः

ननु—त्वन्मते कर्मकाण्डविचारो यथोत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तः, तथा ब्रह्मकाण्डविचारोऽपि ज्ञानविधिप्रयुक्त इत्येव किं न स्यात्? उत्तरक्रतुविधिभिः स्वानुष्ठाप्यार्थनिर्णयान्तविचारस्येव 'तरति शोकमात्मवि'दित्यादिना शोकनिवृत्तिहेतुत्वेनावगतेनात्मज्ञानेन स्वसिद्धये वेदान्तविचारस्याक्षेपात्। युक्तं चानेकेषां क्रतुविधीनामाक्षेपकत्वादप्येकस्यैवाक्षेपकत्वमिति—चेन्न; यद्यपि कार्येण कारणाक्षेपः सम्भवति, तथापि तस्य वैधत्वसिद्ध्यर्थं विधिमूलत्वस्यावश्यं वक्तव्यत्वात्। अन्यथा कर्मकाण्डविचारस्यापि कर्मज्ञानादेवाक्षेपे अध्ययनविधेर्वोत्तरक्रतुविधीनां वा आक्षेपकत्वोक्तिरयुक्ता स्यात्; मननविधिमूलत्वं वदता त्वयापि अस्याक्षेपस्यावश्यं परिहरणीयत्वात्।१॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— सिद्धान्त मतानुसार वेदान्त विचार का मूल श्रवणविधि है न कि अध्ययन विधि। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे सिद्धान्ती के मत में कर्मकाण्ड का विचार = कर्मकाण्ड अध्ययन उस के उत्तर अनुष्ठेय जो क्रतु, उन क्रतु के बोधक जो विधि वाक्य है, उन विधि वाक्यों से प्रयुक्त होता है। वैसे ही वेदान्त का विचार = वेदान्त अध्ययन, उसके उत्तर अनुष्ठान करने योग्य जो आत्मज्ञान, उस आत्मज्ञान की विधि (तरति शोकमात्मवित्) उससे प्रयुक्त हो जायेगा। अतः ज्ञान विधि से पृथक् श्रवण विधि मानना व्यर्थ है। कर्मकाण्ड अध्ययन के पश्चात् अनुष्ठेय जो क्रतु उसकी विधि के द्वारा कर्मकाण्ड विचार प्रयुक्त क्यों है? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे कर्मकाण्ड अध्ययन के उत्तर क्रियमाण कर्मों के विधि वाक्य स्व = क्रतु विधि, उसका अनुष्ठाप्य क्रतु। उसके अर्थ का निर्णय जब तक नहीं होता है तब तक कर्मकाण्ड विचार करना चाहिए। अर्थात् (विध्यनुष्ठाप्यार्थनिर्णायकविचारं विना क्रतुविधिरनुपपन्नः) इस प्रकार क्रतुविधि के द्वारा ही कर्मकाण्ड विचार का आक्षेप जैसे हो जाता है वैसे ही वेदान्त अध्ययन के उत्तर "तरति शोकमात्मवित्" (छा०उ०७—१—३) इत्यादि वाक्यों से अवगत शोकनिवर्तक जो आत्मज्ञान, उस आत्मज्ञान विधि के द्वारा ही वेदान्त विचार का आक्षेप (वेदान्तविचारं विना आत्मज्ञानविधिरनुपपन्नः) हो जायेगा। अतः ज्ञान विधि से पृथक् श्रवण विधि मानना व्यर्थ है। सिद्धान्ती ने अनेक क्रतु विधियों को कर्मकाण्ड विचार का आक्षेपक माना है जबकि पूर्वपक्षी के मतानुसार एक ही ज्ञान विधि को वेदान्त विचार का आक्षेपक माना गया है। अतः पूर्वपक्षी के मत में लाघव है।

समाधान— यद्यपि कार्य (ज्ञान विधि) के द्वारा कारण (वेदान्त विचार) का आक्षेप सम्भव है। जैसे धूम रूप कार्य के द्वारा वह्नि रूप कारण का आक्षेप होता है तथापि आक्षेप से लब्ध जो वेदान्त विचार तब तक वैध नहीं होगा जब तक उस वेदान्त विचार का मूल कोई विधि न हो। वैध न होने से लोगों की वेदान्त विचार में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः वैध होना आवश्यक है। अतः ज्ञानविधि से पृथक् श्रवण विधि मानना आवश्यक है। अन्यथा = विचार विधि के विना ही विचार को ज्ञानविधि के द्वारा आक्षेप होने मात्र से वैध मानने पर "कर्मकाण्डविचारं विना कर्मज्ञानमनुपपन्नम्" इस प्रकार से ही कर्मकाण्ड विचार का आक्षेप हो जाने पर वह विचार वैध हो जायेगा। उसका आक्षेपक अध्ययन विधि को अथवा क्रतु विधियों को कहना अयुक्त होगा। आद्य सूत्र का मूल मनन विधि है न कि श्रवण विधि—ऐसा कहने वाले माध्व के मतानुसार मनन विधि भी सिद्ध नहीं हो पायेगी, क्योंकि उक्त ज्ञान विधि के द्वारा ही मनन का आक्षेप हो जाने से पृथक् मनन विधि मानना व्यर्थ होगा। अतः पूर्वपक्षी को भी उक्त शङ्का का समाधान करना होगा। अतः सिद्धान्त मतानुसार जो समाधान दिया गया है। वह उचित ही है।१॥

एतेन—अर्थावगमपर्यन्ताध्ययनविधिप्रयुक्तत्वस्य कर्मविचारवद् ब्रह्मविचारेऽपि सम्भवे न श्रवणविधिप्रयुक्तत्वम्। न च— साक्षात्कारफलकमावृत्तिगुणकमननाद्यङ्गकमिदं श्रवणमध्ययनविधिप्रयुक्तश्रवणमात्राद् भिन्नमिति विध्यन्तरं युक्तमिति—वाच्यम्; ब्रह्मविचारस्याप्यध्ययनविधिप्रयुक्तत्वेऽपि साक्षात्कारस्यापरोक्षैकरसात्मविषयत्वेनैव सिद्धेः, आवृत्तेश्च विध्यन्तराङ्गीकारेऽपि अवघातवद्दृष्टफलत्वेन वक्तव्यत्वात् कर्मकाण्डेऽपि तात्पर्यावधारणपर्यन्त—विचारावृत्तेरपेक्षितत्वात्, ततः परं ब्रह्मकाण्डेऽपि तदावृत्तेरनपेक्षितत्वात्। मननस्य च कर्मकाण्डेऽपि तदर्थनिश्चयायापेक्षितत्वादध्ययनविधिविहितैकदेशारण्यकाध्ययनानुवादेन वाक्यान्तरेणारण्याद्यङ्गान्तरविधानवत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि कर्म विचार को विधान करने वाला कोई विधि वाक्य नहीं है तथापि कर्म विचार में वैधता की सिद्धि के लिए कर्म विचार को विधान करने वाला कोई विधि वाक्य तो होना ही चाहिए। इस पर प्रश्न होगा कि वह विधि वाक्य कौन है? इसके समाधान में कहा गया कि अध्ययन विधि के द्वारा ही कर्म विचार प्रयुक्त है, क्योंकि अध्ययन विधि केवल अध्ययन का ही विधान नहीं करता है अपितु कर्म ज्ञान पर्यन्त अध्ययन का विधान करती है। कर्म ज्ञान तो विना कर्म विचार से हो नहीं सकता है। अतः अध्ययन विधि ही कह रही है कि कर्म विचार करो। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान पर्यन्त ब्रह्मविचार में भी अध्ययन विधि प्रयुक्त मानना सम्भव है तब ब्रह्म विचार को श्रवण विधि प्रयुक्त मानना उचित नहीं है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि अध्ययन विधि प्रयुक्त कर्मकाण्ड विचार से जैसे धर्म का परोक्ष ज्ञान होता है वैसे ही यदि ब्रह्म विचार को अध्ययन विधि से प्रयुक्त मानने पर ब्रह्म विचार से ब्रह्म का भी परोक्ष ज्ञान ही हो पायेगा न कि अपरोक्ष ज्ञान। अतः ब्रह्मविचार से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान हो— इसके लिए अध्ययन विधि से पृथक् श्रवण विधि मानना आवश्यक है। अध्ययन विधि से पृथक् श्रवण विधि न मानने पर श्रवण की आवृत्ति की सिद्धि नहीं हो पायेगी क्योंकि अध्ययन विधि प्रयुक्त कर्म विचार आवृत्ति गुणक नहीं होते हैं। अतः साक्षात्कारफलक और आवृत्ति गुणक तथा मननादि अङ्ग वाला जो यह श्रवण है। वह अध्ययन विधि प्रयुक्त केवल श्रवण की अपेक्षा भिन्न है। इसलिए इस श्रवण के विधान के लिए अध्ययन विधि से भिन्न ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' (बृ०उ०४—५—६) इस श्रवण विधि को मानना आवश्यक है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ब्रह्मविचार अध्ययन विधि से प्रयुक्त होने पर भी ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान हो जायेगा क्योंकि ब्रह्म विचार का विषय जो ब्रह्म है वह साक्षात् अपरोक्ष एक रस है। दूसरी बात यह है कि सिद्धान्त मतानुसार अध्ययन विधि से भिन्न श्रवण विधि मानकर जो आवृत्ति कही गयी है। उसका दृष्ट फल ही कहना होगा। जैसे अवघात का दृष्ट फल (भूसी निकालना) होता है। अतः अवघात की आवृत्ति करने वाला कोई विधि वाक्य विद्यमान न होने पर भी, अवघात का दृष्ट फल होने से जब तक तुष विमोचन नहीं होता तब तक पुनः पुनः अवघात अपने आप प्राप्त हो जाता है। वैसे ब्रह्म साक्षात्कार दृष्ट फल है। अतः जब तक दृष्ट फल प्राप्त नहीं होता है तब तक आवृत्ति अपने आप ही होती रहेगी। अतः आवृत्ति के लिए श्रवण विधि को मानना आवश्यक नहीं है। आवृत्ति करना अनपेक्षित कब होता है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि कर्मकाण्ड में भी जब तक तात्पर्य अवधारण नहीं होता है तब तक कर्मकाण्ड विचार की आवृत्ति होती रहेगी। जब तात्पर्य अवधारण हो जाता है तब आवृत्ति अनपेक्षित हो जाती है। इसी प्रकार तात्पर्य अवधारण पर्यन्त वेदान्त विचार की आवृत्ति अपेक्षित होती है। तात्पर्य अवधारण के अनन्तर वेदान्त विचार की आवृत्ति भी अनपेक्षित हो जाती है। कर्मकाण्ड में भी कर्मकाण्डार्थ निश्चय के लिए मनन की भी अपेक्षा होती है। इस पर प्रश्न होता है कि मनन का विधान कैसे होगा? इसका उत्तर

मुण्डककारीर्याद्यध्ययनानुवादेन शिरोव्रतभूमिभोजनाद्यङ्गविधानवत् 'तां चतुर्भिरादत्त' इत्यर्थप्राप्ताभ्यादानानुवादेन संख्याविधानवच्चाध्ययनविध्याक्षिप्तविचारैकदेशानुवादेन त्वद्रीत्या मननाद्यङ्गविधानस्य सम्भवादिति।।२।।

निरस्तम्; मननविधिमूलत्ववादिनोऽपि समानत्वादध्ययनविधेः स्वाध्यायावाप्तिफलकतया अर्थज्ञानफलकत्वाभावात्, अध्येतव्य इति कर्मप्रधानतव्यप्रत्ययेन स्वाध्यायस्यैव फलत्वावगमात्। न च तस्यापुरुषार्थतया फलवदर्थावबोधपर्यन्तं व्यापारः; 'चित्रया यजेत पशुकामः'इत्यादावपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे अध्ययन विधि से विहित जो सम्पूर्ण वेद का अध्ययन है। उस सम्पूर्ण वेद के अध्ययन का विधान होने से वेद का जो एक देश = आरण्यक है। उसका भी विधान अध्ययन विधि के द्वारा ही हो जाता है और उसी आरण्यक अध्ययन का अनुवाद कर के आरण्यक का अङ्ग जो अरण्य आदि हैं। उन अरण्य आदि अङ्गान्तर का भी विधान वाक्यान्तर से हो जाता है। ऐसे ही अध्ययन विधि से विहित जो सम्पूर्ण वेद का अध्ययन है, उस सम्पूर्ण वेद का विधान होने से वेद का जो एक भाग मुण्डकोपनिषद् है, उसका भी विधान अध्ययन विधि के द्वारा ही हो जाता है और उसी मुण्डक अध्ययन का अनुवाद कर के शिरोव्रत का विधान ''तेषामेवैतेषां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्।'' इस वाक्यान्तर (अध्यय विधि बोधक वाक्य से भिन्न वाक्य) से होता है। इस प्रकार अध्ययन विधि से विहित जो सम्पूर्ण वेद का अध्ययन है। सम्पूर्ण वेद का अध्ययन होने से तैत्तिरीयशाखा के अध्ययन का भी विधान हो जाता है। उस तैत्तिरीय शाखा का अनुवाद कर के भूमिभोजन का भी विधान ''कारीरीवाक्यान्यधीयाना तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति।'' इस वाक्यान्तर से होता है। इसी प्रकार अध्यय विधि से सम्पूर्ण वेद के अध्ययन का विधान होने से ''तां चतुर्भिरभिमादत्ते'' इसके अध्ययन का भी विधान हो जाता है। पुनः ''तां चतुर्भिरभिमादत्ते'' इस वाक्य से प्राप्त अभ्री (काष्ठ निर्मित कुदाल) के आदान का अनुवाद करके ''देवस्य त्वा सवितुः'' इत्यादि चार मन्त्रों का विधान किया गया है ठीक इसी प्रकार अध्ययन विधि के द्वारा आक्षिप्त जो सम्पूर्ण वेद का विचार, उसका एक देश जो वेदान्त विचार है। उसका अनुवाद कर के आरण्यक मुण्डकादि में जो सिद्धान्ती की रीति है। उसी रीति के अनुसार मननादि अंग का विधान हो जायेगा। वह मनन विधि प्रथम सूत्र का मूल हो जायेगी— यह पूर्वपक्षी का भाव है।।२।।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। ''एतेन'' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वेदान्त विचार मननविधि मूलक है— ऐसा मानने वाले पूर्वपक्षी के मत में भी उक्त दोषों का समाधान करना आवश्यक होगा। अर्थात् पूर्वपक्षी कर्मकाण्ड के मनन का विधान करने वाला कोई विधि वाक्य न होने पर भी वेदान्त वाक्य के मनन का विधान करने वाली मनन विधि मानता है। वह इसलिए कि वेदान्त मनन श्रीगुरुमुख अधीन हो सके। इसी प्रकार श्रवण का विषय वेदान्त ही हो पुराणादि न हो— इसकी सिद्धि के लिए श्रवण में भी मननादि से पृथक् विधि सिद्धान्त मतानुसार मानी गयी है। इस प्रकार समानता है। दूसरी बात यह है कि ''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' इस अध्ययन विधि का फल स्वाध्याय (अपनी शाखा) की अवाप्ति (सस्वर पाठ) ही है, अर्थ ज्ञान नहीं, क्योंकि ''अध्येतव्यः'' यहाँ पर कर्म प्रधान तव्य प्रत्यय के द्वारा स्वाध्याय रूप कर्म ही अध्ययन का फल प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि स्वाध्याय (सुख या सुख का साधन रूप न होने के कारण) पुरुषार्थ रूप न होने से फल नहीं माना जाता है। इसलिए फलवाला जो अर्थावबोध है तादृश अर्थावबोधपर्यन्त अध्ययन विधि का व्यापार स्वाध्याय माना जाता है। अतः सिद्धान्ती ने जो कहा कि स्वाध्याय का फल अर्थावबोध नहीं होता है। वह उचित नहीं है। इसका खण्डन करते हुए

काम्यमानपश्वादेरप्यफलत्वापत्तेः, पम्परया पुरुषार्थसाधनतया फलत्वे प्रकृतेऽपि तस्य सम्भवात्। तस्माच्छ्रवणविधिर्मूलं विचारविधायकजिज्ञासासूत्रस्य, न तु मननविधिरिति सिद्धम्॥३॥

॥ इत्यद्वैतसिद्धौ विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वोपपत्तिः॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यादि स्थल पर भी काम्यमान पशु सुखादि रूप न होने के कारण पुरुषार्थ रूप न होने के कारण उसमें फलत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी। यदि कहा जाय कि पशु सुख रूप न होने से अपुरुषार्थ होने के कारण उसमें फलत्व की सिद्धि न होने पर भी काम्यमान पशु सुख का साधन होने से उसमें पुरुषार्थ की सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार उसमें परम्परया फलत्व की सिद्धि हो जायेगी। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि स्वाध्याय भी अर्थावबोध का साधन होने से परम्परया पुरुषार्थ का साधन होने से उसमें फलत्व की सिद्धि मानी ही जा सकती है। इस प्रकार फलितार्थ यह हुआ कि विचार विधायक जिज्ञासा सूत्र का मूल श्रवण विधि है न कि मनन विधि॥३॥

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वोपपत्तिः —

६— अध्ययनविधेर्नित्यत्वेऽपि विचारविधायकत्वविचारः

प्रस्थानान्तरे तु अध्ययनविधेरेवार्थावगमपर्यन्तत्वात् काण्डद्वयविचाराक्षेपकत्वम्, श्रवणादिषु च न विधिः। तेषामन्वयव्यतिरेकसिद्धसाक्षात्कारसाधनताकत्वादित्युक्तम्। न च—अध्ययनाभावे प्रत्यवायश्रवणादध्ययनस्य नित्यताया अप्यवगमात् कथं तस्यार्थावगमपर्यन्तत्वमिति—वाच्यम्; अर्थज्ञानार्थत्वेऽपि अध्ययनविधेरवैयर्थ्याय अधीतेनैव वेदेन कर्तव्यतां ज्ञात्वा अनुष्ठितं कर्म फलायालमित्यादिनियमऽऽश्रयणादसत्यध्ययने यथोक्तनित्यादि—कर्मानुष्ठानासिद्ध्या प्रत्यवायश्रवणोपपत्तिः।१।।

तथाचार्थज्ञानार्थस्यापि अध्ययनस्य फलतो नित्यत्वमिति केचित्। अपरेतु—अनध्ययने सन्ध्यानुपासन इव साक्षात् प्रत्यवायस्मरणेनाध्ययनस्यादृष्टार्थत्वेऽप्यर्थज्ञानस्यापि दृष्टत्वादपेक्षिततत्वाच्च तादर्थ्यमपीत्युभयार्थता

सत्यानन्दप्रबोधिका

भामती प्रस्थान में अध्ययन विधि का ही अर्थ अवगम पर्यन्त व्यापार माना जाता है। अतः कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड द्वय का आक्षेपक ''वेदाध्ययनं विना वेदार्थज्ञानमनुपपन्नम्'' इस प्रकार से अध्ययन विधि को ही स्वीकार किया जाता है। श्रवणादि में विधि नहीं मानी जाती है, क्योंकि श्रवणादि में अन्वय व्यतिरेक से साक्षात्कार की साधनता सिद्ध है।

शङ्का— अध्ययन का अभाव होने पर प्रत्यवाप कहा गया है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय।। (मनु०—२—१६)

अतः अध्ययन में नित्यता का अवगम होने से अर्थात् अध्ययन नित्य कर्म होने से उसे जीवन पर्यन्त करना होगा। इसलिए सिद्धान्ती ने जो कहा कि स्वाध्याय (स्वशाखा) का अध्ययन अर्थ अवगम पर्यन्त करना चाहिए— वह उचित नहीं है, क्योंकि अध्ययन में अर्थावगम फलकत्व मानने पर काम्यत्वापत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अध्ययन विधि का प्रयोजन अर्थ ज्ञान मानने पर भी अध्ययन करने पर अर्थज्ञान होता है न करने पर नहीं होता है— इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से ही जब अध्ययन अर्थ ज्ञान के प्रति हेतु सिद्ध हो जाता है तब अध्ययन में विधि मानना व्यर्थ है। इस व्यर्थतादोष का निवारण करने के लिए अधीत वेद से ही कर्तव्यता (मुझे क्या करना है?) को समझकर अनुष्ठित हुआ कर्म फल के लिए समर्थ होता है— इत्यादि रूप नियम का आश्रय किया जाता है किन्तु अध्ययन न होने पर अधीत वेद के द्वारा ज्ञात नित्य कर्म का अनुष्ठान न हो पाने के कारण प्रत्यवाप जो होता है। उसका उक्त स्मृति के द्वारा प्रतिपादन किया गया है।१।।

इसलिए तन्त्ररत्नकारादि कुछ आचार्यों ने कहा है कि अध्ययन का प्रयोजन अर्थ ज्ञान होने पर भी फलतः (= अर्थतः = अर्थापत्ति = अध्ययनविधेः नित्यत्वं विना उक्तनियमानुपपन्नम्। उक्त नियमः = अधीतेनैव वेदेन कर्तव्यतां ज्ञात्वा अनुष्ठितं कर्म फलायालमित्यादि नियमः।) अध्ययन नित्य कर्म होता है। अन्य आचार्यों का कथन है कि जैसे सन्ध्या पूजादि नित्य कर्मों को न करने पर साक्षात् पाप का श्रवण स्मृतियों में है वैसे ही अध्ययन न करने पर साक्षात् पाप (शूद्रत्वापत्ति) का कथन होने से अध्ययन को अदृष्टार्थक नित्य कर्म भी माना जाता है और अध्ययन से अर्थ ज्ञान रूप अपेक्षित दृष्ट फल भी होता है। अतः अध्ययन को दृष्टार्थक कर्म भी माना जाता है। इस प्रकार अध्ययन को उभयार्थक = दृष्टादृष्टोभयार्थक कर्म माना जाता है। जैसे पशुपुरोडाश याग दृष्टादृष्टार्थक उभयात्मक माना जाता है। अर्थात् अग्नीषोमीय पशुयाग के पश्चात् पशु पुरोडाश याग किया जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि पशु पुरोडाश याग का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का उत्तर दो अधिकरणों में दिया गया है। प्रथम उत्तर पूर्वमीमांसा के दशमाध्याय के प्रथम पाद के नवम

पशुपुरोडाशादिवदिति—आहुः। अत्र चाध्ययनविधेर्नित्यत्वे सत्युभयविचाराक्षेपकत्वं परेणाप्यङ्गीकृतं, तदयुक्तम्; जिज्ञासासूत्रस्य मननविधिमूलत्ववादिनस्तस्य तदङ्गीकारानर्हत्वात्, अयुक्तत्वशङ्कानिवर्तकमननरूपविचारस्यापि अध्ययनविध्याक्षिप्तत्वेन तत्र विधिवैयर्थ्यात् सूत्रस्य तन्मूलत्वासिद्धेः।।२।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ वाचस्पत्युक्तस्वाध्यायविधिविचाराक्षेपकत्वस्योपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अधिकरण में दिया गया कि ''अग्नीषोमीयं पशुपुरोडाशम्'' इस कथन से पशु याग में देवता का स्मरण रूप दृष्ट फल होता है। द्वितीय उत्तर चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद के सप्तम अधिकरण में दिया गया कि पुरोडाश रूप द्रव्य के त्याग से अदृष्ट फल होता है। इस प्रकार पशु पुरोडाश याग दृष्टादृष्टोभयात्मक फल वाला हो जाता है। यह जो कहा जाता है कि अध्ययन विधि के नित्य होने पर भी श्रवण रूप विचार और मनन रूप विचार का आक्षेपक अध्ययन विधि को पूर्वपक्षी भी मानता है। ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी जिज्ञासा सूत्र का मूल मनन ही है— ऐसा अङ्गीकार करता है। अतः पूर्वपक्षी (माध्व) अध्ययन विधि को श्रवण रूप विचार का आक्षेपक नहीं मान सकता है। अयुक्तत्व शङ्का निवर्तक मनन रूप विचार भी अध्ययन विधि से अक्षिप्त होने से मनन में विधि मानना व्यर्थ है। अतः पूर्वपक्षी प्रथम सूत्र को मननविधि मूलक नहीं कह सकता है। फलतः भामती प्रस्थान के अनुसार अध्ययन विधि ही कर्म विचार के समान ब्रह्म विचार का भी आक्षेपक हो जाती है। अतः श्रवणादि में विधि नहीं है— यह सिद्ध हो गया।।२।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां वाचस्पत्युक्तस्वाध्यायविधिविचाराक्षेपकत्वस्योपपत्तिः —

७— ज्ञानरूपस्य श्रवणादेर्विधेयत्वविचारः

यत्तु शब्दजज्ञानस्वरूपमेव श्रवणं विधेयमिति, तन्न; आपातदर्शनस्य तद्विना जायमानत्वात्। न च तद्भिन्ने प्रतिवाक्यमस्य वाक्यस्यायमर्थ इति सिद्धार्थोक्तिरूपगुरूपदेशेनानेकशाखास्थवाक्यार्थज्ञाने; वेदान्तरूपवाक्यार्थविचारस्य सामान्यतः साधनत्वेन प्राप्तत्वात्।।१।।

नच यथा घटादावितरभेदे सिद्धेऽपि पृथिवीतरेभ्यो भिद्यत इत्यत्र न सिद्धसाधनम्, यथा च स्थानप्रकरणाधिकरणोक्तरीत्या राजसूयान्तर्गतेष्टिपशुसोमेषु प्रातिस्विकरूपेण चोदकत इतिकर्तव्यताप्राप्तावपि राजसूयरूपे तदप्राप्तिः, तथा वेदान्तविचारत्वोपहिते ब्रह्मज्ञानहेतुताया अप्राप्तेरपूर्वविधितेति—वाच्यम्; सामान्यतः

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— माध्वमतानुसार शब्द से उत्पन्न होने वाला वाक्यार्थ ज्ञान रूप श्रवण है। ऐसा श्रवण ही आत्मदर्शनार्थ विधेय होता है।

समाधान— इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वाक्यार्थ ज्ञान दो प्रकार का होता है— (१) संशयाक्रान्त आपात ज्ञान (२) निश्चयात्मक ज्ञान। इसमें से प्रथम का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि संशयाक्रान्त जो आपात ज्ञान होता है वह तद् विना = श्रवण विधि के विना ही होता है, क्योंकि ''संशयाक्रान्त आपात ज्ञान करो'' इस प्रकार श्रवण विधि मानना व्यर्थ है। द्वितीय का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि संशयाक्रान्त आपात ज्ञान से भिन्न जो निश्चयात्मक ज्ञान है। उसमें विधि नहीं मानी जा सकती है। इस को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि संशयाक्रान्त आपात ज्ञान से भिन्न निश्चयात्मक ज्ञान के उद्देश्य से प्रत्येक वाक्यों का उच्चारण कर के इस वाक्य का यह अर्थ है— इस प्रकार से निश्चित जो अर्थ का कथन रूप जो गुरूपदेश है। ऐसे गुरूपदेश से जो अनेक शाखा में स्थित वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होता है। उस ज्ञान में श्रवण विधि नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि वेदान्त रूप जो वाक्यार्थ उसका जो विचार (श्रवण) में सामान्यतः ज्ञान की साधनता (अन्वय व्यतिरेक से ही) प्राप्त है। अतः वाक्यार्थ विचार रूप श्रवण में विधि नहीं मानी जा सकती है। ''अनेकशाखास्थवाक्यार्थज्ञाने'' के स्थान पर ''अनेकशाखास्थवाक्यार्थज्ञानम्'' ऐसा पाठान्तर है।।१।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि घटत्वेन पटत्वेन पृथिवी में इतर भेद सिद्ध होने पर भी पृथिवीत्वेन पृथिवी में इतर भेद सिद्ध न होने के कारण ''पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्'' यहाँ पर जैसे सिद्धसाधनदोष नहीं माना जाता है और जैसे पूर्वमीमांसादर्शन के तृतीयाध्याय के तृतीय पाद के दशम अधिकरण = स्थानप्रकरणाधिकरण में स्थान प्रमाण की अपेक्षा से प्रकरण प्रमाण में प्राबल्य दिखाया गया है। वहाँ पर राजसूय याग के अन्तर्गत इष्टि पशु और सोमयाग कहे गये हैं। उन तत्तद् सोमादि यागों में ''प्रकृतिवद् विकृतिकर्तव्याः'' इस अतिदेश वाक्य से प्राप्त अङ्गों को लेकर इति कर्तव्यता की पूर्ति हो जाने पर भी राजसूय रूप समष्टि में इति कर्तव्यता की पूर्ति नहीं हो पाती है। (उसकी पूर्ती उभयाकांक्षा रूप प्रकरण प्रमाण से होती है।) ठीक इसी प्रकार अध्ययन विधि के द्वारा सामान्य रूपेण सभी वेद वाक्य के श्रवण में वाक्यार्थ निश्चय की हेतुता प्राप्त होने पर भी विशेष रूपेण वेदान्त वाक्य श्रवण में वाक्यार्थ जो ब्रह्म उसके ज्ञान की हेतुता प्राप्त न होने के कारण वेदान्त श्रवण में अपूर्वविधि माननी चाहिए।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि खण्ड संख्या १ के अन्तिम पंक्ति में कहे गये प्रकार से जब उक्त श्रवण में सामान्यतः साध्यसाधनभाव प्राप्त है तब उक्त साध्यसाधनभाव को त्याग कर विशेष उपाधि (वेदान्तविचारत्वादिरूपविशेषधर्म) के द्वारा अप्राप्ति दिखलाकर अप्राप्तसाधनत्व की प्राप्ति के लिए श्रवण में

प्राप्तसाधनसाध्यभावमनादृत्य विशेषोपाधिना अप्राप्तसाधनत्वप्राप्तये अपूर्वविध्यङ्गीकारे ज्योतिष्टोमादिवाक्य–विचारेऽपि तेन रूपेण तद्वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यप्राप्तसाधनतासिद्धये अपूर्वविध्यन्तरकल्पनापत्तेः।।२।।

एतेन–निदिध्यासनस्याव्यक्तस्वभावब्रह्मसाक्षात्कारहेतुता नान्यतः प्राप्तेति स तावदपूर्वविधिः, तथा अज्ञातादौ निदिध्यासनासम्भवेन श्रवणमननयोर्निदिध्यासने लिङ्गादेव प्राप्तावपि नियतविषयकनिदि–ध्यासनविषयगुणान्यगुणेषु लिङ्गेन तयोरप्राप्तेः तद्विधिरप्यपूर्वविधिरेव, एवञ्च श्रवणमननयोर्निदिध्यासितव्यगुणांशे दृष्टद्वारेण, अन्यत्र त्वदृष्टद्वारेण निदिध्यासनाङ्गतेति–निरस्तम्; श्रवणादीनां निर्गुणविषयतया सगुणविषयत्वाभावात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपूर्व विधि मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि ''ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'' यह वाक्य यजुर्वेद और सामवेद दोनों में ही आया है। उनमें से यजुर्वेदीय वाक्य को अपूर्व विधि माना गया है। (इसका निरूपण पूर्वमीमांसा के तृतीयाध्याय के तृतीय पाद के दशम अधिकरण में किया गया है।) किन्तु यजुर्वेद से ज्ञात हो जाने के कारण सामवेदीय वाक्य को अपूर्वविधि नहीं माना गया है किन्तु पूर्वपक्षी के उक्त कथनानुसार विशेषतः उपाधि अर्थात् सामवेदीय वाक्य के द्वारा सामवेदीय वाक्यत्व रूप विशेष उपाधि के रूप से प्राप्त न होने से सामवेदीय वाक्य में भी अपूर्वविधि मानने की आपत्ति होगी।।२।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि निदिध्यासन में जो अव्यक्त स्वरूप ब्रह्म के प्रति साक्षात्कार हेतुता है। वह ''निदिध्यासितव्यः'' इस शब्द प्रमाण से भिन्न प्रमाण से प्राप्त नहीं है। अतः निदिध्यासन विधि को अपूर्वविधि मानना चाहिए। ब्रह्म के अज्ञान की निवृत्ति के विना ब्रह्म का निदिध्यासन सम्भव नहीं और अज्ञान की निवृत्ति श्रवण का कार्य है और उस अज्ञान की निवृत्ति रूप कार्य के माध्यम से श्रवण निदिध्यासन के प्रति हेतु है। (''अज्ञानादौ'' के आदि पद से अमत (संशय) लेना है। अर्थात् ब्रह्म का संशय होने पर निदिध्यासन सम्भव नहीं है। अतः मनन का कार्य जो प्रमाण प्रमेय में भ्रम संशय की निवृत्ति है, उस कार्य को उत्पन्न करने के माध्यम से मनन भी निदिध्यासन के प्रति हेतु है।) ऐसा प्राप्त होने पर भी वेद में परमात्मा के जितने गुण कहे गये हैं। उन सबका निदिध्यासन करना एक पुरुष के लिए सम्भव नहीं है। अतः जितने गुणों का निदिध्यासन जो पुरुष कर सकता है। उतने गुणों को विषय करने वाला निदिध्यासन उस पुरुष के प्रति विधान किया जाता है। अतः निदिध्यासन = नियतगुणविषयक है। उन नियत गुणों के निदिध्यासन के प्रति श्रवण और मनन का हेतु तो लिङ्गप्रमाण से ही प्राप्त है। अर्थात् एकपुरुष जितने गुणों का निदिध्यासन कर सकता है। उतने गुणों का श्रवण और मनन तो लिङ्ग प्रमाण से ही प्राप्त हो सकता है किन्तु निदिध्यासन का विषय जो पूर्वोक्त नियतगुण उन गुणों से भिन्न गुणों के निदिध्यासन के प्रति श्रवण मनन की हेतुता लिङ्ग प्रमाण से प्राप्त नहीं है। अतः उन अन्य गुणों के निदिध्यासन के प्रति श्रवण मनन का विधान श्रुति के द्वारा किया गया है। अतः श्रवण और मनन इन दोनों की विधि अपूर्वविधि ही है। ऐसा होने पर श्रवण और मनन ये दोनों को निदिध्यासिव्य जो गुण है। उस अंश में दृष्ट द्वारा अर्थात् एक पुरुष जिसे गुणों का निदिध्यासन कर सकता है। उस गुणांश में श्रवण और मनन दृष्ट द्वारा = अज्ञाननिवृत्ति और संशय निवृत्ति के द्वारा निदिध्यासन के अङ्ग होते हैं और निदिध्यासनविषयीभूतगुण से अन्य गुणों में अदृष्ट द्वारा श्रवण और मनन में निदिध्यासन की अङ्गता होगी।

समाधान– एतेन निरस्तम् – ऐसा अन्वय है। एतेन = प्राप्तविधानासम्भवेनेत्यर्थः। अर्थात् एक पुरुष जितने गुणों का निदिध्यासन कर सकता है। उससे भिन्न गुणों के श्रवण और मनन के अनुष्ठान में कोई प्रमाण नहीं है। अतः अपूर्वविधि नहीं मानी जा सकती है। अतः श्री गुरुमुख से ही श्रवण मनन करना

विपरीताङ्गाङ्गिभावस्य स्थापितत्वाच्च, सूक्ष्मार्थगोचरनिदिध्यासनस्य तादृशार्थविषयकसाक्षात्कारहेतुताया दृष्टत्वेनापूर्वत्वाभावाच्च।।३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

चाहिए– इस प्रकार नियमविधि मानना ही उचित है। दूसरी बात है कि यहाँ गुणों के चिन्तन का प्रसङ्ग ही नहीं है, क्योंकि श्रवणादि निर्गुण ब्रह्म विषय है न कि सगुण ब्रह्म विषयक। अत: गुणों का आश्रय कर के पूर्वपक्षी ने जो कहा था। उसका खण्डन हो गया। पूर्वपक्षी ने जो निदिध्यासन को अङ्गी और श्रवण मनन का जो अङ्ग माना है। उसके विपरीत अङ्गाङ्गीभाव अर्थात् श्रवण अङ्गी और मनननिदिध्यासन अङ्ग का निरूपण ''मनननिदिध्यासनयो: श्रवणाङ्गत्वविचार:'' के खण्ड संख्या १ में किया जा चुका है। इसी प्रकार सूक्ष्मार्थविषयक निदिध्यासन में सूक्ष्मार्थ विषयक साक्षात्कार की हेतुता अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध है। इसलिए निदिध्यासन विधि को अपूर्वविधि नहीं माना जा सकता है।।३।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां माध्वमतश्रवणादिविधिभङ्गः —

८— ज्ञानविधिसमर्थनविचारः

ननु—अत्र श्रूयमाणलिङ्गादेः का गतिरिति—चेत्, शिलातलप्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यवत् कुण्ठीभावात् 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्'इत्यादाविवार्थवादत्वमेव। न च—'पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति' 'विदुषा कर्म कर्तव्यं तस्मात् पश्येत नित्यशः।' इत्यादिना ज्ञानस्यापि विधानं दृष्टमिति— वाच्यम्; तत्र तद्धेत्विन्द्रियसंयोगादेर्विधेयत्वाद् अनन्यगत्या लक्षणाया इष्टत्वात्। न च 'न विधौ परः शब्दार्थः इत्यनेन विरोधः;'गोभिः श्रीणीत

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— ''अध्ययनविधेर्नित्यत्वेऽपि विचारविधायकत्वविचारः'' के खण्ड संख्या १ में भामती प्रस्थान के अनुसार कहा गया कि ''प्रस्थानान्तरे तु अध्ययनविधेरेवार्थावगमपर्यन्तत्वात् काण्डद्वयविचाराक्षेपकत्वं श्रवणादिषु च न विधिः।'' इस पर शङ्का होती है कि यदि भामती प्रस्थान के अनुसार ''तद् विजिज्ञासत्व, श्रोतव्यः'' इत्यादि वाक्यों में विधि नहीं है, तब उसमें विध्यर्थक तव्य आदि प्रत्ययों की क्या गति होगी? अर्थात् उन प्रत्ययों का प्रयोग किस लिए किया गया है?

समाधान— इसका समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे शिला तल पर चाकू को चलाने पर चाकू कुण्ठित अर्थात् व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि उस चाकू से काटना आदि सम्भव नहीं होता है ठीक उसी प्रकार ''श्रोतव्यः'' आदि में आये हुए विधि प्रत्यय कुण्ठित अर्थात् व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि उनसे कोई कार्य ही नहीं होता है, क्योंकि अध्ययन विधि से ही सभी कार्य पूर्ण हो जाते हैं। अथवा ''जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्, गवीधुक् यवाग्वा वा जुहुयात्, न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारण्यान् अथो खल्वाहुरनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च पयसाऽग्निहोतं जुहुयात्।'' इस वाक्य पर विचार पूर्वमीमांसा के दशमाध्याय के अष्टम पाद के चतुर्थ अधिकरण में किया गया है। यहाँ पर जब ''पयसा अग्निहोत्रं जुहुयात्'' ऐसा विधि वाक्य जब पठित है तब ''जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्।'' अर्थात् ''जर्तिल (सस्यविशेष) के यवागू (लप्सी) के द्वारा हवन करना चाहिए।'' इसको विधि न मानकर अर्थवाद माना गया है। ठीक इसी प्रकार '' तद् विजिज्ञासस्व, श्रोतव्यः'' इत्यादि वाक्यों में तव्य आदि प्रत्यय विधि के प्रतिपादक नहीं हैं अपितु आत्मा के प्राशस्त के प्रतिपादक हैं। जैसे ''अहो दर्शनीयोऽयं महात्मा।''

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्ञान में भी विधि होती है, क्योंकि दर्शपूर्णमास में ''पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति'' इस वाक्य के द्वारा यजमान की पत्नी के द्वारा घृत का अवेक्षण (दर्शन) करना चाहिए। (यहाँ भवति में लेट् लकार है) इस प्रकार यहाँ पर ज्ञान का विधान देखा गया है। इसी प्रकार ''विदुषा कर्म कर्तव्यं तस्मात् पश्येत नित्यशः'' अर्थात् पूर्वमीमांसा अनुरूप विचार के द्वारा कर्म के स्वरूप को जानकर तभी कर्म करना चाहिए। इस लिए नित्यशः = हमेशा कर्म ज्ञान करो। इस प्रकार इस स्मृति के द्वारा भी ज्ञान का विधान देखा जाता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा कथित दृष्टान्त स्थलों पर ज्ञान का विधान नहीं है अपितु ज्ञान के हेतु भूत इन्द्रिय संयोग का विधान है, क्योंकि वस्तु तन्त्र होने के कारण ज्ञान का विधान नहीं किया जा सकता है। अतः उक्त वाक्यों की और कोई गति न रह जाने के कारण बाध्य होकर ज्ञान शब्द का इन्द्रिय सन्निकर्ष में लक्षणा करनी पड़ती है। ''न विधौ परः शब्दार्थः।'' विधौ = अज्ञात ज्ञापक विधि वाक्य में, परः = प्रतीयमान (स्वार्थ) से अन्य, शब्दार्थ= तात्पर्य विषयीभूत अर्थ, न = नहीं होता है— ऐसा शाबर भाष्य में श्रीशबर स्वामी ने कहा है। अर्थात् विधि वाक्यों में आये हुए पदों में लक्षणा कर के स्वार्थ से भिन्न अर्थ नहीं लिया जा सकता है। अतः ज्ञान में लक्षणा कर के ज्ञान के हेतु भूत इन्द्रिय सन्निकर्ष

मत्सरम्'इत्यादौ विधिवाक्येऽपि लक्षणादर्शनेन तस्यौत्सर्गिकत्वात्; अर्थवादानुरोधेन विधौ न परः शब्दार्थ इत्यर्थकत्वाच्च।।१।।

न च–साक्षात्कृतिसाध्यत्वस्य इन्द्रियसंप्रयोगेऽप्यभावाद् इन्द्रियनिष्ठक्रियाद्वारा परम्परया कृतिसाध्यत्वस्य ज्ञानेऽपि सम्भवादनिच्छतो दुर्गन्धादिज्ञानवदनिष्टसम्प्रयोगस्यापि दर्शनाच्च ज्ञानसाम्यं संयोगस्येति–वाच्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं लिया जा सकता है। ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''गोभिः श्रीणीत मत्सरम्।'' इस विधि वाक्य में गो पद की लक्षणा गो दुग्ध में की गयी है। अर्थात् = गोभिः = गो दुग्ध के साथ, मत्सरम् = सोमरस को, श्रीणीत = पकाओ। इस प्रकार विधि वाक्य में आये हुए पद में लक्षणा देखे जाने से ''न विधौ परः शब्दार्थः'' इस नियम को सामान्य नियम मानना पड़ेगा। जहाँ सामान्य नियम होता है वहाँ पर बाधक के होने पर अपवाद नियम भी देखा जाता है। अतः अपवाद स्थलों पर जैसे ''गोभिः'' आदि में लक्षणा होती है वैसे ही ''अवेक्षितम्'' इत्यादि स्थल पर भी लक्षणा हो जायेगी। सामान्य नियम के अनुसार ''न विधौ परः शब्दार्थः'' का अर्थ होगा कि अर्थवाद के अनुरोध पर विधि वाक्य में आये हुए पदों में लक्षणा कर के स्वार्थ से भिन्न अर्थ (लक्ष्यार्थ) नहीं लिया जा सकता है।१।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्ञान के समान ही इन्द्रिय संयोग भी साक्षात् कृति साध्य नहीं होता है, क्योंकि वस्तु के रहने पर जैसे स्वतः ज्ञान हो जाता है वैसे ही वस्तु के रहने पर स्वतः ही इन्द्रिय संयोग हो जाता है। अतः ज्ञान के जैसे इन्द्रिय संयोग भी विधेय नहीं हो सकता है। परम्परया कृतिसाध्यत्व इन्द्रिय संयोग में मान कर इन्द्रिय संयोग में विधेयत्व मानेंगे तब तो परम्परया ज्ञान में भी विधेयत्व की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् नेत्र खोलना और बन्द करना पुरुष के अधीन है। उस नेत्र इन्द्रिय निष्ठ क्रिया के माध्यम से इन्द्रिय संयोग में परम्परया कृति साध्यत्व माना जाता है। ठीक वैसे ही उसी इन्द्रिय निष्ठ क्रिया के माध्यम से ज्ञान में भी परम्परया कृति साध्यत्व माना जा सकता है। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि दुर्गन्ध वाली वस्तु के साथ इन्द्रिय संयोग होने पर इच्छा न होने पर भी जैसे दुर्गन्ध का ज्ञान हो जाता है वैसे ही इच्छा न होने पर भी अनिष्ट वस्तु के साथ इन्द्रिय संयोग हो जाता है। अतः ज्ञान के समान इन्द्रिय संयोग में साक्षात्कृतिसाध्यत्व नहीं माना जा सकता है। परम्परया कृतिसाध्यत्व मानने पर इन्द्रिय संयोग के जैसे ज्ञान में भी कृतिसाध्यत्व आ जायेगा। अर्थात् ज्ञान को भी विधेय माना जा सकता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वेच्छा से जन्य जो प्रयत्न उससे जो साध्य होगा। उसे विधेय माना जाता है। स्वेच्छा से जन्य जो प्रयत्न उससे साध्य स्वर्ग नहीं होता है। अर्थात् जब चाहो तब प्रयत्न से कोई भी स्वर्ग को पैदा नहीं कर सकता है। इसलिए जैसे स्वर्ग विधेय नहीं होता वैसे ही स्वेच्छा अधीन कृति साध्यत्व ज्ञान में न होने से ज्ञान भी विधेय नहीं होता है। किन्तु जब चाहे प्रयत्न से इन्द्रिय का किसी भी योग्य वस्तु के साथ संयोग किया जा सकता है। इसी विशेषता के कारण विधेय न होने वाले ज्ञान के विपरीत इन्द्रिय सन्निकर्ष में विधेयता मानी जा सकती है।

शङ्का– आवाहनीय अग्नि में सोमरस की आहुति के अनन्तर बचे हुए सोम रस का सदो मण्डप में बैठकर याज्ञिक भक्षण (पान) करते हैं। जिसका विधायक वाक्य है– ''अभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि सोमं भक्षयन्ति''। तैत्तिरीय संहिता के तीसरे काण्ड के दूसरे प्रपाठक का पाँचवा जो पूरा अनुवाक (भक्षे हि माऽऽविश दीर्घायुत्वाय शन्तनुत्वाय रायस्पोषाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय। एहि वसो! पुरोवसो! प्रियो मे हृदोऽसि। अश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सध्यासम्। नृचक्षसं त्वा देव! सोम! सुचक्षा अवख्येषम्। मद्राभिभूतिः

स्वर्गादाविव स्वेच्छाधीनकृतिसाध्यत्वस्य विधेयताप्रयोजकस्य ज्ञाने अभावात्, सम्प्रयोगस्य तु तद्वैपरीत्येन विशेषात्। न च—'भक्षेही'ति भक्षमन्त्रे तृप्तेरनुनिष्पादिततयाऽननुष्ठेयत्वेन तृप्तिप्रकाशकभागस्य तत्र विभज्य विनियोगाभावेऽपि अवेक्षणस्यानुष्ठेयत्वात् तत्प्रकाशकभागस्य अवेक्षणे विभज्य विनियोग इति तृतीयाध्ययोक्तिविरोध इति—वाच्यम्; इन्द्रियसम्प्रयोगरूपावेक्षणस्य तृप्त्यादिवदनुनिष्पादित्वाभावेनानुष्ठेयतया तत्प्रकाशकभागस्य तस्मिन्विभज्य विनियोग इत्येवम्परत्वात्।।२।।

यच्च— एकश्रोतगतानेकगकारेषु बुभुत्साप्रयत्नाभ्यामभीष्टगकारज्ञानदर्शनेन ज्ञानस्यापि विधेयत्वमिति,

सत्यानन्दप्रबोधिका

केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु .... उपहूतो भक्षयामि।........ हिन्व मे गात्रा ....मा मेऽवाङ्नाभिमतिगाः।) है। इसको भक्षण मन्त्र कहते हैं। सोम भक्षण मन्त्र में चार व्यापारों का उल्लेख है— ग्रहण, अवेक्षण, पान (भक्षण) और पाचन (जारण)। चमस में सोम रस को भरकर हाथ से लेना या पकड़ना ग्रहण है। उसे अच्छी तरह से देखना कि इसमें कोई तृण या कीट आदि तो नहीं है? इसे अवेक्षण कहते हैं। इसके अनन्तर तृतीय मुख्य व्यापार पान (भक्षण) है। अन्तिम चौथा व्यापार उसका पाचन (जारण) है। अर्थात् शक्ति के अनुसार जितना पचाया जा सके उतना ही लिया जाय। अर्थात् ''भक्षेहि .... बाहुभ्यां सध्यासम्'' तक ग्रहण, ''नृचक्षसं ...... अवख्येषम्'' तक अवेक्षण तथा ''मन्द्राभिभूतिः .... भक्षयामि'' तक भक्षण और ''हिन्व ..... गाः'' तक पाचन कहा गया है। इस मन्त्र में संशय यह है कि इस सम्पूर्ण अनुवाक का विनियोग केवल भक्षण में होगा? या सम्पूर्ण अनुवाक के एक अंश का विनियोग भक्षण में होगा। सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि सम्पूर्ण मन्त्र का विभाजन कर के एक—एक अंश का विनियोग पृथक्—पृथक् ग्रहण—अवेक्षण—पान और पाचन में होगा। इसका विचार पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के नवम अधिकरण में किया गया है। इसके पश्चात् दशम अधिकरण में विचार किया गया कि उक्त अनुवाक का जो भाग भक्षण को प्रकाशित करता है। वह भाग तृप्ति को भी प्रकाशित करता है। क्योंकि ''मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग् जुषाणां सोमस्य तृप्यतु'' ऐसा कहा गया है। अतः भक्षण वाले भाग (मन्द्राभिभूति .... भक्षयामि) को दो भागों में विभाजन कर के एक भाग को भक्षण में और दूसरे भाग को तृप्ति में विनियोग करना चाहिए? अथवा सम्पूर्ण भाग को ही भक्षण में विनियोग करना चाहिए? ऐसा संशय होने पर सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि सम्पूर्ण भाग का भक्षण में ही विनियोग होगा। अर्थात् भक्षण के पश्चात् स्वतः तृप्ति होती है। अतः तृप्ति विधेय न होने के कारण तृप्ति प्रकाशक मन्त्र भाग का भक्षण मन्त्र से पृथक् कर के तृप्ति में विनियोग नहीं होता है। (इसी प्रकार यदि अवेक्षण भी विधेय नहीं होता तो अवेक्षण का भी उक्त अनुवाक से पृथक् कर के विधान नहीं होता किन्तु) अवेक्षण विधेय माना गया है। इसलिए अवेक्षण प्रकाशक मन्त्र भाग का उक्त अनुवाक से पृथक् कर के विधान किया गया है। अतः भामतीकार के अनुसार श्रवणादि ज्ञान रूप होने के कारण विधेय नहीं होते हैं— ऐसा मानने पर पूर्वमीमांसा के तृतीयाध्याय के उक्त अधिकरण के साथ विरोध होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नेत्र सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान मुख्य रूप से अवेक्षण कहा जाता है और अवेक्षण के जनक इन्द्रिय सन्निकर्ष को भी गौण रूप से अवेक्षण कह दिया गया है। यह इन्द्रिय सन्निकर्ष स्वेच्छाधीन कृति साध्य होने से इसमें तृप्ति आदि के जैसे अविधेयत्व का अभाव होता है। अर्थात् इसमें विधेयत्व रहता है। ऐसे इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप अवेक्षण में ही उक्त अनुवाक का विभाग कर के विनियोग उक्त पूर्वमीमांसा के अधिकरण में कहा गया है। अतः किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।।२।।

शङ्का— जहाँ वेदशाला में बहुत से छात्र पढ़ रहे हैं वहाँ पर किसी छात्र का पिता वेदशाला के बाहर

तन्न; अनभिमतविषयवैमुख्यस्यैव बुभुत्साप्रयत्नसाध्यतया ज्ञानं प्रति तयोरजनकत्वात्। न च—''यदेव विद्यया करोति'इति विद्याया अङ्गत्वश्रवणाद् अविहितस्य चाङ्गत्वानुपपत्त्या विद्याया विधेयत्वमिति—वाच्यम्; तस्य वाक्यस्योद्गीथोपासनाप्रकरणस्थतया तत्रत्यविद्यापदस्य उपासनापरतया विहितत्वेनाङ्गत्वाविरोधात्, 'तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टे: इत्यत्र विद्याया अङ्गावबद्धाया अङ्गत्वनिरासेऽपि न विधेयत्व हानि:।।३।।

ननु— यथा दुर्गन्धादिज्ञानस्येच्छाविषयत्वाभावेऽपि ब्रह्मज्ञानस्य तद्विषयत्वं यथा च ज्ञानान्तरस्य नियमादृष्टासाध्यत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानस्य तत्साध्यत्वम्, यथा पर्वतादिज्ञानस्य नयनोन्मीलने सति प्रयत्नान्तर निरपेक्षत्वेऽपि ध्रुवारुन्धत्यादिज्ञाने तत्सापेक्षत्वं, तथाऽतिसूक्ष्मब्रह्मज्ञानस्य इच्छाप्रयत्नसाध्यसम्भव इति—चेन्न; प्रामाणिकदृष्टविजातीयकिञ्चिद्धर्मदर्शनेनाप्रामाणिकवैजात्यस्य कल्पयितुमशक्त्वात्, प्रयत्नान्वयव्यतिरेकयोश्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

खड़ा सभी छात्रों के शब्दों मे से अपने पुत्र के शब्द को विशेष रूप से जान नहीं पाता है किन्तु तीव्र बुभुत्सा और विशेष प्रयत्न करने पर पुत्र के शब्द का साक्षात्कार कर लेता है। इसी प्रकार श्रवणादि ज्ञान में भी विशेष प्रयत्न करने पर साध्यत्व (विधेयत्व) की सिद्धि हो जायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त स्थल पर तीव्र बुभुत्सा और विशेष प्रयत्न द्वारा अपने पुत्र के शब्द से भिन्न अन्य छात्रों के शब्दों से ध्यान हटाना ही साध्य होता है। फलत: तीव्र बुभुत्सा और विशेष प्रयत्न को स्व पुत्र के शब्द प्रत्यक्ष के प्रति जनक नहीं माना जाता है। अत: उक्त दृष्टान्त के बल पर ज्ञान में विधेयत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है।

शङ्का— ''यदेव विद्यया करोति'' (छा०उ० १—१—१०) इस श्रुति के द्वारा विद्या (ज्ञान) में अङ्गत्व का प्रतिपादन किया गया है। जो अङ्ग होता है वह अविहित नहीं होता है अर्थात् विहित ही होता है। अत: विद्या में विधेयत्व मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य उद्गीथ उपासना के प्रकरण में स्थित है। उद्गीथ उपासना के प्रकरण में स्थित विद्या का अर्थ उपासना है न कि ज्ञान। अत: विद्या = उपासना में अङ्गत्व मानकर विधेयत्व मानने पर किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। ''तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टे: पृथग्ध्यप्रतिबन्ध: फलम्'' (ब्र०सू०३—३—४२) (कर्माङ्गों के आश्रित उपासनाओं का नित्य के समान अनुष्ठान नहीं है, क्योंकि यह अनियम ''तेनोभौ कुरुत:'' (छा०उ०१—१—१०) इत्यादि श्रुति में प्रतिपादित है। इसलिए उन उपासनाओं का कर्म फल से पृथक अप्रतिबन्ध फल विशेष उपलब्ध होता है।) इस प्रकार इस सूत्र के द्वारा कर्म के अङ्ग से सम्बन्धित विद्याओं (उपासनाओं) में अङ्गत्व का निराश होने पर भी विद्याओं में विधेयत्व की हानि नहीं होती है। अर्थात् विद्याओं में विधेयत्व माना ही जाता है— यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे दुर्गन्धादि ज्ञान में ''दुर्गन्ध ज्ञान मुझे हो।'' ऐसी इच्छा की विषयता न होने पर भी ब्रह्म ज्ञान में ''ब्रह्म ज्ञान मुझे हो'' ऐसी इच्छा की विषयता देखी जाती है। इसी प्रकार घटादि ज्ञान में नियमादृष्ट साध्यत्व न होने पर भी ब्रह्म ज्ञान में नियमादृष्ट साध्यत्व होता है। ऐसे ही पर्वतादि के ज्ञान में चक्षु खोलने से अतिरिक्त प्रयत्न की अपेक्षा न होने पर भी ध्रुव तथा अरुन्धती आदि के ज्ञान में चक्षु खोलने से अतिरिक्त प्रयत्न की अपेक्षा होती है ठीक इसी प्रकार अति सूक्ष्म जो ब्रह्म ज्ञान है। उसमें इच्छा और प्रयत्न की साध्यता होती है। अत: ब्रह्म ज्ञान में विधेयत्व मानना उचित है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छा का अविषयीभूत दुर्गन्ध ज्ञान और नियमादृष्ट से असाध्य घटादि ज्ञान जो दृष्ट (प्रमाण सिद्ध) है। इसका यत् किञ्चित् वैलक्षण्य इच्छाविषयत्वादि ब्रह्म ज्ञान

ज्ञानसाधनजनने उपक्षीणतया ध्रुवारुन्धत्यादिनिदर्शनान्यथासिद्धतया तन्न्यायेन ब्रह्मज्ञाने कृतिसाध्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च।।४।।

न च—शास्त्रार्थज्ञानस्य नियमेन पुंतन्त्रत्वदर्शनात् ब्रह्मणश्च शास्त्रार्थत्वात् तज्ज्ञानस्य पुंतन्त्रत्वमिति—वाच्यम्; तत्रापि ज्ञानसाधनस्यैव पुंतन्त्रत्वात्। यच्च प्रशस्ताप्रशस्तज्ञानयोर्विधिनिषेधदर्शनं, तदपि ज्ञानकारणविषयकमेव। यच्च इच्छादिना उत्पत्तिनिरोधयोरनुभवः, सोऽपि करणव्यापारविषयक एव। न च—एवं नामादिषु ब्रह्मोपासनायां त्वया विधेयत्वेनाङ्गीकृतायां पुंतन्त्रत्वं न सिध्येत् तत्रापि मनोधारणादेरेव पुंतन्त्रत्वस्य वक्तुं शक्यत्वादिति—वाच्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

में देखे जाने पर भी ज्ञान में विधेयत्व जो कि अप्रमाणिक है। अत: उसे माना नहीं जा सकता है। जबकि पूर्वपक्षी ज्ञान जिसमें अविधेयत्व है। उसका वैजात्य जो विधेयत्व है। उसको मानना चाह रहा है। जो कि सर्वथा अनुचित है। प्रयत्न का अन्वय और व्यतिरेक ज्ञान के साधनीभूत इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि उत्पादन में ही चरितार्थ हो जाने से ध्रुव्र और अरुन्धती आदि के ज्ञान में प्रयत्न अन्यथासिद्ध हो जाता है। अत: अन्यथासिद्ध प्रयत्न के बल पर ब्रह्म ज्ञान में कृतिसाध्यत्व = विधेयत्व नहीं माना जा सकता है।।४।।

शङ्का— शास्त्र से प्रतिपादित जो अर्थ है तादृश अर्थ विषयक ज्ञान नियम से पुरुष के अधीन देखा जाता है। अर्थात् जब तक पुरुष शास्त्र का अध्ययन नहीं करेगा तब तक शास्त्र प्रतिपादित विषय का ज्ञान नहीं हो सकता है। शास्त्र से प्रतिपादित ब्रह्म भी है। अत: ब्रह्म का ज्ञान भी पुरुष अधीन होगा। फलत: ब्रह्म ज्ञान में विधेयत्व सिद्ध हो जायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्र से प्रतिपादित जो विषय है। उस विषय के ज्ञान के साधन अध्ययन आदि में ही पुरुष अधीनत्व होता है। अत: ज्ञान में विधेयत्व नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार प्रशस्त ज्ञान में विधेय रूप जो विधि और अप्राशस्त ज्ञान में निषेध रूप जो विधि देखी जाती है वह भी ज्ञान में विधि नहीं है, अपितु ज्ञान का कारणीभूत पदार्थों में ही है। इसी प्रकार इच्छा प्रयत्न आदि के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति और निरोध का जो अनुभव होता है वह इच्छादि भी करण के व्यापार को ही विषय करते हैं न कि ज्ञान को। अर्थात् ज्ञान के करण गत व्यापार को ही इच्छा और प्रयत्न से उत्पन्न और निरोध किया जा सकता है न कि ज्ञान को।

शङ्का— एवम् = इच्छादि के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति और निरोध का जो साक्षात् अनुभव होता है। उसको न मानकर परम्परया ज्ञानकरण के व्यापार विषयक उसको मानने पर, सिद्धान्ती के द्वारा विधेयत्वेन अङ्गीकृत जो नामादि में ब्रह्म की उपासना है। उस उपासना में भी पुरुष अधीनत्व (विधेयत्व) सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वहाँ पर भी उपासना में साक्षात् विधेयत्व न मानकर परम्परया उपासना के साधनीभूत मनोधारणादि में ही विधेयत्व मानना पड़ेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि खण्ड संख्या २ में कहा जा चुका है कि विधेयता का प्रयोजक स्वेच्छाधीन कृति साध्यत्व ज्ञान में नहीं रहता है। इस अनुपपत्ति के कारण ज्ञान में विधेयत्व नहीं माना जाता है किन्तु उपासना में विधेयता का उक्त प्रयोजक है। अत: उपासना में उक्त अनुपपत्ति नहीं है। अत: उपासना स्थल पर परम्परया उपासना के साधनीभूत मनोधारणादि में विधेयत्व नहीं मानना पड़ेगा। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि इच्छाधीनत्वेन अनुभूय मान उपासना के उत्पत्ति और निरोध को उपासना से अन्य करण व्यापार विषयक नहीं माना जा सकता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि श्रवण = तात्पर्य अवधारण, मनन = युक्ति अनुसन्धान और निदिध्यासन = ज्ञान धारा— ये सभी ज्ञान रूप ही है और इन सभी में विशेष प्रयत्न साध्यत्व अनुभव सिद्ध

ज्ञानविध्युक्तानुपपत्तेस्तत्राभावेन निरोधादीनामन्यपरत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। न च—उक्तज्ञानरूपश्रवणादिष्व—तिप्रयत्नसाध्यत्वस्यानुभवसिद्धत्वाद् विधेयत्वमिति—वाच्यम्; अनुभवान्यथासिद्धेरुक्तत्वात्।।५।।

न च—त्वयापि निदिध्यासनस्य परोक्षज्ञानसन्तानरूपस्य विधेयत्वं वदता सन्तानिनां ज्ञानानामपि विधेयत्वमङ्गीकर्तव्यमेव तदविधाने सन्ततिविधानानुपपत्तेरिति—वाच्यम्; आवृत्तिगुणयोगस्यैव विधेयत्वाद् उपनिषदमावर्तयेदित्यत्रेव। न च—श्रवणादेः ज्ञानानात्मकत्वे श्रवणं यावदज्ञानमित्यज्ञानविरोधित्वस्मृतेः श्रवणेनाज्ञानं निवृत्तमित्यनुभवस्य चानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; आवृत्तिगुणयोग— वाक्यार्थप्रमित्युपयुक्ततात्पर्यनिर्णयद्वारा उपक्रमादिलिङ्गविचारात्मकश्रवणादेरज्ञानादिविरोधितया स्मृत्यनुभवयोरुपपत्तेः। 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'इत्यादौ ज्ञानविधावुक्तानुपपत्त्या प्रज्ञाशब्दस्य विचारलाक्षणिकत्वोपपत्तेः।।६।।

न च—त्वया विधेयत्वेनाङ्गीकृतस्य ध्यानस्य ज्ञानभिन्नत्वे तस्य स्वविषये व्यवहारजनकत्वं न स्यादिति—वाच्यम्; तदन्यज्ञानेनैव तत्कारणतयाऽऽवश्यकेन तद्विषये व्यवहारोपपत्तेः प्रमाणवतोऽस्य गौरवस्यादोषत्वात्। अत एव ध्यानविषये

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अतः श्रवणादि रूप ज्ञान में विधेयत्व मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अनुभव परम्परया साधनीभूत पदार्थों में ही उपक्षीण हो जाते हैं। अतः उक्त अनुभव के बल पर ज्ञान में विधि नहीं मानी जा सकती है। इसे खण्ड संख्या ४ के अन्त में और खण्ड संख्या ५ के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है।।५।।

शङ्का— सिद्धान्ती के द्वारा परोक्ष ज्ञानों के सन्तान (धारा) रूप निदिध्यासन में जब विधेयत्व स्वीकार किया जाता है तब उस सन्तान के सन्तानीभूत ज्ञान में भी विधेयत्व अवश्य मानना पड़ेगा। सन्तानीभूत ज्ञान में विधेयत्व न मानने पर सन्तान (परोक्ष ज्ञानों के सन्तान रूप निदिध्यासन) में भी विधेयत्व नहीं माना जा सकेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान रूप निदिध्यासन की जो आवृत्ति की जाती है। उस आवृत्ति रूप गुण में ही विधेयत्व माना जाता है न कि ज्ञान रूप निदिध्यासन में। जैसे ''उपनिषदमावर्तयेत्'' यहाँ पर उपनिषद् में विधेयत्व न मानकर आवृत्ति में ही विधेयत्व माना जाता है।

शङ्का— श्रवणादि को ज्ञान स्वरूप न मानने पर ''श्रवणं यावदज्ञानम्'' इस अज्ञान विरोधित्वार्थक स्मृति और ''श्रवणेनाज्ञानं निवृत्तम्'' इस अनुभव की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवण से साक्षात् अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है किन्तु उपक्रमादि लिङ्गों का विचार रूप श्रवण के पुनः पुनः आवृत्ति के द्वारा तात्पर्य निर्णय होता है। तात्पर्य निर्णय होने के पश्चात् वाक्यार्थ की प्रमीति होती है तब जाकर अज्ञान की निवृत्ति होती है। इस प्रकार परम्परया श्रवण भी अज्ञान का विरोधी है। यही उक्त स्मृति और उक्त अनुभव का तात्पर्य है। ''विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'' (बृ०उ०४—४—२१) इत्यादि स्थल पर ज्ञान में विधि मानना सम्भव नहीं है। जिसे खण्ड संख्या ४ के अन्त में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः प्रज्ञा शब्द का लक्षणा के द्वारा विचार अर्थ किया जाना युक्ति युक्त है।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती जिस ध्यान रूप निदिध्यासन का विधान मानते हैं। उस ध्यान को ज्ञान से भिन्न मानने पर ध्यान स्व विषयक व्यवहार का जनक नहीं हो पायेगा, क्योंकि ज्ञान ही स्व विषयक व्यवहार का जनक होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ध्यान के पश्चात् होने वाला जो ज्ञान है वह ही ध्यान विषयक व्यवहार का कारण होता है। अतः उस ज्ञान से ध्यान विषयक व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी। यद्यपि ध्यान विषयक व्यवहार ध्यान से न होकर के ध्यान जन्य ज्ञान से होने पर गौरव होता है तथापि प्रामाणिक होने के कारण गौरव को दोष नहीं माना जाता है। अत एव = ध्यान जन्य ज्ञान से ही ध्यानविषयक

जानामीत्यनुभवस्मरणे तद्भिन्नज्ञानप्रयुक्ततया व्याख्याते। तस्याभिध्यानादिति श्रुतौ ध्यानस्य मायाख्याविद्यानिवर्तकत्वेऽपि तदुक्तिः ध्यानानन्तरभाविसाक्षात्कारद्वाराभिप्रायेति न तया विरोधः। यत्तूपासीतेत्युपक्रम्य 'य एवं वेदे'त्युपसंहारेण त्वयापि विधेयत्वेनाङ्गीकृतायामुपासनायां विदिधातुप्रयोगेण उपासनायाः ज्ञानत्वावगमाद् अन्यत्रापि ज्ञानत्वं न विधेयत्वविरोधीति, तन्न; उक्तानुपपत्त्या विदेस्तत्रामुख्यत्वेनैव ज्ञानत्वागमकत्वाद् धात्वनेकार्थत्वेन वा। न च—मानतन्त्रतामात्रेण कथमपुंतन्त्रता प्रतिग्रहीत्रादितन्त्रस्यापि दानादेस्तद्दर्शनादिति—वाच्यम्; न ह्यन्यतन्त्रतामात्रेणाविधेयत्वं ब्रूमः किन्तु पुमिच्छाभिर्यत्कारणे सति अन्यथा कर्तुमशक्यत्वम्।।७।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञानस्य पुरुषतन्त्रताभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यवहार होने से ही ध्यानविषयविषयक ''जानामि'' इस अनुभव की उपपत्ति ध्यान जन्य ज्ञान से हो जाती है और ध्यानविषयविषयक ''स्मरामि'' यह स्मरण— ध्यान से जन्य ज्ञान से जन्य जो संस्कार है। उससे जन्य होने से ध्यानविषयविषयक स्मरण की भी उपपत्ति हो जाती है। ''तस्याभिध्यानाद्—योजनात्— तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।'' (श्वे०उ०१—१०) (उस परमात्मा के चिन्तन से उसमें मनोयोग से एवं उसके तत्त्व ज्ञान से प्रारब्ध समाप्त होने पर विश्व रूप सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है।) इस श्रुति के द्वारा ध्यान से जो मायाख्य अज्ञान की निवृत्ति कही गयी है। उसका भी तात्पर्य यह है कि ध्यान से जन्य ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। अतः ध्यान जन्य ज्ञान से ध्यानविषयक व्यवहार मानने पर उक्त श्रुति से कोई विरोध नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''आत्मेत्येवोपासीत'' (बृ०उ०१—४—७) ऐसा उपक्रम कर के ''अनेन ह्येतत् सर्वं वेद'' (बृ०उ०१—४—७) इससे उपसंहार किया गया है। यहाँ पर सिद्धान्ती भी विधेयत्वेन स्वीकृत उपासना के लिए विदि धातु के प्रयोग को मानते हैं। अतः उपासना में ज्ञानत्व का अवगम होता है। ऐसा होने पर उपासना रूप ज्ञान में जब विधेयत्व रह सकता है तब उपासना रूप ज्ञान के जैसे श्रवणादि रूप ज्ञान में भी विधेयत्व क्यों नहीं रह सकता है?

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि खण्ड संख्या ४ में ज्ञान में विधेयत्व मानने पर जो अनुपपत्ति कही गयी है। उसके कारण विदि धातु का मुख्यार्थ न लेकर यहाँ पर गौण अर्थ (उपासना) ही लिया जाता है। अथवा धातु के अनेक अर्थ होने के कारण विदि धातु का यहाँ मुख्यार्थ उपासना होगा न कि ज्ञान। अतः विदि धातु का अर्थ ज्ञान लेकर उक्त प्रकार से दोष नहीं दिया जा सकता है।

शङ्का— सिद्धान्ती का यह जो कथन है कि प्रमाण के अधीन हो जाने मात्र से ज्ञान में पुरुषाधीनत्व = विधेयत्व नहीं माना जा सकता है। वह उचित नहीं है, क्योंकि प्रतिग्रहीता के अधीन दानादि क्रिया के होने पर भी दाता के अधीन भी दानादि क्रिया होती है। (क्योंकि प्रतिग्रहीता के रहने पर भी दाता दान दे भी सकता है या नहीं भी दे सकता है।) इसी प्रकार प्रकृत में प्रमाण के अधीन ज्ञान होने पर भी ज्ञान में पुरुषाधीनत्व (विधेयत्व) रह ही सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पुरुष से अन्य प्रमाण की अधीनता मात्र के कारण ज्ञान में अविधेयत्व है— ऐसा सिद्धान्त मतानुसार नहीं माना जाता है अपितु कारण के विद्यमान रहने पर भी पुरुष की इच्छा के द्वारा अन्यथा = जैसा कहा गया है। उससे भिन्न प्रकार से जिसका अनुष्ठान करना सम्भव नहीं है। वह अविधेय होता है। जैसे घट ज्ञान का कारण = घटेन्द्रिय सन्निकर्ष यदि विद्यमान है तब पुरुष इच्छा के द्वारा अन्यथा = घट ज्ञान से भिन्न पट ज्ञान को उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। अतः घट ज्ञान अविधेय है किन्तु गमन का कारणीभूत गजादि सामग्री के विद्यमान रहने पर भी पुरुष इच्छा के द्वारा अन्यथा = गजादि को छोड़कर अश्वादि से पुरुष गमन करता है। अतः गमनादि क्रिया में विधेयत्व माना जाता है।।७।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ज्ञानस्य पुरुषतन्त्रताभङ्गः —

९—ज्ञानविधिविचारः

किञ्च विधीयमानं ज्ञानं किं शाब्दं? किं वा तदभ्यासः? यद्वा तत्त्वमनपेक्ष्यारोपितविषयतया ध्यानं? किं वापरोक्ष्यफलकं ज्ञानान्तरम्? नाद्यः? कर्मकाण्ड इव गृहीतसङ्गतेः स्वतःसिद्धत्वेन कृत्यसाध्यतया विध्यविषयत्वात्। न च—कर्मकाण्डेऽप्यापातजन्यस्य स्वतः सिद्धत्वेऽपि विमर्शजन्यस्य कृतिसाध्यत्वम् अन्यथा अध्ययनविधेरुत्तरक्रतुविधेर्वा तदाक्षेपकता न स्यादिति—वाच्यम्; तज्जनकविचार एव विधेयताप्रयोजककृतिसाध्यत्वपर्यवसानेन तादृशज्ञानेऽप्यसम्भवात्।१।।

न द्वितीयः; स किं मोक्षाय विधीयते? साक्षात्काराय वा? नाद्यः; तस्य नैयोगिकत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' (बृ०उ०४—५—६) इस श्रुति वाक्य के द्वारा जिस ज्ञान का विधान पूर्वपक्षी मान रहा है, वह विधियमान ज्ञान (१) ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' इस वाक्य के अर्थ का शाब्द ज्ञान है? अथवा (२) शाब्द ज्ञान का अभ्यास है? अथवा (३) वास्तविकता की अपेक्षा किये विना ही अर्थात् उपेक्षा कर के आरोपित वस्तु विषयक ध्यान है? अथवा (४) शाब्द ज्ञान से भिन्न ज्ञान जिस फल प्रत्यक्ष है। उस ज्ञान का विधान किया गया है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि जिस पुरुष को पद पदार्थ संगति ग्रह हो चुका है। उस पुरुष को जैसे कर्मकाण्ड के वैदिक शब्दों से जन्य शाब्द ज्ञान स्वतः हो जाता है वैसे ही ज्ञानकाण्डस्थ वाक्यों के अर्थ का ज्ञान (शाब्द ज्ञान) संगति ग्रह वाले को स्वतः हो जायेगा। अतः शाब्द ज्ञान में कृति साध्यता न रहने के कारण विधेयता नहीं मानी जा सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि कर्मकाण्ड में भी आपात जन्य शाब्द ज्ञान के स्वतः सिद्ध होने पर भी विचार जन्य जो कर्मकाण्डस्थ वाक्यों के अर्थ का ज्ञान (शाब्द ज्ञान) प्रयत्न साध्य होता है। अन्यथा = विचार जन्य शाब्द ज्ञान को कृति साध्य न मानने पर अध्ययन विधि में विचार रूप विमर्श की आक्षेपकता की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अर्थात् ''विचारं विना तादृशविधिरनुपपन्नः।'' इस अर्थापत्ति से विचार का आक्षेप होता है। वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि विचार जन्य शाब्द ज्ञान यदि कृति साध्य ही नहीं है तब तो विचार करना ही व्यर्थ हो जायेगा। अथवा ''विध्यनुष्ठाप्यार्थनिर्णायकविचारं विना क्रतुविधिरनुपपन्नः।'' इस प्रकार अध्ययन विधि के उत्तर क्रतुविधि को विचार रूप विमर्शाक्षेपकता नहीं हो पायेगी क्योंकि विचार जन्य शाब्द ज्ञान जब कृति साध्य ही नहीं है तब विचार करना व्यर्थ होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शाब्द ज्ञान में कृतिसाध्यत्व के न रहने पर भी शाब्द ज्ञान का जनक जो विचार उसमें विधेयता का प्रयोजक जो कृति साध्यत्व, उसके रहने से विचार की आक्षेपकता उपपन्न हो जायेगी। अतः विचार जन्य शाब्द ज्ञान में कृति साध्यत्व न होने से विधेयता नहीं मानी जा सकती है।१।।

द्वितीय पक्ष (विधियमान ज्ञान = शाब्द ज्ञान का अभ्यास) भी उचित नहीं है, क्योंकि शाब्द ज्ञानाभ्यास क्या मोक्ष के लिए विहित होता है? अथवा साक्षात्कार के लिए? शाब्द ज्ञानाभ्यास को मोक्ष के लिए विहित मानने पर मोक्ष में अनित्यत्व की आपत्ति आयेगी, क्योंकि शाब्द ज्ञानाभ्यास रूप विधेय पदार्थ से जनित नियोग (अपूर्व) के द्वारा मोक्ष जन्य होगा। अतः याग जन्य अपूर्व से जनित स्वर्ग जैसे अनित्य होता है वैसे ही मोक्ष भी अनित्य हो जायेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि मोक्ष के नियोग जन्य होने पर भी बन्ध ध्वंस रूप मोक्ष में अनित्यत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती है, क्यों वह ध्वंस रूप है और ध्वंस सादि होने पर भी अनन्त माना जाता है। दूसरी बात यह है कि अनावृत्ति श्रुति ''न च पुनरावर्तते'' (छा०उ०८—१५—१) इत्यादि के बल पर नियोग

स्वर्गादिवदनित्यत्वापातात्। न च—बन्धध्वंसस्य नैयोगिकत्वेऽपि ध्वंसत्वात् श्रुत्यादिबलाच्च नित्यत्वोपपत्तिरिति—वाच्यम्; न हि मन्नय इव त्वन्नयेऽपि बन्धध्वंसमात्रं मुक्तिः किन्तु लोकान्तरप्राप्तिः; तस्यामुक्तदोषतादवस्थ्यापत्तिः। न चानावृत्तिश्रुत्या नित्यत्वम्; 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति श्रुत्या नैयोगिकस्यानित्यत्वावगमात्। न चैतच्छ्रुतिविरोधेन तस्यानित्यत्वाबोधकम्; 'यत्कृतकं तदनित्यम्'इति युक्त्युपोद्बलिततया प्राबल्यात्। न द्वितीयः; तत् किं दृष्टफलकमदृष्टफलकं वा? नाद्यः; परोक्षज्ञानाभ्यासेन तत्तत्साक्षात्कारदर्शनात्। न द्वितीयः; प्रमाणायत्तत्वात्तस्य।।२।।

अत एव न तृतीयः; ध्यानस्य ज्ञानरूपत्वाभावाच्च। न चतुर्थः; शब्दस्यापि प्रामाण्याभावापाताद् ब्रह्मणि

सत्यानन्दप्रबोधिका

जन्य मोक्ष के होने पर भी मोक्ष में नित्यत्व ही सिद्ध होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मत के जैसे पूर्वपक्षी के मत में अविद्या ध्वंस मात्र मुक्ति नहीं है किन्तु लोकान्तर की प्राप्ति रूप है। लोकान्तर प्राप्ति रूप मुक्ति में नियोग जन्यत्व होने से अनित्यत्व मानना ही पड़ेगा, क्योंकि जो जन्य होता है वह अनित्य होता ही है। यदि कहा जाय कि अदृष्ट जन्यत्व मोक्ष में रहने पर भी "तेषां न पुनरावृत्तिः" (बृ०उ०६—२—१५) "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते।" (छा०उ०४—१५—६) "न च पुनरावर्तते" (छा०उ०८—१५—१) इत्यादि अनावृत्ति श्रुति के बल पर लोकान्तर प्राप्ति रूप मोक्ष में नित्यत्व सिद्ध हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।" (छा०उ०८—१—६) इत्यादि श्रुतियों के बल पर नियोग जन्य लोकान्तर प्राप्ति रूप मोक्ष में अनित्यत्व सिद्ध होता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अनावृत्ति बोधक श्रुतियों से विरोध होने के कारण "तद्यथेह कर्मचितो लोकः" इत्यादि श्रुति वाक्य को अनित्यत्व का बोधक नहीं माना जायेगा अपितु अनावृत्ति श्रुति के अनुरोध से लक्षणादि से नित्यत्व का ही बोधक माना जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "यत्कृतकं तदनित्यम्" इत्याकारक युक्ति से सहकृत "तद्यथेह कर्मचितो लोकः" यह श्रुति होने से इस श्रुति का अर्थ बदला नहीं जा सकता है। अतः यह श्रुति अपने कार्य क्षेत्र में प्रबल होने से लोकान्तर प्राप्ति रूप मोक्ष में अनित्यत्व अवश्य सिद्ध कर देगी। सिद्धान्त मतानुसार मोक्ष निर्विशेष तत्त्व रूप है। उसकी बोधक अनावृत्ति बोधक श्रुतियाँ हो जायेंगी। अतः दोनों श्रुतियों में किसी भी प्रकार का विरोध ही नहीं है। द्वितीय पक्ष = शाब्द ज्ञानाभ्यास, उस का द्वितीय पक्ष = शाब्द ज्ञानाभ्यास साक्षात्कार के लिए है — यह भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शाब्द ज्ञानाभ्यास का साक्षात्कार दृष्ट फल है? अथवा अदृष्ट फल है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि "यत्र यत्र शाब्दज्ञानाभ्यासत्वं तत्र तत्र दृष्टफलकज्ञानजनकत्वम्।" यह व्याप्ति परोक्ष शाब्द ज्ञान के अभ्यास में व्यभिचरित है, क्योंकि परोक्ष शाब्द ज्ञान का अभ्यास तत्तत्साक्षात्कार का जनक नहीं होता है। द्वितीय पक्ष (शाब्द ज्ञानाभ्यास का साक्षात्कार अदृष्ट फल है।) भी उचित नहीं है, क्योंकि शाब्द ज्ञानाभ्यास से अदृष्ट फल होता है और उस अदृष्ट से तत्तत्साक्षात्कार होता है— ऐसा मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि तत्तत्साक्षात्कार को अदृष्ट से जन्य न मानकर प्रमाण से जन्य माना जाता है।।२।।

अत एव = तत्तत् साक्षात्कार के प्रति शाब्द ज्ञानाभ्यास दृष्टफलकत्वेन या अदृष्टफलकत्वेन हेतु न होने से तृतीय पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि ध्यान भी ज्ञान स्वरूप नहीं होता है। अतः तत्तत् साक्षात्कार के प्रति ध्यान भी दृष्टफलकत्वेन या अदृष्टफलकत्वेन हेतु नहीं बन सकता है। अपरोक्ष फलक ज्ञानान्तर

प्रमाणीभूतज्ञानकर्तव्यतायामेव प्रामाण्यात्। न च महातात्पर्यमादाय ब्रह्मण्यपि प्रामाण्यम्; तादृशज्ञानस्यापि प्रमाणायत्ततया विधिफलत्वाभावात्। तस्मात् पत्न्यवेक्षितमाज्यमित्यादावपि ज्ञानस्याविधानाद् ध्यानस्यापि विज्ञानव्यतिरेकसाधनात् सूक्ष्मशास्त्रार्थबुद्धौ कृत्यन्वयव्यतिरेकयोस्तत्साधनविषयतयान्यथासिद्धत्वाच्च नात्मज्ञानं विधातुं शक्यते। तदेवं श्रवणस्य ज्ञानरूपत्वे विधेयत्वानुपपत्तिः। तस्मात् ज्ञानविजातीयं श्रवणम् अपरोक्षज्ञानजनकशब्देतिकर्तव्यतारूपविचारात्मकं मनननिदिध्यासनाङ्गकं प्रमेयावगमं प्रत्यङ्गतया प्रधानभूतापरोक्षज्ञानफलकतया विधीयत इति सिद्धम्।।३।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञानविधिभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

रूप चतुर्थ पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि शाब्द ज्ञान से भिन्न ज्ञान से ब्रह्म का साक्षात्कार मानने पर अर्थ यह होगा कि शाब्द से ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है। ऐसा होने पर ब्रह्म में शब्द प्रमाण माना ही नहीं जा सकेगा, क्योंकि शब्द से यदि ब्रह्म का प्रमाणीभूत ज्ञान होता है— ऐसा यदि विधान माना जाता है तब तो ब्रह्म में शब्द का प्रामाण्य सिद्ध होगा किन्तु जब शाब्द ज्ञान से भिन्न अपरोक्ष फलक ज्ञान का विधान माना जा रहा है तब शाब्द ज्ञान से भिन्न उस अपरोक्षफलकज्ञान का जो करण होगा। उसी करण को ही ब्रह्म में प्रमाण माना जायेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि चतुर्थ पक्ष के अनुसार यद्यपि शब्द से ब्रह्म का प्रमाणीभूत ज्ञान नहीं होता है तथापि शब्द का ब्रह्म में महातात्पर्य रहने के कारण ब्रह्म में शब्द का प्रामाण्य सिद्ध हो जायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी जिस ज्ञानान्तर का विधान मान रहा है। वह भी वस्तु तन्त्र (न कि पुरुष तन्त्र) होने से विधेय नहीं हो पायेगा। तस्मात् = ज्ञान में किसी भी प्रकार से विधेयता सिद्ध न होने से, ''पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति'' इत्यादि स्थल पर भी ज्ञान में विधेयता नहीं मानी जा सकती है अपितु चक्षु इन्द्रिय सन्निकर्ष में ही विधेयता मानी जायेगी। इसका निरूपण ''ज्ञानविधिसमर्थनविचारः'' के खण्ड संख्या २ में किया जा चुका है। ध्यान में विधेयत्व होने पर भी ध्यान को ज्ञान स्वरूप नहीं माना जाता है। अपितु ज्ञान से भिन्न मानस क्रिया रूप माना जाता है। इसको इस खण्ड के प्रारम्भ में ही ''ध्यानस्य ज्ञानरूपत्वाभावाच्च'' से कहा जा चुका है। यदि कहा जाय कि ''कृति सत्त्वे सूक्ष्मशास्त्रार्थबुद्धिर्भवति, तदभावे तदभावः।'' इस अन्वय व्यतिरेक के बल पर तादृश बुद्धि में कृतिसाध्यत्व की सिद्धि हो जाने से तादृशबुद्धि में विधेयत्व माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त अन्वय व्यतिरेक उक्त बुद्धि के विधेयत्व की सिद्धि में अन्यथासिद्ध है, क्योंकि सूक्ष्मशास्त्रार्थ बुद्धि के साधन में ही उक्त अन्वय व्यतिरेक चरितार्थ है। अर्थात् ''कृति सत्त्वे सूक्ष्मशास्त्रार्थबुद्धिसाधनम्, तदभावे तदभावः।'' अतः उक्त अन्वय व्यतिरेक उक्त बुद्धि में विधेयता सिद्ध करने में अन्यथासिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आत्मज्ञान का किसी भी प्रकार से विधान मानना सम्भव नहीं है। इस प्रकार श्रवण रूप ज्ञान में विधेयत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए ज्ञान विजातीय तर्कात्मक चित्तवृत्ति रूप श्रवण है (इसका निरूपण ''श्रवणादिविधेयत्वोपपत्तिविचारः'' के खण्ड संख्या २ में किया गया है।) ऐसा जो श्रवण है, वह आत्मसाक्षात्कार का करण जो शब्द है। उसका इति कर्तव्य (सहायक व्यापार) है। ऐसे श्रवण का मनन निदिध्यासन अङ्ग है और उनका श्रवण अङ्गी है, क्योंकि प्रयेम (ब्रह्म) अवगम के प्रति श्रवण शब्द रूप करण के व्यापार रूप से साक्षात्कारण है। (और मनन निदिध्यासन परम्परया कारण हैं) ऐसे अङ्गीभूत (प्रधान भूत) श्रवण का आत्मविषयक अपरोक्ष ज्ञान के उद्देश्य से विधान किया जाता है— यह सिद्ध हो गया।।३।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ज्ञानविधिभङ्गः —

१०— शाब्दप्रत्यक्षविचारः

ननु— कथमपरोक्षज्ञानजनकत्वं शब्दस्य? मानाभावादित—चेन्न; ''तद्धास्य विजज्ञौ'' ''तमसः पारंदर्शयति'' इत्यादेः 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इत्यादेश्च मानत्वात्, पूर्ववाक्ये तज्जनकापरोक्षज्ञानस्योपदेशमात्रसाध्यत्वोक्तेः, द्वितीयश्रुतौ शाब्दज्ञानस्य विपदेन विशेषविषयत्वस्य लाभात् सुपदेनापरोक्षत्वोक्तेः। न च विजज्ञावित्यादेः परोक्षज्ञानेनापि चरितार्थता; 'तमसः पारं दर्शयति'इत्युत्तरवाक्यस्वरसेन अपरोक्षज्ञानपरत्वसिद्धेः।१।।

न च ग्राममार्गोपदेष्टिरि ग्रामं दर्शयतीतिवत् परम्परया प्रयोजकतयोपचारः साक्षात्साधनत्वे बाधकाभावेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अपरोक्ष ज्ञान की जनकता शब्द में नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ पूर्वपक्षी का भाव यह है कि शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''तद्धास्य विजिज्ञौ'' (छा०उ०६—१६—३) (उद्दालक के द्वारा दिये गये ''तत्त्वमसि'' उपदेश से श्वेतकेतु ने आत्मा का साक्षात्कार किया। इससे सिद्ध हुआ कि ''तत्त्वमसि'' शब्द प्रत्यक्ष का जनक है।) ''तमसः पारं दर्शयति'' (छा०उ०७—२६—२) (अज्ञान से प्रयुक्त भ्रमात्मकादि ज्ञान से भिन्न सर्वाधिष्ठान भूत अनवच्छिन्न आनन्द का साक्षात्कार (नारद को सनत्कुमार जी ने) कराया।) यहाँ पर भी शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है— यह सिद्ध हो रहा है।) ''वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः'' (मु०उ०३—२—६) (वेदान्त विचार जन्य विज्ञान का विषयीभूत ब्रह्म को जिन्होंने सुनिश्चित कर लिया है— ऐसे योगी (सन्यासी) मोक्ष को प्राप्त करते हैं— इससे भी सिद्ध हो रहा है कि शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है।) इन श्रुतियों के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि छान्दोग्य उपनिषद् के वाक्य में मोक्ष जनक जो ब्रह्मात्मैक्य है। उसके अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि ''तत्त्वमसि'' आदि शब्द के उपदेश मात्र से कही गयी है। इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद के वाक्य में वि पद से विशेष विषयत्व का कथन और सु पद से अपरोक्ष का कथन है। अर्थात् वेदान्त वाक्य जन्य जो विज्ञान = द्वैताभावोपलक्षित आत्मस्वरूप विशेषविषयक ज्ञान, उसको सुनिश्चितार्थ = अपरोक्ष साक्षात्कार के द्वारा आत्मसात कर लिया है जिसने ऐसे महान पुरुष मुक्त हो जाया करते हैं।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''विजिज्ञौ'' का अर्थ अपरोक्ष ज्ञान न लेकर परोक्ष ज्ञान भी लिया जा सकता है। अतः इस श्रुति वाक्य को ''शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है''— इसमें प्रमाण के रूप से नहीं कहा जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''तमसः पारं दर्शयति'' इस उत्तर श्रुति वाक्य में जब अज्ञान का नाशक आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान ''दर्शयति'' पद से कहा गया है तब ''विजिज्ञौ'' इस पूर्व श्रुति वाक्य में भी ब्रह्मैक्य के अज्ञान का नाशक ब्रह्मात्मैक्य का अपरोक्ष ज्ञान ही ''विजिज्ञौ'' पद से लिया जायेगा।१।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''तमसः पारं दर्शयति'' का ''दर्शयति'' पद मुख्यार्थक नहीं है अपितु गौणार्थक है। इसलिए ''दर्शयति'' का अर्थ परोक्ष ज्ञान ही होगा। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ग्राम के मार्ग का परोक्ष ज्ञान देने वाले किसी ग्राम के मार्ग दर्शक को ''अयं ग्रामं दर्शयति'' ऐसे कह दिया जाता है। यहाँ ''दर्शयति'' का मुख्यार्थ = अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है अपितु गौणार्थ = परोक्ष ज्ञान ही होता है। यहाँ पर पूर्वपक्षी का भाव यह है कि शब्द का उपदेश श्रवण कर के श्रोता को साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है किन्तु शब्द उपदेश श्रवण के पश्चात् कुछ और प्रयत्न करने के पश्चात् अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसलिए ''दर्शयति'' शब्द से परोक्ष ज्ञान ही लिया जायेगा।

तस्यात्रान्याय्यत्वात्, उपदेशातिरिक्तकारणस्य नारदसनत्कुमाराख्यायिकायामप्रतीतेश्च। न च मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादिश्रुतिविरोधः, तस्याश्चित्तैकाग्रयपरत्वात्। न च–सुपदस्याप्रमाण्यशङ्काविरहपरत्वेन द्वितीयवाक्ये न तेनापरोक्षरूपताप्राप्तिः, अन्यथा वेदान्तबोध्यस्य विचारकर्तव्यतादेश्चापरोक्षत्वापातादिति–वाच्यम्; निश्चितपदेनैवाप्रामाण्यशङ्काविरहादेर्लब्धतया सुपदस्यातत्परत्वात्। नापि वेदान्तबोध्ययस्य ब्रह्मातिरिक्तस्याप्येव–मापरोक्ष्यापपत्तिः; अर्थपदस्य मुख्यतस्तात्पर्यविषयपरत्वात्, वेदान्तबोध्यताया ब्रह्ममात्रपर्यवसन्नत्वाच्च।।२।।

एवमनुमानमप्यत्र मानम्। अपरोक्षत्वं, तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ता–

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द रूप साधन से ब्रह्म का साक्षात्कार मानने में कोई बाधक नहीं है। अत: यहाँ ''दर्शयति'' का मुख्यार्थ अपरोक्ष ज्ञान ही लिया जायेगा किन्तु ''ग्रामं दर्शयति'' स्थल पर मुख्यार्थ का बाध हो जाता है, क्योंकि मार्ग दर्शक ग्राम के मार्ग का अपरोक्ष ज्ञान नहीं कराता है अपितु परोक्ष ज्ञान कराता है। अत: दृष्टान्त स्थल पर ''दर्शयति'' का गौणार्थ = परोक्ष ज्ञान ही लिया जाता है। फलत: ''तमस: पारं दर्शयति'' स्थल पर मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ करना अन्याय है। दूसरी बात यह है कि नारद और सनत्कुमार की आख्यायिका में शब्दात्मक उपदेश से अतिरिक्त आत्मसाक्षात्कार के लिए अन्य कोई साधन नहीं कहा गया है। इसलिए शब्द को ही आत्मसाक्षात्कार का साधन मानना उचित होगा। यदि कहा जाय कि ''मनसैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ०उ०४–४–१९) इस श्रुति के द्वारा आत्मसाक्षात्कार का साधन मन कहा गया है। अत: आत्मसाक्षात्कार का साधन शब्द को मानने पर विरोध होगा। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त श्रुति के द्वारा मन में आत्मसाक्षात्कार की साधनता नहीं कही गयी है अपितु चित्त की एकाग्रता का प्रतिपादन किया गया है। अत: शब्द को आत्मसाक्षात्कार का साधन मानने पर उक्त श्रुति से विरोध नहीं होगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो कहा था कि ''वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था:'' इस द्वितीय श्रुति वाक्य के घटक सु पद के द्वारा ज्ञानगत अपरोक्षता का कथन किया गया है। वह ठीक नहीं है क्योंकि सु पद के द्वारा ज्ञानगत अप्रामाण्य शङ्का के अभाव का प्रतिपादन किया गया है। अन्यथा = सु पद के द्वारा ज्ञानगत अपरोक्षता मानने पर, जैसे वेदान्त विचार करने से ब्रह्म बोधित होता है वैसे ही वेदान्त विचार करने से ब्रह्मविचारकर्तव्यता तथा अर्चि आदि मार्ग और पुरीतत आदि प्रदेश भी बोधित होते हैं। इन सब में अपरोक्षता मानने की आपत्ति आयेगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चित पद के द्वारा ही अप्रामाण्य शङ्का की निवृत्ति हो जाती है। अत: सु पद से अप्रामाण्य शङ्का के अभाव का बोधन नहीं होता है। सु पद के द्वारा ज्ञान गत अपरोक्षता मानने पर वेदान्त से बोध्य जो ब्रह्म से अतिरिक्त अर्चि आदि हैं। उनमें अपरोक्षता की आपत्ति आयेगी– ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उक्त श्रुति वाक्यस्थ अर्थ पद मुख्य तात्पर्य विषयीभूत अर्थ का बोधक है। अत: वेदान्त बोध्य मुख्य तात्पर्य विषयीभूत ब्रह्म मात्र ही लिया जायेगा न कि अर्चि आदि मार्ग। अत: अर्चि आदि मार्ग में अपरोक्षता की आपत्ति नहीं आयेगी।।२।।

शब्द के अपरोक्षज्ञान जनकत्व में अनुमान भी प्रमाण है। जैसे– अपरोक्षत्व– तत्त्वमस्यादि वाक्य जन्य ज्ञान में वृत्तित्व है, अपरोक्ष ज्ञान निष्ठ अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व होने से, जैसे ज्ञानत्व। दृष्टान में हेतु का समन्वय = अपरोक्ष ज्ञान निष्ठ अत्यन्ताभाव = घटाभाव। उसका प्रतियोगी घट, अप्रतियोगी = ज्ञानत्व। अत: उक्त अप्रतियोगित्व ज्ञानत्व में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय – तत्त्वमस्यादि वाक्य

भावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववत्। नच–कर्मकाण्डजन्यज्ञानवृत्तीत्येवमपि साध्येतेति–वाच्यम्; विपक्षबाधकसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात्। तथाहि–तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानाजनकत्वे अपरोक्षभ्रमनिवृत्तिर्न स्यात्। न च मनसैवापरोक्षज्ञानम्; मनसः कुत्राप्यसाधारण्येन प्रमाकरणत्वाभावात्, आत्मनः स्वप्रकाशत्वात् सुखादीनां साक्षिवेद्यत्वात्। न च शब्दे अपरोक्षज्ञानजनकत्ववद् अन्यत्राक्लृप्तमेव मनसि तत्कल्पनीयम्। एवं

सत्यानन्दप्रबोधिका

जन्य ज्ञान में ज्ञानत्व की वृत्ति है। अतः उक्त वृत्तित्व ज्ञानत्व में चला जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय– अपरोक्ष ज्ञान निष्ठ अभाव = घटादि का अभाव है। अतः प्रतियोगी = घटादि अप्रतियोगी = अपरोक्षत्व। अतः उक्त अप्रतियोगित्व अपरोक्षत्व रूप पक्ष में चला जायेगा। इस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता का ज्ञान होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी।

शङ्का– अपरोक्षत्व कर्मकाण्ड जन्य ज्ञान में वृत्तित्व है, अपरोक्ष ज्ञान निष्ठ अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व होने से, जैसे ज्ञानत्व। इस प्रकार का भी अनुमान किया जा सकता है। इस अनुमान से कर्मकाण्ड जन्य धर्म के ज्ञान में भी अपरोक्षत्व की आपत्ति होगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के अनुमान में विपक्ष बाधक तर्क नहीं है। अतः पूर्वपक्षी का अनुमान स्वसाध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है और सिद्धान्ती के अनुमान में विपक्ष बाधक तर्क है। इसी विशेषता के कारण सिद्धान्ती का अनुमान निर्दोष सिद्ध होता हुआ स्व साध्य की सिद्धि करने में सक्षम हो जाता है। यहाँ पर विपक्ष बाधक तर्क है– तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं यदि अपरोक्षं न स्यात् तर्हि अपरोक्षभ्रमनिवर्तकं न स्यात्।

शङ्का– ''मनसैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ०उ०४–४–१९) इस श्रुति के अनुसार आत्मसाक्षात्कार का साधन मन है। अतः शब्द से आत्मसाक्षात्कार होता है– यह कहना उचित नहीं है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मन को ज्ञानमात्र के प्रति साधारण कारण माना जाता है। मन को किसी भी प्रमा का असाधारण कारण मानने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वयं प्रकाश है और सुखादि साक्षिवेद्य हैं। कहने का भाव यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ तत्तत् प्रत्यक्ष के प्रति असाधारण कारण हैं। शेष बचा–आत्मा का प्रत्यक्ष और सुखादि का प्रत्यक्ष। आत्मा स्वयं प्रकाश होने से उसके प्रति मन को असाधारण कारण मानने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार सुखादि साक्षि– भास्य होने से सुखादि प्रत्यक्ष के लिए भी मन को असाधारण कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है शब्द में आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान की जनकता जैसे कोई भी नहीं मानता है फिर भी शब्द में आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान की जनकता की कल्पना सिद्धान्ती कर रहे हैं ठीक इसी प्रकार मन में आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान की जनकता किसी के द्वारा न मानने पर भी सिद्धान्ती को मन में आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान की जनकता मान लेनी चाहिए।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द में परोक्ष ज्ञान रूप असाधारण प्रमा की करणता सबको मान्य है। इसलिए केवल अपरोक्ष ज्ञान के करणत्व की कल्पना करनी पड़ती है किन्तु मन में प्रमाऽसाधारणकारणत्व और मन से जन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व– इन दोनों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार सर्वांश में कल्पना की गुरुता के कारण उक्त प्रकार से कल्पना करना ठीक नहीं है।

शङ्का– एवम्– अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति के लिए जैसे तत्त्वमस्यादि वाक्यों से जन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व मानना रूप अनुकूल तर्क है वैसे ही ज्योतिष्टोमादि वाक्यों से जन्य ज्ञान में भी अपरोक्षत्व मानना रूप अनुकूल

हि सर्वांशस्यैव मनसि कल्प्यत्वेन विशेषात्। न चैवं ज्योतिष्टोमादिविषयककर्मकाण्डजन्यज्ञाने कल्पकमस्ति। तत्र हि कल्पनीयमनुष्ठानाय वा फलाय वा। नाद्यः परोक्षज्ञानादेव तत्सम्भवात्। तत एवानुष्ठानात् फलसिद्धेर्न द्वितीयोऽपि।।३।।

न च विमतः शब्दो नापरोक्षधीहेतुः शब्दत्वादिति प्रतिसाधनम्; 'दशमस्त्वमसि' इत्यादावेव व्यभिचारात्। न च—तत्रापीन्द्रियमेव करणं शब्दस्तत्सहकारीति—वाच्यम्; क्वचित् बहुलतमे तमसि लोचनहीनस्यापि तद्वाक्यादपरोक्षभ्रमनिवर्तकस्य दशमोऽस्मीत्यपरोक्षज्ञानस्य दर्शनात्। यत्रापीन्द्रियसद्भावः, तत्रापि तदप्रयोजकमेव। न च—धर्मवांस्त्वमसि पर्वतोऽग्निमानित्यादौ विशेष्यापरोक्षत्वेऽपि विशेषणपारोक्ष्यवद् अत्रापि दशमत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

तर्क दिया जा सकता है। अतः कर्मकाण्ड वाक्य जन्य धर्म ज्ञान में भी अपरोक्षता की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्टोमादि विषयक कर्मकाण्ड जन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व की कल्पना क्या कर्मानुष्ठान सिद्धि के लिए कर रहे हो? (कर्मकाण्डवाक्यस्य अपरोक्षज्ञानजनकत्वं विना कर्मानुष्ठानमनुपपन्नम्।) अथवा फल की सिद्धि के लिए कर रहे हो? (कर्मकाण्डवाक्यस्य अपरोक्षज्ञानजनकत्वं विना कर्मानुष्ठाने सत्यपि फलसिद्धिर्न स्यात्। प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि परोक्ष ज्ञान से भी कर्मानुष्ठान सम्भव है। परोक्ष ज्ञान से ही जब कर्मानुष्ठान सम्पन्न हो जाता है तब उससे ही फल की सिद्धि भी हो जायेगी। इसलिए द्वितीय पक्ष = ज्योतिष्टोमादि विषयक कर्मकाण्ड जन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व की कल्पना करना भी ठीक नहीं है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा शब्द गत अपरोक्ष ज्ञान की जनकता के साधक अनुमान में सत्प्रतिपक्ष दिया जा रहा है— तत्त्वमस्यादि शब्द अपरोक्ष ज्ञान का हेतु नहीं है, शब्दत्व होने से, जैसे ज्योतिष्टोमादि शब्द।

समाधान— ऐसा सत्प्रतिपक्ष अनुमान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ''दशमस्त्वमसि'' इत्यादि शब्दों में शब्दत्व हेतु है किन्तु साध्य नहीं है क्योंकि वहाँ अपरोक्ष ज्ञान की जनकता ही अनुभूत होती है। अतः व्यभिचारदोष है।

शङ्का— ''दशमस्त्वमसि'' इत्यादि में व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि वहाँ पर आत्मा अंश में इन्द्रिय सन्निकर्ष से और दशमत्व अंश में शब्द से एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है। उक्त स्थल पर इन्द्रिय ही करण है और शब्द उसका सहकारी है। अतः उसमें हेतु न जाने से व्यभिचारदोष नहीं होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर प्रश्न होता है कि पूर्वपक्षी ने जो आत्मांश में इन्द्रिय को करण माना है। वहाँ इन्द्रिय शब्द से मन लेना है? या बहिरिन्द्रिय को? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि मन किसी भी प्रमा का असाधारण करण होता नहीं है— इसे खण्ड संख्या २ में कहा जा चुका है। द्वितीय पक्ष का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि जहाँ पर घोर अन्धेरा है। वहाँ पर बहिरिन्द्रिय सन्निकर्ष शून्य नेत्रहीन दशम व्यक्ति को ''दशमस्त्वमसि'' इस शब्द के द्वारा अपरोक्ष भ्रम का निवर्तक ''अहमेवास्मि दशमः'' इत्याकारक अपरोक्ष ज्ञान देखा जाता है। अतः जहाँ पर दशम व्यक्ति नेत्र वाला है वहाँ पर भी इन्द्रिय को उस अपरोक्ष ज्ञान का हेतु नहीं माना जा सकता है। अतः ''दशमस्त्वमसि'' इत्यादि स्थल पर शब्द ही करण होने से व्यभिचारदोष होगा।

शङ्का— जैसे ''तुम धर्मवान् हो।'' ''पर्वत अग्नि वाला है।'' इत्यादि स्थल पर पुरुष—पर्वत रूप विशेष्य का अपरोक्षत्व होने पर भी जैसे धर्म—अग्नि रूप विशेषण का पारोक्ष्य ही रहता है वैसे ही ''दशमस्त्वमसि'' इस स्थल पर भी पुरुष रूप विशेष्य में अपरोक्षता होने पर भी दशमत्व में पारोक्ष्य ही रहेगा। इससे पूर्वपक्षी

पारोक्ष्यमस्त्विति—वाच्यम्; अत्र परोक्षत्वे अपरोक्षभ्रमानिवृत्तिप्रसङ्गात्। ननु—एवमपि शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं किं स्वाभाविकं, उतापरोक्षविषयनिमित्तकम्। नाद्यः; अतिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; जीवाः परमात्मनो न भिद्यन्ते आत्मत्वादित्यादिना जायमानानुमितेः श्रवणात् प्रागापततो वेदान्तजन्याया भाषाप्रबन्धजन्याया अनधीतवेदान्तजन्याया ऐक्यप्रतीतेश्चापरोक्ष्यापातात् श्रवणनियमादेरनियमात्।।४।।

किञ्चार्थस्यापरोक्ष्यं न तावदपरोक्षबुद्धिरूपत्वम्; ब्रह्मण्यस्य सत्त्वेऽपि दशमत्वादावभावात्, चैत्रापरोक्षज्ञाने मैत्रस्य शब्दादिना आपरोक्ष्यादर्शनाच्च। नाप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वम्; व्यवहारापरोक्ष्यस्य तादृगर्थविषयकत्वरूपत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

को लाभ यह होगा कि विशेष्य = पुरुष में जो अपरोक्षता है, उसका करण इन्द्रिय होगा शब्द नहीं। अतः व्यभिचारदोष नहीं होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दशमत्व अंश में पारोक्ष्य मानने पर दशमत्व के परोक्ष ज्ञान से दशमत्वाभाव विषयक अपरोक्ष भ्रम (मैं दशम नहीं हूँ या मैं दशम से अन्य हूँ— इत्याकारक भ्रम) की निवृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष भ्रम का निवर्तक नहीं होता है। अतः दशमत्व अंश में भी अपरोक्षता ही माननी पड़ेगी।

शङ्का— सिद्धान्ती के कथनानुसार शब्द को अपरोक्ष ज्ञान का जनक मान लेने पर भी प्रश्न होता है कि शब्द में अपरोक्ष ज्ञान का जनकत्व क्या स्वाभाविक है? या अपरोक्ष विषय निमित्तक है? (अर्थात् सभी शब्द अपरोक्ष ज्ञान के जनक हैं? या जो विषय अपरोक्ष है। उस विषय में शब्द अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है?) प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ज्योतिष्टोमादि विषयक शब्दों से होने वाले धर्म ज्ञान में भी अपरोक्षत्व की आपत्ति होगी। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है, आत्मत्व होने से इत्यादि अनुमान से होने वाली ब्रह्मात्मैक्य की अनुमिति में अपरोक्षत्व की आपत्ति होगी और श्रवण से पूर्व आपाततः वेदान्त से जन्य ब्रह्मात्मैक्य प्रतीति में अपरोक्षत्व की आपत्ति होगी और वेदान्त अध्ययन के विना ही भाषा निबन्धों से जन्य ब्रह्मात्मैक्य प्रतीति में अपरोक्षत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि इन सभी प्रतीतियों का विषय जो आत्मा है, वह अपरोक्ष है। इसमें इष्टापत्ति दे नहीं सकते हैं, क्योंकि श्रवण नियम (वेदान्त से ही श्रवण करना चाहिए— इस नियम) के भङ्ग होने की आपत्ति होगी।।४।।

किञ्च विषय (ब्रह्म) निष्ठ जो अपरोक्षत्व है, उसका अर्थ क्या (१) अपरोक्षज्ञानरूपत्व है? अथवा (२) अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व है? अथवा (३) अपरोक्षज्ञानविषयत्व? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि जो विषय अपरोक्ष ज्ञान स्वरूप है। उस विषयगत अपरोक्षत्व रहता है— ऐसा माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म में लक्षण जाने पर भी दशमत्व में नहीं जायेगा, क्योंकि दशमत्व अपरोक्ष ज्ञान स्वरूप नहीं है, जब कि उसमें प्रत्यक्षत्व है। चैत्र को जो अपरोक्ष ज्ञान हो रहा है। उस ज्ञान में अपरोक्ष ज्ञान रूपत्व है किन्तु उसमें विषयगत अपरोक्षत्व का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि उस अपरोक्ष ज्ञान को जब चैत्र मैत्र से कहता है कि मुझे अपरोक्ष ज्ञान हो रहा है— इस शब्द को सुन कर मैत्र को चैत्र के अपरोक्ष ज्ञान का परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष नहीं। अतः अपरोक्ष ज्ञान रूपत्व को विषयगत अपरोक्षत्व का लक्षण नहीं माना जा सकता है। द्वितीय पक्ष = अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व को विषयगत अपरोक्षत्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अर्थ निष्ठ अपरोक्षत्व का लक्षण किया— अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व और व्यवहार निष्ठ अपरोक्षत्व का लक्षण किया— अपरोक्षार्थ विषयत्व— ऐसा करने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। विषयगत अपरोक्षत्व का लक्षण "अपरोक्षोऽयम्" इत्याकार प्रतीति करने पर अज्ञान आवृत अपरोक्ष विषय में "अपरोक्षोऽयम्" इत्याकारक

अन्योन्याश्रयात्, अपरोक्षोऽयमित्येवंरूपत्वे अज्ञानावृते तदभावात्, त्वयापि न प्रकाशत इत्यादिव्यव— हारार्थमेवावरणकल्पनात्, उक्तव्यवहारयोग्यत्वरूपत्वे व्यवहितघटे शब्दादपरोक्षज्ञानप्रसङ्गात्, अपरोक्षज्ञानजन्यत्वरूपत्वे च वक्ष्यमाणपक्षान्तर्भावात्। तस्मादर्थस्यापरोक्षधीविषयत्वमेवापरोक्षत्वं वाच्यम्। तत्र चैतज्ज्ञानविषयत्वेन तदुक्तावन्योन्याश्रयः, ज्ञानान्तराभिप्राये तु केषांचिदपरोक्षे स्वर्गादावस्माकं शब्दादपरोक्षधीप्रसङ्गगात्। एकपुमभिप्राये तु पूर्वापरोक्षे शब्दादिना इदानीमपरोक्षधीप्रसङ्गात्। एककालाभिप्राये प्रत्यक्षाग्नौ लिङ्गाच्छब्दाद्वा आपरोक्ष्यं स्यादिति—चेत्।।५।।

न, यं शाब्दबोधमादाय यस्य बोद्धृत्वं तत्साक्षात्कारत्वं तदभिन्नार्थावगाहित्वनिमित्तकमित्युक्तदोषानवकाशात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतीति का अभाव होने से उसमें लक्षण नहीं जायेगा। अज्ञान से आवृत अपरोक्ष विषय नहीं होता है— ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सिद्धान्ती भी ''न प्रकाशते'' इस प्रकार के व्यवहार की उपपत्ति के लिए विषयगत आवरण मानते ही हैं। विषयगत अपरोक्षत्व का लक्षण ''अपरोक्षोऽयम्— इत्याकारक व्यवहारयोग्यत्व'' भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि दीवाल से व्यवहित घट में भी उक्त योग्यता रहने से शब्द से होने वाले घट के ज्ञान में भी अपरोक्षत्व की आपत्ति होगी। विषयगत अपरोक्षत्व का लक्षण अपरोक्ष ज्ञान जन्यत्व करने पर वक्ष्यमाण अन्योन्याश्रयादि दोष से युक्त तृतीय पक्ष में ही अन्तर्भाव होने से खण्डित हो जाता है। इस प्रकार उक्त पक्षों का खण्डन हो जाने से तृतीय पक्ष = विषयगत अपरोक्षत्व = अपरोक्ष ज्ञान विषयत्व कहना होगा किन्तु यह पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि अन्योन्याश्रयदोष होगा। जैसे— जिस ज्ञान व्यक्ति निष्ठ अपरोक्षत्व का निर्वचन करने के लिए विषय निष्ठ अपरोक्षता का निर्वचन किया जा रहा है। उस ज्ञान अर्थात् चैत्र निष्ठ घट ज्ञान में अपरोक्षत्व तभी सिद्ध होगा जब घट = चैत्र निष्ठ घट अपरोक्ष ज्ञान का विषय हो और घट में चैत्रनिष्ठ घट अपरोक्ष ज्ञान का विषयत्व तभी सिद्ध होगा जब चैत्रनिष्ठ घट अपरोक्ष ज्ञान में अपरोक्षत्व सिद्ध हो। चैत्रनिष्ठ घट ज्ञान में अपरोक्षता की सिद्धि घट में मैत्र निष्ठ घट अपरोक्ष ज्ञान विषयत्व की अपेक्षा करती है— ऐसा मानने पर जो लोग स्वर्ग में गये हैं। उनके प्रत्यक्ष का विषयीभूत स्वर्ग आदि में शब्द (श्रुति वाक्य) के द्वारा हम लोगों को भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाना चाहिए। एक पुरुष का अभिप्राय होने पर चैत्रीय विषयगत अपरोक्षता में चैत्रीय अपरोक्ष ज्ञान को नियामक मानने पर अतीत घट का वर्तमान में शब्द से घट ज्ञान होने पर घट का अपरोक्ष ज्ञान हो जाने की आपत्ति होगी। अर्थात् पहले जिस घट का चैत्र को अपरोक्ष ज्ञान हुआ था, उस घट का इस समय शब्द के द्वारा चैत्र को प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। एक काल का अभिप्राय होने पर जिस समय चैत्र को अग्नि का इन्द्रिय से अपरोक्ष ज्ञान हो रहा है, उसी समय उसी चैत्र को उसी अग्नि का शब्द या लिङ्ग के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान हो जाना चाहिए, जबकि वहाँ शब्दादि से परोक्ष ज्ञान ही होता है।।५।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिस प्रमाता को जिस शाब्द बोध को लेकर बोद्धृत्व है तदभिन्नार्थ विषयक ज्ञानत्व तत्साक्षात्कारत्व है— ऐसा अपरोक्षत्व का लक्षण करने पर कोई दोष नहीं होगा। कहने का भाव यह है कि शाब्द बोध की अपरोक्षता का नियामक प्रमात्रभिन्नार्थावगाहित्व है। (इस पर वेदान्त परिभाषा में विस्तार से विचार किया गया है।) जैसे चैत्र को ''दशमस्त्वमसि'' इस शब्द से ''अहं दशमोऽस्मि'' ऐसा ज्ञान हुआ। उस ज्ञान का विषय जो दशमत्व है वह चैत्र से अभिन्न है। अतः ''दशमस्त्वमसि'' इस शब्द से जन्य ज्ञान अपरोक्ष होगा। प्रकृत में आचार्य तत्त्वमसि आदि महावाक्य के द्वारा शिष्य को बोध कराते हैं। यहाँ पर आचार्य बोधक और शिष्य बोध्य है। उक्त महावाक्य जन्य ज्ञान

न च –एवं प्रत्यक्षान्तर्भावः शब्दस्य स्यादिति–वाच्यम्; बोध्यभिन्नार्थकशब्दातिरिक्तत्वे सति प्रत्यक्षप्रमाणकरणत्वस्य प्रत्यक्षस्यान्तर्भावे तन्त्रत्वात्। ननु–'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'इत्यादेरिव मनःकरणताप्रतिपादकस्य प्रकृते अभावाद् अनौपदेशिकं शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वमिति–चेन्न, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'इत्यादौ तत्र साधुरिति तदन्यासाध्यत्वे सति तत्साध्यत्वरूपसाध्वर्थविहिततद्धितश्रुत्या एव मानत्वात्। ननु मनसः करणत्वेऽपि औपनिषदत्वस्य निदिध्यासनापेक्षिततया अन्यथासिद्धिः, न; 'यन्मनसा न

सत्यानन्दप्रबोधिका

शाब्द बोध है और उसका करण उक्त महावाक्य है। उक्त ज्ञान का विषयीभूत आत्मा शिष्य रूप प्रमाता (बोध्य) से अभिन्न है। अतः उक्त ज्ञान में अपरोक्षत्व रहेगा। इस प्रकार ज्ञानगत अपरोक्षता का लक्षण करने पर कर्मकाण्ड जन्य ज्ञान के विषयीभूत स्वर्गादि स्थल पर भी दोष नहीं होगा क्योंकि स्वर्गादि प्रमाता से अभिन्न नहीं हैं। अतः उसमें प्रमात्रभिन्नार्थावगाहित्व रूप अपरोक्षत्व का लक्षण नहीं जायेगा। इसी प्रकार विषयगत अपरोक्षत्व का लक्षण अनावृतत्व है। अतः पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय आदि दोष नहीं होंगे।

शङ्का– शब्द को प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक मानने पर प्रत्यक्ष प्रमा का करण शब्द भी हो जायेगा। ऐसा होने पर शब्द को प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मानना पड़ेगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाता से अभिन्न जो अर्थ। वह अर्थ है जिस शब्द का तादृश शब्द से भिन्न होता हुआ जो प्रत्यक्ष प्रमा का करण है। उसको प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण कहा जाता है। उक्त विशेषण भाग देने पर जहाँ शब्द से प्रत्यक्ष होता है, वहाँ प्रत्यक्ष का करण शब्द होने पर भी उस शब्द में प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण इसलिए नहीं जायेगा, क्योंकि शब्द में उक्त शब्द भिन्न रूप लक्षण का विशेषण भाग नहीं जा रहा है।

शङ्का– आत्मप्रत्यक्ष के लिए मन की करणता का प्रतिपादक जैसे ''मनसैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ०उ०४–४–१९) यह श्रुति प्रमाण है, वैसे शब्द में प्रत्यक्ष प्रमा की करणता का प्रतिपादक प्रमाण का अभाव है। अतः शब्द का साक्षात्कार के प्रति करणत्व अनौपदेशिक (अप्रामाणिक) है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'' (बृ०उ०३–९–२६) इत्यादि श्रुतियों में उपनिषद् पद के उत्तर ''तत्र साधुः'' (अ०सू०४–४–९८) इस सूत्र से अण् प्रत्यय विहित है। किस अर्थ में विहित है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि उससे भिन्न के द्वारा साध्य न होता हुआ केवल उसी से साध्य हो– ऐसे साधु अर्थ में विहित अण् रूप तद्धित प्रत्यय जब औपनिषद शब्द में श्रुति के द्वारा कहा गया तब औपनिषद शब्द का अर्थ हुआ कि ब्रह्म का प्रत्यक्ष उपनिषद् रूप शब्द प्रमाण से भिन्न के द्वारा साध्य न होता हुआ केवल उपनिषद् रूप शब्द प्रमाण के द्वारा ही साध्य है। इस प्रकार यह श्रुति शब्द निष्ठ प्रत्यक्ष करणता में प्रमाण है। अतः शब्दनिष्ठप्रत्यक्षकरणत्व को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि आत्मप्रत्यक्ष में मन के करणत्व होने पर भी, औपनिषद का अर्थ है– उपनिषद् प्रतिपाद्य अर्थात् जिस विषय का निदिध्यासन करना हैं, उसको उपनिषद् प्रतिपाद्य होना आवश्यक है, क्योंकि जो विषय उपनिषद् प्रतिपाद्य नहीं है। उसका निदिध्यासन करने से कोई श्रौत फल नहीं मिल सकता है। इस औपनिषद का कथन निदिध्यासन में ही चरितार्थ हो जाता है। अतः शब्द निष्ठ अपरोक्ष करणता की सिद्धि के प्रति औपनिषदत्व अन्यथासिद्ध है। इसलिए इस श्रुति को शब्दनिष्ठप्रत्यक्षकरणता में प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''यन्मनसा न मनुते'' (के०उ०३–५) इस श्रुति के द्वारा

मनुते' इति मनसः करणत्वनिषेधात्। नच'यतो वाचो निवर्तन्ते'इति शब्दस्यापि करणत्वानुपपत्तिः; औपनिषदत्वश्रुत्यनुसारेण तस्याः शक्त्या अबोधकत्वपरत्वात्। तदुक्तं–'चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि'इति। न च–मनसैवानुद्रष्टव्यमिति तृतीयाश्रुत्यनुसारेण न मनुत इत्यस्यैवापक्वमनोविषयतयाऽन्यथा–नयनसाम्यमिति–वाच्यम्; एवं साम्येऽपि मनसः करणत्वे ह्यधिककल्पना। शब्दस्य करणत्वे त्वल्पकल्पनेति विशेषात्। तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वादविद्यानिवृत्त्यात्मकमोक्षसाधनब्रह्मसाक्षात्काराय मननाद्यङ्गकं श्रवणमङ्गि नियमविधिविषय इति सिद्धम्।।६।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ शब्दादपरोक्षोपपत्तिः।।

विश्वेश्वराख्यस्य गुरोः प्रसादादद्वैतसिद्धिर्मधुसूदनस्य।
अभूदभूमिः खलु दूषणानां गुणैरमेयैरवगुम्भितश्रीः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

मन में आत्मसाक्षात्कार की करणता का निषेध किया गया है। यदि कहा जाय कि ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' (तै०उ०२–४–१) इस के द्वारा शब्द में आत्मसाक्षात्कार की करणा का भी निषेध किया गया है तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि औपनिषद श्रुति से जब कहा गया कि आत्मा का प्रत्यक्ष उपनिषद् रूप शब्द प्रमाण से ही होता है तब इस श्रुति को देखते हुए ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' का अर्थ करना होगा कि शब्द की शक्ति वृत्ति से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता है अपितु लक्षणावृत्ति से होता है। जैसा कि श्रीशिवमहिम्नस्तोत्र में कहा है– चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि। अर्थात् श्रुति शक्ति वृत्ति से नहीं अपितु लक्षणा वृत्ति से आत्मा का बोध कराती है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे सिद्धान्ती ने औपनिषद श्रुति के अनुरोध से ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' के अर्थ को परिवर्तित किया वैसे ही हम भी ''यन्मनसा न मनुते'' का अर्थ परिवर्तित कर देंगे। जैसे ''मनसैवानुद्रष्टव्यम्'' यहाँ मन के उत्तर आयी हुयी तृतीया विभक्ति से मन में आत्मसाक्षात्कार की करणता का प्रतिपादन किया जाता है। अतः इस श्रुति के अनुरोध से ''यन्मनसा न मनुते'' इस श्रुति के द्वारा मलिन मन में आत्मसाक्षात्कार की करणता का निषेध मानना उचित होगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार से साम्य होने पर भी मनोगत करणत्व की कल्पना में गौरव है, क्योंकि खण्ड संख्या ३ में स्पष्ट किया जा चुका है कि मन किसी भी प्रमा का असाधारण करण नहीं होता है। अतः पूर्वपक्षी को मन में प्रमा करणत्व की कल्पना करनी पड़ेगी और मनो जन्य बोध में अपरोक्षत्व की कल्पना कल्पना करनी पड़ेगी, जबकि सिद्धान्ती को शब्द जन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व की ही अल्प कल्पना करनी पड़ रही है, क्योंकि शब्द में परोक्ष ज्ञान की करणता उभयवादी सिद्ध है। फलितार्थ यह हुआ कि ''तत्त्वमसि'' इत्यादि महावाक्यों में अपरोक्ष ज्ञान जनकत्व निश्चित हो जाने से अविद्या निवृत्ति रूप जो मोक्ष है, उस मोक्ष का साधन जो ब्रह्म साक्षात्कार उसके लिए मननादि अङ्ग वाला जो श्रवण रूप अङ्गी है। वह नियमविधि का विषय है– यह सिद्ध हो गया।।६।।

–: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां शब्दादपरोक्षोपपत्तिः –

''यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।'' (श्वे०उ०६–२३) इस श्रुत्यर्थ के अनुसार ही शिष्य परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है– इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि– श्रीविश्वेश्वरसरस्वती नामक गुरु की कृपा से अमेय गुणों = असंख्य गुणों से अवगुम्फित

ससम्भ्रममपेक्षया परगुणोन्नतिर्दु:सहा नितान्तमनपेक्षया निजपुमर्थहानिः परा।
अतः सुमतयो यथानयमुपेक्ष्य दुर्मत्सरं प्रयोजनवशानुगाः कुरुत मत्कृतौ सत्कृतिम्।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती विरचितायामद्वैतसिद्धौ श्रवणादिनिरूपणं नाम तृतीयः परिच्छेदः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

= प्रतिपादित है ब्रह्मविद्या रूप श्री जिसमें एवम्भूत अद्वैतसिद्धि जो कि श्रीमधुसूदन सरस्वती द्वारा रचित है वह अद्वैतसिद्धि समस्त दोषों से रहित होती हुयी विराजमान हो गयी।

द्वैती को धैर्य पूर्वक इस ग्रन्थ का अवश्य अध्ययन करना चाहिए– इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि द्वैती के द्वारा सहसा इस ग्रन्थ को पढ़ने से परगुणों (इस ग्रन्थ के गुणों) की अलौकिकता दु:सह होगी। यदि द्वैती हठात् इस ग्रन्थ को नहीं अध्ययन करता है तब मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ की उसको हानि होगी, क्योंकि द्वैती के मतानुसार अनित्य लोकान्तर प्राप्ति रूप मोक्ष ही मिलेगा।

अत: द्वैती को भी परम मोक्ष रूप प्रयोजन के वशवर्ति होकर ईर्ष्यादि भावों को त्याग कर शुद्ध अन्त:करण वाला होकर अर्थात् तत्त्वजिज्ञासु होकर, यथानयम् = जैसे इस ग्रन्थ का उपस्थापन मैंने किया है। उसके अनुसार मेरी कृती जो अद्वैत सिद्धि है। उसका सत्कार = आदर करे। अर्थात् उक्त प्रकार से इस ग्रन्थ का अध्ययन कर के द्वैती भी अपना कल्याण कर ले – यह भाव है। जब यह ग्रन्थ द्वैती का भी कल्याण कर सकता है तब जो स्वभावत: तत्त्वजिज्ञासु है। उनका कल्याण तो यह ग्रन्थ अवश्य ही करेगा– इसमें कहना ही क्या है?

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम्।।
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिशिष्यस्वामिविशुद्धानन्दगिरि– कृतायामद्वैतसिद्धिटीकायां सत्यानन्दप्रबोधिकायां श्रवणादिनिरूपणं नाम तृतीयः परिच्छेदः।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता
अद्वैतसिद्धिः

।। चतुर्थः परिच्छेदः।।

१—अविद्यानिवृत्तिविचारः

ननु मुक्तिस्तावदविद्यानिवृत्तिर्न सम्भवति। तथाहि—सा किमात्मरूपा? तद्भिन्ना वा? नाद्यः, असाध्यत्वापत्तेः। द्वितीयेऽपि किं सती? मिथ्या वा? आद्ये अद्वैतहानिः, द्वितीये अविद्यातत्कार्यान्यतरत्वापत्तिरिति—चेन्न; चरमवृत्त्युपलिक्षतस्यात्मनोऽज्ञानहानिरूपत्वात। तथा चोपलक्षणस्य साध्यतौयैव मुक्तेरपि साध्यता। न चोपलक्षणनिवृत्त्या मुक्तेरपि निवृत्तिः; पाके निवृत्तेऽपि पाचकानिवृत्तिदर्शनात्। तदुक्तं—

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृता
सत्यानन्दप्रबोधिका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम्। सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।।
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्। तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

शङ्का— ''शाब्दप्रत्यक्षविचारः'' के खण्ड संख्या ६ के अन्तिम पंक्ति में कहा गया था— ''तस्मात्तत्त्वमस्यादि ...... अविद्यानिवृत्यात्मकमोक्ष .....। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि अविद्यानिवृत्तिरूप मुक्ति मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि अविद्या निवृत्ति क्या आत्मरूप है? अथवा आत्मा से भिन्न है? प्रथम पक्ष (आत्मरूप) मानने पर उसको नित्य मानना पड़ेगा। नित्य होने पर वह किसी साधन से साध्य नहीं हो पायेगी। फलतः वेदान्त श्रवणादि में वैयर्थ्य की आपत्ति होगी। द्वितीय पक्ष (आत्मा से भिन्न) मानने पर प्रश्न होगा कि वह सत्य है? या मिथ्या? सत्य मानने पर अद्वैत की हानि होगी। मिथ्या मानने पर सिद्धान्त मतानुसार मिथ्या दो ही प्रकार का होता है। एक अविद्या दूसरा अविद्या का कार्य। इन दोनों का ही नाश होता है। अतः अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष का भी नाश मानना पड़ेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चरमवृत्ति से उपलक्षित जो आत्मा तादृश आत्मा को अविद्यानिवृत्ति रूप मुक्ति माना जाता है। चरम वृत्ति रूप उपलक्षण कृति साध्य होने से उपलक्षित मुक्ति में भी गौण रूप से साध्यत्व की उपपत्ति हो जायेगी। चरमवृत्तिरूप उपलक्षण के निवृत्ति होने पर मुक्ति की भी निवृत्ति हो जायेगी— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उपलक्षण रूप पाक के निवृत्ति होने पर भी पाचक की निवृत्ति नहीं देखी जाती है। इसको स्पष्ट करते हुए श्री चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका के चतुर्थपरिच्छेद के अष्टम श्लोक में कहा है—

निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः। उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तिः पाचकादिवत्।।

{अर्थात् लोक में समूल रजतभ्रम की निवृत्ति ज्ञात शुक्ति रूप देखी जाती है। इसी प्रकार ज्ञातत्व उपलक्षित आत्मा ही अविद्यानिवृत्ति रूप माना जाता है। ज्ञातत्व रूप उपलक्षण का नाश हो जाने पर भी अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष का नाश नहीं होता है। जैसे लोक में पचन—लवन आदि क्रिया के नाश हो जाने पर भी ''देवदत्तः पाचको लावको न भवति।'' ऐसा व्यवहार नहीं देखा जाता है।}

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि चरमवृत्ति से उपलक्षित जो आत्मा जैसे चरमवृत्ति के पश्चात् रहता है वैसे ही पूर्व में भी था। अतः अविद्या अवस्था में भी अज्ञान की निवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि वृत्ति

''निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः। उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्ति पाचकाविदत्।।' इति। न च वृत्त्युपलक्षितस्य पश्चादिव पूर्वमपि सत्त्वेन मोहकालेऽपि तद्धान्यापत्तिः; पूर्वमसिद्धस्योपलक्षणत्वायोगात्; नहि पाकसम्बन्धात् पूर्वं पाचको भवति तथा व्यवह्रियते वा।१।।

यत्तु—यदि पाककर्तृत्वमेव पाचकत्वं, तदा अपचति तत्प्रयोगो भूतपूर्वन्यायेनौपचारिकः। यदि तु पाककर्तृतावच्छेदकावच्छिन्नत्वं तत्कर्तृत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं वा, तद्द्वयमपि पश्चादस्ति। न चैवं मुक्तावात्मातिरिक्तं योग्यत्वादिकमस्ति चिन्मात्रं तु प्रागप्यस्ति इत्यसाध्यतापत्तिः, पाकोपलक्षितत्ववद् वृत्त्युपलक्षितत्वस्याधिकत्वे सविशेषतापत्तिः इति तन्न; उपलक्ष्यस्वरूपस्यासाध्यत्वेऽपि उपलक्षणगतसाध्यत्वोपपत्तेः घटाकाशे उत्पत्तिवत्।।२।।

यद्वा अविद्यानिवृत्तिस्तद्विरोधिवृत्तिरेव यावत्कार्योत्पत्तिविरोधिकार्यमेव ध्वंस इत्यङ्गीकारात्। न च वृत्तौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपलक्षित आत्मा को ही अज्ञान निवृत्ति रूप माना गया है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चरमवृत्ति के पूर्व में चरमवृत्ति रूप उपलक्षण के न रहने से अविद्या निवृत्तिरूप चरमवृत्ति उपलक्षित आत्मा भी नहीं रहेगा। जैसे पाक क्रिया का सम्पादन न करने वाले पुरुष को पाचक नहीं कहा जाता है। अथवा पाचकत्वेन उसका व्यवहार नहीं होता है। अतः चरमवृत्ति से पूर्व में चरमवृत्ति उपलक्षित आत्मा रूप अज्ञाननिवृत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।१।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पाचक क्या (१) पाक कर्तृत्व है? अथवा (२) पाक कर्तृतावच्छेदकावच्छिन्नत्व है? अथवा (३) पाककर्तृत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वरूपपाककर्तृत्वयोग्यत्व है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर जो देवदत्त पाचक है किन्तु जिस काल में सिद्धान्ती उसको दृष्टान्त बना रहे हैं उस काल में वह पाक क्रिया नही कर रहा है। अतः उसमें पाचक शब्द की मुख्यवृत्ति से प्रवृत्ति नहीं होगी (अपितु भूतपूर्वन्याय (पहले उसने पाक बनाया था—इस न्याय) से उसको पाचक कहा जायेगा।) फलतः पाचक दृष्टान्त नहीं बन सकता है। द्वितीय और तृतीय पक्ष स्वीकार करने पर उक्त दोनों धर्म (पाककर्तृतावच्छेदकावच्छिन्नत्व धर्म और पाककर्तृत्वात्यन्ताभावानधिकरण—त्वरूपपाककर्तृत्वयोग्यत्व) पाक क्रिया के पश्चात् भी रहते हैं किन्तु मुक्ति में आत्मा से अतिरिक्त योग्यत्वादि कोई भी धर्म नहीं रहता है और आत्मा मात्र तो चरमवृत्ति से पहले भी है। अतः मुक्ति में असाध्यत्व की आपत्ति होगी। जैसे पाचक धर्मी में पाकोपलक्षितत्व एक अधिक धर्म रहता है वैसे ही मुक्तात्मा में वृत्युपलक्षितत्वरूप एक अधिक धर्म मानने पर मुक्ति में निर्विशेषता की हानि हो जायेगी और सविशेषता की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चरमवृत्ति से उपलक्षित आत्मा के उपलक्ष्य = शुद्ध आत्मा में असाध्यत्व रहने पर भी उपलक्षण (चरमवृत्ति) में साध्यता के होने से उपलक्षित मोक्ष (शुद्ध आत्मा) में भी साध्यत्व की उपपत्ति हो जायेगी। जैसे स्वरूप से घटाकाश की उत्पत्ति न होने पर भी घट की उत्पत्ति होने से घटाकाश में भी उत्पत्ति का व्यवहार हो जाता है।।२।।

खण्ड संख्या १ में अविद्या निवृत्ति को चरमवृत्ति उपलक्षित आत्मस्वरूप कहा गया था। अब कह रहे हैं कि अविद्यानिवृत्ति चरमवृत्ति स्वरूप है। इसको ही मूलग्रन्थ में कहा गया कि अविद्यानिवृत्ति = अविद्याविरोधि चरमवृत्ति है। जिस कार्य (अविद्यानिवृत्ति) के पूर्व में जो (अविद्या) रहती थी और कार्य (अविद्यानिवृत्ति) के उत्पन्न होने के पश्चात् कार्य पूर्ववृत्ति पदार्थ = अविद्या नहीं रहती है। उसका (अविद्या का) ध्वंस = अविद्या विरोधी कार्य = चरमवृत्ति है। अर्थात् जिस चरमवृत्ति से पहले अविद्या रहती थी और उसी चरमवृत्ति के पश्चात् अविद्या नहीं रहती है। अतः चरमवृत्ति = अविद्या ध्वंस है।

नष्टायां विरोधिनः कार्यान्तरस्यानुदयात् तदापिध्वंससत्त्वेन स न ध्वंस इति—वाच्यम्; यावद्विरोधिकार्योदयमेव तथात्वाद् यावद्विभागं तस्य ध्वंसरूपत्वेऽपि विभागध्वंसस्याधिकरणरूपतावच्चरमवृत्तिपर्यन्तं विरोधिकार्यरूपत्वेऽपि ध्वंसस्य चरमवृत्तिध्वंसस्याधिकरणरूपतैव।।३।।

ननु इयं प्रक्रिया किमन्यत्र, इहैव वा। नाद्यः बिम्बप्रतिबिम्बै क्याज्ञाननिवृत्तिरपि ज्ञाततदैक्यरूपेति तदैक्यधीकाले सोपाधिकतद्भेदभ्रमोपादानाज्ञानानुवृत्त्ययोगात्। नान्त्यः; नियामकाभावात्। न चेह निवृत्तेर्ज्ञाताधिष्ठानातिरेक विश्वमिथ्यात्वश्रुतिपर्यालोचनया निवृत्तेरपि निवृत्त्यापत्तिर्नियामिका; तस्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— अविद्या का विरोधी जो चरमवृत्ति उसके नष्ट होने पर भी अविद्या ध्वंस रह जाता है और उस चरमवृत्ति के नष्ट होने पर दूसरा कोई अविद्या विरोधी वृत्ति =चरम वृत्ति का उदय तो होता नहीं है। इसलिए चरम वृत्ति के नष्ट होने के पश्चात् रहने वाला अविद्या ध्वंस को चरम वृत्ति स्वरूप नहीं माना जा सकता है, क्योंकि चरम वृत्ति के न रहने पर भी अविद्या ध्वंस रहता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जब तक (अविद्या) विरोधी कार्य (चरम वृत्ति) की स्थिति रहती है तभी तक अविद्या विरोधी कार्य रूप चरम वृत्ति को अविद्या ध्वंस रूप स्वीकार किया जाता है। अर्थात् जब तक चरम वृत्ति रहती है तभी तक उस चरम वृत्ति को अविद्या ध्वंस रूप कहा जाता है। जब चरम वृत्ति का ध्वंस हो जायेगा तब चरम वृत्ति का ध्वंस और चरम वृत्ति के बाद में रहने वाला जो अविद्या का ध्वंस आत्मस्वरूप होकर रहते हैं। जैसे जब तक विभाग की स्थिति रहती है तब तक उस विभाग को संयोग का ध्वंस माना जाता है। विभाग के न रहने पर विभाग का ध्वंस और संयोग का ध्वंस—इन दोनों को अधिकरण स्वरूप ही माना जाता है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि मूला अविद्या की निवृत्ति से भिन्न अन्य अविद्या (तूला अविद्या) की निवृत्ति को भी ज्ञाताधिकरण (अधिष्ठान) स्वरूप माना जाता है? अथवा केवल मूलाविद्या की निवृत्ति को ही ज्ञाताधिकरणस्वरूप माना जायेगा? (तूलाविद्या निवृत्ति को अधिष्ठान स्वरूप नहीं माना जायेगा) प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि बिम्बप्रतिबिम्ब के ऐक्याज्ञान की निवृत्ति को भी ज्ञातबिम्बप्रतिबिम्ब ऐक्य स्वरूप मानना होगा। ऐसा मानने पर बिम्बप्रतिबिम्ब ऐक्यधी काल में दर्पण में मुख देखते समय जो बिम्ब प्रतिबिम्ब का सोपाधिक भेद भ्रम, उसका उपादान जो अज्ञान उसकी अनुवृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि जब उक्त ऐक्य है तब उस ऐक्य काल में अज्ञान की निवृत्ति रहेगी न कि अज्ञान। अन्तिम पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा कोई हेतु नहीं है जिसके आधार पर मूलाविद्या निवृत्ति को ज्ञात अधिष्ठान स्वरूप माना जाय। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि मूलाविद्या निवृत्ति को ज्ञात अधिष्ठान से अतिरिक्त मानेंगे तब ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्चमात्र में मिथ्यात्व बतलाने वाली श्रुतियों के द्वारा मूलाविद्या निवृत्ति में भी मिथ्यात्व होने से मूलाविद्या निवृत्ति की भी निवृत्ति मानने की आपत्ति आयेगी। यही आपत्ति ही सिद्ध कर देती है कि मूलाविद्या निवृत्ति ज्ञात अधिष्ठान स्वरूप है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रपञ्च मिथ्यात्व बोधक श्रुति ब्रह्मज्ञान से प्रपञ्च निवृत्ति का ही बोध कराती है। अतः उक्त श्रुति के तात्पर्य का विषय = प्रपञ्च निवृत्ति। उससे इतर = प्रपञ्च, उसमें मिथ्यात्व का ही प्रतिपादन करती है। अर्थात् उक्त श्रुति विश्वनिवृत्ति के निवृत्ति का बोधक नहीं है अपितु विश्व के निवृत्ति का ही बोधक है। अतः उक्त आपत्ति नहीं आयेगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम पक्ष में कोई दोष नहीं है, क्योंकि सोपाधिक भ्रम स्थल पर जिस समय उपाधि (दर्पण) नहीं है। उस समय ही अज्ञान निवृत्ति को

ज्ञानाद्विश्वनिवृत्तिपरत्वेन स्वतात्पर्यविषयनिवृत्तीतरमिथ्यात्वपरत्वादिति—चेन्न, न तावदाद्ये दोषः, सोपाधिकभ्रमे उपाधिविरहकालीनस्यैव तस्य तथात्वात्। नापि द्वितीयः; नेति नेतीतिश्रुतेः स्वारस्येनात्मातिरिक्तसर्वनिवृत्तावेव तात्पर्यात्।।४।।

न च वृत्त्युपलक्षित आत्मा जीवन्मुक्तावप्यस्तीति तदापि मोक्षापत्तिः; मुक्तिमात्रापादनस्येष्टत्वात् परममुक्तेश्चरमसाक्षात्कारोपलक्षितात्मस्वरूपत्वेन तदापादकाभावात्। न च चरमसाक्षात्कारनिवृत्ते—रात्मत्वेऽसाध्यत्वापत्तिः; अविद्यानिवृत्तेरसाध्यत्वेऽप्रवृत्त्यापत्तिवद् अत्र तदभावात्। न च—जीवन्मुक्ति—प्रयोजकवृत्त्यपेक्षया परममुक्तिप्रयोजकवृत्तौ आनन्दाभिव्यक्तिगतविशेषाभावे चरमक्षणेन चरमश्वासेन वा उपलक्षित आत्मा मुक्तिरिति किं न स्यादिति—वाच्यम्; प्रारब्धकर्मप्रयुक्तविक्षेपा विक्षेपाभ्यामभि—

सत्यानन्दप्रबोधिका

अधिष्ठान (ऐक्य) स्वरूप माना जाता है। द्वितीय पक्ष में भी दोष नहीं है, क्योंकि ''नेति नेति'' (बृ०उ०३—९—२६) इत्यादि श्रुतियों का मुख्यार्थ आत्मा से अतिरिक्त सर्वनिवृत्ति में ही होता है। अतः उक्त आपत्ति के कारण मूलाविद्या निवृत्ति को अधिष्ठानस्वरूप मानना आवश्यक है।।४।।

शङ्का— वृत्युपलक्षित आत्मा जीवन्मुक्ति काल में भी है। अतः जीवन्मुक्ति काल में भी मोक्ष की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्ति काल में मुक्तिमात्र का आपादन किया जा रहा है? अथवा परममुक्ति का? प्रथम पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि वृत्युपलक्षित आत्मा काल में जीवन्मुक्ति हम मानते ही हैं। द्वितीय पक्ष का आपादन किया नहीं जा सकता है, क्योंकि वृत्युपलक्षित आत्मा काल में चरमवृत्ति उपलक्षित आत्मस्वरूप परममुक्ति रह ही नहीं सकती है, क्यों चरमवृत्ति प्रारब्धक्षय के अन्त में होती है।

शङ्का— चरम वृत्ति के निवृत्ति को यदि आत्मस्वरूप माना जाय तब तो आत्मा साध्य न होने के कारण चरम वृत्ति की निवृत्ति भी साध्य नहीं हो पायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या निवृत्ति को साध्य न मानने पर अविद्या निवृत्ति के लिए किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी— ऐसी आपत्ति के कारण अविद्या निवृत्ति को जैसे साध्य माना जाता है वैसे चरम वृत्ति की निवृत्ति को असाध्य मानने पर अप्रवृत्ति की आपत्ति का अभाव है, क्योंकि अविद्या निवृत्ति के लिए जैसे प्रयत्न किया जाता है वैसे चरमवृत्ति के निवृत्ति के लिए करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि वह तो तृणराशिनिक्षिप्त अङ्गारवत् अविद्या को निवृत्त कर स्वयं निवृत्त हो जाती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जीवन्मुक्ति का प्रयोजक जो साक्षात्कारात्मक वृत्ति है, उस की अपेक्षा परम मुक्ति का प्रयोजक जो चरम साक्षात्कारात्म वृत्ति है, उस में न तो कोई स्वरूपतः अन्तर है और न ही आनन्दाभिव्यक्ति में अन्तर है। अतः दोनों में अन्तर के लिए जीवन के चरम क्षण से उपलक्षित अथवा चरम श्वास से उपलक्षित आत्मा को परम मुक्ति का स्वरूप मानना चाहिए न कि चरम वृत्ति से उपलक्षित आत्मा को। चरमश्वास या चरम क्षण से उपलक्षित आत्मा को परममुक्ति का स्वरूप मानने पर मुक्ति में सविशेषतापत्ति आदि दोष होगा— यह पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्ति काल में प्रारब्ध कर्म प्रयुक्त विक्षेप के कारण आनन्द की अभिव्यक्ति मन्द होती है और परममुक्तिकाल में प्रारब्धप्रयुक्तविक्षेप का अभाव होने से अत्यन्त उत्कृष्ट होती है। इस प्रकार दोनों में अन्तर हो जाने से दोनों में अन्तर के लिए चरम क्षण से उपलक्षित अथवा चरम श्वास से उपलक्षित आत्मा को परम मुक्ति का स्वरूप मानने की आवश्यकता नहीं है। अतः

व्यक्तिविशेषस्याङ्गीकारात्।।५।।

एतेन—वेदान्तश्रवणादिसाध्यः पुमर्थो वाच्यः, न च स त्वन्मते वक्तुं शक्यः, मुक्त्यनुस्यूतसुखज्ञप्तिरूपस्यात्मनः पुरुषार्थत्वेऽप्यसाध्यत्वात्, वृत्तेः साध्यत्वेऽपि स्वतोऽपुमर्थत्वात्। तस्मादात्मव्यतिरिक्त एव वृत्तिसाध्य आवरणनिवृत्तिरूपः आनन्दप्रकाशः पुमर्थो वाच्यः। तथा च कथमात्मैव निवृत्तिरिति—अपास्तम्; प्राप्तप्राप्तिरूपतया फलस्यानन्दप्रकाशस्य स्वरूपतोऽसाध्यत्वेऽपि तत्तिरोधायकाज्ञाननिवर्तकवृत्तेः साध्यत्वमात्रेण साध्यत्वोपपत्तेः, कण्ठगतचामीकरादौ तथा दर्शनात्। तस्मादज्ञानहानिरात्मस्वरूपं तदाकारा वृत्तिर्वेति सिद्धम्। ये तु पञ्चमप्रकारादिपक्षाः, ते तु मन्दबुद्धिव्युत्पादनार्था इति न तत्समर्थनमर्थयामः।।६।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ अविद्यानिवृत्तिनिरूपणम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

चरम वृत्ति से उपलक्षित आत्मा को परम मुक्ति का स्वरूप मानना उचित है।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि वेदान्तश्रवणादि से साध्य पुरुषार्थ मानना होगा किन्तु सिद्धान्ती के मत में वैसा माना नहीं जा सकता है, क्योंकि मुक्ति में अनुस्यूत आनन्दाभिव्यक्ति स्वरूप जो आत्मा है। ऐसे आत्मा को ही पुरुषार्थ माना जाता है किन्तु आत्मा नित्य है कृति साध्य नहीं है। अतः वेदान्त श्रवणादि से साध्य उक्त आत्मा माना नहीं जा सकता है। वेदान्त श्रवणादि के चरमवृत्ति के साध्य होने पर भी चरमवृत्ति में स्वतः पुरुषार्थ माना नहीं जाता है, क्योंकि आनन्दाभिव्यक्ति स्वरूप आत्मा में ही पुरुषार्थ माना जाता है। इसलिए आत्मा से भिन्न वृत्ति साध्य आवरण निवृत्ति रूप आनन्द प्रकाश को ही पुरुषार्थ मानना होगा। ऐसा होने पर चरमवृत्ति से उपलक्षित आत्मा को अविद्या निवृत्ति स्वरूप पुरुषार्थ कैसे माना जा सकता है।

समाधान— एतेन अपास्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि प्राप्त प्राप्ति रूप होने से आनन्द प्रकाश स्वरूप फल को स्वरूपतः साध्य न होने पर भी आनन्द प्रकाश तिरोधायक जो अज्ञान उस अज्ञान की निवर्तक जो अखण्डाकार वृत्ति उस वृत्ति में साध्यत्व होने से वृत्ति उपलक्षित आनन्द प्रकाश में साध्यत्व का उपचार हो जाता है। जैसे कण्ठगत हारादि में विस्मरण से अप्राप्ति और स्मरण से प्राप्ति का व्यवहार देखा जाता है। फलतः अज्ञान की निवृत्ति आत्मस्वरूप अथवा आत्माकारावृत्ति स्वरूप है— यह सिद्ध हो गया। अर्थात् खण्ड संख्या ३ के प्रारम्भ में जो कहा था— वह सिद्ध हो गया। इष्टसिद्धिकारादि के द्वारा जो अविद्या निवृत्ति को पञ्चम प्रकारादि कहा गया है। वह केवल अतिमन्द अधिकारियों को समझाने के लिए है। अर्थात् वह भगवान् भाष्यकारादि के द्वारा श्रुतिसिद्ध जो सिद्धान्त है। उससे पृथक् है। (इस पर विशेषविचार लघुचन्द्रिका में देखें।) अतः उसके समर्थन के लिए प्रयत्न करना उचित नहीं है।।६।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामविद्यानिवृत्तिनिरूपणम् :—

२— अविद्यानिवर्तकविचारः

अविद्यानिवर्तकं च यद्यपि न स्वप्रकाशब्रह्मरूपज्ञानमात्रम्; तस्य तत्साधकत्वात्; तथापि श्रवणादिसाध्यापरोक्ष—वृत्तिसमारूढं तदेव। अत एवैतदपास्तम्—किं स्वप्रकाशचिदविद्यानिवर्तिका? तदाकारा अपरोक्षवृत्तिर्वा? नाद्यः, तस्या इदानीमपि सत्त्वात्, न द्वितीयः, असत्यात्सत्यसिद्धेरयोगाद् अज्ञाने न जानामिति ज्ञप्तिरूपचिद्विरोधस्यानुभवेनाज्ञप्तिरूपवृत्तिविरोधस्यासम्भवात्, चिता प्रकाशमानसुखादावज्ञानादर्शनाच्च। किञ्च इच्छानिवर्त्यद्वेषवज्जातिनिबन्धनवृत्तिनिवर्त्यस्याज्ञानस्य सत्त्वापत्तिः इति।१ ।।

वृत्त्युपारूढचितो वा चित्प्रतिबिम्बधारिण्या वृत्तेर्वा निवतर्कत्वात्। नचासत्यायाः सत्योत्पादकत्वविरोधः; अभावस्य भावजनकत्ववदस्य सम्भवात्, प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकसुखजनकत्वदर्शनाच्च। नापि न

सत्यानन्दप्रबोधिका

यद्यपि अविद्या का निवर्तक स्वप्रकाश ब्रह्मस्वरूप ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि स्वप्रकाश ब्रह्मस्वरूप ज्ञान ही अविद्या का साधक (आश्रय) होता है। तथापि श्रवणादि के द्वारा साध्य जो अखण्डाकार अपरोक्ष वृत्ति तादृश वृत्ति में समारूढ़ स्वप्रकाश ब्रह्मस्वरूप ज्ञान ही अविद्या का निवर्तक होता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि क्या स्वप्रकाश चैतन्य को अविद्या का निवर्तक माना जाता है? अथवा स्वप्रकाश चैतन्याकार अपरोक्ष वृत्ति को अविद्या का निवर्तक माना जाता है? प्रथम पक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अविद्या काल में भी स्वप्रकाश चैतन्य है। वह अविद्या का आश्रय होने से अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उक्त अपरोक्ष वृत्ति अनात्मा होने से मिथ्या है और अविद्या निवृत्ति आत्म स्वरूप होने से सत्य है। मिथ्या पदार्थ कभी भी सत्य का साधक होता नहीं है। दूसरी बात यह है कि अज्ञान में ''न जानामि'' ऐसा व्यवहार होता है। इस व्यवहार से ज्ञान रूप चित् के साथ अज्ञान के विरोध का अनुभव होता है न कि जड़ वृत्ति के साथ अज्ञान के विरोध का अनुभव होता है। अतः अज्ञान के साथ वृत्ति का विरोध जब सम्भव ही नहीं है तब वृत्ति अज्ञान का नाशक कैसे हो सकती है? वृत्ति अज्ञान का नाश कर के विषय को प्रकाशित करती है— ऐसा मानने पर जहाँ साक्षी के द्वारा सुखादि का भान होता है वहाँ तो अज्ञान रहता ही नहीं है, क्योंकि सुखादि ज्ञातैक सत्ता वाले माने जाते हैं। अतः चित् (ज्ञान) को ही अज्ञान का विरोधी मानना चाहिए न कि वृत्ति को। किञ्च इच्छा (राग) और द्वेष में जैसे जात्या विरोध होता है वैसे ही वृत्ति और अज्ञान में जात्या विरोध मानने पर राग से निवर्त्य द्वेष को जैसे सत्य माना जाता है वैसे ही वृत्ति से निवर्त्य अज्ञान को भी सत्य मानने की आपत्ति आयेगी। अत एवैतदपास्तम्— ऐसा अन्वय है।१ ।।

समाधान— अत एव के अर्थ को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि केवल वृत्ति को अज्ञान का निवर्तक नहीं माना जाता है किन्तु वृत्ति में समारूढ़ चित् को या चित्प्रतिबिम्बधारिणी वृत्ति को अविद्या का निवर्तक माना जाता है। यदि कहा जाय कि मायाविशिष्टचैतन्य को जैसे मिथ्या माना जाता है वैसे ही वृत्ति समारूढ़ चित् और वृत्तिप्रतिबिम्बितचित् भी मिथ्या होंगे। अतः मिथ्याभूत वृत्तिसमारूढ़चित् या वृत्तिप्रतिबिम्बितचित् से अविद्या निवृत्ति रूप सत्स्वरूप आत्मा की उत्पादकता कैसे हो सकती है? इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे अनुपलब्धी से अभाव की प्रमा (भाव) की उत्पत्ति, विहित अकरण से प्रत्यवाय (भाव) की उत्पत्ति, विशेष अदर्शन से भ्रम (भाव) की उत्पत्ति आदि जैसे होती है वैसे ही असत्य से सत्य की उत्पत्ति हो जायेगी। (यहाँ उत्पत्ति का तात्पर्य प्राप्त की प्राप्ति है) और ध्वनि गत ह्रस्वत्वादि जो कि वर्ण में आरोपित होते होने के कारण मिथ्या हैं। उनसे सत्य अर्थ की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार

जानामीति ज्ञप्तिरूपचिद्विरोधित्वानुभवविरोधः; चिदसंसृष्टवृत्तेर्विरोधित्वस्यानङ्गीकारात्। यत्तूक्तं द्वेषवत् सत्यत्वमिति तन्न; अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारत्वनिबन्धनिवर्तकत्वस्य शुक्त्यादिज्ञानवदत्रापि सम्भवेन तन्निवर्त्यरूप्यवत् सत्यत्वानापत्तेः। यत्तूक्तं—चरमवृत्तेर्घटादिवृत्त्या चिद्विषयत्वे अविशेषः—इति, तन्न; अवच्छिन्नानवच्छिन्नविषयतया विशेषात्। यत्तु—स्वनिवर्तकत्वे स्थितिविरोधः स्वोपादाननिवर्तकत्वं त्वदृष्टचरम्—इति, तन्न; अन्यत्रादृष्टस्यापि प्रमाणबलादत्रैव कल्पनात्। तथाहि—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'इत्यवगतमायोपादानकत्वस्याप्यात्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य 'तरति शोकमात्मवित् सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य'इत्यादिना तन्निवर्तकत्वस्य च प्रमितत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रातिभासिक स्वप्न में होने वाले भगवद् दर्शन से व्यावहारिक सुखादि की उत्पत्ति देखी जाती है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि ''न जानामि'' इस प्रकार से चैतन्य रूप ज्ञान में ही अज्ञान की विरोधिता अनुभूत होती है न कि वृत्ति में। अतः वृत्ति को अज्ञान का विरोधी मानने पर उक्त अनुभव से विरोध होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि चित् से असंसृष्ट केवल वृत्ति में अज्ञान की विरोधिता हम नहीं मानते हैं अपितु चित् संसृष्ट वृत्ति में अज्ञान की विरोधिता मानी जाती है। अतः ''न जानामि'' इस अनुभव से विरोध नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि राग से निवर्त्य द्वेष के जैसे वृत्ति से निवर्त्य अज्ञान में भी सत्यत्वापत्ति होगी। ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्त्यादि ज्ञान = अधिष्ठान तत्त्वसाक्षात्कार स्वरूप होने के कारण मिथ्या रजत का जैसे निवर्तक होता है वैसे ही चरम वृत्ति = अधिष्ठान तत्त्वसाक्षात्कार स्वरूप होने के कारण अज्ञान का निवर्तक होता है। जैसे शुक्त्यादि ज्ञान से निवर्त्य रजत में सत्यत्वापत्ति नहीं होती है वैसे ही अधिष्ठान तत्त्वसाक्षात्कार स्वरूप चरम वृत्ति से निवर्त्य अज्ञान में भी सत्यत्वापत्ति नहीं होती है।

शङ्का— घटादि वृत्ति का विषय घटावच्छिन्न चित् है और चरम वृत्ति का विषय भी वृत्ति अवच्छिन्न चित् है। इस प्रकार घटादि वृत्ति और चरम वृत्ति के विषय में समानता होने के कारण केवल चरम वृत्ति को ही मूलाज्ञान का निवर्तक कहना असङ्गत है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि घटादि वृत्ति और चरम वृत्ति के विषय में समानता नहीं है, क्योंकि घटादि वृत्ति का विषय घटावच्छिन्न चित् (विशिष्टचित्) है और चरम वृत्ति का विषय अनवच्छिन्न चित् (शुद्ध चित्) है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि चरम वृत्ति को यदि स्व का निवर्तक माना जाता है तब तो चरम वृत्ति उत्पन्न होते ही (उत्पत्ति काल में ही) स्व का निवर्तक हो जायेगी। ऐसा होने पर चरम वृत्ति की स्थिति ही नहीं होगी। जब चरम वृत्ति की स्थिति ही नहीं तब वह मूलाज्ञान का नाशक कैसे हो सकती है? दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण प्रपञ्च का उपादान कारण अज्ञान है। अतः चरम वृत्ति का भी उपादान कारण अज्ञान ही होगा। कोई पटादि अपने उपादान कारण तन्तु आदि का जैसे नाशक नहीं होता है वैसे ही चरम वृत्ति भी अपने उपादान कारण अज्ञान का नाशक कैसे हो सकती है?

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पटादि में स्वोपादान निर्वतकता न देखे जाने पर भी प्रमाण बल से चरम वृत्ति में स्वोपादान निवर्तकता स्वीकार की जाती है। कैसे प्रमाण का बल है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सम्पूर्ण प्रपञ्च का उपादान कारण माया है। इसे श्रुति कह रही है— ''मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'' (श्वे०उ०४—१०) इसी प्रकार उपादान कारण रूप माया का आत्मसाक्षात्कार रूप चरम वृत्ति से नाश होता है। इसे श्रुति कह रही है— ''तरति शोकमात्मवित्'' (छा०उ०७—१—३) ''सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य'' (मु०उ०२—१—१०) फलतः श्रुति प्रमाण से सिद्ध पदार्थ को किसी दृष्टान्त के माध्यम

वृत्तिप्रतिबिम्बतचितो निवर्तकत्वे तु नोक्तवचसः शङ्कापि। तदुक्तं—

'तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत्। सूर्यकान्तमुपारुह्य तन्न्यायं विनियोजयेत्।।२।।

न च— अपरोक्षवृत्तौ सत्यां चिदप्रतिबिम्बनिबन्धननिवृत्तिविलम्बादर्शनात् न विशिष्टे निवर्तकतेति—वाच्यम्; शुद्धजडस्य शुद्धचितश्च जडतया तद्भासकतया चाज्ञानानिवर्तकतया विशिष्टे निवर्तकताया आवश्यकत्वात्। यत्तु—निवर्तकं ज्ञानमपि न शुद्धविषयकम्; तस्यादृश्यत्वात् नापि विशिष्टविषयकम्; तस्याध्यस्तत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

से अन्यथा नयन नहीं किया जा सकता है। फलत: वृत्तिप्रतिबिम्बितचित् (वृत्ति में समारूढ़चित्) को अज्ञान का निर्वतक मानने पर ''स्वोपादाननिवर्तकत्वं त्वदृष्टचरम्'' इत्यादि शङ्का को अवसर ही नहीं मिलेगा, क्योंकि वृत्ति में आरूढ़ चित् का उपादान अज्ञान होता है— ऐसा माना ही नहीं जाता है। दूसरी बात यह हैं कि वृत्ति में समारूढ़ चित् में अज्ञान की निवर्तकता का प्रतिपादक प्रमाण है—

तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत्।
सूर्यकान्तमुपारुह्य तन्न्यायं चिति योजयेत्।।

अर्थात् जैसे सूर्य की रश्मियाँ तृण आदि का प्रकाश करने वाली होती है किन्तु वही सूर्य की रश्मिया सूर्यकान्तावच्छिन्न (काच विशेष में समारूढ़) होकर तृणादि को जला देती हैं वैसे ही प्रकृत में अज्ञान का आभासक जो चैतन्य वह वेदान्त विचार से उत्पन्न वृत्ति में प्रतिबिम्बित (वृत्ति में समारूढ़) होकर अज्ञान का नाशक हो जाता है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि घटाकार अपरोक्ष वृत्ति होते ही तत्क्षण घट अज्ञान नष्ट हो जाता है न कि वृत्ति बनने के बाद उसमें चित् का प्रतिबिम्ब न पड़ने से अज्ञान की निवृत्ति में कोई विलम्ब देखा जाता है। अत: वृत्ति विशिष्ट चैतन्य को अज्ञान का निवर्तक नहीं माना जा सकता है अपितु वृत्ति मात्र को ही अज्ञान का निवर्तक मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्ध जड़ = वृत्ति। यद्यपि वृत्ति जड़ मात्र होने से अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकती है और शुद्ध चित् अज्ञान का साधक होने से अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता है तथापि वृत्तिविशिष्ट चैतन्य (वृत्ति समारूढ़ चित्) अज्ञान का नाशक होता है— ऐसा मानना आवश्यक है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है अज्ञान का निवर्तक ज्ञान का विषय शुद्ध चैतन्य नहीं हो सकता है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य अवेद्य होने से किसी का विषय ही नहीं होता है। अज्ञान का निवर्तक ज्ञान का विषय विशिष्ट चैतन्य भी नहीं हो सकता है, क्योंकि विशिष्ट चैतन्य मिथ्या माना जाता है। अत: वह अप्रमात्मक होने से अज्ञान का निवर्तक नहीं होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञान का निवर्तक ज्ञान का विषय वृत्ति उपहित चैतन्य होता है। उपाधि का लक्षण है— कार्यानन्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति इतर व्यावर्तकत्वम्। अत: उपाधि के अनन्वयि होने से अज्ञान निवर्तक ज्ञान में उपाधि (वृत्ति) अन्वयि नहीं होगी। अत: अज्ञान निवर्तक ज्ञान = उपाधि विशिष्ट चित् न होकर शुद्ध चित् ही होगा। वह प्रमात्मक होने से अज्ञान का निवर्तक हो ही जायेगा। (अब तक अज्ञान निवर्तक कौन है? इस पर विचार किया गया। आगे चरम वृत्ति का निवर्तक कौन है? इसका विचार प्रारम्भ हो रहा है।)

शङ्का— चरम वृत्ति का निवर्तक कौन है? स्वयम् है? अथवा कोई अन्य ज्ञान है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि विना किसी की अपेक्षा किये ही प्रतियोगी (प्रकृत में चरम वृत्ति और दृष्टान्त में घट)

भ्रमत्वापत्तेः इति, तन्न; उपहितस्य विषयत्वेऽपि उपाधेरविषयत्वेनाभ्रमत्वात्। यत्तु—अन्त्यस्य ज्ञानस्य किं निवर्तकम्? स्वयमन्यद्वा; नाद्यः अन्यनिरपेक्षप्रतियोगिनो ध्वंसजनकत्वे क्षणिकत्वापत्तेः, दग्धदारूदहनस्यापि ईश्वरेच्छादिनैव नाशात्। कतकरजस्तु न पङ्कं नाशयति। नापि स्वम्; विश्लेषमात्रदर्शनात्;नान्त्यः; शुद्धात्मनः किञ्चिदपि प्रत्यहेतुत्वात्, तदन्यस्य च निवर्तत्यत्वाद्—इति।।३।।

तन्न; तन्तुनाशस्य पटनाशप्रयोजकत्वदर्शनेन स्वोपादानाविद्यानाशस्यैव तन्नाशकत्वात्। न च—अविद्यानाशे तदुपलक्षितात्मा वा वृत्तिर्वा, पूर्वत्र शुद्धस्याहेतुत्वम्, द्वितीये प्रतियोगिमात्रस्यैव नाशकतापर्यवसनामिति—वाच्यम्; उभयथाप्यदोषात्, वृत्तिमादायैव ब्रह्मण उपहितत्वेन शुद्धत्वाभावात्। प्रतियोगिनः प्रतियोगित्वेन नाशकतायामितरानपेक्षत्वे हि क्षणिकत्वं, रूपान्तरावच्छेदेन यत् कारणं तस्यापेक्षणे न तदिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपने ध्वंस को उत्पन्न कर दे तब वह प्रतियोगी क्षणिक माना जाता है। अतः चरम वृत्ति में क्षणिकत्व की आपत्ति होगी। (यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस दहन (अग्नि) ने दारु (लकड़ी) को जला दिया, वह दहन किसी दूसरे की अपेक्षा किये विना ही स्वयं ही स्वयं का नाश कर लेती है वैसे ही चरम वृत्ति जिसने की अविद्या और तत्प्रयुक्त प्रपञ्च को दग्ध कर दिया, वह चरम वृत्ति दूसरे की अपेक्षा किये विना भी स्वयं ही स्वयं का नाश कर लेगी— इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) जो दहन अपने दारु का नाश कर चुकी है, वह दहन स्वयं अपना नाश नहीं करती है अपितु ईश्वरीय इच्छा से ही उस दहन का नाश माना जाता है। अतः उसको स्वयं नाश के प्रति दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। (यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जैसे कतक (निर्मली फल) रज (चूर्ण) जल के मल को नष्ट कर स्वयं विना किसी की अपेक्षा किये ही स्वयं ही नष्ट हो जाता है वैसे ही वृत्ति अज्ञान का नाश कर स्वयं किसी की अपेक्षा किये विना ही स्वयं नष्ट हो जाती है— इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) कतक चूर्ण जल के मल का नाश नहीं करता है और स्वयं अपना भी नाश नहीं करता है किन्तु जल से मल को पृथक् कर देता है। अतः उसको स्वयं नाश के प्रति दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। चरम वृत्ति से अन्य कोई चरम वृत्ति का निवर्तक है— ऐसा द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि चरम वृत्ति से अन्य शुद्ध चैतन्य ही है। वह असङ्ग होने से किसी कार्य के प्रति हेतु ही नहीं होता है और शुद्ध चैतन्य से भिन्न सभी पदार्थ चरम वृत्ति से निवर्त्य के अन्तर्गत आते हैं। अतः वे पदार्थ चरम वृत्ति के निवर्तक हो ही नहीं सकते हैं।।३।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तन्तु रूप उपादान के नाश को जैसे कार्य रूप पट का नाश के प्रति हेतु माना जाता है वैसे ही चरम वृत्ति का उपादान जो अविद्या उस अविद्या के नाश को चरम वृत्ति के नाश के प्रति हेतु माना जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि अविद्या का नाशक चरम वृत्ति उपलक्षित आत्मा है? अथवा अविद्या का नाशक चरम वृत्ति है? प्रथम पक्ष में वृत्ति उपलक्षित आत्मा अर्थात् शुद्ध आत्मा को अविद्या नाश के प्रति हेतु मानना पड़ेगा, जब कि शुद्ध आत्मा को किसी के प्रति हेतु माना नहीं जाता है। अतः प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है। द्वितीय पक्ष में वृत्ति को अविद्या का नाशक मानने पर वृत्ति के द्वारा वृत्ति का नाश मानना पड़ेगा, क्योंकि अविद्या का कार्य ही वृत्ति है। वृत्ति को स्वनाश के प्रति हेतु मानने पर क्षणिकत्वापत्ति आयेगी जो खण्ड संख्या ३ में कहा जा चुका है।

समाधान— पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि दोनों पक्षों को स्वीकार करने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि वृत्ति को लेकर ही आत्मा उपहित होता है। अतः वृत्ति उपहित आत्मा का

उपादाननाशत्वावच्छिन्नस्य स्वस्यैव क्षणिकत्वानापादकं नाशकत्वं स्यात्। द्वितीयकारणनिरपेक्षप्रतियोगिनः प्रतियोगित्वोपादाननाशत्वरूपद्वयावच्छिन्नस्य नाशकत्वोपपत्तेः। वस्तुतस्तु—अविद्यानिवृत्तेर्वृत्तिरूपतया न स्वातन्त्र्येणेत्यादिः निवर्तकखण्डनावकाशः, वृत्तिनिवृत्तेरात्मरूपतया न तज्जनकखण्डनावकाशोऽपीति सर्वमवदातम्।।४।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ अविद्यानिवर्तकनिरूपणम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

वृत्ति के साथ संसर्ग रहने के कारण शुद्ध आत्मा नहीं कहा जा सकता है। अतः प्रथम पक्ष में अविद्या के नाश का हेतु वृत्ति उपहित आत्मा हो जायेगा। द्वितीय पक्ष में भी दोष नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी यदि अन्य किसी की अपेक्षा न रखकर प्रतियोगित्वेन अपना नाशक हो तभी प्रतियोगी को क्षणिक माना जाता है किन्तु प्रतियोगी यदि किसी अन्य की अपेक्षा रखकर अपना नाशक हो तब प्रतियोगी में क्षणिकत्व की आपत्ति नहीं दी जाती है। प्रकृत में रूपान्तर = प्रतियोगित्व रूप अवच्छेदक से भिन्न उपादान नाशकत्व रूप अवच्छेदेन प्रतियोगी (चरम वृत्ति) अपने नाश के प्रति कारण हो रहा है। अर्थात् प्रतियोगी के नाशकत्व की अपेक्षा न कर के उपादान के नाशकत्व की अपेक्षा रखकर वृत्ति अपना नाशक हो रही है। अतः चरम वृत्ति में क्षणिकत्वापत्ति नहीं होगी। अथवा चरमवृत्ति उपादान भूत अज्ञान नाशत्व और द्वितीय कारण निरपेक्ष प्रतियोगी = केवल मात्र प्रतियोगी (वृत्ति) उसमें रहनें वाला प्रतियोगित्व (वृत्तित्व) — उभय धर्मावच्छिन्न चरम वृत्ति को स्वनिवर्तक माना जाता है। अतः क्षणिकत्व की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि केवल प्रतियोगित्वेन प्रतियोगी (वृत्ति) को स्व नाश के प्रति हेतु नहीं माना गया है। अब तक वृत्ति को अविद्या का निवर्तक मानकर उत्तर दिया गया। आगे वृत्ति को अविद्या निवृत्ति स्वरूप मानकर उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि वस्तुतः अविद्या निवृत्ति चरम वृत्ति रूप ही मानी जाती है। ऐसा होने पर चरम वृत्ति रूप अविद्या निवृत्ति का नाशक कौन है? इस प्रकार से खण्डन का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। अथवा वृत्ति की निवृत्ति आत्मरूप मानी जाती है। आत्मा का खण्डन हो नहीं सकता है। अतः चरम वृत्ति के निवृत्ति के जनक के खण्डन का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। अतः किसी भी प्रकार का दोष सिद्धान्त मत में नहीं है।।४।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामविद्यानिवर्तकनिरूपणम् :—

३— मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वविचारः

ननु त्वन्मते मुक्तौ न दुःखोच्छेदमात्रम्, किन्तु निरतिशयानन्दस्फुरणमपि। तदुक्तं—

'तस्मादविद्यास्तमयो नित्यानन्दप्रतीतितः। निःशेषदुःखोच्छेदाच्च पुरुषार्थः परो मतः।।'

इति। तत्र न सुखात्मता तावत्पुरुषार्थः; सुखी स्यामितिवत् सुखं स्यामितीच्छाया अदर्शनात्, पुमर्थताया इच्छानियम्यत्वात्। अन्यथा बौद्धमतसिद्धात्मनाशादिरपि पुमर्थः स्यात्। अत एव नापरकीयं सुखं पुमर्थः; तथेच्छाविरहाद्, गौरवाच्च। सुखसाधने परकीयेऽपि स्वीकीये पुमर्थत्वस्यापरकीयेऽप्यस्वकीये अपुमर्थत्वस्य च दर्शनेन इष्टत्वाविशेषात्, सुखेऽपि तत्कल्पनाच्च दुःखतत्साधनयोः स्वकीयतयैवापुमर्थत्वस्य च दर्शनेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्तमतानुसार मुक्ति में वैशेषिकादि के जैसे केवल दुःख का उच्छेद ही नहीं होता है अपितु निरतिशय आनन्द का स्फुरण भी होता है। जैसा कि कहा गया है—

तस्मादविद्यास्तमयो नित्यानन्दप्रतीतितः।
निःशेषदुःखोच्छेदाच्च पुरुषार्थः परो मतः।।

(अर्थात् अविद्या का नाश हो जाने से नित्यानन्द की प्रतीति होती है और निःशेष दुःख का उच्छेद हो जाता है। इस लिए अविद्यास्तमय परम पुरुषार्थ माना गया है।) इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि तत्र = सिद्धान्ती के उक्त कथनानुसार आत्मा का स्वरूपभूतसुख पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। (यहाँ पूर्वपक्षी का आशय है कि आत्मा का धर्मभूतसुख ही पुरुषार्थ हो सकता है, आत्मा का स्वरूपभूतसुख पुरुषार्थ नहीं हो सकता है।) इसमें आगे हेतु देते हुए कह रहे हैं कि ''मैं सुखवान् होऊ'' ऐसी इच्छा तो होती है किन्तु ''मैं सुख होऊ'' ऐसी इच्छा नहीं होती है। पुरुषार्थता इच्छा विषयता से व्याप्य होती है। अर्थात् यत्र यत्र पुमर्थत्वं तत्र तत्र इच्छाविषयत्वम्। आत्मा के स्वरूपभूत सुख में इच्छा विषयत्व (व्यापक) नहीं है। अतः आत्मा के स्वरूपभूत सुख में व्याप्य (पुरुषार्थता) भी नहीं रहेगा। अन्यथा = पुरुषार्थ को इच्छा से नियम्य (व्याप्य) नहीं मानेंगे तो आत्मनाश में व्यापक (इच्छाविषयत्व) के न रहने पर भी व्याप्य (पुरुर्षार्थता) को मानने की आपत्ति आयेगी। अत एव = पुरुषार्थता इच्छा से नियम्य होने से ही अपरकीय सुख पुरुषार्थ नहीं होता है, क्योंकि ''अपरकीयं सुखं मे स्यात्'' ऐसी इच्छा नहीं देखी जाती है। दूसरी बात यह है कि ऐसा मानने पर गौरव दोष भी होगा, क्योंकि स्वकीयत्वाभाव = परकीयत्व और स्वकीयत्वाभावाभाव = अपरकीयत्व है। इसलिए स्वकीयत्व की अपेक्षा अपरकीयत्व धर्म गुरु है। अपरकीयत्वेन पुरुषार्थता नहीं मानी जा सकती है— इसमें युक्ति देते हुए कह रहे हैं कि जो सुख का साधन (धनादि) परकीय (दूसरे से सम्बन्धित) है। वह साधन स्वकीय (अपने से सम्बन्धित) हो— ऐसी इच्छा देखे जाने से अपरकीय सुख को पुरुषार्थ नहीं माना जाता है। इस प्रकार—सुखसाधने स्वकीयत्वसत्त्वे पुरुषार्थसत्त्वम्—ऐसा अन्वय दिखलाया गया। आगे व्यतिरेक दिखलाते हुए कह रहे हैं कि जो सुख साधन दूसरे से सम्बन्धित नहीं है और अपने से सम्बन्धित नहीं है। उसमें पुरुषार्थता नहीं देखी जाती है। अर्थात् ''सुखसाधने स्वकीयत्वाभावे पुरुषार्थत्वाभावः।'' इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से यह सिद्ध हुआ कि स्वकीय सुख साधन में ही पुरुषार्थता है। जब उक्त प्रकार से सुख साधन में स्वकीयत्वेन पुरुषार्थता देखी गयी है तब उसके आधार पर सुख में भी स्वकीयत्वेन पुमर्थता की कल्पना की जा सकती है। जो दुःख या दुःख का साधन दूसरे को मिला हो या न मिला हो किन्तु अपने को न मिले— यही लोग चाहते हैं। ऐसे ही सुख दूसरे को मिला हो या न मिला हो किन्तु अपने को मिले—यही लोग चाहते हैं। फलतः सुख साधन और सुख में स्वकीयत्वेन ही

सुखादेरपि तथैव पुरुषार्थत्वाच्चेति—चेत्।।१।।

न; सुखादौ हि पुमर्थता नापरकीयत्वप्रयुक्ता, नापि स्वकीयत्वप्रयुक्ता; गौरवात् किन्तु साक्षात्क्रियमाणतया; सम्बन्धस्य चानित्यत्वसाधनपारतन्त्र्यादेरिवावर्जनीयसन्निधिकत्वात्। न च—ईश्वरस्याप्यस्मदादिसुखं पुमर्थः स्यादिति—वाच्यम्; हेयतया अज्ञातत्वे सतीत्यस्यापि तत्र प्रयोजकत्वादीश्वरादिना चास्मदादि सुखस्य हेयत्वेनैव ज्ञानात् स्वरूपसुखे चेष्टापत्तेः। न च गौरवम्; स्वसम्बन्धित्वेन पुमर्थतावादिनोऽपि निलीनसुखेपुरुषार्थतानिवृत्त्यर्थं तथावश्यं वर्णनीयत्वात्।।२।।

यत्तु—साक्षात्कारेऽपि स्वकीयतया पुरुषार्थतापक्षे मुक्तस्य सुखसाक्षात्काररूपतया तं प्रत्यपि तस्यापुरुषार्थतापत्तिः, स्वेतरासम्बन्धित्वेन स्वस्य पुरुषार्थत्वे मुक्तस्वरूपेण सुखेन संसारीतरासम्बद्धेन संसारिणः

सत्यानन्दप्रबोधिका

पुरुषार्थता मानना सङ्गत होने से सुखरूपता को पुरुषार्थ माना नहीं जा सकता है— यह पूर्वपक्षी के कथन का तात्पर्य है।१।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सुखादि में पुरुषार्थता अपरकीयत्व प्रयुक्त भी नहीं मानी जा सकती है और स्वकीय प्रयुक्त भी नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर गौरव दोष होगा। इसलिए सुखादि में पुरुषार्थता साक्षात्क्रियमाणत्वेन मानी जाती है। अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूयमान सुख ही पुरुषार्थ है। ऐसा मानने पर लाघव होगा। अर्थात् जहाँ सुख का प्रत्यक्ष होगा तो उसका सम्बन्ध अपने से अपने आप ही हो जायेगा। अतः उसमें स्वकीयत्व जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। इसमें दृष्टान्त देते हुए कह रहे हैं कि जैसे अनित्य और साधन परतन्त्र स्वर्गादि मुझे मिले— ऐसी इच्छा यद्यपि किसी को नहीं होती है तो भी स्वर्गादि में अनित्यत्व और साधन परतन्त्रत्व की सन्निधि अवर्जनीय है। ऐसा होने पर भी केवल स्वर्ग ही पुरुषार्थ होता है न कि अनित्य स्वर्ग या साधन परतन्त्र स्वर्ग।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि साक्षात्क्रियमाणत्वेन सुखादि में पुरुषार्थता मानने पर ईश्वर को सभी पदार्थों का साक्षात्कार होने के कारण जीव के सुख का भी साक्षात्कार होगा। अतः साक्षात्क्रियमाणत्वेन जीव के सुख मे ईश्वरीय पुरुषार्थत्वापत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि पुरुषार्थता के उक्त लक्षण में ''हेयतया अज्ञातत्वे सति'' इतना और जोड़ेंगे। अर्थात् हेयतया अज्ञातत्वे सति साक्षात्क्रियमाणत्वेन पुरुषार्थता स्वीकार करने पर जीव के वैषयिक सुख में ईश्वरीय पुरुषार्थता अतिप्रसक्त नहीं होगी, क्योंकि जीव का वैषयिक सुख तो ईश्वर दृष्टि से हेय है। यदि जीव के स्वरूप सुख में उक्त आपत्ति दी जाती है तब हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि जीव का स्वरूप सुख और ईश्वर का स्वरूप सुख एक ही है। सिद्धान्ती के द्वारा कथित पुरुषार्थता का उक्त साक्षात्क्रियमाणत्व रूप लक्षण गौरव दोष से ग्रस्त है— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्वकीयत्वेन सुख में पुरुषार्थता मानने वाले पूर्वपक्षी को भी विलीन सुख में (अर्थात् ''सुखं ते भविष्यति'' किन्तु तुमको उस सुख का भान नहीं होगा— इस प्रकार किसी प्रतारक (मिथ्यावादी) के द्वारा आवृतत्वेन ज्ञात सुख में) पुरुषार्थतापत्ति वारण के लिए उक्त साक्षात्क्रियमाणत्व रूप लक्षण अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो कहा कि सुख साक्षात्कार पुरुषार्थ है। इस पर प्रश्न होता है कि सुख साक्षात्कार स्वकीयतया पुरुषार्थ है? अथवा अपरकीयतया? इसमें से प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सुख साक्षात्कार स्वकीयतया पुरुषार्थ मानने पर मुक्त पुरुष सुख साक्षात्कार स्वरूप होता है, न कि सुख साक्षात्कार सम्बन्धी। अतः मुक्त पुरुष के लिए वह सुख साक्षात्कार पुरुषार्थ

पुरुषार्थताप्रसङ्गः—इति, तन्न; साक्षात्क्रियमाणत्वेनैव हि पुमर्थता मुक्तसुखसाक्षात्कारस्य तं प्रति पुमर्थत्वेऽपि संसारिणस्तथा; तं प्रत्यभासमानत्वाद् भाने वाऽसंसारित्वेनेष्टापत्तिः। यत्तु प्रत्यक्षप्रकाशमानत्वेन सुखं पुमर्थः—इति, तदप्येतेन व्याख्यातम्; प्रत्यक्षप्रकाशमानत्वेन साक्षात्क्रियमाणतया एवोक्तेः। यत्तुः सुखत्वेन प्रकाशमानं सुखं पुमर्थः, न च तत्परमते मोक्षेस्ति—इति, तन्न; साक्षात्क्रियमाणत्वेनैवातिप्रसङ्गनिरासे अधिकोक्तेर्गौरवकरत्वात्।।३।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं हो पायेगा। द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अपने से भिन्न के साथ जो सम्बन्धित नहीं है। उस सुख के लिए अपना पुरुषार्थ होता है— ऐसा मानने पर मुक्त का स्वरूप भूत जो सुख वह संसारी से इतर मुक्त के साथ सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि वह तो मुक्त स्वरूप ही है। वह मुक्त का स्वरूप भूत सुख संसारी के लिए पुरुषार्थ होना चाहिए, जबकि संसारी लोग केवल वैषयिक सुख ही चाहते हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सुख स्वयं ज्ञायमान होकर के ही पुरुषार्थ होता है, मुक्त स्वरूप सुख का साक्षात्कार मुक्त के प्रति पुरुषार्थ होने पर भी संसारी व्यक्ति के प्रति पुरुषार्थ नहीं बन सकता है, क्योंकि संसारी के प्रति साक्षात्कारत्वेन भासमान नहीं है। यदि उस व्यक्ति को स्वरूप भूत सुख का भान होता है तब तो वह व्यक्ति मुक्त ही माना जायेगा। अत: उक्त सुख में पुरुषार्थता मानना हमें अभीष्ट ही है। आचार्य श्री आनन्द बोध ने जो कहा है कि प्रत्यक्ष प्रकाशमानत्वेन सुख पुरुषार्थ है। इसका भी अर्थ पूर्वोक्त पुरुषार्थ के लक्षण से व्याख्यात हो गया, क्योंकि प्रकाशमानत्वेन का अर्थ ही है— साक्षात्क्रियमाणता। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सुखत्वेन प्रकाशमान सुख पुरुषार्थ है— ऐसा स्वीकार करने पर सिद्धान्त मत के मोक्ष में यह नहीं जायेगा, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में स्वरूप भूत सुख साक्षात्क्रियमाणत्वेन पुरुषार्थ है न कि सुखत्वेन सुख, क्योंकि स्वरूपभूत सुख में सुखत्वादि नहीं माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि साक्षात्क्रियमाणत्वेन सुख में पुरुषार्थता मानने पर जब कोई अतिप्रसङ्गादि दोष नहीं हो रहा है तब ''सुखत्वेन'' आदि अधिक पदों के देने की आवश्यकता ही नहीं है अपितु इससे तो गौरव दोष ही होगा।।३।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वम्: —

४– चिन्मात्रस्य मोक्षभागित्वोविचारः

ननु–कस्यायं मोक्षः पुमर्थः? किमहमर्थस्य; आहोस्विच्चिन्मात्रस्य। नाद्यः; त्वन्मतेऽहमर्थस्य मुक्त्यनन्वयात्, नान्त्यः; 'अहं मुक्तः स्याम्' इतिवच्चिन्मात्रं मुक्तं स्यादितीच्छाया अननुभवादिति–चेन्न; अहमर्थगतं चिदंशं मुक्तिकालान्वयिनं प्रति पुमर्थत्वस्य मोक्षे सम्भव इत्युक्तप्रायत्वात्। न च–सुखस्य दुःखाभावमात्रत्वे वैशेषिकमोक्षवदपुमर्थता अतिरेके सद्वितीयत्वमिति–वाच्यम्; दुःखाभावातिरेकेऽप्यात्मानतिरेकात्। न च–आत्मनः सुखमात्रत्वे सुखप्रकाशाभावेनापुमर्थत्वम् उभयात्मकत्वे चाखण्डार्थत्वहानिरिति–वाच्यम्; सुखप्रकाशयोरेकात्मरूपतया उभयत्वस्यैवाभावात्।१।।

न चार्थभेदाभावे सुखप्रकाश इति सहप्रयोगायोगः; अविद्याकल्पितदुःखजडात्मकत्वरूपव्यावर्त्यभेदेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– यह मोक्ष किसका पुरुषार्थ है? क्या अहमर्थ का है? अथवा चिन्मात्र का? प्रथम पक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार अहमर्थ का अन्वय मुक्ति में माना नहीं जाता है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि ''मैं मुक्त होऊ'' ऐसी इच्छा के जैसे ''चिन्मात्र मुक्त हो'' ऐसी इच्छा देखी नहीं जाती है।

समाधान– प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है, क्योंकि अहमर्थ = चिदचिद्ग्रन्थिरूप अर्थात् अहम् वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य। उसमें विशेष्य अंश जो चैतन्य है। वह मुक्ति काल में रहता ही है और मोक्ष उसी का पुरुषार्थ है। इसका स्पष्टीकरण ''अहमर्थस्यानात्मत्वविचारः'' के खण्ड संख्या १७ में किया जा चुका है।

शङ्का– सुख को अविद्यादि बन्धन रूप जो दुःख है। उसका अभाव मात्र मानने पर वैशेषिक मोक्ष के जैसे उसमें अपुरुषार्थता की आपत्ति होगी और सुख से अतिरिक्त उक्त दुःखाभाव को मानने पर द्वैतापत्ति होगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्ष स्वरूप सुख दुःखाभाव से अतिरिक्त होने पर भी आत्मस्वरूप माना जाता है। अतः उक्त दोष नहीं होगा।

शङ्का– आत्मा को केवल सुख स्वरूप मानने पर सुख के प्रकाश (ज्ञान) के अभाव से अपुरुषार्थत्वापत्ति होगी, क्योंकि कोई भी उस सुख को नहीं चाहता जिसका भान ही नहीं होता हो। यदि कहा जाय कि आत्मा सुख स्वरूप और प्रकाश स्वरूप–उभयात्मक है तब उसमें उभयत्व धर्म रहने से और स्वगत भेद होने से अखण्डार्थता की हानि होगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सुख और प्रकाश इन दोनों के एक ही स्वरूप होने से उभयत्व नहीं रहता है। अतः उभयत्व को लेकर अखण्डार्थता की हानि नहीं होगी। सुख और प्रकाश एक स्वरूप होने से जब सुख रहेगा तब उसका भान भी होगा– अतः अपुरुषार्थत्वापत्ति भी नहीं होगी।१।।

शङ्का– यदि सुख और प्रकाश एक ही रूप हैं तब तो सुख–प्रकाश इस प्रकार से सह प्रयोग नहीं हो पायेगा। जैसे घट कलस ऐसा सह प्रयोग नहीं होता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सुख और प्रकाश यद्यपि एक स्वरूप होते हैं तथापि दुःखात्मकत्व और जड़ात्मकत्व जो कि अविद्या के द्वारा कल्पित है। उन दोनों की व्यावृत्ति क्रम से सुख से आत्मा में दुःखात्मकत्व की व्यावृत्ति और ज्ञान से आत्मा में जड़ात्मकत्व की व्यावृत्ति होती है। अतः व्यावर्त्य भेद होने से सुख और प्रकाश के सह प्रयोग की उपपत्ति हो जायेगी।

तदुपपत्तेः। यत्तु—दुःखाभावस्य सुखस्य च तत्त्वतो दुःखाद्भेदे अपसिद्धान्तः अभेद त्वपुमर्थता—इति, तन्न; दुःखस्य कल्पितत्वेन तद्भेदस्य तत्समानयोगक्षेमतया तात्त्विकत्वाभावेनापसिद्धान्ताभावात्। यत्तु— स्वप्रकाशस्य सुखस्य स्वतः स्फुरणेऽपि दुःखाभावस्यास्फुरणादपुमर्थता—इति, तन्न; दुःखाभावस्यात्मानतिरेकेणात्माभिन्ने सुखे स्फुरति तस्यापि स्फुरणात्, तत्त्वेनास्फुरणस्याप्रयोजकताया उक्तत्वात्। तस्मात्स्वप्रकाशचिदभिन्नं सुखं पुमर्थः।।२।।

।। इति चिन्मात्रस्य मोक्षभागित्वोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— दुःखाभाव और सुख— इन दोनों का दुःख से तात्त्विक भेद मानने पर द्वैतापत्ति रूप अपसिद्धान्त की आपत्ति होगी और अभेद मानने पर दुःखात्मक सुख में अपुरुषार्थतापत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे दुःख कल्पित है वैसे ही दुःख का भेद भी कल्पित है न कि तात्त्विक। अतः द्वैतापत्ति रूप अपसिद्धान्त की आपत्ति नहीं होगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सुख स्व प्रकाश होने से उसका स्वतः स्फुरण होने पर भी अप्रकाशस्वरूप दुःखाभाव का स्वतः स्फुरण नहीं होता है। अतः दुःख छुट गया— इसका भान न होने पर अथवा दुःख का स्फुरण चलता रहने पर सुख के स्वप्रकाश होने पर भी उसे कोई नहीं चाहेगा। कहने का भाव यह है कि दुःख चला गया या दुःख का ज्ञान चल रहा है और इसके साथ सुख का भी भान चल रहा है— ऐसे सुख में पुरुषार्थ नहीं माना जाता है अपितु जहाँ सुख और दुःखाभाव दोनों का ही भान होता है। वहाँ ही पुरुषार्थ माना जाता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दुःखाभाव अधिकरण स्वरूप होने से आत्मा से अभिन्न है और सुख आत्म स्वरूप ही है। अतः जब सुख का स्फुरण होता है तब दुःखाभाव का भी स्फुरण होता है। दुःखाभावत्वेन सुख का स्फुरण न होने से सुख पुरुषार्थ नहीं होगा— ऐसी बात नहीं किन्तु साक्षात्क्रियमाणत्वेन ही सुख का स्फुरण पुरुषार्थ का प्रयोजक होता है— इसका निरूपण ''मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वविचारः'' के खण्ड संख्या २ में किया जा चुका है। इसलिए स्व प्रकाशचित् से अभिन्न जो सुख है— वह पुरुषार्थ है— यह सिद्ध हो गया।।२।।

—ः इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां चिन्मात्रस्य मोक्षभागित्वोपपत्तिः —

५— जीवन्मुक्तिविचारः

तच्च जीवन्मुक्तानां स्वानुभवसिद्धम्। जीवन्मुक्तश्च तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्योऽप्यनुवृत्तदेहादिप्रतिभासः। न च तत्त्वज्ञानादविद्यानाशे सद्यः शरीरपातापत्तिः; निवृत्तसर्पभ्रमस्यापि संस्कारात् भयकम्पानुवृत्तिवत् दण्डसंयोगनाशेऽपि चक्रभ्रमणवच्च संस्कारानुवृत्तेरविद्यानिवृत्तावपि तत्कार्यानुवृत्तिसम्भवात्। न च—क्रियाज्ञानयोरेव संस्कारः, नान्यस्येति—वाच्यम्; निःसारितपुष्पायां सम्पुटिकायां पुष्पवासनादर्शनात्॥१॥

विमतो नाशः संस्कारव्याप्तः, संस्कारनाशान्यत्वे सति नाशत्वात्, ज्ञाननाशवद् इत्यनुमानाच्च, संस्कारः

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीवन्मुक्तों को स्वप्रकाशचिद् अभिन्नसुख अपने अनुभव से सिद्ध है। इस पर आकाङ्क्षा होती है कि जीवन्मुक्त महापुरुष किसे कहते हैं? इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति करते हुए कह रहे हैं कि जिस पुरुष की तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या नष्ट हो गयी है किन्तु (प्रारब्ध रूप प्रतिबन्धक के कारण) अविद्या प्रयुक्त देहादि का प्रतिभास जिसको होता रहता है, उस पुरुष को जीवन्मुक्त कहा जाता है।

शङ्का— तत्त्वज्ञान से अविद्या का नाश होते ही तुरन्त शरीर का नाश हो जाना चाहिए, क्योंकि शरीरादि प्रपञ्च का उपादान कारण अविद्या है। उपादान कारण (अविद्या) के नाश होने पर कार्य (शरीरादि) रह नहीं सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कारण के नाश होने पर भी कार्य की अनुवृत्ति होती रहती है। जैसे रज्जु के साक्षात्कार हो जाने पर सर्पभ्रम की निवृत्ति हो जाती है किन्तु सर्पभ्रम के संस्कार से कुछ समय तक भयकम्प की अनुवृत्ति होती रहती है। इसी प्रकार दण्ड चक्र संयोग का नाश हो जाने पर भी अर्थात् चाक से दण्ड को हटा देने पर भी वेग संज्ञक संस्कार से चक्र का भ्रमण होता रहता है। ठीक इसी प्रकार अविद्या की निवृत्ति होने पर भी अविद्या के संस्कार से अविद्या प्रयुक्त शरीरादि की अनुवृत्ति होती रहती है।

शङ्का— क्रिया और ज्ञान से ही संस्कार उत्पन्न होता है। अतः सर्पभ्रम निवृत्त स्थल पर और दण्ड संयोग नाश स्थल पर सर्पभ्रम रूप ज्ञान और चाक गत क्रिया से जन्य संस्कार के होने से उक्त अनुवृत्ति हो सकती है किन्तु क्रिया और ज्ञान से भिन्न जो अविद्या है। उस अविद्या से संस्कार उत्पन्न न होने से अविद्या जनित संस्कार से शरीरादि की अनुवृत्ति नहीं मानी जा सकती है।

समाधान— क्रिया और ज्ञान से ही संस्कार उत्पन्न होता है — ऐसी बात नही, क्योंकि पुष्प आदि जिस पात्र में रखा हुआ है उस पात्र से पुष्प आदि को निकाल लेने पर भी उस पात्र में पुष्प जनित संस्कार (सुगन्धि) देखा जाता है। अतः पदार्थों के नाश से भी संस्कार उत्पन्न होता है। फलतः अविद्या के नाश होने पर अविद्या जनित संस्कार माना ही जा सकता है और उस संस्कार से शरीरादि के प्रतिभास की उपपत्ति हो जायेगी।॥१॥

अविद्यानाश से अविद्या का संस्कार उत्पन्न होता है — इसमें अनुमान प्रमाण दे रहे हैं — अविद्यानाशः संस्कारव्याप्तः संस्कारनाशान्यनाशत्वात्, ज्ञाननाशवत्। साध्य = संस्कारव्याप्तः = यत्र यत्र अविद्यानाशः तत्र तत्र अविद्या संस्कारः (दृष्टान्त में हेतु का समन्वय— ज्ञान का नाश के प्रति प्रतियोगी = ज्ञान कारण होता है न कि ज्ञानजन्य संस्कार। अतः ज्ञानसंस्कारनाश से अन्य ज्ञानरूप प्रतियोगी से जनित ज्ञाननाश होता है। अतः उक्त नाशत्व ज्ञाननाश में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य समन्वय—''यत्र यत्र ज्ञाननाशः तत्र तत्र ज्ञानसंस्कारः'' ऐसा होने से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। पक्ष में हेतु, का समन्वय — अविद्या

कार्योऽपि ध्वंस इव निरुपादानकः अविद्येव च शुद्धात्माश्रित इति नाविद्यासापेक्षः। न च—भावकार्यस्याध्यस्तस्य संस्कारदेहादितद्धेतुप्रारब्धकर्मादेः स्थित्यर्थः तदुपादानाज्ञानानुवृत्त्यापात इति—वाच्यम्; विनश्यदवस्थस्य समवायिकारणं विना स्थितिदर्शनात्। न च—क्षणमात्रस्थितावपि कथं बहुक्षणस्थितिरिति—वाच्यम्; सत्युपपादके क्षणगणनाया अप्रयोजकत्वात्। तत्र क्षणमात्रं स्थितिः; समसमस्याजनकत्वात्, अत्र तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

का नाश तत्वज्ञान से होता है न कि अविद्या जनित संस्कार से। अतः अविद्या जनित संस्कार नाश से अन्य अविद्यानाश होने से पक्ष में हेतु चला जायेगा। फलतः पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी।) अविद्या का नाश हो जाने पर अविद्यारूप आश्रय के अभाव में अविद्या का कार्य = अविद्या जनित संस्कार किसको आश्रय कर के टिका रहेगा, क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने उपादान का आश्रय कर के टिका रहता है। इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि अविद्या जनित संस्कार का कोई उपादान कारण होता ही नही है जैसे ध्वंस का कोई उपादान कारण कोई नहीं होता है। अतः घट ध्वंस जैसे घट के आश्रय कपाल के आश्रित रहता है वैसे ही अविद्याजनित संस्कार अविद्या के नाश होने पर अविद्या के आश्रय आत्मा के आश्रित होकर रहेगा। अतः अविद्या संस्कार के रहने के लिए अविद्या को रहना अपेक्षित नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ध्वंस = अभावरूप कार्य होने के कारण भले ही ध्वंस का उपादान कारण न हो और ध्वंस उपादान के आश्रित न रहता हो किन्तु जीवन्मुक्ति अवस्था में अविद्यारूपभाव का कार्य अध्यस्त रूप जो संस्कार तथा देहादि और संस्कार देहादि के हेतु जो प्रारब्ध कर्मादि उन सबकी स्थिति के लिए उनका जो उपादानकारण अज्ञान है। उसकी अनुवृत्ति अर्थात् स्थिति मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कपालादि समवायी (उपादान) कारण के नाश हो जाने पर भी विनश्यदवस्थ घटादि कार्य उपादान कारण के विना भी एक क्षण जैसे रह जाता है वैसे ही अविद्या रूप उपादान कारण के नाश हो जाने पर भी अविद्याजन्य कार्य देहादि रह जायेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टान्त स्थल पर उपादान के न रहने पर केवल क्षणमात्र कार्य रहता है क्योंकि कपाल ध्वंस कारण है और घट ध्वंस कार्य है। कार्य नियत पूर्ववृत्तिकारण को मानना पड़ता है। अन्यथा कार्य और कारण में समान काल मानने पर उनमें कार्य कारण भाव ही नहीं बन जायेगा। इस अनुपपत्ति के कारण कार्य को उपादान के विना भी एक क्षणमात्र स्थित माना जाता है किन्तु प्रकृत में उक्त प्रकार की यदि अनुपपत्ति लेते हैं तो क्षण मात्र ही देहादि की स्थिति अविद्या रूप उपादान के नाश के पश्चात् होनी चाहिए जब कि दार्ष्टान्त स्थल पर उपादान (अविद्या) के न रहने पर भी जीवन्मुक्त पुरुष का शरीरादि अनेक वर्षों तक बना रहता है। यह कैसे?

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उपपादक के होने पर क्षणों की गणना करने की कल्पना अनावश्यक है। उपपादक क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि कारणनाश के पश्चात् एक क्षण यदि कार्य स्थित रहता है तब उतने मात्र से ही कारण नाश और कार्यनाश में कार्यकारणभाव बन जायेगा, समसमय = कार्यनाश के समान कालीन कारणनाश के होने पर, अजनकत्वात् = कार्यनाश का जनक कारण नाश नहीं हो सकता है। अतः इस कार्यकारणभाव की सिद्धि के लिए एक क्षण से अधिक क्षण कार्य के स्थिति की आवश्यकता नहीं है। किन्तु अविद्या नाश स्थल पर संस्कार तथा देहादिरूप कार्य के नाश के प्रति हेतु है— (प्रतिबन्धक = प्रारब्ध। अर्थात्) प्रारब्ध अभाव विशिष्ट अविद्यानाश। ऐसे हेतु की सिद्धि जब तक प्रारब्ध रहेगा तब तक हो नहीं सकती है, क्योंकि प्रारब्धाभावरूपविशेषण मिलेगा ही नहीं।

प्रतिबन्धकाभावसहकृतहेतोस्तावत्कालमभावात्।।२।।

अत एव—पूर्वज्ञानानिवृत्तस्याध्यस्तस्य तदनधिकविषयेण कथं निवृत्तिरिति—निरस्तम्; प्रतिबन्धकाभावसहकारासहकाराभ्यां विशेषात्। जीवन्मुक्तिदशायामानन्दस्फूर्त्यापादनमिष्टमेव; तत्त्वे ज्ञाते द्विचन्द्रादिवद्दोषाद्बाधितानुवृत्तिसम्भवाच्च। न च तत्रैवात्र ज्ञानानिवर्त्यदोषाभावेन वैषम्यम्; यावत्प्रतिबन्धकसत्त्वं ज्ञानानिवर्त्यस्य दोषस्यात्रापि सम्भवात्, सर्वज्ञानानिवर्त्यस्य तस्य कुत्राप्यसम्प्रतिपत्तेः। तदुक्तं—'नहि जात्यैव कश्चिद्दोषोऽस्ति'इति।।३।।

यद्वा—अविद्यालेशानुवृत्त्या देहाद्यनुवृत्तिः। ननु—लेशो नावयवः; अज्ञानस्य निरवयवत्वात्, अतएवाविद्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः हेतु की सिद्धि न हो पाने से जब तक प्रारब्ध रहेगा तब तक संस्कार तथा देहादि टिका रहेगा। जब प्रारब्ध नष्ट हो जायेगा तब हेतु की सिद्धि हो जायेगी। अतः हेतु की सिद्धि के लिए प्रारब्ध का अभाव मानना आवश्यक है। जैसे दृष्टान्त में कार्यकारणभाव की सिद्धि के लिए क्षणमात्र कार्य की स्थिति मानना आवश्यक होता है। वैसे ही जब तक प्रतिबन्धक (प्रारब्ध) रहता है तब देहादि का नाश नही होता है। फलतः ऐसे उपपादक के होने से अविद्या नाश के पश्चात् भी अनेक वर्षों तक शरीरादि के रहने में कोई दोष नहीं है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जीवन्मुक्ति के प्रारम्भ में जो तत्त्वसाक्षात्कार हुआ था। उस साक्षात्कार और चरम साक्षात्कार के विषय में कोई अन्तर जब नहीं है तब जीवन्मुक्ति के प्रारम्भ में होने वाले तत्त्वसाक्षात्कार से जैसे अध्यस्त शरीरादि की निवृत्ति नहीं होती है वैसे ही चरमसाक्षात्कार से भी अध्यस्त शरीरादि की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

समाधान— अतएव निरस्तम् — ऐसा अन्वय है। ''अत एव'' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जीवन्मुक्ति के प्रारम्भ में होने वाला तत्त्वसाक्षात्कार प्रतिबन्धकाभावरूप सहकारी कारण से रहित होता है। अतः उससे देहादि का नाश नहीं होता है और चरमसाक्षात्कार प्रतिबन्धकाभाव रूप सहकारी कारण से युक्त होता है। अतः उससे देहादि का नाश हो जाता है। यही उक्त दोनों तत्त्वसाक्षात्कारों में विशेषता होने से उनसे होने वाले कार्यों में भी विशेषता होती है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जीवन्मुक्ति दशा में अविद्या का आवरण न होने से आनन्द का स्फुरण होना चाहिए। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि यह हमें अभीष्ट ही है। जैसे वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाने पर दो चन्द्रों की बाधितानुवृत्ति देखी जाती है वैसे ही जीवन्मुक्त को शरीरादि प्रपञ्च की बाधितानुवृत्ति होती रहती है। यदि कहा जाय कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है, क्योंकि दृष्टान्त द्विचन्द्रभ्रमस्थल पर जैसे चन्द्रतत्वज्ञान से अनिवर्त्य अङगुली अवष्टम्भ दोष रहने से बाधितानुवृत्ति होती है वैसे दार्ष्टान्त में तत्त्वज्ञान से अनिवर्त्य कोई दोष रहता ही नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से अविद्या और अविद्याप्रयुक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च की ही निवृत्ति हो जाती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जब तक प्रतिबन्धक (प्रारब्ध) का सत्त्व है तब तक तत्त्वज्ञान से अनिवर्त्य दोष (अन्तःकरणादि उपाधि रूप दोष) के रहने से बाधितानुवृत्ति होती रहती है। प्रतिबन्धक के न रहने पर ऐसा कोई दोष कही भी मिल नहीं सकता जिसकी निवृत्ति किसी भी ज्ञान से न हो। जैसा कि कहा गया है कि सर्वदा विद्यमान रहने वाला कोई दोष होता नहीं है। (जात्या = सार्वदिक अर्थात् सर्वदा विद्यमान रहने वाला) अथवा अविद्या लेश की अनुवृत्ति से देहादि की अनुवृत्ति होती है।।३।।

शङ्का— यहाँ अविद्या का अवयवरूपलेश पदार्थ माना नहीं जा सकता है, क्योंकि अविद्या निरवयव पदार्थ माना जाता है। अत एव = अविद्या के निरवयव पदार्थ होने से ही, पट के दग्ध हो जाने पर जैसे पट का

दग्धपटन्यायेन तावत्तिष्ठतीत्यपि निरस्तम्; निरवयवे एतन्न्यायासम्भवादिति—चेन्न; आकारस्यैव लेशशब्दार्थत्वात्, 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुत्या अविद्याया अनेकाकारत्वावगमात्। आकारिनिवृत्तावप्याकारस्या—नुवृत्तिर्व्यक्तिनिवृत्तावपि जातेरिव। ननु—कोऽयमाकारो नाम जातिर्वा, शक्त्यादिरूपो धर्मो वा, सुवर्णकुण्डलादिवदवस्थाविशेषो वा। नाद्यौ; तयोर्देहादिभ्रमोपादानत्वे अविद्यात्वापातात्, अनुपादानत्वे च उपादानान्तराभावेन देहादिभ्रमोत्पत्त्ययोगात्, आत्मान्यत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन चाविद्यातत्कार्यान्यतरत्वावश्यंभावेनाज्ञाने निवृत्ते स्थित्ययोगाच्च। अतएव न तृतीयः अवस्थावन्तं विना अवस्थायाःस्थित्ययोगादिति—चेत्।।४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

भस्मावशेष लेश रहता है, वैसे ही अविद्या के नष्ट हो जाने पर अविद्या का भस्मावशेष रहता है। अतः जीवन्मुक्त के देहपातपर्यन्त शरीरादि की स्थिति रहती है — यह भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि निरवयव अविद्या पदार्थ में दग्ध पट न्याय नहीं लग सकता है, क्योंकि दग्ध पट न्याय सावयव पदार्थ में ही लगता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि लेश का अर्थ है — आकार। ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'' (बृ०उ० २–५–१९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अविद्या के अनेक आकार अवगत होते हैं। फलतः अविद्या रूप आकारी की निवृत्ति हो जाने पर भी उसके आकार की अनुवृत्ति होती है। जैसे व्यक्ति की निवृत्ति हो जाने पर भी जाति की अनुवृत्ति होती रहती है।

शङ्का— अविद्या का आकार क्या है? (१) अविद्या में रहने वाली अज्ञानत्व जाति को ही अविद्या का आकार मानते हैं? अथवा (२) अविद्या में कोई एक शक्ति रूप धर्म है। जिसको अविद्या का आकार कहते हैं? अथवा (३) जैसे सुवर्ण का एक अवस्था विशेष कुण्डल है वैसे ही अविद्या का एक अवस्था विशेष है। जिसे अविद्या का आकार कहा जा रहा है। अज्ञानत्व जाति अथवा अज्ञान में रहने वाला शक्ति रूप धर्म—इन दोनों को देहादि भ्रम का उपादान मानेंगे? अथवा नहीं मानेंगे? प्रथम पक्ष में दोष देते हुए कह रहे हैं कि प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर उक्त दोनों ही अविद्या से अतिरिक्त नहीं होंगे। अतः अविद्या के नाश से ही उनका नाश हो जायेगा। फलतः अविद्या नाश के पश्चात् लेश रूप से उक्त दोनों का मानना सम्भव नहीं है। यदि उक्त दोनों को देहादि भ्रम का उपादान कारण नहीं माना जाता है तब देहादि भ्रम का जो उपादान अविद्या थी। वह जीवन्मुक्ति काल में नष्ट हो गयी और उसके बाद में जो अविद्या लेश बचा रहा उसको देहादिभ्रम का उपादान नहीं मानेंगे तब तो अविद्या और अविद्या लेश से भिन्न और कोई देहादि भ्रम का उपादान न होने से देहादि भ्रम नहीं होना चाहिए। आत्मा से भिन्न होने के कारण उक्त अवस्था द्रव विशेष मिथ्या एवं तत्त्वज्ञान के द्वारा निवर्तनीय मानना होगा। इसलिए इनको अविद्यास्वरूप मानना होगा अथवा अविद्या का कार्य मानना होगा। ऐसा होने पर अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उक्त अवस्था द्रव विशेष की स्थिति सम्भव नहीं हो सकती है। अतः उक्त अवस्था द्रव विशेष के बल पर देहादि की अनुवृत्ति सम्भव नहीं है। अत एव = उक्त अवस्था द्रव विशेष आत्मा से भिन्न होने के कारण तृतीय पक्ष (आकार को अविद्या की अवस्था विशेष) भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि जो आत्मा से भिन्न होगा। वह अविद्या और अविद्या के कार्य में से अन्यतर ही मानना होगा और उसकी तत्त्वज्ञान से निवृत्ति माननी होगी। ऐसा होने पर अवस्था वाले अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अवस्था (आकार विशेष) की स्थिति ही सम्भव नहीं होगी। जब अवस्था (अविद्या का आकार विशेष रूप लेश) ही सम्भव नहीं तब उसके माध्यम से देहादि की अनुवृत्ति कहना सर्वथा सम्भव नहीं है।।४।।

न, अनेकशक्तिमदविद्यायाः प्रपञ्चे पारमार्थिकत्वादिभ्रमहेतुशक्तेः प्रपञ्चे अर्थक्रियासमर्थत्वसम्पादकशक्तेश्च प्रारब्धकर्मसमकालीनतत्त्वसाक्षात्कारेण निवृत्तावपि अपरोक्षप्रतिभासयोग्यार्थाभासजनिकायाः शक्तेरनुवृत्तेः तद्वती अविद्यापि तिष्ठत्येवेति नोक्तदोषावकाशः। न चाविद्यायां कथं मुक्त इति व्यपदेशः? शक्तिनाशमात्रात्। अत एव समये सर्वशक्तिमदज्ञाननाशः तज्जातीयेनाप्रतिरुद्धेन प्रत्ययेन। तथा च श्रुतिः—'तस्याभिध्यानाद्योजना— तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'इति। न च—भूय इत्यस्य योजनादित्यनेनान्वयात् न लेशानुवृत्तावस्याः

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक शक्ति वाली जो अविद्या है। ऐसी अविद्या की प्रपञ्च धर्मिक पारमार्थिकत्वादि प्रकार भ्रम की हेतुभूत जो शक्ति है, उस शक्ति की और प्रपञ्च में अर्थक्रिया का सम्पादन करने की जो शक्ति है, उस शक्ति का प्रारब्धकर्म समानकालीन तत्त्वसाक्षात्कार से निवृत्ति हो जाने पर भी अर्थात् जीवन्मुक्ति काल में अविद्या की उक्त दो शक्तियों का नाश हो जाने पर भी अपरोक्ष प्रतिभास योग्य जो अर्थाभास की जनिका शक्ति है। उस शक्ति की अनुवृत्ति से अपरोक्ष प्रतिभास योग्य अर्थ अनुकूल शक्ति वाली अविद्या भी रहेगी। उस अविद्या के बल से जीवन्मुक्त के शरीरादि की अनुवृत्ति होती रहती है। अतः पूर्वपक्षी द्वारा कथित उक्त दोषों को कोई अवकाश नहीं है।

शङ्का— उक्त प्रकार से अविद्या रूप बन्धन के रहने पर जीवन्मुक्त पुरुष को ''मुक्तः'' ऐसे कहना कैसे सम्भव होगा?

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम कथित जो अविद्या की दो शक्तियाँ है। उनका तत्त्वसाक्षात्कार से नाश हो जाने से ''मुक्तः'' ऐसा व्यवहार हो जाता है। इसलिए प्रारब्ध कर्म की समाप्ति पर प्रारब्ध समकालीन प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक से प्रतिबद्ध जो तत्त्वसाक्षात्कार उसके सजातीय जो प्रारब्ध रूप प्रतिबन्धक के नष्ट हो जाने से प्रारब्धरूपप्रतिबन्धक से अप्रतिबद्ध जो चरम साक्षात्कार उसके द्वारा समस्त शक्ति वाले अज्ञान का नाश हो जाता है। इस अर्थ को श्रुति कह रही है —''तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः।'' (श्वे०उ० १—१०) अर्थात् उस ब्रह्म के अभिध्यानः = मनन निदिध्यासन सहकृत, योजनात् = श्रवण से (जीवन्मुक्ति कालीन प्रारब्ध कर्म के द्वारा प्रतिबद्ध प्राथमिक) तत्त्व साक्षात्कार से उक्त शक्ति द्वय से युक्त विश्व माया की निवृत्ति होती है और अन्ते = प्रारब्ध कर्म की समाप्ति होने पर अविद्या की जो शेष शक्ति रहती है उस शक्ति से युक्त अविद्या और तत्प्रयुक्त देहादि एतदुभय रूप जो विश्वमाया है। उसकी पुनः निवृत्ति होती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''भूय'' का ''योजनात्'' के साथ अन्वय है। ऐसा अन्वय करने पर अर्थ होगा कि बारम्बार (योजनात्) श्रवण से एक साथ ही सम्पूर्ण अविद्या का नाश हो जाता है। अतः इस श्रुति को अविद्या लेश में प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विशेषण (योजनात्) से अन्वय की अपेक्षा विशेष्य (निवृत्तिः) से अन्वय अभ्यर्हित (उचिततर) होता है। इसका प्रतिपादन ''गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्'' (जै०सू०३—१—२२) में किया गया है। इस सूत्र में कहा गया है कि गौणीभूत पदार्थ के साथ अन्वय की अपेक्षा प्रधान पदार्थ के अन्वय को उचित माना गया है। विशेष्य प्रधान होता है और विशेषण गौण होता है। अतः विशेष्य से अन्वय उचित है। दूसरी बात यह है कि ''भूयः'' पद का ''योजनात्'' पद से इसलिए भी अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि ''तत्त्वभावात्'' पद का व्यवधान है। पूर्वपक्षी के अनुसार उक्त प्रकार से अन्वय करने पर ''अन्ते'' पद व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि जब भूयो योजन से ही समस्तशक्तियुक्त माया की निवृत्ति हो गयी तब ''अन्ते'' पद का काई अर्थ ही नहीं निकलेगा। सिद्धान्ती के अनुसार ''भूयः'' का

श्रुतेर्मानतेति—वाच्यम्; विशेषणान्वयापेक्षया विशेष्यान्वयस्याभ्यर्हितत्वात्, तत्त्वभावादित्यनेन व्यवधानाद्, अन्त इति पदवैयर्थ्याच्च विपरीतयोजनस्यासङ्गतेः। न च—लेशस्थितौ कर्मानुवृत्तिः तदनुवृत्तौ च ज्ञानप्रतिबन्धेन लेशस्थितिरित्यन्योन्याश्रय इति—वाच्यम्; न तावत् ज्ञप्तौ 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'इत्यादिश्रुतेरेव लेशानुवृत्तेरवगतत्वात्, नापि स्थितौ एककालीनत्वेन दोषाभावात्।।५।।

यद्वा—अज्ञानस्य सूक्ष्मावस्थालेशः। यथा 'तस्मात् फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम्। उत्पत्तावपि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक्।।' इति वार्तिकेन यागे गतेऽपि यागसूक्ष्मावस्थारूपमपूर्वं यागे साधनतानिर्वाहकमङ्गीक्रियते, तथा अज्ञाने गतेऽपि तत्सूक्ष्मावस्थारूपो लेशो देहादिप्रतीत्यनुकूलः स्वीक्रियतेः, स्वर्गजनकताग्राहकश्रुतेरिवात्रापि जीवन्मुक्तिश्रुतेस्तादृगर्थस्वीकारात्। तस्मादविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरुपपन्नतरा।।६।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ जीवन्मुक्त्युपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

''विश्वमाया निवृत्ति'' के साथ अन्वय करने पर प्रश्न होगा कि कदा? इसका उत्तर होगा— अन्ते। अर्थात् प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति होने पर समस्त शक्तियुक्त माया की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया विपरीत अन्वय असङ्गत है। अतः इस श्रुति को अविद्या लेश में प्रमाण मानना उचित ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि अविद्यालेश की स्थिति होने पर प्रारब्ध कर्म की अनुवृत्ति मानी जायेगी और प्रारब्ध कर्म के रहने पर तत्त्वसाक्षात्कार प्रतिबद्ध होने से अविद्या लेश की स्थिति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि लेश का ज्ञान होने पर कर्मानुवृत्ति का ज्ञान और कर्मानुवृत्ति का ज्ञान होने पर लेश का ज्ञान— इस प्रकार ज्ञाप्ति में अन्योन्याश्रयदोष नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि को मानने पर भी द्वितीय कोटि को हम नहीं मानते हैं, क्योंकि ''भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः'' इस श्रुति से ही लेशाविद्या का ज्ञान हो जाने से लेशाविद्या के ज्ञान के लिए कर्मानुवृत्ति के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। स्थिति में अर्थात् लेश की स्थिति होने पर कर्मानुवृत्ति की स्थिति और कर्मानुवृत्ति की स्थिति होने पर लेश की स्थिति— इस प्रकार स्थिति में भी अन्योन्याश्रयदोष नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि लेश और कर्म दोनों समकालीन है न कि अन्योन्याश्रित।।५।।

अथवा अज्ञान की सूक्ष्मावस्था को लेश कहते है। जैसा कि वार्तिक में कहा गया है—

तस्मात् फलैः प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम्। उत्पत्तावपि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक्।।

{अर्थात् अपूर्व को याग में रहने वाली ऐसी एक शक्ति माना गया कि जिस शक्ति के बल पर याग के द्वारा पशु आदि फल उत्पन्न होता है और वह अपूर्व याग की अवस्था विशेष मात्र है, याग से पृथक् नहीं है।} इस वार्तिक के द्वारा जैसे याग के समाप्त हो जाने पर भी याग निष्ठ साधनता का निर्वाहक याग की सूक्ष्मावस्था रूप अपूर्व अङ्गीकार किया जाता है, ठीक वैसे ही अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर भी अज्ञान की सूक्ष्मावस्थारूप लेश देहादि प्रतीति का निर्वाहक स्वीकार किया जाता है। जैसे स्वर्गादिफल जनकता बोधक श्रुति ''दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्'' के बल पर याग के नष्ट होने पर भी स्वर्गादि फल साधनता का निर्वाहक याग की अपूर्वाख्य सूक्ष्म अवस्था स्वीकार किया जाता है वैसे ही जीवन्मुक्ति बोधक श्रुति ''भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः'' (श्वे०उ० १—१०) और ''तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये'' (छा०उ० ६—१४—२) इत्यादि श्रुतियों के बल पर देहादि की अनुवृत्ति का निर्वाहक अज्ञान की सूक्ष्मावस्था रूप अविद्या लेश स्वीकार किया जाता है। फलतः अविद्या लेश की अनुवृत्ति के बल पर जीवन्मुक्ति मानना युक्तियुक्त ही है।।६।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां जीवन्मुक्त्युपपत्तिः —

६—मुक्तौ तारतम्यविचारः

यत्तु—परमतेऽपरोक्षज्ञानिनोऽपि स्वयोग्यपरमानन्दहेतुपरमकाष्ठापन्नभक्त्यभावे तत्साध्यस्य मोचकस्य ईश्वरप्रसादस्याभावेन प्रारब्धकर्मणा संसारानुवृत्तौ जीवन्मुक्तिः तद्भावे तु प्रसादस्यापि भावेन निश्शेषदुःखनिवृत्तिविशिष्टस्वतोनीचोच्चभावापन्नस्वरूपानन्दाविर्भावरूपा मुक्तिः इति, तन्न; 'तावदेवास्य चिरम्'इत्यादिश्रुत्या अस्योत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्य प्रारब्धकर्मक्षयमात्रमपेक्षणीयं कैवल्यसंपत्त्यर्थमिति प्रतिपादनेन ईश्वरप्रसादापेक्षाया वक्तुमशक्यत्वात् स्मृतिपुराणदीनां श्रुतिविरोधेन स्तुतिपरत्वात् 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'इति भक्तिजन्येश्वरप्रसादस्यापि तत्साक्षात्कारस्वरूप एवोपयोगस्य बोधितत्वेन स्मृत्यादीनामपि तदनुसारित्वात् वैपरीत्येन साध्यसाधनभावे मानाभावात्। न च प्रारब्धकर्मक्षये

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी के मत में सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार जिनको हो गया है— ऐसे जीवन्मुक्त सभी पुरुषों को समान रूपेण स्वरूपानन्द का आविर्भाव नहीं होता है किन्तु किसी को न्यून और किसी को अधिक होता है। इसमें हेतु देते हुए कह रहे हैं कि स्वयोग्य = अपरोक्ष ज्ञानियों के द्वारा सम्पादन करने योग्य जो चरम उत्कृष्ट भक्ति, जो कि परमानन्द = सर्वोत्कृष्ट स्वरूपानन्द के आविर्भाव का हेतु है। उस चरम उत्कृष्ट भक्ति के न रहने से जीवन्मुक्त को चरमोत्कृष्ट भक्ति के द्वारा साध्य जो मोचक = विदेह कैवल्य, उसका हेतुभूत जो ईश्वर की प्रसन्नता, उसका अभाव होने से सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने वालों को भी प्रारब्ध कर्मों के बल पर संसार चलता रहता है। ऐसे पुरुष को जीवन्मुक्त पुरुष कहा जाता है। तद्भावे = स्वयोग्य और परमानन्द की हेतु तथा पराकाष्ठापन्न भक्ति का सद्भाव होता है तब ऐसी भक्ति से साध्य जो ईश्वर प्रसाद उसके द्वारा निःशेष दुःखों की निवृत्ति से युक्त स्वतो नीचोच्चभावापन्न स्वरूपानन्द का आविर्भावरूपा जो मुक्ति होती है। उसे विदेह मुक्ति कहते हैं। अर्थात् जिसमें भक्ति का उत्कर्ष अधिक होगा उसमें आनन्द का आविर्भाव अधिक होगा और जिसमें भक्ति का उत्कर्ष न्यून होगा, उसमें स्वरूपानन्द का आविर्भाव न्यून होगा, गोलोक आदि धाम में पहुँचने पर भी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ''तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।'' (छा०उ०६—१४—२) इस श्रुति के द्वारा स्पष्ट रूप से कहा गया कि तस्य = अस्य = उत्पन्न तत्त्व साक्षात्कार पुरुष (जीवन्मुक्त पुरुष) को विदेह कैवल्य के लिए प्रारब्ध कर्म का क्षय मात्र अपेक्षित है। ऐसा प्रतिपादन होने से विदेह कैवल्य के लिए ईश्वर प्रसादादि का कथन उचित नहीं है। इस श्रुति से विरोध होने से पूर्वपक्षी के द्वारा कथित ईश्वर प्रसाद की अपेक्षा के प्रतिपादक स्मृतिपुराणादि के ''मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'' (गी०१८—५८) इत्यादि वाक्य केवल स्तुतिपरक माने जाते हैं, क्योंकि ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।'' (मु०उ०३—२—३) (यं पुरुषमेष परमात्मा विणुते प्रसादेनानुगृह्णाति, तेन लभ्यः साक्षात्क्रियते। ततस्तस्य सम्बन्धेन एष परमात्मा स्वां तनूं स्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकटयति आवरणं विनाश्य तेनैकीभवति—लघुचन्द्रिका) इस प्रकार इस श्रुति के द्वारा भक्ति जन्य ईश्वर प्रसाद का भी उपयोग तत्त्वसाक्षात्कार में कहा गया है न कि मुक्ति में। स्मृति आदि श्रुति अनुसारी ही होती है। अतः श्रुति के अनुसार ही स्मृति आदि वाक्यों का अर्थ करना चाहिए। अतः श्रुति बोधित जो साध्यसाधन भाव है। उसके विपरीत साध्य साधन भाव की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। प्रारब्ध कर्म के क्षय में भी ईश्वर प्रसाद का विनियोग नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''नाभुक्तं क्षीयते कर्म'' (ब्रह्म वै० उत्तर— ५—८१—५५) इत्यादि वाक्यों के द्वारा प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग से ही कहा गया है। विदेहमुक्ति में उच्च—नीचभाव का

प्रसादविनियोगः; प्रसादनिरपेक्षभोगादेव तत्सिद्धेः। नापि मुक्तावुच्चनीचभावः; तस्य द्वितीयसापेक्षत्वेन तदा असम्भवात् 'परमं साम्यमुपैति' इति साम्यश्रुतेश्च। सातिशयत्वे मुक्तेः स्वर्गादिवदनित्यत्वं स्यात्। अधिकदर्शने दुःखद्वेषादिकं च स्यात्।१।।

ननु—मुक्तौ अतारतम्यं किं भेदाभावात्, उत सत्यपि भेदे तत्साम्यात्। नाद्यः; श्रुत्या भेदसिद्धेः। नान्त्यः; साम्यं किं जीवेश्वरयोः, उत जीवानामेव। नाद्यः; तयोर्विभुत्वाणुत्वशेषशेषिभावस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादिना तारतम्याद् अनेकेश्वरापत्त्या जगत्प्रवृत्त्ययोगात्, तद्द्वयतारतम्यप्रतिपादकस्मृतिभिः 'जगद्व्यापारवर्जम्' इत्यादिसूत्रैरुत्कृष्टत्वनिकृष्टत्वग्राहकानुमानैर्विरोधाच्च। नान्त्यः; जीवान् प्रति शेषिणो लक्ष्मीतत्त्वात् तान् प्रति नियामकाद्विष्वक्सेनादितश्च जीवानां निकृष्टत्वात्। 'सैषानन्दस्य' इत्यादितैत्तिरीयादिश्रुतिभिः 'मुक्तानामपि सिद्धानां

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतिपादन भी उचित नहीं है, क्योंकि किसी को अल्प आनन्द प्राप्त होता है— यह तभी कहा जा सकता है जब उसी काल में उससे अधिक आनन्द प्राप्त करने वाला कोई दूसरा हो किन्तु मुक्ति में सभी मुक्त पुरुष ब्रह्म से अभिन्न हो जाने के कारण मुक्ति काल में भिन्न—भिन्न व्यक्ति रहते ही नहीं हैं। इसका प्रतिपादन ''परमं साम्यमुपैति'' (मु०उ०३—१—३) इस परम साम्यश्रुति से किया गया है। यदि मोक्ष में सातिशयत्व अर्थात् न्यूनाधिक भाव माना जाता है, तब तो मोक्ष को भी स्वर्गादि के जैसे अनित्य मानना होगा और अपने से अधिक आनन्द वाले व्यक्ति को देखकर दुःख द्वेषादि भी मुक्ति में मानने की आपत्ति होगी।१।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती मुक्ति में अतारतम्य (साम्य) जो मान रहे हैं, वह क्या भेदाभाव के कारण मान रहे हैं? अथवा भेद के होने पर भी तत् = परम, साम्य मान रहे हैं? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ''द्वा सुपर्णा'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जीव ब्रह्म में भेद सिद्ध किया जा चुका है। द्वितीय पक्ष में प्रश्न होता है कि मुक्त जीवों की साम्यता क्या ईश्वर से मान रहे हैं? अथवा मुक्त जीवों का परस्पर साम्यता मान रहे हैं? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वर में विभुत्व शेषित्व (सेव्य या उपकारक) और स्वातन्त्र्य है जबकि जीव में अणुत्व शेषत्व (सेवक या उपकार्य) और पारतन्त्र्य है। अतः जीव और ईश्वर में तारतम्य (असाम्य) ही माना जायेगा न कि अतारतम्य। जीव और ईश्वर में यदि सर्वथा साम्य माना जायेगा तब तो अनेक जीवों के जैसे अनेक ईश्वर मानना पड़ेगा। अनेक ईश्वर मानने पर एक ईश्वर जगत् की रचना करेगा और दूसरा ईश्वर तत्क्षण उसे नष्ट कर देगा— ऐसा होने पर संसार की व्यवस्था ही भङ्ग हो जायेगी। इसी प्रकार जीव तथा ईश्वर के तारतम्य की प्रतिपादक जो स्मृतियाँ है। जैसे

ब्रह्मेशानादिभिर्देवैर्यत् प्राप्तुं नैव शक्यते।
तद्यत् स्वभावः कैवल्यं स भवान् केवलो हरे।।

{ब्रह्मा और शिव आदि देवों से जो कैवल्य प्राप्त नहीं हो सकता है। वह कैवल्य जिसका स्वभाव है। हे हरि वह आप ही हैं।} ऐसी तारतम्य प्रतिपादक स्मृतियों से विरोध होगा। जीव और ईश्वर में सर्वथा साम्य मानने पर ''जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च'' (ब्र०सू०४—४—१७) (जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमादि ऐश्वर्य उपासक को प्राप्त होता है, क्योंकि जगत् सृष्टि में ईश्वर प्रकृत है और अन्य (उपासकादि) असंनिहित हैं।) इत्यादि जीव और ईश्वर में तारतम्य बतलाने वाले सूत्र से विरोध होगा। इसी प्रकार जीव और ईश्वर में तारतम्य साधक जो अनुमान हैं। उनसे भी विरोध होगा। तारतम्य साधक अनुमान का आकार होगा— मुक्तजीवभोगः ईश्वरभोगान्निकृष्टः, जीवभोगत्वात्, संसारिभोगवत्। अन्तिम (जीवों का परस्पर साम्य) पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जीवों के प्रति शेषी जो लक्ष्मी

नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।' इत्यादिस्मृतिभिः 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्' इत्यादिसूत्रैरुक्तश्रुतितर्कानुगृहीतैरनुमानैर्विरोधाच्चेति— चेन्न; भेदाभावेन तारतम्यासिद्धेः। यथा च श्रुत्यादेर्न भेदपरत्वं तथा प्रागेव गतम्। यत्तु द्वितीयपक्षमाशंक्य दूषणं, तदकाण्डताण्डवम्; भेदसत्त्वे अभेदात्मकपरमसाम्याभावात् तत्सत्त्वे भेदस्यैवाभावात्।।२।।

किञ्च तारतम्याभिधानं परममुक्तौ? उत ब्रह्मलोकादिवासरूपापरममुक्तौ वा? नाद्यः; 'एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृ

सत्यानन्दप्रबोधिका

तत्त्व है जो कि जीवों के प्रति नियामक है। ऐसे लक्ष्मी तत्त्व से इतर विष्वक्सेनादि जीव निकृष्ट माने जाते हैं। इसी प्रकार ''सैषानन्दस्य ..... ते ये शतं मानुषानन्दाः, स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः'' (तै०उ० २—८—१) इस प्रकार आनन्द में तारतम्य बतलाने वाली श्रुति से विरोध होगा। इसी प्रकार—

''मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।

{अर्थात् हे महामुनि मुक्त सिद्धों में भी नारायण परायण प्रशान्तात्मा महापुरुष कोटियो में भी सुदुर्लभ हैं।} इत्यादि जीवों में तारतम्य बतलाने वाली स्मृतियों से विरोध होगा। ऐसे ही ''वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्'' (ब्र०सू० ३—२—२०) (जैसे जलगत सूर्यप्रतिबिम्ब जलगत वृद्धि और ह्रास का भागी होता है वैसे निर्विशेष ब्रह्म भी उपाधि के अन्तर्भाव से उपाधि गत वृद्धि और ह्रास का भागी जैसा होता है। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों में सामञ्जस है।} इस प्रकार जीवों में तारतम्य बतलाने वाले सूत्र से विरोध होगा। इसी प्रकार ''सैषानन्दस्य ......मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः'' (तै०उ० २—८—१) इस श्रुति और नियामक प्रधानभूत लक्ष्मीतत्त्व से जीव निकृष्ट होते हैं— इत्यादि से पोषित जो तर्क हैं। उनसे अनुगृहीत जो अनुमान है— अस्मदादिमुक्तभोगः मुक्तचतुर्मुखभोगान्निकृष्टः, अस्मदादिभोगत्वात्, संसारस्थास्मदादिभोगवत्। इत्यादि जीवों में तारतम्य को बतलाने वाले अनुमानों से विरोध होगा। अतः जीवों में परस्पर साम्य नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षावस्था में किसी भी प्रकार का भेद रहता ही नहीं है। अतः ब्रह्म से जीवों का भेद या जीवों में परस्पर भेद को लेकर के तारतम्य नहीं दिखाया जा सकता है। ''द्वा सुपर्णा'' इत्यादि श्रुतियों का भेद में तात्पर्य नहीं है— यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। द्वितीय पक्ष (तत्सत्त्वेऽपि साम्यात्) में आशङ्का उठाकर जो दोष दिया गया है। वह अकाण्ड ताण्डव मात्र है, क्योंकि किसी भी प्रकार के भेद रहने पर अतारतम्य = अभेदात्मक परम साम्य रह ही नहीं सकता है और अतारतम्य = अभेदात्मक परम साम्य के रहने पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं रह सकता है।।२।।

किञ्च पूर्वपक्षी जो मुक्ति में तारतम्य मान रहा है, वह क्या परम मुक्ति में मान रहा है? अथवा ब्रह्मलोकादि में वास रूप अपर मुक्ति में? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ''एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः'' (ब्र०सू० ३—४—५२) (ब्रह्म साक्षात्कार के समान अर्थात् पूर्वसूत्र में जो कहा गया कि श्रवणादि साधनों के उत्कर्ष और अपकर्ष के कारण इस जन्म अथवा जन्मान्तर में तत्त्वज्ञान उत्पत्ति रूप उत्कर्ष—अपकर्ष का नियम है। उसी प्रकार मुक्ति फल में भी उत्कर्ष—अपकर्ष (तारतम्य) रूप विशेष नियम नहीं है, क्योंकि परममुक्ति में एक रूपता (परम साम्यता) का ही निश्चय श्रुतियों के द्वारा किया गया है। ''तदवस्थावधृते'' इस पद का दो बार उच्चारण अध्याय समाप्ति का सूचक है।) इस तृतीय अध्याय के अन्तिम अधिकरण में ''ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्'' (ब्र०सू०

ातेस्तदवस्थावधृतेः'इति तृतीयान्त्याधिकरणे 'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्'इत्येतत्सूत्रोक्तज्ञान– गतैहिकत्वामुष्मिकत्वरूपविशेषवन्मुक्तावपि तारतम्यमाशङ्क्य निषेधात्। द्वितीये त्विष्टापत्तिः।।३।।

यत्तु– मुक्तजीवभोगः ईश्वरभोगान्निकृष्टः जीवभोगत्वात् संसारिभोगवत्। एवं जीवज्ञानादिकमपि पक्षीकृत्य प्रयोग ऊहनीयः। ईश्वरानन्दः, जीवानन्दादुत्कृष्टः तन्नियामकानन्दत्वात् यदेवं तदेवं यथा सेवकानन्दात् सेव्यानन्दः। ईश्वरः, जीवस्वभावानन्दादित उत्कृष्टस्वभावानन्दादिमान् तत्प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वात्, यो यत्प्रेप्सुत्वे सति यत्र शक्तः स तद्वान् यथा संमतः इत्यादीनि तारतम्यसाधकानि–इति, तन्न; आद्ये मुक्तस्य ब्रह्मरूपतया उपाधिकृतजीवत्वाभावेनाश्रयासिद्धेः, ईश्वरत्वाभावेन साध्याप्रसिद्धेः, स्वरूपासिद्धेश्च। द्वितीयाद्यनुमाने जीवेश्वरविभागकाले तारतम्यसाधनं चेत्सिद्धसाधनं, तद्भिन्ने काले चेत्, पूर्वदोषानतिवृत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

३–४–५१) (ज्ञान विरोधी फल देने वाले किसी कर्म रूप प्रतिबन्ध के न रहने से श्रवणादि के द्वारा इसी जन्म में तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु यदि उक्त प्रतिबन्ध है तब अन्य जन्म में तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि पूर्वजन्म में अनुष्ठित श्रवणादि के द्वारा गर्भस्थ वामदेव को तत्त्वज्ञान उत्पन्न होते हुए देखा गया है। अर्थात् श्रवणादि साधनों के उत्कर्ष (प्रतिबन्ध रहित) और अपकर्ष (प्रतिबन्ध युक्त) के कारण इस जन्म या जन्मान्तर में तत्त्वज्ञान उत्पत्ति रूप उत्कर्ष और अपकर्ष का नियम देखा जाता है।) इस सूत्र से तत्त्वज्ञानगत इस जन्म या जन्मान्तर रूप विशेष (तारतम्य) के जैसे मुक्ति में भी तारतम्य की शङ्का को उठाकर ''ब्र०सू० ३–४–५२'' से निषेध किया गया है। द्वितीय पक्ष (ब्रह्मलोकादि प्राप्ति रूप अपर मुक्ति) में तारतम्य मानने पर हमें भी इष्टापत्ति है।।३।।

शङ्का– पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो तारतम्य के लिए अनुमान किया जाता है– (१) मुक्त जीव भोग ईश्वर के भोग से निकृष्ट है, जीवभोगत्व होने से, जैसे संसारिभोग। इसी प्रकार जीव के ज्ञानादि को पक्ष बनाकर अनुमान किया जा सकता है। जैसे ''मुक्तजीवज्ञानादिकं, ईश्वरज्ञानादिकान्निकृष्टं जीवज्ञानादिकत्वात्, संसारिज्ञानादिकवत्।'' (२) ईश्वर का आनन्द जीव के आनन्द से उत्कृष्ट है, तन्नियामक का आनन्दत्व होने से, जो तन्नियामक आनन्द वाला है वह तन्नियम्यानन्द से उत्कृष्टत्व वाला है। जैसे सेवकानन्द से सेव्यानन्द। (३) ईश्वर जीव के स्वरूपानन्द से उत्कृष्ट स्वरूपानन्द वाला है, उत्कृष्ट स्वरूपानन्द को प्राप्त करने का इच्छुक होता हुआ उत्कृष्ट स्वरूपानन्द को उत्पन्न करने में समर्थ है। जो जिस वस्तु को प्राप्त करने का इच्छुक होता हुआ उस वस्तु को उत्पन्न करने में समर्थ है वह तादृश वस्तु वाला होता है। जैसे देवदत्त घट को प्राप्त करने का इच्छुक होता हुआ घट को उत्पन्न करने में समर्थ है। वह घट वाला भी है। फलतः इस प्रकार से सभी अनुमानों के द्वारा मुक्ति में तारतम्य सिद्ध होता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम अनुमान में मुक्त आत्मा ब्रह्म स्वरूप होने से उपाधिकृत जीवत्व का अभाव होने से मुक्त जीवभोग ही सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि उपाधि कृत जीवत्व होने पर ही भोग सिद्ध होता है। अतः आश्रयासिद्धि दोष होगा। इसी प्रकार मुक्तावस्था में माया उपाधि के न रहने से ईश्वर की भी सिद्धि नहीं होगी। ईश्वर की सिद्धि न होने पर ईश्वर घटित साध्य की भी सिद्धि नहीं होगी। अतः साध्याप्रसिद्धि दोष होगा। मुक्तावस्था में उपाधि कृत जीवत्व का अभाव होने से जीवभोगत्व भी नहीं रहेगा। अतः स्वरूपासिद्धि दोष भी होगा। द्वितीय और तृतीय अनुमान में जीव ईश्वर के विभाग काल में (जब जीव और ईश्वर की उपाधि (अन्तःकरण और माया) है उस काल में) तारतम्य का साधन होने पर सिद्धसाधनदोष होगा और उपाधि के अभाव काल में अर्थात् मुक्तावस्था में तारतम्य सिद्ध करने

'सैषानन्दस्य'इत्यादिश्रुतिभिः मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दपर्यन्तेषु उत्तरोत्तरशतगुणत्वरूपतारतम्यमुपाधितारतम्येन वदन्तीभिर्निरुपाधिके स्वरूपानन्दे तारतम्यस्य वक्तुमशक्यतवात्।।४।।

एतेन्–प्रकृता बन्धनिवृत्तिः, स्वसजातीयबन्धनिवृत्त्याश्रयप्रतियोगिकतारतम्यवन्निष्ठा बन्धनिवृत्तित्वात् निगडबन्धनिवृत्तिवदिति–निरस्तम्; तारतम्यस्य गुणगतजातित्वेन बन्धनिवृत्त्याश्रयात्मनि वक्तुमशक्यत्वात्। अतएव–निवृत्तिगततारतम्यसाधनमपि – अपास्तम्; निवृत्तेर्निरतिशयत्वादानन्दस्य स्वरूपतया उभयवादिसिद्धत्वेन गुणत्वाभावेन तत्रापि तस्य वक्तुमशक्यत्वात्। एतेन–स्वरूपसुखानां प्रत्येकमेकत्वेनाणुत्वेन च

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर पूर्वोक्त प्रकार से आश्रयासिद्धि आदि दोष होंगे। मानुष आनन्द से प्रारम्भ कर ब्रह्मानन्द पर्यन्त में उत्तरोत्तर शतगुण रूप तारतम्य जो कि उपाधि कृत तारतम्य के कारण है। ऐसे तारतम्य को कहने वाली जो ''सैषानन्दस्य'' (तै०उ०२–८–२) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। उन श्रुतियों के द्वारा मुक्तावस्था के निरुपाधिक स्वरूपानन्द में तारतम्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मुक्तावस्था में उपाधि का अभाव होता है।।४।।

शङ्का– प्रकृत बन्ध की निवृत्ति (मुक्त जीव निष्ठ बन्ध की निवृत्ति) स्व सजातीय जो बन्ध की निवृत्ति तादृश निवृत्त्याश्रयप्रतियोगिक जो तारतम्य तादृश तारतम्य निष्ठ है। {अर्थात् स्व = मुक्त देवदत्त निष्ठ बन्ध निवृत्ति, उसकी सजातीय = मुक्त यज्ञदत्त निष्ठ बन्ध निवृत्ति। उसका आश्रय = यज्ञदत्त। उस यज्ञदत्त प्रतियोगिक (देवदत्त अनुयोगिक) तारतम्य वाला देवदत्त है।} बन्ध निवृत्तित्व होने से, जैसे निगड़बन्ध निवृत्ति। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु का समन्वय सुगम है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–स्व = चैत्र निगड़ बन्ध निवृत्ति, उसकी सजातीय = मैत्र निष्ठ निगड़ बन्ध निवृत्ति, उसका आश्रय = मैत्र। मैत्र प्रतियोगिक चैत्रानुयोगिक तारतम्य वाला चैत्र है।

समाधान– एतेन निरस्तम् – ऐसा अन्वय है। तारतम्य के गुणगत जातित्व होने से अर्थात् गुड़ चीनी गन्ना का रस आदि भिन्न–भिन्न द्रव्यों में जो भिन्न–भिन्न मधुर रस रूप गुण रहते हैं। उस भिन्न–भिन्न मधुर रस रूप गुणों में तारतम्य जाति रहती है। ऐसी तारतम्य रूप जाति बन्ध निवृत्ति आश्रय आत्मा अर्थात् मुक्त निरुपाधिक आत्मा में मानना सम्भव नहीं है। अतः इस अनुमान में भी पूर्वोक्त अनुमान के जैसे साध्याप्रसिद्धि आदि दोष होगा। अत एव = तारतम्य गुणगत जाति होने से निवृत्ति गत तारतम्य का साधन भी अपास्त हो गया। कहने का भाव यह है कि ''स्वसजातीय बन्धनिवृत्त्याश्रयप्रतियोगिकतारतम्यवन्निष्ठा'' में तारतम्यवत् शब्द से आत्मा (देवदत्त) लिया गया है। अब तारतम्यवत् से देवदत्तगत निवृत्ति लेंगे। इस प्रकार से पूर्वपक्षी जो निवृत्ति में तारतम्य सिद्ध करना चाह रहा था। वह भी अपास्त हो गया क्योंकि तारतम्य गुणगत जाति है। अतः वह निवृत्ति में रहेगी ही नहीं। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि निवृत्ति निरतिशय स्वरूप और आनन्द स्वरूप उभयवादि सिद्ध होने से अर्थात् निरतिशय स्वरूपानन्द का मुक्ति में आविर्भाव उभयवादि सिद्ध होने से निवृत्ति को गुण नहीं माना जा सकता है। जब गुण नहीं माना जायेगा तब गुण में रहने वाली तारतम्य जाति मानना तो सर्वथा ही असम्भव होगा। तत्रापि = निवृत्ति में भी तारतम्य माना नहीं जा सकता है। ''तत्रापि'' के अपि पद से कहा गया कि आत्मा में जैसे गुण में रहने वाला तारतम्य नहीं माना जा सकता है वैसे ही, तत्र = निवृत्ति में भी तारतम्य माना नहीं जा सकता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि एक–एक मुक्त जीव को एक–एक ही स्वरूप सुख प्राप्त होता है। यह नहीं कि किसी मुक्त को एक स्वरूप प्राप्त होता है और दूसरे मुक्त पुरुष को दश स्वरूप सुख प्राप्त होता है। इसी प्रकार सभी मुक्तों को प्राप्त होने वाला स्वरूप सुख अणु ही होता है। ऐसा नहीं कि किसी

संख्यापरिमाणकृतवैषम्याभावेऽपि जलसुधापानजन्यसुखयोरिव मधुरमधुरतरत्वादिवच्च स्वरूपकृतवैषम्यं मुक्ताविति–निरस्तम्; वैषयिकसुखे साधनतारतम्यप्रयुक्ततारतम्येऽपि स्वरूपानन्दे तदभावाच्च।।५।।

न च सालोक्यादिमुक्तिः सायुज्यादिमुक्तितोऽपकृष्टेति प्रसिद्धिविरोधः; परापरमुक्तिरूपतया तदुपपत्तेः। सायुज्यादिमुक्तावुत्कृष्टत्वव्यपदेशोऽपकृष्टत्वाभावमात्रेण। ननु–सायुज्यं नैक्यम्। 'चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोति'इत्यादिश्रुत्या सत्यपि भेदे सायुज्योक्तेः; 'सयुजः परमात्मानं प्रविश्य च बहिर्गताः।' इत्यादौ सयुजां प्रवेशमात्रोक्तेश्च, सयुजो भावः सायुज्यमिति युजशब्देन सम्बन्धस्यैवोक्तेः 'सालोक्यमपि सामीप्यं सारूप्यं योग एव च।।' इति स्मृतौ सायुज्ये सम्बन्धवाचकयोगशब्दप्रयोगाच्च, तस्मात्सायुज्यं नाम

सत्यानन्दप्रबोधिका

मुक्त को प्राप्त होने वाला स्वरूप सुख अणु है और दूसरे मुक्त को प्राप्त होने वाला स्वरूप सुख विभु है। अतः भिन्न–भिन्न मुक्तों को मिलने वाले भिन्न–भिन्न स्वरूप सुखों में यद्यपि संख्या और परिणाम कृत तारतम्य नहीं है तथापि जैसे जलपान सुख में मधुरत्व है और सुधापान सुख में मधुरतरत्व है वैसे ही मुक्तों के स्वरूप भूत सुखों में भी तारतम्य है। अर्थात् एक में मधुर सुख है और अन्य में मधुरतरसुख है।

समाधान– एतेन निरस्तम्– ऐसा अन्वय है। एतेन=तारतम्य गुणगत जाति होता है। अतः गुण रहित स्वरूप सुख में रह ही नहीं सकता है। अतः पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त हो गया। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि विषय जन्य सुख में विषयगत गुण में रहने वाले तारतम्य के कारण विषय सुख में तारतम्य होने पर भी स्वरूप सुख में तारतम्य नहीं रह सकता है, क्योंकि स्वरूपसुख में गुण माना ही नहीं जाता है। फलतः गुणगत तारतम्य कैसे रह सकता है?।।५।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत'' (श्रीमद्भागवत–३–२९–१३) इत्यादि स्मृतिग्रन्थ में कथित सालोक्य (भगवान् के नित्य धाम में निवास) सार्ष्टि (भगवान् के ऐश्वर्य से सम्पन्न होना) सामीप्य (भगवान् की सन्निधि का लाभ) तथा एकत्वावाप्ति (सायुज्य) मुक्तियों में एकत्वावाप्ति (सायुज्य) की सालोक्यादि से उत्कृष्टता प्रसिद्ध होने से मुक्तियों में तारतम्य सिद्ध होता है। अतः मुक्तियों में तारतम्य न मानने पर तारतम्य बोधित उक्त स्मृति वाक्यों से विरोध होगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि एकत्वावाप्ति रूप परम मुक्ति से सालोक्यादि अपर मुक्ति में भेद होने से उक्त उत्कृष्टता–अपकृष्टता के प्रसिद्धि की उपपत्ति हो जायेगी। सायुज्यादि के मध्य में से सायुज्यगत जो सर्वोत्कृष्टता का व्यवहार होता है। उस सर्वोत्कृष्टता का अर्थ है = अपकृष्टता का अभाव। अर्थात् सायुज्यगत उत्कृष्टत्व का कथन अपकृष्टत्व के अभाव मात्र से है। (इस पर विशेष विचार लघुचन्द्रिका में देखें।)

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सायुज्य का अर्थ जीव और ब्रह्म की एकत्वावाप्ति नहीं है, क्योंकि ''चन्दमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोति'' (महानारायणोपनिषद् २५–१) (चन्द्रलोक से सायुज्य और सलोकता को प्राप्त करता है।) इत्यादि श्रुति के द्वारा कहा गया कि चन्द्रलोक में जाने वाले जीव का चन्द्रमा से भेद रहने पर भी उस जीव में चन्द्रमादि का सायुज्य कहा गया है। इसी प्रकार ''सयुजः परमात्मानं प्रविश्य च बर्हिगताः'' इस वाक्य के द्वारा कहा गया कि सयुजसंज्ञक जीव परमात्मा में प्रविष्ट होकर पुनः बाहर निकल आते हैं। सयुज के भाव को सायुज्य कहते हैं। इसी प्रकार युज् शब्द से सम्बन्ध का कथन किया गया है। जहाँ सम्बन्ध होगा वहाँ अभेद कहना सम्भव नहीं होता है। ''सालोक्यमपि सामीप्यं सारूप्यं योग एव च'' इस प्रकार से इस स्मृति ग्रन्थ में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, योग = सायुज्य–चार प्रकार की मुक्ति

क्षीरनीरवद् अन्यदेहाविष्टग्रहदेवतादिवच्च संश्लेषमात्रं, न त्वैक्यमिति—चेत्।।६।।

न; व्यापकेनेश्वरेण संश्लेषस्य नित्यसिद्धत्वेनापुमर्थत्वात्। न चैतल्लोकस्थितस्य जीवस्य लोकान्तरस्थितालौकिकशरीरावच्छिन्नेनेश्वरेण संश्लेषः साध्यः 'अत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुतेः उत्क्रमणगमनादि—साध्यब्रह्मलोकावाप्तिवदुपाध्यवच्छिन्नजीवस्यानवच्छिन्नब्रह्माभेदरूपपरममुक्तेः पारलौकिकफलत्वाभावात्, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'इत्यादौ अवाप्तेर्ब्रह्मरूपत्ववत् सायुज्यस्यापि तद्रूपताया अङ्गीकरणीयत्वाच्च, 'चन्द्रमसःसायुज्यम्'इत्यादौ एकोपाध्यवच्छिन्नस्योपाध्यन्तरावच्छिन्नेन ऐक्यानुपपत्तिवदत्रानुपपत्तेरभावात् प्रसिद्धार्थस्वीकारे बाधकस्योक्तत्वाच्च सायुज्यशब्दस्तावद्विभक्तत्वाभावाभिप्रायकः।।७।।

यच्च—उत्तरोत्तरं शतगुणानन्दप्रकाशकवाक्येषु प्रतिवाक्यं मुक्तावकामहतशब्दप्रयोगात् मानुषानन्दवद्

सत्यानन्दप्रबोधिका

कही गयी है। यहाँ पर सायुज्य के अर्थ में सम्बन्ध वाचक योग शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः अणुयुक्त जीव विभु ईश्वर में प्रवेश कर के भी ईश्वर से भिन्नतया अवस्थान करता है। जैसे दुध में जल प्रवेश कर के अथवा देवदत्तादि के शरीर में प्रेत एवं देवादि प्रवेश कर के भी भिन्नतया ही अवस्थान करता है। फलतः सायुज्य का अर्थ सम्बन्ध मात्र ही सिद्ध होता है ऐक्यावाप्ति नहीं।।६।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सायुज्य शब्द का सम्बन्ध मात्र अर्थ करने पर जीव के साथ व्यापकीभूत ईश्वर का सम्बन्ध तो नित्य सिद्ध होने से पुरुषार्थाभाव की आपत्ति होगी।

शङ्का— इस लोक में स्थित जीव का लोकान्तर गोलोक आदि में अवस्थित जो अलौकिक (दिव्य) शरीरावच्छिन्न ईश्वर के साथ सम्बन्ध नित्य सिद्ध न होने से साध्य = पुरुषार्थ की उपपत्ति हो जायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''अत्र ब्रह्म समश्नुते'' (क०उ०२—३—१४) इस श्रुति के द्वारा कहा गया कि इसी लोक में ही तत्त्वज्ञानी को ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि उपासना के बल पर उत्क्रमण और गमन आदि से साध्य जो ब्रह्म लोक की प्राप्ति है उस ब्रह्म लोक की प्राप्ति को पारलौकिक फल माना जाता है, वैसे अन्तःकरणादि रूप उपाधि से अवच्छिन्न जीव की जो अनवच्छिन्न ब्रह्म के साथ अभेद रूप परम मुक्ति है। उसको पारलौकिक फल नहीं माना जाता है अपितु ऐहलौकिक ही माना जाता है। इसलिए ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै०उ०२—१—१) इत्यादि श्रुति में कथित आप्ति का अर्थ जैसे ब्रह्मरूपत्व है वैसे ही सायुज्य का भी अर्थ ब्रह्मरूपत्व ही अङ्गीकार करना उचित है। इसलिए श्रीमद्भागवत महापुराण में सायुज्य के लिए एकत्व पद का प्रयोग किया गया है— सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत'' (श्रीमद्भा०—३—२९—१३) ''चन्द्रमसः सायुज्यम्'' इत्यादि स्थल पर एक उपाधि से अवच्छिन्न चन्द्रलोक जाने वाले जीव का दूसरी उपाधि से अवच्छिन्न चन्द्रमा के साथ ऐक्य अनुपपन्न हैं। अतः यहाँ सायुज्य का मुख्यार्थ = अभेद को न लेकर गौणार्थ = सम्बन्ध लिया जाता है किन्तु प्रकृत में उपाधि से रहित जीव चैतन्य और उपाधि से रहित ब्रह्मचैतन्य में ऐक्य मानने पर किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति न होने से यहाँ सायुज्य का मुख्यार्थ = अभेद लेना ही उचित है। पूर्वपक्षी के अनुसार प्रसिद्धार्थ = ''क्षीरनीरवद् अन्यदेहाविष्टग्रहदेवतादिवच्च संश्लेषमात्रम्।'' ऐसा अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसका बाधक = व्यापकेणेश्वरेण संश्लेषस्य नित्यसिद्धत्वेनापुमर्थत्वात्।'' से कहा जा चुका है। फलतः ब्रह्मसायुज्य में सायुज्य पद का तात्पर्य विभक्तत्वाभाव = भेदाभाव है।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उत्तरोत्तर शतगुण आनन्द बोधक वाक्यों में से मुक्तात्मा के बोधक वाक्यों में अकामहत शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए मानुषानन्द में जैसे तारतम्य होता है वैसे ही

अकामहतमुक्तानन्देऽपि तारतम्यम्—इति, तन्न; 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'इति सर्वेषां लौकिकानन्दानां परमानन्दान्तर्भावाभिधानोपपत्तेः, न तु तस्य तस्याकामहतस्य तावानेवानन्द इति, येन तत्रापि तारतम्यं कल्प्येत। तथा च 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' 'कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधी' त्यादिश्रुतेः 'स हि मुक्तोऽकामहत' इत्यादिब्रह्माण्डोक्तेश्च न विरोधः।।८।।

ननु— एकस्यैव श्रोत्रियस्य सर्वत्र परामर्शे मानुषानन्दादिभ्यः सावधारणशतगुणितमनुष्यगन्धर्वाद्यनेकानन्दा एकस्मिन् विरुद्धाः; भिन्नाश्चेदकामहतत्वादेरेकरूपतया श्रुतस्याव्यवस्थापकत्वादानन्दव्यवस्थाऽयोगः। अथ व्यवस्थार्थं एतत्पदाकाम एतदितरपदकामश्च लक्ष्यते, तदाऽश्रुतकल्पनाबाधश्च। नहीन्द्रादिपदे वा राजपदे वा

सत्यानन्दप्रबोधिका

अकामहत मुक्त पुरुषों के आनन्द में भी तारतम्य सिद्ध होता है। पूर्वपक्षी के कथन का भाव यह है कि जैसे बद्ध मनुष्यों के आनन्द की अपेक्षा बद्ध मनुष्य गन्धर्व का आनन्द शत गुणाधिक है। इस प्रकार बद्धों के आनन्द में जैसे तारतम्य है वैसे ही वैकुण्ठ साकेत आदि लोक में स्थित मुक्तों के आनन्द की अपेक्षा शिवलोक में स्थित मुक्तों का आनन्द शतगुणाधिक है। अतः मुक्तों के आनन्द में भी तारतम्य मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'' (बृ०उ०४—३—३२) इस श्रुति के द्वारा सभी लौकिक (वैषयिक) आनन्दों का जो परमानन्द की एक मात्रा में अन्तर्भाव का कथन किया गया है। इससे बद्ध पुरुषों के आनन्द की अपेक्षा मुक्त पुरुषों के आनन्द में शतगुणत्व का कथन उपपन्न हो जाता है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि तत्—तत् लोक में स्थित जो मुक्त पुरुष उनकों नीचे वाले लोकों में स्थित मुक्त पुरुषों की अपेक्षा शतगुणाधिक आनन्द मिलता है। अतः मुक्त पुरुषों के आनन्द में तारतम्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए ''सोऽस्नुते सर्वान् कामान्'' (तै०उ०२—१—२) (तत्त्वज्ञानी सभी सुखों अर्थात् जिसमें सभी सुख अन्तर्भुक्त हैं— ऐसे सुख को प्राप्त कर लेता है।) ''कामस्य यत्राप्ताः कामाः तत्र माममृतं कृधि'' (ऋ०सं०९—११३—११) (कामुक व्यक्ति जिस ब्रह्म सुख के अंश मात्र को प्राप्त करते हैं। उन सुखों से अभिन्न जो परमानन्द रूप अमृत है। उसको प्राप्त करा दो।) इत्यादि श्रुतियों एवं ''स हि मुक्तोऽकामहतः'' इस ब्रह्माण्ड पुराण के वाक्यों से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि मुक्त पुरुष का परमानन्द ही सभी बद्ध पुरुषों का अंशीभूत सुख है। ऐसे परमानन्द सुख का ही जिज्ञासु जन कामना किया करते हैं।।८।।

शङ्का— सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।। (तै०२—८—१) इस श्रुति के द्वारा कथित (१) मनुष्य (२) मनुष्य गन्धर्व (३) देवगन्धर्व (४) पितृगण (५) चिरलोक लोकपितृगण (६) आजानज देव (७) कर्म देव (८) देव (९) इन्द्र (१०) बृहस्पति (११) प्रजापति। यहाँ पर दश बार ''श्रोत्रिय'' पद आया है। उन सभी से मुक्त पुरुष को ही कहा गया है। इस पर प्रश्न होता है कि क्या दश बार एक ही मुक्त पुरुष का परामर्श किया गया है? अथवा दश भिन्न—भिन्न मुक्त पुरुषों का परामर्श किया गया है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर ''मनुष्यगन्धर्वश्रोत्रिये मानुषानन्दशतगुणित एवानन्दो न तु मनुष्यगन्धर्वानन्दः'' यहाँ पर जो ''मानुषानन्दशतगुणित एवानन्दः'' इस प्रकार एव लगाकर जो अवधारण किया गया है। वह सम्भव नहीं हो पायेगा, क्योंकि मनुष्यगन्धर्व और देवगन्धर्वादि में जो श्रोत्रिय है। वह एक ही है। एक ही श्रोत्रिय में शत गुणित—शत गुणित आनन्द मानने पर विरोध होगा। (जैसे एक ही देवदत्त को सौ किलोग्राम हजार किलोग्राम और दश हजार किलोग्राम मानने पर विरोध होता है।) द्वितीय पक्ष अर्थात्

निष्कामस्य भिक्षुकस्य इन्द्राद्यानन्दाऽनुभवोऽस्ति, तस्माच्छ्रुत्या पूर्ववाक्येनामुक्तानां तारतम्यमुक्त्वा, 'श्रोत्रियस्य च'इत्यादिना 'यश्च श्रोत्रियः'इत्यादिना चोत्तरतवाक्येन मुक्तस्य तदुच्यत इति—चेत्।।९।।

न, सर्वेषु वाक्येषु अकामहतस्य मुक्तस्यैकत्वेऽपि तदानन्दे सर्वानन्दानामन्तर्भावात् स एव तस्मिन् तस्मिन्नानन्दे वक्तव्ये परामृश्यते; तत्तदिन्द्रादिसाम्येन तस्य सर्वत्राभिधानोपपत्तेः 'अधिकं प्रविष्टं नतु तद्धानिः'इति न्यायात्। साम्ये हि तत्सजातीयधर्मवत्त्वं तन्त्रम्, नतु तदितरधर्मानधिकरणत्वमपि; गौरवात्।।१०।।

यच्च—मुक्तसुखं परस्परतारतम्यवत् परस्परतारतम्यवत्साधनकत्वात् संमतवदिति, तन्न; असिद्धेः। ननु—मुक्तिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

भिन्न—भिन्न मुक्त पुरुष स्वीकार करने पर अकामहतत्वादि विशेषण एक रूप होने के कारण, उन विशेषणों के द्वारा मुक्त पुरुषों में भेद की व्यवस्था नहीं बन पायेगी। मुक्त पुरुषों में भेद की व्यवस्था नहीं बन पाने पर उत्तरोत्तर शतगुणित आनन्द की भी व्यवस्था नहीं बन पायेगी। यदि कहा जाय कि अकामहत शब्द से भिन्न—भिन्न मुक्त पुरुषों को लेने के लिए अकामहत का अर्थ करेंगे कि एतत्पदाकाम और एतदितरपद काम अर्थ लक्षणा वृत्ति से लेंगे। जैसे प्रथम अकामहत का अर्थ करेंगे कि मनुष्यपद कामना रहित गन्धर्वपद कामना युक्त मुक्त। इस प्रकार सभी अकामहत का अर्थ लक्षणा वृत्ति से करेंगे। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से अर्थ करने पर श्रुतार्थ का त्याग होगा और बाध दोष भी होगा, क्योंकि इन्द्रादि पद में या राजादि के पद में कामना रहित विरक्त मुक्तात्मा सन्यासी को इन्द्रादि के आनन्द की कभी इच्छा ही नहीं होती है। अतः बाध दोष होगा। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उक्त श्रुति के पूर्व वाक्य ''स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः।'' से अमुक्त मनुष्य गन्धर्वादि के आनन्द का तारतम्य का प्रदर्शन कर द्वितीय ''श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य'' (तै०उ०२—८—१) इत्यादि वाक्य से और ''यश्च श्रोत्रियोऽ वृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्दः'' (बृ०उ०४—३—३३) इत्यादि उत्तर वाक्य से मुक्त पुरुषों के तारतम्य का प्रतिपादन किया गया है।।९।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि सभी वाक्यों के द्वारा कथित सभी अकामहत मुक्त मुक्तत्वेन एक होने पर भी मुक्तानन्द में सर्व आनन्दों का अन्तर्भाव होने से मुक्तानन्द ही इन्द्र प्रजापति इत्यादि के आनन्द के कथन से परामर्श किया गया है। मुक्त पद में इन्द्रादि सभी पदों का अन्तर्भाव होने से ''अधिक प्रविष्ट हुआ विद्यमान की हानि नहीं करता है।'' इस न्याय से (जैसे दश देश के मालिक को राजा कहने पर भी दश देश के अन्तर्गत एक देश के मालिक को भी राजा कहने से कोई आपत्ति नहीं होती है। इसी न्याय से) मुक्त को इन्द्रादि पदों से कहा ही जा सकता है। साम्यता का प्रयोजक एक में जो धर्म (अकामहतत्वादि) है, तत्सजातीय धर्म दूसरे में भी होना चाहिए। तदितर धर्मानधिकरणत्व को साम्यता का प्रयोजक मानने पर गौरव दोष होगा क्योंकि तत् = अकामहत्व, इससे इतर धर्म = कामहतत्व उसका अधिकरण = बद्ध पुरुष, अनाधिकरण = मुक्त पुरुष। उक्त अनधिकरणत्व मुक्त पुरुष में। इस प्रकार गौरव दोष होगा।।१०।।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा मुक्तसुख में तारतम्य सिद्ध करने वाला अनुमान किया जा रहा है— मुक्तसुख परस्पर तारतम्य वाला है, परस्पर तारतम्य वाले साधन से साध्यत्व होने से, जैसे स्थूल सूक्ष्म पट। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय— मोटा कपड़ा मोटे सूत से और पतला कपड़ा पतले सूत से बना है। अतः स्थूल सूक्ष्म पट में हेतु गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय सुगम है। पक्ष में हेतु का समन्वय— न्यून और अधिक भक्ति रूप साधन से जन्य (साध्य) मुक्ति सुख। अतः उक्त साध्यत्व रूप हेतु पक्ष

प्रयागमरणभगवद्द्वेषादिसाध्येति मते ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्येति मते च प्रयागमरणादीनां वर्णाश्रमकर्मणां च विषमत्वात् नासिद्धिः, ज्ञानैकसाध्येति मतेऽपि 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' 'सर्वे गुणा ब्रह्मणैव ह्युपास्या नान्यैर्देवैः किमु सर्वैर्मनुष्यैः'इत्यादिश्रुत्या 'ब्रह्मापि तद्वेद न चेह सम्यगन्ये कुतो देवमुनीन्द्रवर्य्याः।' इत्यादिस्मृतिभिः देवादिमनुष्यादिस्थमुक्तिहेतुब्रह्मज्ञानगतस्य बहुबहुतरशाखाश्रवणसाध्यत्वस्य बहुबहुतरगुणविषयत्वं विनाऽयोगेनार्थापत्त्या च तत्सिद्धिरिति–चेत्।।११।।

न, केवलकर्मपक्षे समुच्चयपक्षे वा कर्मसाध्यत्वेन मुक्तेरनित्यत्वापत्तेः, 'नान्यः पन्थाः' इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

में गया। अतः पक्ष में साध्य मानना चाहिए।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पक्ष में हेतु का समन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वरूप सुख जन्य (साध्य) नहीं होता है और परस्पर तारतम्य वाले साधन से साध्य नहीं होता है अपितु तारतम्य रहित एक ही ब्रह्म ज्ञान से अभिव्यक्त होता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि तारतम्य रहित एक ही ब्रह्मज्ञान रूप साधन से तारतम्य रहित मुक्त सुख अभिव्यक्त होता है न कि साध्य होता है – ऐसा सिद्धान्ती का कथन उचित नहीं है, क्योंकि मुक्त सुख का एक ही साधन नहीं होता है अपितु भिन्न–भिन्न होता है। अतः स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा। फलतः भिन्न–भिन्न साधनों से साध्य मुक्त सुख होने पर उसमें तारतम्य भी होगा– इस आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि "सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तन्वं विसृजन्ति धीराः ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते।" (ऋ०म०१०) इस श्रुति के द्वारा प्रयागमरण को मोक्ष के प्रति साधन कहा गया है। इसी प्रकार "द्विषन्नपि हृषिकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः।" (श्रीमद्भाग०–१०–२९–१३) इस भागवत वाक्य के द्वारा भगवद् द्वेष को मोक्ष के प्रति साधन कहा गया है। जो लोग ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मुक्ति मानते हैं, उनके मतानुसार प्रयागमरण और वर्णाश्रमादि कर्म रूप विषम = तारतम्य वाले साधनों से साध्य मुक्ति के होने से हेतु पक्ष में चले जाने से दोष नहीं होगा। ज्ञान से ही मुक्ति साध्य है– इस मत में भी तारतम्य युक्त साधनों से ही साध्य मुक्ति कही गयी है। जैसे आचार्य यम शिष्य नचिकेता से कहते हैं कि "कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।"(कठ०उ०१–२–२१) {मुझको छोड़कर अन्य व्यक्ति मद (हर्ष युक्त) अमद (हर्ष रहित) विरोधिभावों से युक्त उस ब्रह्म को नहीं जान सकता है।} इसी प्रकार "सर्वे गुणा ब्रह्मणैव ह्युपास्या नान्यैर्देवैः किमुसर्वैर्मनुष्यैः।" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा और "ब्रह्मापि तद्वेद न चेह सम्यगन्ये कुतो देवमुनीन्द्रवर्य्याः।" इत्यादि स्मृतियों के द्वारा कहा गया कि देवादि में तथा मनुष्यादि में स्थित जो मुक्ति हेतु ब्रह्म ज्ञान है। वह ब्रह्म ज्ञान किसी का बहुशाखा के श्रवण से साध्य है और किसी का बहुतर शाखा के श्रवण से साध्य है और किसी का अल्प श्रवण से साध्य है। इस प्रकार साधन में तारतम्य होने से तादृश साधन से साध्य मुक्त सुख में भी तारतम्य अर्थात् बहुबहुतरगुणविषयत्व अर्थापत्ति से सिद्ध हो जायेगा। अर्थापत्ति का आकार होगा– मुक्तिहेतुब्रह्मज्ञानस्य बहुबहुतरगुणविषयत्वं विना बहुबहुतरशाखाश्रवणसाध्यत्वमनुपपन्नम्। फलतः परस्पर तारतम्य वाले साधन से साध्यत्व रूप हेतु पक्ष में चले जाने से स्वरूपासिद्धिदोष नहीं होगा।।११।।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि केवल कर्म से साध्य अथवा ज्ञान और कर्म के समुच्चय से साध्य मुक्ति मानने पर मुक्ति में अनित्यत्व की आपत्ति होगी और "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे०उ०३–८) इस श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि ज्ञान से भिन्न कर्मादि से मुक्ति

तृतीयपक्षे तूदाहृतश्रुतीनां ब्रह्मविद्यादुर्लभत्वप्रतिपादनपरत्वेन तदुक्तसाधनसाध्यत्वाप्रतिपादकत्वात्। न चार्थापत्त्या तत्सिद्धिः; ब्रह्मसाक्षात्कारस्य निर्गुणविषयतया गुणविषयत्वायोगात्। यत्तु—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्। स वै भृत्यः सवै स्वामी गुणलुब्धौ न कामुकौ।। मुमुक्षोरमुमुक्षुस्तु वरश्चैकान्तभक्तिमान्।।'

इत्यादिस्मृत्या मुमुक्षुभक्तापेक्षया अमुमुक्षोर्भक्तस्याधिक्योक्तेः तदाधिक्यस्य लोकरीतिसिद्धत्वाच्च 'भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'इतिस्मृत्या अल्पभक्तिसाध्यमुक्त्यपेक्षया अधिकमुक्तिहेतुभक्तेरपि आधिक्यस्योक्तेश्च—इति।१२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

की प्राप्ति का निषेध इस श्रुति के द्वारा किया गया है। इस प्रकार प्रयागमरणादि कर्म से मुक्ति और समुच्चय से मुक्ति पक्ष का खण्डन हो जाने पर तृतीय पक्ष = ज्ञान मात्र से मुक्ति पक्ष में जो पूर्वपक्षी ने जो श्रुति—स्मृति के माध्यम से साधन में तारतम्य कहा था— वह भी उचित नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति और स्मृतियों के द्वारा मुक्ति के साधनीभूत ब्रह्मज्ञान में केवल दुर्लभता ही कही गयी है। इसी प्रकार उक्त अर्थापत्ति के द्वारा भी मुक्ति में बहुबहुतरगुणविषयत्व की सिद्धि के माध्यम से हेतु = परस्पर तारतम्य वाले साधन से साध्यत्व रूप हेतु की भी सिद्धि नहीं की जा सकती है, क्योंकि मुक्ति का साधनीभूत ब्रह्मसाक्षात्कार निर्गुण विषयक होता है न कि सगुण विषयक। कहने का तात्पर्य यह है कि बहुत शाखाओं का श्रवण और अल्प शाखाओं के श्रवण आदि अन्तः करणगत संशयादि दोषों के निवृत्ति में ही हेतु बनते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के श्रवणादि से ही होता है। फलतः ब्रह्मज्ञान में किसी भी प्रकार का तारतम्य नहीं होता है और ब्रह्मज्ञान जन्य मुक्त सुख में भी किसी भी प्रकार का तारतम्य नहीं होता है — यह सिद्ध हो गया।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।
स वै भृत्यः स वै स्वामी गुणलुब्धौ न कामुकौ।।
मुमुक्षोरमुमुक्षुस्तु वरश्चैकान्त भक्तिमान्।

{अर्थात् जो भक्त आप (भगवान्) से काम्य पदार्थों की ही याचना करते रहते हैं, वे अपने लाभ के लिए सेवक होने के कारण प्रशंसनीय सेवक नहीं होते हैं अपितु अपने लाभ के लिए व्यापार वाले होने के कारण वणिक् तुल्य होते हैं। परन्तु जो भक्त एक दूसरे के गुणों पर मुग्ध होते हैं। अर्थात् एक दूसरे में केवल गुण मात्र ग्राहि होते हैं और किसी भी विषय की कामना नहीं करते हैं। मुमुक्षोः = मोक्ष के लाभ की इच्छा से भजन करने वाले की अपेक्षा से, एकान्तभक्तिमान् = निर्गुण भक्ति वाला, अमुमुक्षुः = मोक्ष की इच्छा से भजन न करने वाला भक्त श्रेष्ठ होता है।} इत्यादि स्मृति के द्वारा मोक्ष की कामना वाले भक्त की अपेक्षा से मोक्ष कामना का भी त्याग कर भजन करने वाला भक्त को श्रेष्ठ कहा गया है। लोक में भी यह प्रसिद्धि है कि कामना से किसी की सेवादि करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा से कामना से रहित होकर किसी की सेवादि करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ होता है। इसी प्रकार ''भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'' (श्रीमद् भाग० ३—२५—३३) इस स्मृति द्वारा स्वल्प भक्ति से साध्य जो मुक्ति है। उस मुक्ति की अपेक्षा अधिक मुक्ति का हेतु जो भक्ति है। उस भक्ति में आधिक्य कहा गया है। ऐसा कथन होने से मुक्ति में भी तारतम्य सिद्ध होता है और मुक्ति के हेतु में भी तारतम्य सिद्ध होता है। अतः पक्ष में हेतु और साध्य के समन्वय में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है।१२।।

तन्न; 'यस्त आशिषः' इत्यादिना फलमनिच्छतो गुणलोभेन या भक्तिस्तयास्तु गरीयस्त्वं यत् प्रतिपादितं, तत्तत्त्वसाक्षात्कारे त्वरासम्पादकं नतु मुक्तितारतम्याक्षेपकम्। 'भक्तिः सिद्धेः'इत्यादिना प्रतिपादितं गरीयस्त्वमपि तज्जनकत्वमात्रेण पुत्रात्पितुरिव। यत्तु 'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।' इत्यत्रापिशब्देन, 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।।' इत्यत्र कैमुत्येन च साधनतारतम्येन साध्ये तत्प्रतीतिः इति, तन्न; नहि तरणेऽपीत्यस्यान्वयः, किन्तु अधिकारिणि। तथा च विलम्बिततरणरूपफलसम्बन्धमात्रपर्यवसानात्, कैमुत्यस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''यस्त आशिषः'' इत्यादि स्मृति के द्वारा फल की इच्छा न रखने वाले की जो भक्ति और ईष्ट के श्रेष्ठ गुणों का निरन्तर चिन्तन करने वाले की जो भक्ति उस को जो श्रेष्ठ कहा गया है। उस श्रेष्ठता का प्रतिपादन तत्त्वसाक्षात्कार में शीघ्रता के सम्पादन के लिए है। अर्थात् उक्त प्रकार की भक्ति तत्त्वसाक्षात्कार को शीघ्र उत्पन्न करने में ही चरितार्थ हो जाती है। अतः वह भक्ति मुक्ति के तारतम्य का हेतु नहीं बन सकती है। ''भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'' इस स्मृति वाक्य के द्वारा जो कहा गया कि भक्ति से साध्य जो तत्त्वसाक्षात्कार उस तत्त्वसाक्षात्कार से भक्ति श्रेष्ठ है। उसका तात्पर्य यह है कि पिता में पुत्र जनकत्व मात्र से जैसे पिता को श्रेष्ठ कह दिया जाता है वैसे ही भक्ति तत्त्वसाक्षात्कार की जनक होने से भक्ति को श्रेष्ठ कह दिया गया है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि—

अन्येत्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः (गी०१३—२५)

(जो मन्द अधिकारी लोग उक्त प्रकार से तत्त्व को न जानते हुए अन्य तत्त्ववेत्ता पुरुषों से सुनकर मेरी उपासना करते है। वे श्रवण परायण लोग भी मृत्यु से पार हो जाते हैं।) इस स्मृति में आये हुए अपि पद से और

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।। (गी०९—३२)

(जब स्त्री वैश्य और शूद्र भी भगवद् भक्ति के द्वारा परम गति को प्राप्त कर लेते हैं तब पुण्य जन्मा ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्त भगवद् भक्ति के द्वारा परम गति को प्राप्त होते हैं — इसमें तो कहना ही क्या है?) यहाँ पर कैमुतिक न्याय के कथन से साधनगत तारतम्य के माध्यम से साध्यभूत मुक्ति में तारतम्य की प्रतीति होती है। कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी अपि शब्द का अन्वय ''ते'' के साथ न कर के ''मृत्युमतितरन्ति'' के साथ अन्वय कर के यह सिद्ध करना चाह रहा है कि अपि शब्द सम्भावना रूप अर्थ का वाचक होने से उपासना से मुक्ति सम्भव है — यही उक्त वाक्य का अर्थ है। अतः उपासना के द्वारा साध्य सम्भावित मुक्ति निश्चित मुक्ति की अपेक्षा से निकृष्ट है क्योंकि उपासना से मुक्ति की सम्भावना है — इसका तात्पर्य है कि उपासना से मुक्ति मिलेगी ही— ऐसा निश्चय नहीं है। इस प्रकार से अपि शब्द के द्वारा सम्भावित मुक्ति (अपकृष्ट मुक्ति) और निश्चित मुक्ति (उत्कृष्ट मुक्ति) के कथन के माध्यम से मुक्ति में तारतम्य कहा गया है। इसी प्रकार कैमुतिक न्याय के प्रभाव से यह सूचित होता है कि स्त्र्यादि को विलम्ब से तत्त्वसाक्षात्कार होता है और उनकी अपेक्षा पुण्य जन्मा ब्राह्मणादि को अविलम्ब से तत्त्वसाक्षात्कार होता है। इस प्रकार मुक्ति का साधन जो तत्त्वसाक्षात्कार उसमें तारतम्य के कथन के द्वारा मुक्ति में तारतम्य की प्रतीति होती है। फलतः साधन और मुक्ति में तारतम्य मानना चाहिए— यह पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्लोकस्थ ''अतितरन्ति'' के साथ अपि का अन्वय नहीं है किन्तु अधिकारी बोधक ''ते'' पद के साथ अपि पद का अन्वय है। ऐसा अन्वय होने से अधिकारी में

त्वराफललाभमात्रेणोपपत्तेः साधनमात्रतारतम्यस्य फलतारतम्याप्रयोजकत्वाच्च। नहि दण्डतारतम्येन घटतारतम्यं क्वचिदपि दृश्यते।१३।।

यत्तु—'साधनस्योत्तमत्वेन साध्यमुत्तममाप्नुयुः। ब्रह्मादयः क्रमेणैव यथानन्दश्रुतौ श्रुताः।।'

इति ब्राह्मे 'अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव'इति साक्षान्मोक्षधर्मे च साधनतारतम्येन साध्ये तदुक्तिः इति, तन्न; साधनोत्तमत्वेन साध्योत्तमत्वस्यापरममुक्तिविषयत्वात्, विज्ञानगताधिक्योक्तेरपि साक्षात्कारप्रयोजकसगुणविषयकज्ञानपरत्वाच्च, अतएव दहरादिविद्यानामधिकाल्पगुणविषयकत्वेन साधनतारतम्यं यत्पराभिमतं तदप्येवमिति न कश्चिद्दोषः।

तस्मात्स्वरूपानन्दस्य स्वप्रकाशात्मरूपिणः। प्राप्तिर्मुक्तिर्न तत्रास्ति तारतम्यं कथंचन।१४।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ मुक्तौ तारतम्यभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपकर्ष बोधित होता है। अर्थात् स्त्र्यादि मन्द अधिकारी भक्ति के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं किन्तु कुछ विलम्ब से प्राप्त करते हैं— यही पर्यवसितार्थ है। इसी प्रकार कैमुतिक न्याय से कहा गया कि उत्तम अधिकारी को भक्ति के द्वारा शीघ्र तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। मन्द और उत्तम अधिकारियों के साधनगत तारतम्य को साध्यगत तारतम्य का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि दण्डगत तारतम्य होने से अर्थात् दण्ड के छोटा बड़ा होने से घट गत तारतम्य नहीं देखा जाता है।१३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि साधन गत तारतम्य से साध्यगत तारतम्य होता है। इसमें प्रमाण है—

साधनस्योत्तमत्वेन साध्यमुत्तममाप्नुयुः। ब्रह्मादयः क्रमेणैव यथानन्दश्रुतौ श्रुताः।।

{श्रेष्ठ साधनों के द्वारा ब्रह्मादि को श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति हुयी। जैसे कि आनन्द श्रुति (तै०उ०२—८—१) में क्रमशः आनन्द रूप फल में तारतम्य देखा जाता है।} इस प्रकार से ब्राह्म पुराण में कहा गया है। ऐसे ही मोक्ष धर्म में भी कहा गया हैं कि ''अधिकं तब विज्ञानमधिका च गतिस्तव'' अर्थात् आप का विज्ञान अधिक होने से आप की गति (मुक्ति) भी अधिक है। इन कथनों से यह सिद्ध होता है कि साधन के तारतम्य से साध्य में भी तारतम्य होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्म पुराण में साधन के उत्तम होने से साध्य में जो उत्तमता कही गयी है वह अपर मुक्ति (लोकान्तर प्राप्ति रूप मुक्ति) के विषय में कही गयी है न कि निर्विशेष मुक्ति के विषय में। मोक्ष धर्म में जो विज्ञानगत आधिक्य कहा गया है, वहाँ विज्ञान शब्द से सगुण विषयक ज्ञान अर्थात् सगुण विषयक उपासना लेना है। जो सगुण साक्षात्कार का हेतु होता है। अर्थात् सगुण विषयक उपासना के आधिक्य से सगुण विषयक भगवान् के रूपों के दर्शन में अधिकता आयेगी। अत एव = सगुण विषयक उपासना की अधिकता से सगुण ब्रह्म साक्षात्कार में अधिकता का बोधक उक्त वाक्य के होने से ही, दहरादि उपासनाओं (छा०उ०८—१—१) अधिकाल्पगुणविषयकत्वेन साधन गत तारतम्य जो पूर्वपक्षी को सम्मत है। वह भी सगुण विद्या विषयक ही है न कि पर विद्या विषयक। फलतः निर्विशेष मुक्ति में किसी भी प्रकार का तारतम्य नहीं होता है— यह सिद्धान्तमत सर्वथा दोष से रहित है— यह सिद्ध हो गया।

तस्मात्स्वरूपानन्दस्य स्वप्रकाशात्मरूपिणः। प्राप्तिर्मुक्तिर्न तत्रास्ति तारतम्यं कथञ्चन।।

{अर्थात् कण्ठगत हार की प्राप्ति के जैसे स्वप्रकाश आत्मस्वरूप स्वरूपानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है। ऐसी मुक्ति में किसी भी प्रकार का तारतम्य नहीं है।}।१४।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां मुक्तौ तारतम्यभङ्गः —

मङ्गलाचरणम्

यो लक्ष्म्या निखिलानुपेक्ष्य विबुधानेको वृतः स्वेच्छया
यः सर्वान्स्मृतमात्र एव सततं सर्वात्मना रक्षति।
यश्चक्रेण निकृत्य नक्रमकरोन्मुक्तं महाकुञ्जरं।
द्वेषेणापि ददाति यो निजपदं तस्मै नमो विष्णवे।।१।।
श्रीमाधवसरस्वत्यो जयन्ति यमिनां वराः। वयं येषां प्रसादेन शास्त्रार्थे परिनिष्ठिताः।। २।।
सहजसरलां प्रेम्णा दीर्घां समस्तविशोधिनीं सकृदपि कृपादृष्टिं सन्तो दिशन्तु भवद्विधाः।
कथमपि सती पूता सद्यस्तया विषयीकृता मम कृतिरियं हित्वा दोषान्भवत्वतिसद्गुणा।।३।।
गुरूणां माहात्म्यान्निजविविधविद्यापरिचयात् श्रुतेर्यन्मे सम्यङ्मननपरिनिष्पन्नमभवत्।
परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थशमनं तदेतस्मिन् ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम्।।४।।
इह कुमतिरत्त्वे तत्त्ववादी वराकः प्रलपति यदकाण्डे खण्डनाभासमुच्चैः।
प्रतिवचनममुष्मै तस्य को वक्तु विद्वान् नहि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः।।५।।
कुतर्कगरलाकुलं भिषजितुं मनो दुर्धियां मयायमुदितो मुदा विषविघातिमन्त्रो महान्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ के पूर्णता के अवसर पर मङ्गलाचरण कर रहे हैं—

भगवती श्री लक्ष्मी जी ने सर्व देवताओं की उपेक्षा कर स्वेच्छा से जिस एकमात्र (भगवान् श्री विष्णु जी) का वरण किया और स्मरण मात्र से ही सकल स्मरण कर्ता भक्तों की निरन्तर सर्वात्मना रक्षा करते हैं और जिसने अपने चक्र के द्वारा मकर का टुकड़े–टुकड़े कर के गज को मुक्त किया और जो अपने से द्वेष करने वाले कंस शिशुपालादि को भी अपना निजधाम प्रदान करते हैं— ऐसे भगवान् श्री विष्णु जी के लिए नमस्कार है।१।।

आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार विद्यागुरु का वन्दन करते हुए कह रहे हैं कि यमिनां वरः = अहिंसा सत्यादि रूप यमों को धारण करने वालों में श्रेष्ठ अथवा सन्यासियों में श्रेष्ठ आचार्यप्रवर श्री माधव सरस्वती जी की जय हो। जिनके कृपा प्रसाद से हम शास्त्र से प्रतिपाद्य अर्थ में परिनिष्ठित हुए।।२।।

विद्वान् सन्त महापुरुषों के द्वारा यह ग्रन्थ अवलोकित होने पर ही हमारा प्रयत्न सार्थक होगा। इसलिए कह रहे हैं कि— सन्त महापुरुषो! आप जैसे सुपवित्र सज्जन विद्वानों की स्वभावतः सरल और प्रेम से दीर्घ तथा समस्त पदार्थों का विशेष शोधन करने वाली जो कृपा दृष्टि है। ऐसा कृपा दृष्टि एक बार भी मेरी इस कृति (अद्वैत सिद्धि) पर आप डाल दें तो मेरी यह कृति किसी भी प्रकार की होती हुयी भी तुरन्त सभी प्रकार के दोषों से मुक्त होती हुयी अत्यन्त सद् गुण वाली हो जायेगी।।३।।

तत्त्ववेत्ताओं की कृपा से और विविध विधाओं के साथ जो अपना सम्बन्ध है उससे और सम्यक् श्रवण तथा मनन से सम्पूर्ण अनर्थों का शमन करने वाला ब्रह्मानन्द का स्फुरण जो मुझमें निष्पन्न हुआ है। उस ब्रह्मानन्द स्फुरण को मैंने अतिप्रयत्न से इस ग्रन्थ में निहित कर दिया है। अर्थात् जो इस ग्रन्थ का श्रवण मननादि करेगा। उसको अवश्य ब्रह्मानन्द का स्फुरण होगा।।४।।

''तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थकत्वविचारः'' के खण्ड संख्या १० में इस श्लोक का अर्थ देखें।।५।।

दुराग्रह युक्त बुद्धि वाले पूर्वपक्षी के कुतर्क रूप विष से व्याकुल हो गया है, जिन जिज्ञासुओं का मन,

अनेक सकलापदां विघटनेन यन्मेऽभवत् परं सुकृतमर्पितं तदखिलेश्वरे श्रीपतौ।।६।।
ग्रन्थस्यैतस्य यः कर्ता स्तूयतां वा स निन्द्यताम्। मयि नास्त्येव कर्तृत्वमनन्यानुभवात्मनि।।७।।
श्रीव्यासशङ्करसुरेश्वरपद्मपादान् वेदान्तशास्त्रसुनिबन्धकृतस्तथान्यान्।
विद्याप्रदानिह यति प्रवरान्दयालून् सर्वान् गुरून् सततमेव नमामि भक्त्या।।८।।
सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात्। अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत।।९।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्य— श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायामद्वैतसिद्धौ मुक्तिनिरूपणं नाम चतुर्थः परिच्छेदः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उस मन को निर्विष बनाने के लिए यह विषापहारी महामन्त्र आनन्द पूर्वक मुझसे कहा गया है। ऐसा करने से सकल आपदाओं का जो विघटन हुआ है। उससे जो महत्पुण्य उत्पन्न हुआ है। उसको सर्वेश्वर भगवान् श्री विष्णु के चरणों में समर्पित करता हूँ।।६।।

इस ग्रन्थ की रचना करने वाला जो सोपाधिक चैतन्य है। उसकी स्तुति की जाय या निन्दा की जाय। इससे मेरे में कोई परिवर्तन नहीं होता है, क्योंकि अखण्ड एकरस अनुभवात्मक मुझमें कर्तृत्वादि ही नहीं है।।७।।

श्री व्यास जी को तथा श्री शङ्कराचार्य जी को एवं श्री सुरेश्वराचार्य तथा श्री पद्म पादाचार्य तथा वेदान्त सम्बन्धिसुनिबन्धों की रचना करने वाले अन्य सभी आचार्य महानुभावों को एवं विद्या को देने वाले दयालु यतिप्रवर सर्व गुरुजनों को भक्ति पूर्वक निरन्तर नमस्कार करता हूँ।।८।।

चिरकाल से आचार्य श्रीमण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि, श्रीसुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्यसिद्धि और श्रीविमुक्ताचार्य की इष्टसिद्धि नाम के तीन ग्रन्थ सिद्धि पद से घटित थे। अब इनके साथ अद्वैतसिद्धि नामक यह सिद्धि पद घटित चतुर्थ ग्रन्थ हो गया।।९।।

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्।।
यच्छ्रोत्रादेरधिष्ठानं चक्षुर्वागाद्यगोचरम्।
स्वतोऽध्यक्षं परब्रह्म नित्यमुक्तं भवामि तत्।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिशिष्यस्वामिविशुद्धानन्द—गिरिकृतायामद्वैतसिद्धिटीकायां सत्यानन्दप्रबोधिकायां मुक्तिनिरूपणं नाम चतुर्थः परिच्छेदः।

ॐ शिवार्पणमस्तु।।

विक्रम संवत् २०७६ चैत्रकृष्णपक्ष ५ शनिवार दिनाङ्क— १४—३—२०२०